शोध दिशा

ISSN 0975-735X

विश्वस्तरीय शोध-पत्रिका

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से अनुदान प्राप्त

UGC APPROVED CARE LISTED JOURNAL

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा मान्यता प्राप्त शोध पत्रिका

शोध अंक 61/2 जनवरी-मार्च 2023 400.00 रुपए

संपादकीय कार्यालय

हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार,
बिजनौर 246701 (उ॰प्र॰)
फोन : 0124-4076565, 09557746346
ई-मेल : shodhdisha@gmail.com
वैब साइट : www.hindisahityaniketan.com

क्षेत्रीय कार्यालय

हरियाणा
डॉ॰ मीना अग्रवाल
ए-402, पार्क व्यू सिटी-2 सोहना रोड,
गुड़गाँव (हरियाणा)

दिल्ली एन॰सी॰आर॰
डॉ॰ अनुभूति
सी-106, शिवकला अपार्टमेंट्स
बी 9/11, सेक्टर 62, नोएडा
फोन : 09958070700

(सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।)

संपादक
डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल
07838090732

प्रबंध संपादक
डॉ॰ मीना अग्रवाल

संयुक्त संपादक
डॉ॰ शंकर क्षेम
डॉ॰ प्रमोद सागर

उपसंपादक
डॉ॰ अशोककुमार
09557746346
डॉ॰ कनुप्रिया प्रचण्डिया

कला संपादक
गीतिका गोयल/ डॉ॰ अनुभूति

विधि परामर्शदाता
अनिलकुमार जैन, एडवोकेट

आर्थिक परामर्शदाता
ज्योतिकुमार अग्रवाल, सी॰ए॰

शुल्क

आजीवन (दस वर्ष): छह हजार रुपए
वार्षिक शुल्क : एक हजार रुपए
यह प्रति : चार सौ रुपए

प्रकाशित सामग्री से संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद केवल बिजनौर स्थित न्यायालय के अधीन होंगे। शुल्क की राशि 'शोध दिशा' बिजनौर के नाम भेजें। (सन् 1989 से प्रकाशन-क्षेत्र में सक्रिय)

स्वत्वाधिकारी, मुद्रक, प्रकाशक डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा श्री लक्ष्मी ऑफसैट प्रिंटर्स, बिजनौर 246701 से मुद्रित एवं 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ॰प्र॰) से प्रकाशित। पंजीयन संख्या : UP HIN 2008/25034

संपादक : डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल

परामर्श-मंडल

डॉ॰ सुधा ओम ढींगरा, 101, Guymon Court, MorrisVille, NC-27560 USA
डॉ॰ सुरेशचंद्र शुक्ल, अध्यक्ष इंडो-नार्वेजियन सूचना एवं सांस्कृतिक मंच
प्रो॰ हरिमोहन, कुलपति, जे॰एस॰ विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद (फिरोजाबाद) उ॰प्र॰
प्रो॰ खेमसिंह डहेरिया, कुलपति, अटलबिहारी वाजपेयी हिंदी विश्वविद्यालय, भोपाल (म॰प्र॰) 462038
डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका, ए-98, अशोक विहार फेज-1, दिल्ली 110052
प्रो॰ अशोक चक्रधर, जे-116, सरिता विहार, नई दिल्ली
श्री अनिल शर्मा जोशी, उपाध्यक्ष, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा (उ॰प्र॰)
प्रो॰ पूरनचंद टंडन, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ॰ एस॰के॰ पवार, प्रोफेसर व अध्यक्ष, हिंदी विभाग, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़ 580003 (कर्नाटक)
प्रो॰ नंदकिशोर पांडेय, हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
प्रो॰ आदित्य प्रचंडिया, पूर्व आचार्य हिंदी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, दयालबाग, आगरा
प्रो॰ बाबूराम, अध्यक्ष, हिंदी-विभाग, चौ॰ बंशीलाल विश्वविद्यालय, भिवानी (हरियाणा)
डॉ॰ राजेंद्र मिश्र, 14/4 स्नेहलता गंज, इंदौर 452003 (म॰प्र॰)
प्रो॰ हरिमोहन बुधौलिया, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष हिंदी अध्ययनशाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
प्रो॰ आनंदप्रकाश त्रिपाठी, अध्यक्ष हिंदी अध्ययन मंडल, डॉ॰ हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर
प्रो॰ अर्जुन चव्हाण, प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर (महा॰)
डॉ॰ माया टाक, पूर्व प्रोफ़ेसर संगीत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
प्रो॰ अनिलकुमार जैन, पूर्व प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
प्रो॰ डॉ॰ सदानंद भौसले, अध्यक्ष हिंदी विभाग, सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय, पुणे (महा॰)
प्रो॰ शंभुनाथ तिवारी, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ॰प्र॰)
डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', (पूर्व प्राचार्य) 74/3 नया नेहरूनगर, रुड़की (उत्तराखंड)
डॉ॰ अवनिजेश अवस्थी, हिंदी विभाग, पी॰जी॰ डी॰ए॰वी॰ कालेज, नेहरू नगर, नई दिल्ली
डॉ॰ अरुणकुमार भगत, अध्यक्ष, मीडिया अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी
प्रो॰ मंजुला राणा, अध्यक्ष हिंदी विभाग, हेमवती नंदन बहुगुणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, श्रीनगर
प्रो॰ हनुमानप्रसाद शुक्ल, हिंदी विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
प्रो॰ चंद्रकांत मिसाल, प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, एस॰एन॰डी॰टी॰ महिला विद्यापीठ, पुणे (महा॰)
डॉ॰ मुकेश गर्ग, पूर्व एसोसिएट प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रो॰ जितेंद्र वत्स, प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)
डॉ॰ माला मिश्रा, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, अदिति कालेज (दिल्ली विश्व॰), बवाना
डॉ॰ दिनेशकुमार चौबे, हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग (मेघालय)
डॉ॰ शहाबुद्दीन शेख़, प्राचार्य, लोकसेवा कला व विज्ञान महा॰, औरंगाबाद (महा॰)
डॉ॰ महेशचंद्र, पूर्व एसोसिएट प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ॰प्र॰)
श्री राकेशकुमार दुबे, पत्रकारिता और जनसंचार विभाग, उड़ीसा केंद्रीय विश्वविद्यालय, कोरापुट (उड़ीसा)
डॉ॰ महेश दिवाकर, अध्यक्ष, अंतर्राष्ट्रीय हिंदी साहित्य एवं कला मंच, मुरादाबाद (उ॰प्र॰)
डॉ॰ प्रणव शर्मा, अध्यक्ष हिंदी विभाग, उपाधि महाविद्यालय, पीलीभीत 262001 उ॰प्र॰
डॉ॰ राखी उपाध्याय, प्रोफेसर हिंदी विभाग, डी॰ए॰वी॰ कॉलेज, देहरादून 248001 (उत्तराखंड)

महात्मा कबीर

कबीर नाम है–प्रेम का।

कबीर दर्शन है–एकत्व का, सद्‌भाव का।

कबीर विशेषण है–मस्त, फक्कड़ और निडर व्यक्ति का।

कबीर संगम है–दो संस्कृतियों का।

कबीर का संगम प्रयाग के संगम से ज़्यादा गहरा है। वहाँ क़ुरान और वेद ऐसे खो गए हैं कि रेखा भी नहीं छूटी।

कबीर एक मार्ग है–सहजता का। ऐसा मार्ग जो सीधा और साफ़ है।

टेढ़ी-मेढ़ी बात कबीर को पसंद नहीं। इसलिए उनके रास्ते का नाम है–सहज योग।

पंडित नहीं चल पाएगा इस मार्ग पर। निर्दोष चित्त, कोरा काग़ज़ जैसा मन ही चल पाएगा उस पर।

कबीर क्रांतिकारी हैं–क्रांति की जगमगाती प्रतिमा। जाति-पाँति के भेद-भावों से मुक्त एक सच्चा इंसान, मानवता के संकल्प से ओतप्रोत, ज्ञान की गंगा। ऐसी गंगा, जो अपनी संपूर्ण पावनता के साथ एक-एक मन को शीतल करती हुई निरंतर प्रवाहित रहती है।

कबीर का जन्म कहाँ हुआ? उनके जन्मदाता कौन थे? उनके गुरु का नाम क्या था? इस संबंध में प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों में एकरूपता नहीं है।

इतिहासकार, साहित्यिक विद्वान और कबीरपंथी भी एकमत नहीं।

कबीर के संबंध में निश्चित नहीं कि वह हिंदू थे या मुसलमान। हिंदुओं को विश्वास है : हिंदू थे, मुसलमानों का दावा है : मुसलमान थे।

जन्म की किंवदंतियाँ

कबीर के जन्म के संबंध में कई प्रकार की किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं :

लगभग छह सौ वर्ष पूर्व की घटना है। नीरू अपनी पत्नी नीमा के साथ काशी की तरफ़ आ रहा था। उसी दिन उनका गौना हुआ था। नीरू काशी का जुलाहा था। रास्ते में लहरतारा तालाब पड़ता था। नीरू ने सोचा कि हाथ-पैर धो लिए जाएँ। तभी उसने किसी बालक के रोने की आवाज़ सुनी। आस-पास उसकी पत्नी के अतिरिक्त कोई भी न था। फिर आवाज़ कहाँ से आई! जिज्ञासा हुई। चारों तरफ़ देखा। आवाज़ एक झाड़ी की तरफ़ से आ रही थी। वह उसी ओर भागा। वहाँ जाकर देखा कि एक प्यारा-सा बच्चा वहाँ पड़ा था। बच्चा इतना छोटा, जैसे कुछ देर पहले ही उसका जन्म हुआ हो।

इतना प्यारा बच्चा नीरू जुलाहे ने कभी देखा नहीं था। उसकी आँखें ऐसी थीं जैसे मणियाँ

हों। उसकी आँखों में ऐसी रोशनी थी कि नीरू की आँखें चौंध से भर उठीं। नीमा डरी कि कुछ झंझट होगा। लोग क्या कहेंगे। बदनामी भी होगी। किंतु जैसे ही उसने बच्चे को देखा, उसका दिल भी डोल गया।

अंत में उन लोगों ने लोक-लाज की परवाह नहीं की और वे बच्चे को अपने साथ ले आए। काशी में जो मुहल्ला कबीर चौरा के रूप में आज प्रसिद्ध है, उसी में संभवत: नीरू का घर था।

वे घर पहुँचे। अपने रिवाज के अनुसार, बच्चे का नामकरण करने के लिए उन्होंने काज़ी को बुलाया। उसने क़ुरान खोला। कहते हैं कि उसमें हर जगह कबीर-कुब्रा, अकबर आदि शब्द मिले।

अरबी में ये शब्द महान् परमात्मा के लिए आते हैं। काज़ी हैरान था। साधारण जुलाहे के बच्चे को किस तरह परमात्मा का नाम दिया जाए? अपना शक मिटाने के लिए उसने कई बार क़ुरान देखा। उसे हर बार वही शब्द मिले। यह समाचार पाकर कई काज़ी इकट्ठे हो गए। आख़िर उन्होंने नीरू को सलाह दी–'इस बच्चे का क़त्ल कर दे, नहीं तो इसके कारण कोई बड़ी आफ़त आने वाली है।'

नीरू-नीमा इतना क्रूरकर्म न कर सके और इस प्रकार बच्चे का नाम कबीर पड़ गया।

यही बच्चा, जिसके असली माँ-बाप का पता दुनिया को आज तक नहीं हुआ, आगे चलकर भारत का महान् संत कबीर हुआ।

कबीर के जन्म को लेकर एक किंवदंती हिंदू-समाज में भी प्रचलित है। एक दिन एक ब्राह्मण अपनी विधवा कन्या के साथ स्वामी रामानंद के दर्शन के लिए गया। पिता के साथ ही कन्या ने भी रामानंद के चरण-स्पर्श किए।

रामानंद अपनी मस्ती में थे। उन्हें ध्यान ही नहीं रहा कि चरण कौन छू रहा है? अचानक उनके मुँह से निकला–'पुत्रवती भव!'

आशीर्वाद दे दिया कि 'पुत्रवती होओ।'

महात्मा जी का आशीर्वाद असत्य नहीं हो सकता था। कुछ समय बाद उसके गर्भ से एक पुत्र ने जन्म लिया। लोकलाज स्वाभाविक थी। ब्राह्मणी ने मन को कड़ा किया और बच्चे को लहरतारा तालाब के किनारे छोड़ दिया। संभवत: इस बालक को ही नीरू और नीमा ने लहरतारा के किनारे से पाया था।

ऐसा लगता है कि कबीर हिंदू-घर में पैदा हुए और मुसलमान घर में पले। इसमें एक अपूर्व संगम हुआ, एक अपूर्व समन्वय हुआ।

कबीर में हिंदू और मुसलमान संस्कृतियाँ जिस प्रकार मेल खा गईं, इतना तालमेल तो गंगा और यमुना में भी प्रयाग में नहीं मिलेगा, दोनों का जल अलग-अलग मालूम होता है। कबीर में जल तनिक भी अलग-अलग मालूम नहीं होता।

तीसरी कहानी और अधिक रोचक है, एक पुराणपंथी कहानी की तरह। इसके अनुसार, कबीर साहब शुकदेव जी के अवतार थे।

कहा जाता है कि महादेव की आज्ञा से शुकदेव जी लोककल्याण के लिए पृथ्वी पर आए।

पूर्वजन्म में वे बारह वर्ष तक गर्भवास का दुख भोग चुके थे। इसलिए इस बार गर्भवास से बचने के लिए उन्होंने अपने को एक सीपी में बंद कर लिया और उसे गंगा के किनारे बहाव में छोड़

 ISSN 0975-735X

दिया। यही सीपी बहते-बहते लहरतारा तालाब में पहुँच गई और दैवयोग से वहीं एक कमल के पत्ते पर खुल गई। इसमें से एक सुंदर बालक प्रकट हुआ। यही बालक आगे चलकर कबीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कबीर के जन्म के संबंध में जितनी कथाएँ ज्ञात हैं, उन सबको मिलाकर यही कहा जा सकता है कि इन महात्मा को जन्म देने वालों का पता किसी को नहीं है।

कबीर का जन्म किस सन् में, किस तिथि को हुआ, इसे भी ठीक- ठीक बता पाना बहुत कठिन है।

उनकी जन्मतिथि के संबंध में एक छंद बहुत समय से प्रचलित है :

चौदह सौ पचपन साल गए, चंद्रवार इक ठाठ ठए
जेठी सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रकट भए।

अर्थात् विक्रम के 1455 साल व्यतीत होने पर, सोमवार को जेठ की पूनो, वटसावित्री के पर्व पर कबीर साहब प्रकट हुए थे। वटसावित्री या बरसायत के दिन कबीरपंथी अब भी कबीर साहब का जन्मदिन मनाया करते हैं।

कुछ विद्वानों ने गणना करके पता लगाया कि सोमवार को जेठ पूनो संवत् 1455 में नहीं बल्कि 1456 में पड़नी चाहिए। इसलिए 1455 साल गए का अर्थ यह भी हो सकता है कि 1455 वाँ संवत् बीत जाने पर अर्थात सं॰ 1456 में कबीर का जन्म हुआ होगा।

कबीर के जन्मस्थान के संबंध में भी तीन मत हैं : मगहर, काशी और आजमगढ़ में बेलहरा गाँव।

मगहर के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि कबीर ने अपनी रचना में वहाँ का उल्लेख किया है : पहिले दरसन मगहर पाई, पुनि कासी बसे आई अर्थात् काशी में रहने से पहले उन्होंने मगहर देखा। मगहर आजकल की वाराणसी के निकट ही है और वहाँ कबीर का मकबरा भी है।

कबीर का अधिकांश जीवन काशी में व्यतीत हुआ। वे काशी के जुलाहे के रूप में ही जाने जाते हैं। कई कबीरपंथियों का भी यही विश्वास है कि कबीर का जन्म काशी में हुआ, किंतु किसी प्रमाण के अभाव में निश्चयात्मकता अवश्य भंग होती है।

बहुत से लोग आज़मगढ़ ज़िले के बेलहरा गाँव को कबीर साहब का जन्मस्थान मानते हैं। वे कहते हैं कि बेलहरा ही बदलते-बदलते लहरतारा हो गया।

फिर भी पता लगाने पर न तो बेलहारा गाँव का ठीक पता चल पाता है और न यही मालूम हो पाता है कि बेलहरा का लहरतारा कैसे बन गया और यह आज़मगढ़ ज़िले से काशी के पास कैसे आ गया। आज़मगढ़ ज़िले में कबीर, उनके पंथ या अनुयायियों का कोई स्मारक नहीं है।

मसि कागद छूयो नहीं

कबीर बड़े होने लगे। वे अपनी अवस्था के बालकों से एकदम भिन्न थे। उन्हें खेल में कोई रुचि नहीं थी। मदरसे भेजने लायक साधन माता-पिता के पास नहीं थे। जिसे हर दिन भोजन के लिए ही चिंता रहती हो, उस पिता के मन में कबीर को पढ़ाने का विचार भी न उठा होगा।

यही कारण है कि वे किताबी-विद्या प्राप्त न कर सके। उन्होंने स्वीकार किया : 'मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।'

किंतु किताबी विद्या ही सब-कुछ नहीं होती। जिसमें आभा नहीं, भावुकता नहीं, कार्य करने

की शक्ति नहीं, वह तो पुस्तक पढ़कर भी मूर्ख बना रहेगा।

सब जानते हैं कबीर ज्ञान के भंडार थे, प्रतिभा के सागर थे, भावुकता के स्रोत थे। वे बचपन से ही रामभक्ति का अमृतरस छककर पी रहे थे।

जुलाहा परिवार में पलने वाले बालक पर मुसलमानी रहन-सहन, आचार-व्यवहार का प्रभाव पड़ना चाहिए था। किंतु वे हिंदुओं की भाँति कंठी-माला धारण करते, तिलक लगाते और राम-नाम का जाप करते।

स्वामी रामानंद का शिष्यत्व

कबीर ने अनुभव किया कि ज्ञान की परिपक्वता के लिए गुरु आवश्यक है, परंतु गुरु का महान् पद किसे दिया जाए? कौन गुरुमंत्र देगा!

काशी में उन दिनों सबसे प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य स्वामी रामानंद थे। कबीर के मन में उन्हीं से दीक्षा लेने की इच्छा जाग्रत हुई।

लेकिन इसमें एक भारी बाधा थी। वैष्णव आचार्य एक जुलाहे को दीक्षा किस प्रकार दे सकता था? उस बाधा को दूर करने के लिए कबीर ने एक उपाय सोचा।

स्वामीजी प्रतिदिन धुँधलके में ही अपने सेवकों के साथ गंगास्नान के लिए जाया करते थे। कबीर प्रात:काल चार बजे से पहले ही गंगाजी की सीढ़ियों पर जाकर लेट गए। स्वामी रामानंद गंगा में स्नान करके सीढ़ियाँ चढ़ रहे थे। तभी उनका पैर किसी से टकराया। वे क्षण-भर ठिठके और 'राम-राम' कहकर अपना पैर हटा लिया।

कबीर ने इसी राम-नाम को गुरुमंत्र स्वीकार किया। अब वे गुरुहीन नहीं थे। उन्होंने उस समय के प्रसिद्ध आचार्य को अपना गुरु बनाया था। वे महान् गुरु के महान् शिष्य थे।

लोगों ने सुना कि स्वामीजी ने एक जुलाहे कबीर को अपना शिष्य बना लिया है। वे ईर्ष्या से जल उठे।

लोगों ने जाकर रामानंद जी से पूछा, 'महाराज, आपने जुलाहे को भी अपना शिष्य बनाया है।'

स्वामीजी ने उत्तर दिया, 'भाई, हमने तो उसे शिष्य बनाया नहीं है।'

उपस्थित व्यक्तियों ने कहा, 'महाराज, वह तो शहर-भर में यही कहता फिरता है कि मैं स्वामी रामानंद जी का शिष्य हूँ।'

स्वामीजी आश्चर्यचकित थे, 'यह कैसे हो सकता है? मैंने तो किसी जुलाहे कबीर को दीक्षा नहीं दी।'

दूसरे दिन स्वामीजी ने कबीर साहब को बुलाया और पूछा, 'क्यों भाई! मैंने तुम्हें शिष्य कब बनाया? कब मंत्रोपदेश दिया?'

कबीर ने विनम्रता के साथ उत्तर दिया, 'गुरुदेव, अन्य लोगों को तो आप कान में ही मंत्रोपदेश देते होंगे। मुझे तो आपने मस्तक पर पैर रखकर मंत्रोपदेश दिया था।'

इतना कहकर कबीर ने गंगाघाट का सारा वृतांत कह सुनाया।

शिष्य की अगाध निष्ठा और अविरल भक्ति देखकर गुरु गद्‌गद् हो उठे।

शिष्य ने अपना शिष्यत्व प्रकट कर दिया था।

गुरु का स्नेह छलक उठा। उन्होंने अपने प्रिय शिष्य को हृदय से लगा लिया।

 ISSN 0975-735X

कबीर के काल में भारत पर मुसलमानों का राज्य था। हिंदुओं के ऊपर तरह-तरह के अत्याचार होते थे। ऐसी दशा में दोनों जातियों में पारस्परिक प्रेम के स्थान पर घृणा ही अधिक फैली हुई थी।

स्वाभाविक था कि मुसलमान परिवार के बालक को राम-राम कहते देखकर बिरादरी वाले उलझन में पड़ते। मुसलमान उनकी हरकतों को देखकर खीज से भर उठते। वे कहते : यह लड़का बड़ा काफ़िर होगा।'

कबीर इसका जवाब इस तरह देते : काफ़िर वह है, जो पराया धन लूटता है, धोखे से दुनिया को ठगता है, बेकसूर जीवों का वध करता है।

एक पद में उन्होंने काज़ी से कहा है : तुम कुरान का बाहरी ढकोसला छोड़कर राम का भजन करो, नहीं तो भारी जुल्म करोगे। मैंने तो राम का ही आसरा पकड़ा है, भले ही लोग मुझे समझाते-समझाते हार जाएँ।

कबीर के व्यवहार से नीरू-नीमा भी परेशान थे। यह कहाँ का घर- घालन पैदा हुआ है? अपनी बिरादरी के रीति-रिवाज छोड़कर हिंदुओं की तरह आचरण करता है। किंतु कबीर थे कि उनकी मस्ती बढ़ती ही जाती थी। इस मस्ती में वे कभी-कभी अपना कताई-बुनाई का धंधा भी भूल जाते थे। नीमा के लिए यह उलझन भरी बात थी, 'या खुदा! यह लड़का कैसे जिएगा।'
कबीर माता को समझाते थे, 'माँ, जब मैं नली के छेद में तागा डालने लगता हूँ तो मेरा प्यारा नाम मुझे भूल जाता है।

क्या करूँ मैं! पर तू चिंता न कर। वह राम ही तीनों लोकों को सँभालता है। वही हमारी ज़रूरतें भी पूरी करेगा।

कबीर परम वैरागी थे। सांसारिक माया-मोह से उन्हें कोई वास्ता न था। धन-संपत्ति उनके लिए व्यर्थ थे। फिर भी वे गृहस्थ-संन्यासी के रूप में जीवन-निर्वाह करते रहे। व्यवसाय व कार्य से जुलाहे का जीवन। यही उनकी जीविका का साधन था। वे कपड़ा बुनकर उसे बाज़ार में बेचने जाते और उसमें जो भी लाभ होता, उससे अपना और अपने परिवार का जीवन-निर्वाह किया करते थे। उसी से भक्तों की भी सेवा करते।

एक दिन एक नई घटना घटी।

एक ग़रीब ब्राह्मण बाज़ार में ही कबीर के पास पहुँचा। उसकी स्थिति उसकी दरिद्रता को बताने के लिए पर्याप्त थी। अपना तन ढकने के लिए उनसे दीनतापूर्वक कपड़ा माँगा। कबीर ने उसकी वाणी में छिपी दीनता को समझा। वे बोले : मैं तुम्हें आधा थान दे सकता हूँ। आज आधे से ही परिवार का ख़र्चा चला लूँगा।

किंतु आधे थान से ब्राह्मण को संतोष नहीं हुआ। उसने पूरा थान दे देने की विनती की। कबीर को दया आ गई। उस दिन बनाया गया सारा कपड़ा उन्होंने दान कर दिया। किंतु उन्हें चिंता हुई कि घरवालों को क्या खिलाएँगे? शर्म के कारण उन्हें घर जाने का साहस न हुआ। वे आस-पास ही कहीं छिपे बैठे रहे। सारा दिन बीत गया। घर के लोग भूख के कारण व्याकुल होने लगे। उसी समय एक अचंभा हुआ।

एक आदमी बैल पर खाने-पीने की चीज़ें लादकर लाया और ज़बरदस्ती कबीर के घर रख गया।

नीमा आश्चर्यचकित थी।

उसे अपने बेटे के स्वभाव का पता था। कोई लाख रुपए भी दे, लेकिन वह अपने परिश्रम के अलावा एक पैसा नहीं लेता था।

नीमा ने पूछा, 'ये सामान कहाँ से लाए?'

उस आदमी ने बताया, 'विश्वनाथ जी का दर्शन करने एक राजा आया हुआ है। तुम्हारे बेटे पर प्रसन्न होकर उसने बहुत-सा धन दिया। तुम्हारे बेटे ने तो एकदम इंकार ही कर दिया।

तब राजा ने बड़ी विनती करके खाने-पीने का यह सामान भिजवाया है। आप इसे स्वीकार कीजिए। कुछ देर बाद आपका बेटा भी आता होगा।'

इतना कहकर वह आदमी अपना भेद बताए बिना चला गया। नीमा को उसकी बात पर विश्वास हो गया। उसने सोचा—संभव है, यही बात सच हो। लोग कबीर को खोजने निकले और उन्हें यह ख़बर दी। वे तो आज सारा कपड़ा दान में दे चुके थे। घरवालों को खिलाने के लिए उनके पास कुछ न था। वे घर पहुँचे। नीमा ने सारा हाल कह सुनाया।

कबीर को मन-ही-मन विश्वास हो गया कि दयालु परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कौन ऐसा कर सकता है?

इस घटना से उनके आत्मबल में और अधिक वृद्धि हुई। अब तो वे ताना-बाना पूरी तरह भूल गए। हरिभक्ति ही उनका एकमात्र आधार बन गई।

ब्राह्मणों को भोज

कबीर की यशगाथा अपने पंख फैला रही थी। जनसामान्य में उनके प्रति श्रद्धा और आदर का भाव बढ़ रहा था। जनता उनके दर्शनों के लिए उत्सुक रहती थी।

पूरी काशी कबीरमय हो रही थी। कबीर राममय हो रहे थे।

एक जुलाहे का इतना आदर और सम्मान हो, यह बात न तो ब्राह्मणों को अच्छी लगी और न शहर के काज़ी को।

वे ईर्ष्या से जलने लगे। सभी के मन में एक ही बात थी। कबीर को किस प्रकार नीचा दिखाया जाए? ब्राह्मणों की एक सभा हुई। सभा में निर्णय लिया गया कि कबीर को काशी से बाहर निकाल दिया जाए। इसके बाद निर्णय की घोषणा कर दी गई। इस निर्णय से भक्तजन दुखी थे, किंतु उनकी बात कौन सुनता! तमाशा देखने के लिए नगरी की भीड़ उमड़ पड़ी। कुछ ब्राह्मण कबीर के पास पहुँचे और क्रोध प्रकट करने लगे। कबीर ने सबको आदर से बैठाया। विनम्रता के साथ पूछा, 'पधारने की कृपा किसलिए की?

ब्राह्मण बोले, 'तुम्हें आज ही काशी नगरी को छोड़ना होगा।'

'मेरा क्या अपराध है? आपके क्रोध का कारण क्या है?' कबीर ने पूछा।

'हम सबका यही निर्णय है।' ब्राह्मण-समुदाय ने कहा।

कबीर बोले, 'न तो मैंने किसी का कुछ चुराया है और न किसी की बेइज़्ज़ती की है। राम का नाम जपता हूँ। मेरा अपराध बताएँ।'

ब्राह्मण क्रोधपूर्वक कहने लगे, 'तुमने भोज दिया। शूद्रों को भोजन कराया। हम लोगों को पूछा तक नहीं। इसका प्रायश्चित यही है कि या तो हमारे भोज का प्रबंध करो अथवा इस नगरी को छोड़कर चले जाओ।'

 ISSN 0975-735X

यह तो घोर अन्याय था। कबीर के घर तो अन्न का दाना भी नहीं था। उन्होंने तो सब-कुछ ग़रीबों में बाँट दिया था। अब वे इतने लोगों के लिए अन्न की व्यवस्था कहाँ से करें? ब्राह्मणों को भूखा भेजना भी अधर्म था।

उन्होंने व्यवस्था करने का आश्वासन दिया और वहाँ से चले आए। ब्राह्मण कबीर के घर के बाहर एकत्र थे।

'देखा जाएगा, कभी तो लौटकर आएगा ही। बहुत बड़ा भक्त बनता है। आज असलियत का पता चलेगा।' ब्राह्मणों ने विचार किया।

तभी किसी ने देखा, 'एक व्यक्ति कई मज़दूरों के साथ उसी ओर आ रहा था। सबके सिर पर सामान लदा था।

मैदा, चावल, शक्कर की बोरियाँ घर के आगे उतारकर रख दी गईं। ब्राह्मणों में खलबली मच गई। सबको ढाई-ढाई सेर सामग्री देकर विदा कर दिया गया। प्रत्येक के मुँह से एक ही स्वर फूट रहा था, 'धन्य-धन्य।'

तभी एक ब्राह्मण कबीर को खोजता हुआ उनके पास पहुँचा। कबीर तो अपना मुँह छिपाए हुए बैठे थे।

ब्राह्मण बोला, 'तुम यहाँ बैठे हो। वहाँ सभी ब्राह्मणों और संन्यासियों को भोजन-सामग्री बाँटी जा रही है।'

'कहाँ भाई! कुछ तो बताओ।' कबीर ने आश्चर्य के साथ पूछा।

'अब बात न बनाओ, कबीर साहब। सामान तो घर भिजवा दिया और ख़ुद यहाँ बैठे हो।' ब्राह्मण ने उत्तर दिया, 'देखते नहीं, मैं स्वयं आपके घर से यह गठरी बाँधकर ला रहा हूँ।'

कबीर चुपचाप सुनते रहे। वह राम का चमत्कार प्रत्यक्ष देख रहे थे। वह मन-ही-मन बोले, 'मेरा कर्त्ता महान् है। उसके बिना यह आदर कौन दे सकता है?' सभी ब्राह्मण कबीर के सम्मुख नतमस्तक हो गए थे।

सिकंदर से शिकायत

काज़ी था कि ईर्ष्या से जला जा रहा था। वह ऐसे अवसर की खोज में था कि कब कबीर से बदला लिया जाए! आख़िर वह दिन भी आ पहुँचा।

उन्हीं दिनों काशी में सिकंदर लोदी का आगमन हुआ।

लोदी वंश का यह सुलतान दिल्ली की गद्दी पर विराजमान था।

सिकंदर लोदी अत्याचारी तो था, किंतु ख़ुदा और धर्म से डरने वाला शासक था। बनारस का काज़ी और वहाँ के मुल्ला उसके कान भरने लगे। उन्होंने सुलतान को समझाया–'कबीर किसी को कुछ नहीं समझता। सभी को गालियाँ देता है। बड़ा ही घमंडी है। इस जुलाहे ने बड़ा ही तूफ़ान खड़ा कर रखा है। उसने मुसलमानों के रीति-रिवाज छोड़ दिए हैं। वह तो ख़ुद ख़ुदा बनने का दावा करता है।'

ब्राह्मणों ने भी इसे उचित अवसर समझा। वे भी शिकायत लेकर पहुँच गए। उन्होंने कहा, 'वह तीर्थ और वेद की निंदा करता है। व्रत-उपवास को बेकार की बातें बताता है। हिंदू और तुर्क दोनों से अलग अपनी रीति चलाता है। आप ही हमारे माता-पिता हैं। आप ही हमारी रक्षा करें।'

सिकंदर लोदी ने सोचा–यह अजीब फ़क़ीर है, जो न तो किसी मस्ज़िद में जाता है और न

किसी मंदिर में जाने को अच्छा समझता है।

बादशाह ने तुरंत दो सिपाहियों को भेजा और कबीर को दरबार में हाज़िर होने का हुक्म दिया।

कबीर आए। वह आराम से बादशाह के सामने खड़े हो गए। उनके चेहरे पर किसी प्रकार का डर नहीं था। उन्होंने यह भी नहीं पूछा कि क्या बात है? बस खड़े रहे।

काज़ी ने कहा, 'बादशाह को सलाम कीजिए।' किंतु कबीर ने ऐसा भी नहीं किया। इस पर बादशाह गुस्से से भर उठा।

सुलतान के गुस्से को भाँपकर काज़ी ने कहा–'तू काफ़िर है। तू हमारे धर्म के ख़िलाफ़ प्रचार करता है। तू मुसलमान और हिंदू दोनों को गालियाँ देता है। तेरे चेले भी यही सब करते हैं। इन शिकायतों की सफ़ाई में तुझे कुछ कहना है।'

कबीर ने संक्षिप्त सा उत्तर दिया–'नहीं।'

दरबार में सन्नाटा छा गया। सभी की आँखें सुलतान की ओर थीं। कबीर के विरोधी मन-ही-मन ख़ुश थे कि अब तो इसे मौत की सजा मिलेगी। सिकंदर लोदी को भी कम आश्चर्य नहीं था। उसने ऐसे फ़क़ीर को कभी न देखा था। उसने पूछा, 'तुम अपना जुर्म मानते हो?'

'अगर किसी के दुर्गुण को दुर्गुण कहना बुराई है तो मैं ऐसा जुर्म करता हूँ और बार-बार करता रहूँगा। हिंदू और मुसलमान दोनों धर्मों को मानने वालों में ऐसी बहुत-सी बुराइयाँ हैं, जिन्हें दूर करना ज़रूरी है। मैं यदि उनकी चर्चा करता हूँ तो मुझ पर दोष लगाया जाता है।' कबीर ने निर्भीकता के साथ कहा।

अपनी बात को साफ़ तौर पर बताओ। बादशाह ने हुक्म-भरे लहज़े में कहा। इस पर कबीर ने कहा–

यह सब झूठी बंदगी, बिरथा पंच निबाज।
साँचै मारै झूठि पढ़ि, काजी करै अकाज।

कबीर ने केवल काज़ी को ही नहीं, मुल्ला को भी खरी-खरी सुनाते हुए कहा–

काजी मुल्ला भरमिया, चल्या दुनी के साथ।
दिल थै दीन बिसारिया, करद लई जब हाथ।

कबीर की वाणी में स्पष्टता थी। जो कुछ भी मन में था, वह सब- कुछ प्रकट था। कुछ भी तो नहीं छिपाया गया था। अब इसे स्पष्टवादिता कहें अथवा दोष। कबीर पर किसी प्रकार का बोझ नहीं था। उन्होंने बताया, 'मुझे हिंदुओं और तुर्कों से कुछ लेना-देना नहीं है। गुरु के प्रताप से राम की भक्ति करता हूँ और उसी के गुण गाता हूँ। राम के भरोसे रहकर मैं राजा या रंक सबको एक बराबर मानता हूँ।'

काज़ी ने कबीर की बात सुनी और फ़ैसला दिया, 'कबीर ने इस्लाम की निंदा की है। वह काफ़िर है। उसकी माला छीन लो, तिलक मिटा दो। इसकी सजा है कि इसे पत्थरों से पीट-पीटकर मार दिया जाए।'

कबीर ने कहा, 'काफ़िर मैं नहीं, तुम हो। कौनसी पुस्तक में गोकशी करने, मुर्ग़ा और बकरा काटने की आज्ञा दी गई है?'

यह सुनते ही बादशाह क्रोध से पागल हो उठा। उसने आज्ञा दी, 'इस फ़क़ीर के हाथ-पैर

 ISSN 0975-735X

बाँधकर इसे गंगा में फेंक दिया जाए।'

जल्लादों ने बादशाह के हुक्म का पालन किया, किंतु पानी में डालते ही कबीर की ज़ंजीरें टूट गईं। वे जल के ऊपर तैरने लगे। लोगों ने कहा, 'लगता है, यह कोई जादू-टोना जानता है।'

दूसरी बार उनके हाथ-पैर बाँधकर एक घर के अंदर डाल दिया गया। घर के चारों ओर आग लगा दी गई। मकान जलकर राख हो गया। राख तक हवा में उड़ गई। किंतु कबीर का बाल भी बाँका न हुआ।

सिकंदर लोदी का क्रोध भी अब तक शांत नहीं हुआ था। कबीर की मौत अहंकार को शांत करने के लिए आवश्यक थी।

उसने आज्ञा दी कि 'कबीर के हाथ-पैर बाँधकर उसे मदमस्त हाथी के सामने डाल दिया जाए।'

आज्ञा का पालन किया गया।

हाथी भी ऐसा कि अपनी छाया को भी जीव समझकर कुचलता रहता था। ऐसा बिगड़ैल हाथी कबीर के सामने छोड़ दिया गया। लेकिन लोग अचंभे से भरे रह गए।

हाथी ने कबीर की ओर देखा और देर तक उन्हें निहारता रहा। ऐसा लग रहा था, जैसे उसके सामने कोई शेर खड़ा हो।

आख़िर वह चिंघाड़ता हुआ वहाँ से भाग खड़ा हुआ।

कबीर के पद इस बात का प्रमाण हैं कि उन पर इस प्रकार के अत्याचार अवश्य किए गए होंगे और ईश्वर की कृपा ने उनकी रक्षा की होगी।

गंगा में फेंके जाने के प्रमाणस्वरूप निम्नलिखित पद प्रस्तुत किया जाता है–

मन न डिगै तनु काहे को डराइ, चरन-कमल चितु रह्यौ समाई
गंग गुसाइनि गरि गंभीर, जंजीर बाँधि करि खरे कबीर
गंगा की लहर मेरी टुटि ज़ंजीर, मृगछाला पर बैठे कबीर
कहै कबीर कोई संग न साथ, जल-थल में राखै रघुनाथ।

हाथी के सामने फेंके जाने की घटना के संबंध में कबीर की निम्नलिखित पंक्तियाँ स्वयं प्रमाण हैं–

आहि मेरे ठाकुर तुम्हरा जोर, काजी बाकिबो हस्ती तोर
भुजा बाँधि मिला करि डार्‌यौ, हस्ती कोपि मूँड महि मार्‌यौ
भाग्यौ हस्ती चीसा मारी, या मूरति की हौं बलिहारी।

समाज-सुधार

दूसरे फ़क़ीरों और संन्यासियों की तुलना में कबीर का रास्ता बिलकुल अलग था। वे केवल अध्यात्म और मोक्ष की साधना में नहीं लगे रहे, समाज में फैली बुराइयों और विडंबनाओं को दूर करने का संकल्प भी उन्होंने लिया। ऐसा करने में कबीर अनेक स्थानों पर कठोर भी हो गए हैं।

उनका विचार था कि समाज की बुराइयों को दूर करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सुधारना होगा।

कबीर का युग पराधीनता का युग था। वर्ग-विद्वेष समाज के रक्त में मिल चुका था। अवर्ण-सवर्ण की खाई बढ़ती जा रही थी। मंदिरों में पूजा, भक्ति, अर्चन और ज्ञानोपार्जन शूद्रों के लिए वर्जित कर दिया गया था।

कबीर की आत्मा इस पारस्परिक दुर्व्यवहार से आहत हो गई। अस्पृश्यता के इस कलंक को मिटाने के लिए उन्होंने घोर संघर्ष किया।

उन्होंने घोषणा की कि जन्म से ही कोई शूद्र अथवा श्रेष्ठ नहीं हो सकता। यह सब तो मनुष्य के स्वार्थ की करामात है–

हम तुम्ह माँहि एके लौहू, एक पाँनि जीवन है मौहू
एकहि जननी जन्याँ संसारा, कौन ग्यान से भये निनारा।

सबके अंदर एक ही रंग का रक्त प्रवाहित है। सबमें समान प्राण व्याप्त हैं। सबको एक प्रकृति ने पैदा किया है। फिर कोई अलग-अलग, ऊँचा-नीचा कैसे हो सकता है?

इसीलिए कबीर ने कहा है कि हमें पारस्परिक भेदभाव का त्याग करना होगा। सबका कर्त्तव्य है कि वे मिल-जुलकर रहें। इसी में सबका कल्याण है–

सर्वभूत एके करि जान्याँ, चूक वाद-विवारा
कहि कबीर में पूरा पाया, भये राम परसारा

कबीर का मन ऊँच-नीच की भावना से दुखी था। इसके अतिरिक्त कबीर के हृदय में एक पीड़ा और भी थी।

सांप्रदायिक वैमनस्य ने समाज को क्षत-विक्षत कर दिया था।

हिंदू और मुसलमान दो ऐसे संप्रदाय थे, जिनमें हमेशा तनाव बना रहता था। कबीर ने सांप्रदायिक एकता स्थापित करने का अथक् प्रयास किया।

उन्होंने समझाया : मंदिर, मूर्ति और मस्ज़िद को लेकर झगड़ा करना व्यर्थ है। ईश्वर तो एक ही है, चाहे उसे किसी भी नाम से पुकारा जाए। उसे किसी एक स्थान में खोजना मोटी बुद्धि का काम है :

जौर खुदाय मसीति बसत है और मुलिक किस केरा
तीरथ मूरति राम निवासा दुहु मैं हिनहूँ न हेरा।

तुम परमात्मा के हो सकते हो, यह बात तो समझ में आती है, लेकिन तुम उल्टा काम करते हो, तुम परमात्मा को अपना बना लेते हो। परमात्मा के हो जाओ, क्योंकि तुम बूँद हो, वह सागर है। समर्पण कर दो अपना। लीन हो जाओ विराट् में। यह बात समझ में आती है। लेकिन लीन तो कोई नहीं होता। लोग उलटे परमात्मा पर ही क़ब्ज़ा कर लेते हैं। बूँद सागर पर क़ब्ज़ा कर रही है। परिणामत: 'हिंदू कहत है राम हमारा, मुसलमान रहमाना।'

परमात्मा तो तुम्हारा रक्षक है, किंतु तुम हो कि परमात्मा की रक्षा की दावेदारी कर रहे हो, कहीं मुसलमान आकर मंदिर की मूर्ति न तोड़ दे, कहीं मस्ज़िद में कोई हिंदू आग न लगा दे, कहीं कुरान का कोई अपमान न कर दे, कहीं गीता का कोई विरोध न कर दे।

तुम परमात्मा की रक्षा में जुट जाते हो। इस प्रकार जैसे तुम्हारा परमात्मा बड़ा असहाय है। जगह-जगह कुटेगा, पिटेगा, लोग आएँगे, मारेंगे, काटेंगे, तोड़ेंगे। तुम ही उसे बचा सकते हो।

हिंदुओं और मुसलमानों की इस अज्ञानता पर कबीर ने ढार-ढार आँसू बहाए हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि न तो हिंदू के हृदय में दया है और न मुसलमान के मन में मेहर है। दोनों की करुणा समाप्त हो गई है। दोनों का प्रेम चुक गया है, किंतु खेद तो यह है कि दोनों ही खुद को समझदार और सयाना समझते हैं–

 ISSN 0975-735X

साधो देखो जग बौराना।
साँची कहौ तो मारन धावै, झूठे जग पतियाना।
हिंदू कहत है राम हमारा, मुसलमान रहमाना।
आपस में दोउ लड़े मरतु हैं, मरम कोई नहिं जाना।
बहुत मिले मोहि नेमी धरमी, प्रात करै असनाना।
आतम छाड़ि पखाने पूजैं तिनका थोथा ग्याना।
आसन मारि डिंभ धरि बैठे, मन में बहुत गुमाना।
पीपर पाथर पूजै लागे, तीरथ बर्त भुलाना।
माला पहिरे टोपी पहिरे, छाप तिलक अनुमाना।
साखी सबदै गावत भूलै आतम खबर न जाना।
घर-घर मंत्र जो देत फिरत है माया के अभिमाना।
गुरुवा सहित सिष्य सब बूड़े, अंतकाल पछताना।
बहुतक देखे पीर औलिया, पढ़ैं किताब कुराना।
करै मुरीद कबर बतलावै, उनहुँ खुदा न जाना।
हिंदू की दया मेहर तुरकन की, दोनों घर से भागी।
वह करै जिबह वाँ झटका मारै, आग दोउ घर लागी।
या विधि हँसी चलत है हमको, आप कहावै सयाना।
कहै कबीर सुनो भई साधो, इनमें कौन दिवाना।

कबीर ने साफ़-साफ़ कहा– सांप्रदायिक व्यक्ति धर्म को नहीं जानता। वह कभी जान ही नहीं सकता। उस परमात्मा की खोज कहीं और करने की आवश्यकता नहीं। वह तो तुम्हारे अंदर विद्यमान है। मृग की नाभि में कस्तूरी की तरह–

कस्तूरी कुंडल बसै मृग ढूँढे वन माँहिं,
ऐसे घट-घट राम हैं, दुनिया देखे नाहिं।

कबीर को ऐसे कृत्यों को देखकर आश्चर्य होता है, जो जीव-हिंसा तक को धर्म कहते हैं। यदि हिंसा ही धर्म है तो अधर्म क्या है? कबीर का कथन है–

जीव बधत अरु धर्म कहत हो, अधरम कहाँ है भाई।
आपन तो मुनि जन हैं बैठे कासन कहौं कसाई।

कबीर का धर्म प्रेम का धर्म है। कबीर का दर्शन मानवता का दर्शन है। कबीर की विचारधारा ममत्व से परिपूर्ण है। वहाँ पोथी-ज्ञान व्यर्थ है। प्रेम का झर-झर झरता झरना उनके विचारों के बीच प्रवाहित है। वे तो प्रेम के आखर को ही सब-कुछ मानते हैं। इसलिए तो कबीर ने कहा–

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय,
ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय।

जो साधक संपूर्ण जीवों के प्रति आत्मीय एकता स्थापित कर लेता है, वही सब प्रकार के आनंद पाता है। मुक्तानंद अवस्था का आनंद उसे ही प्राप्त होता है। उस अवस्था का वर्णन नहीं किया जा सकता। कबीर की वाणी में–

अकथ कहांणी प्रेम की, कछू कही न जाई,
गूँगे केरी सर करा, बैठे ही मुसकाई।

ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया

कबीर ने स्वीकार किया है : जो पहिरा सो फाकिसी, नाम धरा सो जाइ।' इसी प्रकार आत्मा भी शरीर रूपी जो चोला पहनती है, वह भी समय आने पर पंचतत्त्व में विलीन हो जाता है।

कबीर ने अनुमान किया कि उनका अवसान-काल समीप है। अब इस शरीर को त्यागना होगा। आत्मा को परमात्मा में लीन करने का समय आ गया था।

वे काशी में थे। काशी मोक्ष की नगरी है। मृत्यु के समय हर व्यक्ति काशीवास की कामना करता है, किंतु कबीर तो क्रांतिकारी थे। उन्होंने घोषणा की, 'वे अब मगहर में जाकर रहेंगे।'

मगहर के विषय में यह अंधविश्वास प्रचलित था कि वहाँ पर मरने पर मुक्ति नहीं मिलती। कबीर तो जीवन-भर अंधविश्वास के विरुद्ध संघर्ष करते रहे थे। मगहर के इस कलंक को धोना आवश्यक था। अंधविश्वास का विरोध आवश्यक था।

इस घोषणा से कबीर के शिष्यों को बड़ा कष्ट हुआ। कबीर ने उन्हें समझाया–

लोगा तुम हौ मति के भोरा।
जउ कासी तनु तजहि कबीरा तौ रामहि कौन निहोरा।
जो जन भाउ भगति कदु जानैं ताकौ अचरजु काहो,
जैसें जल जलहीं ढुरि मिलियौ त्यौं ढुरि मिल्यौ जुलाहो।
कहे कबीर सुनहु रे लोगों मरमि न भूलौ कोई,
क्या कासी क्या मगहर ऊखर हृदै राम जो होई।

कबीर को विश्वास था कि मोक्ष के लिए स्थान नहीं, कर्म ही प्रधान होते हैं। भावभक्ति के भरोसे वे मगहर में प्राण छोड़ने पर भी अपने राम में इस प्रकार घुल-मिल गए जैसे पानी में पानी मिल जाता है।

जिसके हृदय में राम का वास है, उसके लिए काशी और मगहर में कोई भी तो अंतर नहीं। अगर काशी में मृत्यु होने पर ही मोक्ष मिलता है तो फिर राम की कौनसी बढ़ाई समझी जाए।

आख़िर कबीर मगहर पहुँच गए। वहाँ पहुँचने पर उनके भक्तों का एक मेला-सा लग गया। हर कोई उनके दर्शन की साध लेकर आता था। अंतिम दिवस उन्होंने सबको एकत्र किया। कबीर ने सबकी ओर देखा। सबने कबीर की आँखों में झलकते प्रकाश का अनुभव किया। तभी उनका एक भक्त गा उठा–

झीनी झीनी बीनी चदरिया
काहै के ताना, काहे के भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया
साँई को सियत मास दस लागे, ठोक-ठोक के बीनी चदरिया
सो चादर सुर-नर मुनि ओढ़े, ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया
दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।

लोगों ने देखा कि एक ज्योति कबीर के शरीर से बाहर आई और आसमान की ओर चली गई। उपस्थित जनसमुदाय को विश्वास हो गया कि कबीर का महाप्रयाण हो गया है।

कबीर ने जीवन-भर अंधविश्वासों का विरोध किया। उन्होंने एकता, मित्रता, सहिष्णुता, आत्मीयता का उपदेश दिया, किंतु उनकी मृत्यु का समाचार मिलते ही एक विवाद छिड़ गया।

काशीनरेश वीरसिंह और उनके हिंदूभक्त चाहते थे कि कबीर का अंतिम संस्कार अग्नि में

 ISSN 0975-735X

जलाकर हिंदू-पद्धति से किया जाए। दूसरी ओर मुस्लिम अनुयायियों की कामना थी कि उनका संस्कार मुस्लिम मजहब के अनुसार दफ़नाकर होना चाहिए।

बात इतनी बढ़ी कि दोनों ओर से तलवारें खिंच गईं।

तभी एक आकाशवाणी हुई : 'व्यर्थ में एक-दूसरे के रक्त के प्यासे हो रहे हो। जाओ, कुटी का दरवाज़ा खोलकर देखो।'

लोगों ने जब कुटिया का द्वार खोला तो वे आश्चर्यचकित रह गए। वहाँ कबीर का शव नहीं था। उसके स्थान पर फूलों का एक छोटा-सा ढेर पड़ा था।

दोनों संप्रदायों के भक्तों ने अपनी-अपनी आस्था के अनुसार कबीर का अंतिम संस्कार किया।

कबीर समर्पण की सही पहचान हैं।

अहंकार से लाखों कोस दूर।

समर्पण की भावदशा यह है कि जो भी दुर्गुण हैं वे मेरे हैं, जो भी सद्गुण हैं, वे तेरे हैं।

अब तो सब छोड़ रहा हूँ। दुर्गुण, सद्गुण सब तेरे चरणों में अर्पित कर रहा हूँ। यही जीवन का रहस्य है।

जिस दिन कोई व्यक्ति परमात्मा में इस प्रकार समर्पित हो जाता है तो वह कबीर बन जाता है। एक ऐसा कबीर, जो कहता है :

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर,
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर।

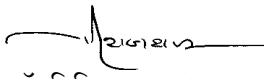

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल

समीक्षा समिति

प्रो॰ हरिमोहन, कुलपति, जे॰एस॰विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद (फिरोजाबाद) उ॰प्र॰
प्रो॰ खेमसिंह डहेरिया, कुलपति, अटलबिहारी वाजपेयी हिंदी विश्वविद्यालय, भोपाल (म॰प्र॰)
प्रो॰ आदित्य प्रचंडिया, पूर्व प्रोफेसर हिंदी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, दयालबाग, आगरा (उ॰प्र॰)
प्रो॰ नंदकुमार पांडेय, हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
प्रो॰ हरिमोहन बुधौलिया, पूर्व अध्यक्ष हिंदी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म॰प्र॰)
प्रो॰ शंभुनाथ तिवारी, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ॰प्र॰)
प्रो॰ चंद्रकांत मिसाल, अध्यक्ष हिंदी विभाग, एस॰एन॰डी॰टी॰ महिला विद्यापीठ, पुणे (महा॰)
डॉ॰ संजीवकुमार, लेखक एवं साहित्यकार, नोएडा (उ॰प्र॰)
डॉ॰ शशिप्रभा, अध्यक्ष हिंदी विभाग, वर्धमान कॉलेज, बिजनौर (उ॰प्र॰)

अनुक्रम

स्वाधीनता-आंदोलन के आलोक में हिंदी-पत्रकारिता/ **डॉ॰ लक्ष्मी गुप्ता** 19
किसान त्रासदी और 'फाँस'/ **नवीन राय** 26
थर्ड जेंडर पर बारह हिंदी उपन्यासों का परिचयात्मक अनुशीलन
पूजा विश्वकर्मा, डॉ॰ शैलेन्द्र कुमार ठाकुर, डॉ॰ सुधीर शर्मा 32
स्वतंत्र लेखन का अद्‌भुत दस्तावेज : 'हादसे' आत्मकथा/ **पूनम चौहान** 42
रीतिकाल में हिंदू मुस्लिम संस्कृति का समन्वय/ **प्रो॰ राखी उपाध्याय** 48
पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की कहानियों में राष्ट्रीय-सामाजिक-सांस्कृतिक
जागरण का प्रभाव/ **कनक नंदिनी** 56
हिंदी मीडिया और भाषा/ **डॉ॰ राकेशकुमार दुबे** 62
अवधी लोकगीतों में रस-व्यंजना/ **डॉ॰ सीमा गुप्ता** 69
सम्यक् आजीव बौद्ध आर्थिक व्यवस्था का मूलाधार : एक अध्ययन/
शुभम महेश गजभिये 75
कुसुम अंसल की कहानी में किन्नर जीवन/ **शिवानी, प्रो॰ सुचित्रा मलिक** 81
दीनदयाल उपाध्याय की पत्रकारिता और एकात्म मानववाद/ **शुभांगी** 85
केदारनाथ सिंह की कविताओं में व्यक्त भावबोध/ **श्रीमती शुभ्रा पांडेय** 89
कालगणना में सृष्टि रचना का महत्त्व/ **डॉ॰ सोनिया** 95
डॉ॰ दामोदर खड़से के उपन्यास 'बादल राग' में नारी-संघर्ष/
स्वाति पाल, डॉ॰ शशिकला सालुंखे 100
सरकारी योजनाओं के क्रियान्वयन में जनसंपर्क विभाग द्वारा डिजिटल
मीडिया के प्रयोग का एक विश्लेषणात्मक अध्ययन/ 104
सुधाकर शुक्ला, डॉ॰ नरेंद्र कौशिक 104
हिंदी की समकालीन कहानियों में महानगरीय बोध का चित्रण/
सुषमा माधवराव नरांजे 109
द्विवेदीयुगीन उपन्यासों में ग्रामीण जनजीवन की अभिव्यक्ति/ **उपदीप कौर** 113
विवेकी राय की कहानियों में सामाजिक जीवन/ **वर्षा रानी, जयनारायण** 118
औरत ही औरत की आवाज/ **डॉ॰ विजय कुमार वर्मा** 121
हिंदीभाषा और मीडिया वैश्विक परिदृश्य/ **डॉ॰ विजयबहादुर त्रिपाठी** 125
क्रांतिकारी कवि और विद्रोही संत : महात्मा कबीर/ **डॉ॰ सुधाकर शेंडगे** 130
राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 : उच्च शिक्षा के क्षेत्र में नई पहल/
ज्ञानेश कुमार वर्मा 138
जीवनकौशल शिक्षा तथा इसका महत्त्व/ **सत्यप्रकाश परमार** 143

'रेत समाधि' उपन्यास का कथानक, भाषा शिल्प एवं रचना-शैली का साहित्यिक विवेचन/ **डॉ॰ पंकजबाला श्रीवास्तव** 149
गोदान का महत्त्व/ **डॉ॰ विशेषकुमार राय** 155
रामनरेश त्रिपाठी की हिंदी कविता में गांधी का प्रभाव : एक अवलोकन/ **राजीवकुमार दास** 160
आदिवासी जीवन संघर्ष का कड़वा सच : बस्तर-बस्तर/ **डॉ॰ कुलदीप सिंह मीना** 168
दलित-विमर्श की अवधारणा/ **राजमणि सरोज** 173
औद्योगिक मजदूरों का चित्रण करने वाली शेखर जोशी की कहानियाँ/ **डॉ॰ विजय सिंह** 177
भक्तिसंगीत का बदलता स्वरूप/ **नेहा सहगल, प्रो॰ विमल** 182
हरियाणा के लोकसंगीतज्ञ पं॰ निहालचंद के सांगों का भावपक्ष/ **उषा, डॉ॰ आरती श्योकंद** 188
विजेंद्र के काव्य में विचारात्मक औदात्य/ **मीना देवी, डॉ॰ कमला कौशिक** 194
मधु काँकरिया के उपन्यासों में नारी-जीवन का यथार्थ/ **नीतु कुमारी झारोटिया** 198
नरेंद्र कोहली के महासमर उपन्यास में आधुनिकताबोध/ **तरुणकिशोर नौटियाल** 203
रहीम का नीतिकाव्य/ **डॉ॰ अर्चना गौतम** 209
'तमस' के विशेष संदर्भ में भीष्म साहनी के उपन्यास और सामाजिक यथार्थ/ **डॉ॰ सुनीता कुमारी** 215
हिमांशु जोशी के कहानियों में नारी-विमर्श/ **डॉ॰ सुनील एम॰ पाटिल** 218
मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में स्त्री विद्रोह के स्वर/ **डॉ॰ लोकेशकुमार** 223
अमृत महोत्सव से संबंधित खबरों के राष्ट्रीय हिंदी न्यूज चैनलों पर प्रस्तुतिकरण का दर्शकों पर प्रभाव: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन/**आदर्शकुमार** 227
'छप्पर' : दलित संघर्ष-यात्रा के आलोक में/ **डॉ॰ वैशाली विट्ठल खेडकर** 232
समकालीन हिंदी कविता में पुनर्वास/ **डॉ॰ राम बिनोद रे** 237
आदिवासी कवयित्रियों की कविताओं में प्रतिरोध के स्वर/ **डॉ॰ सोनम शुक्ला** 243
हिंदी उपन्यासों में पर्यायवरण विमर्श/ **आरती** 250
स्वातंत्र्योत्तरकाल में व्यंग्यात्मक हिंदी-कविताओं के पुरोधा : नागार्जुन/ **डॉ॰ ज्ञानेन्द्रमणि त्रिपाठी** 255
मिथकीय प्रयोग और हरिशंकर परसाई/ **डॉ॰ ममता देवी** 263
त्राटक साधना पर साहित्यिक व प्रायोगिक अध्ययन/ **कृष्णा दग्दी राकेश गिरी, सुरेन्द्रकुमार** 271
'महाभोज' उपन्यास में राजनीतिक अवसरवादिता/ **मुकेशकुमार जाटव** 276
शरद सिंह की कहानियों में वृद्ध स्त्री के अकेलेपन की समस्या/ **आशारानी** 281
आचार्य केशवदास के काव्यशास्त्रीय सामान्य अलंकार विवेचन में श्रीराम/ **अशेष उपाध्याय** 285

गुरु तेगबहादुर : युगचिंतक/ **डॉ॰ हरजिंदर कौर** 292
मृदुला गर्ग के उपन्यास 'चित्तकोबरा' में व्यक्त स्त्री का स्वतंत्र अस्तित्व/ **डॉ॰ रश्मिकुमारी, क्षमा वर्मा** 296
झारखंड के प्रमुख प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक पर्व : करमा/ **डॉ॰ निरंजनकुमार** 303
रजतरानी मीनू की स्त्री दृष्टि और दलित स्त्रीवाद/ **राजा कुमार** 308
भारतीय चिंतन परंपरा को सुदृढ़ करने वाले निबंधकार कुबेरनाथ राय/ **ऋषिकेशकुमार** 315
बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के हिंदी उपन्यासों में स्त्री-पुरुष संबंधों की चेतना/ **डॉ॰ रुपिन्द्र शर्मा** 319
अनामिका की कविता में अभिव्यक्त स्त्री-प्रश्न/ **डॉ॰ शिवकुमार मंडल** 326
हिंदी और मलयालम के सार्वनामिक संबोधन शब्द : एक समाज भाषावैज्ञानिक अध्ययन/ **डॉ॰ सिंधु एस॰एल॰** 332
जनजागरण के अग्रदूत संत तुकाराम/ **डॉ॰ प्रेमकुमार** 338
अलका सरावगी के उपन्यास में विभाजन की त्रासदी/ **डॉ॰ रामरती, ममता** 342
'कंकाल' का सामाजिक यथार्थ/ **डॉ॰ अर्जुनसिंह** 345
गोविंद वल्लभ पंत के उपन्यासों में चित्रित समाज/ **मोनी** 349
गिरमिटिया मजदूरों की संघर्ष गाथा : लाल पसीना/ **दीक्षा गुप्ता** 353
साझा भारतीय संस्कृति और राही मासूम रजा के उपन्यास/ **डॉ॰ राजेशकुमार** 359
आधुनिक हिंदीकाव्य में राष्ट्रीय चेतना/ **नीतू यादव** 362
भक्ति-आंदोलन : उद्‌भव व विकास/ **काजल** 367
मणिपुर में क्षेत्रीय संस्कृति एवं समाज के विकास में हिंदी के महत्त्व का विश्लेषण/ **डॉ॰ शिवम चतुर्वेदी, किस्मतुन बेगम** 373

स्वाधीनता-आंदोलन के आलोक में हिंदी-पत्रकारिता

डॉ॰ लक्ष्मी गुप्ता, सहायक प्रवक्ता, हिंदी
गुरु नानक गर्ल्स कॉलेज, यमुनानगर (हरियाणा)

'रणभेरी बज उठी वीरवर, पहनो केसरिया बाना।'

आजादी के अमृत महोत्सव के अवसर पर भारत देश समवेत रूप से अपने अतीत के मधु-तिक्त पलों का भी स्मरण कर रहा है। स्मृति की सामूहिक चेतना-धारा में अवगाहन करते हुए प्रत्येक भारतीय एक ओर गौरवांवित हो रहा है तो दूसरी ओर विषम वर्तमान का आकलन करते हुए भीतर-ही-भीतर गहरे असंतोष और अभाव की त्रासमयी वेदना का दंश भी अनुभव कर रहा है। गौरव और विक्षोभ के कारण अज्ञात नहीं है। हाँ, पीड़ा का स्वरूप निश्चित ही अभूतपूर्व और अश्रुतपूर्व है।

भारतीय चिंतनधारा स्वतंत्रता का स्तवन/वंदन करते हुए उसे जीवन का अपूर्व वरदान मानती रही है। शायद इसी विचारधारा ने पराधीनता के कटु-काल में स्वतंत्रता की तीव्र अकुलाहटमयी अभीप्सा बनकर भारतीय जनमानस को सामूहिक रूप से झकझोरते हुए एक कर दिया था। ऊर्जा का महासागर उद्वेलित हो उठा था और बरतानियाँ सरकार को, जिसके साम्राज्य का सूर्य कभी अस्त नहीं होता था, मिथकीय सृष्टि बन चुके विदेशी शासन के पोत को अपने ज्वार में डुबा दिया था। आज से 75 वर्ष पूर्व स्वातंत्र्य सूर्य के अभ्युदय से जन-जन का मन प्रभापूर्ण हो उठा था। आज स्वतंत्रता सपना नहीं यथार्थ है, कल्पना नहीं सत्य है। स्वाधीनता का दर्प हमारे राष्ट्रीय जीवन में सर्वत्र आलोकित है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् देश ने चतुर्दिक प्रगति की है। 'राष्ट्रों की जिजीविषा अपने अतीत के ऐश्वर्य एवं वैभव के साथ जब तक संबद्ध रहती है, और जब तक उनकी जीवनीशक्ति उसे ही अपने लिए अमृत प्रवाह का उद्‌गम मानकर युग के साथ चलने का सत्साहस करती है, तब तक उस राष्ट्र एवं जाति की आत्मा पाशमुक्त बनी रहती है। उसकी पार्थिव पराधीनता एक झंझावात या सामयिक प्रवाह की भाँति आकर चली जाती है। सांस्कृतिक अवगुंठन खुलते ही उसका अपना ही आलोक प्राप्त होने लगता है जिस पर चलकर वह जाति अपना भविष्य पुनः सुस्थिर कर लेती है।'[1] विशेष रूप से भारत में इस संचेतना का संचार, त्रिकोणात्मक स्रोतों द्वारा 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ। संतों, महात्माओं, आचार्यों, कवियों एवं सुधारकों द्वारा जो प्रथम स्रोत बना उसने वर्तमान दयनीय दशा का बोध कराते हुए अतीत के दैदीप्यमान गौरव को पहचानने की दृष्टि दी।

दूसरा स्रोत पत्र-पत्रिकाओं का बना, 'जिन्होंने सावधान दिक्‌निर्देशक की भाँति गंतव्य का पथ दिखलाकर, साथ ही पाथेय प्रदान कर आगे बढ़ने के लिए डाँक लगाई। यह डाँक शक्तिप्रदायी कौमी आवाज बनकर कोने-कोने तक पहुँची और जन-जन में सांस्कृतिक जागरण स्वाधीनता का पर्याय बनकर समा गई—कन्याकुमारी से कश्मीर तक उत्सर्ग का तराना लहराने लगा। अदम्य और अपरंपार शक्ति पूँजीभूत होकर सामने आ गई, उसको किसी विलायती शासक के शस्त्र, कूटनीति

और प्रताड़ना का आतंक दबा नहीं सके। यह महती उपलब्धि भारत की पत्र-पत्रिकाओं की थी।'[2]

तीसरा स्रोत, नेतृत्व का बना, जिसने महान देश को नवजागरण-बेला की पहचान दी और देश को आगे बढ़ाने के लिए पथ-प्रदर्शित किया। देश की स्वाधीनता के इन तीनों घटकों का परस्पर पूरक रूप से जो सामंजस्य यहाँ तैयार हुआ; उसने भारत मही की स्वतंत्रता-प्राप्ति के पथ को विश्व के पराधीनों को स्वाधीन बनाने के लिए सशक्त आंदोलन रीति का सूत्रपात किया।

स्वाधीनता, स्वराष्ट्रोन्नति और सर्वोदय-भावना की त्रिवेणी पर हिंदी पत्रकारिता-गौरव का तीर्थ समादृत है। वस्तुतः राष्ट्रीय एवं मानवीय मूल्यों से संदर्भित सत्कार्य ही पत्रकारिता है, जिससे देशवासियों की नस-नस में स्वतंत्रता, समानता और विश्वबंधुत्व की भावना का संचार होता है। सद्विचारों की अभिव्यक्ति, पवित्र भावों की उद्भूति और न्यायोचित नैतिकता की पावन पीठिका ही पत्रकारिता का आधार है। इसलिए स्वामी दयानंद सरस्वती, राजा राममोहन राय, महर्षि अरविंद, विवेकानंद व गंगाधर तिलक तथा गोखले प्रभूति मनीषियों ने पत्रकारिता को स्वतंत्रता-प्राप्ति का सर्वाधिक सरस व सक्षम माध्यम उद्घोषित किया। 'वंदे मातरम्', 'कर्मयोगी', 'मराठा' और 'संध्या' जैसे अग्निवर्षी समाचार-पत्रों ने स्वातंत्र्य आंदोलन को प्रज्वलित किया। विवेकानंद के अग्रज भूपेंद्रनाथ दत्त की पत्रकारिता का मूल मंत्र था–

ज्वलुक ज्वलुक विप्लवहिन नगरे-नगरे।
भस्म होक् राक्षसेर स्वर्ण लंकापुरी।

जबकि 'केशरी' के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित इस चेतावनी ने 'सावधान, निश्चिंत होकर न विचरना, जब देश की प्रजा नींद से उठ जाएगी, तब तुम्हारी खैर नहीं' राष्ट्रभक्तों को स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़ने हेतु प्रेरित किया। जिस कारण समस्त भारतीय जन-समुदाय ने 'दैनिक वर्तमान' के स्वर में स्वर मिलाते हुए जयघोष किया–

भारत के हम और हमारा भारत प्यारा।
स्वतंत्रता है जन्मसिद्ध अधिकार हमारा।

वास्तव में हिंदी पत्रकारिता का अभ्युदय स्वाभिमान के संचार, स्वदेश प्रेम के उदय एवं आंग्ल शासन के प्रबल प्रतिरोध स्वरूप स्वतंत्रता सेनानियों के चिंतन, मनन एवं स्वाधीनता-प्राप्ति के उद्देश्य से हुआ। स्वतंत्रता आंदोलन के सूत्रधार की भूमिका इतनी सहज नहीं थी। 'स्वराज्य' नामक पत्र के संपादक हेतु प्रकाशित विज्ञापन दृष्टव्य है–'स्वराज्य' अखबार के लिए एक संपादक चाहिए। जिसे दो जून सूखी रोटी, एक गिलास सादा पानी तथा हर संपादकीय पर दस वर्ष की सजा मिलेगी।' अँग्रेजों ने भारतीय जन-जीवन में आत्मदैन्य और हीनता की भावना भर दी थी। जिस कारण महात्मा गांधी का मानना था कि 'मेरा ख्याल है कि ऐसी कोई भी लड़ाई जिसका आधार आत्मबल हो, अखबार की सहायता बिना नहीं चलाई जा सकती।' जबकि पत्रकारिता के भीष्म पितामह पराड़कर का मानना था–'हमारा उद्देश्य अपने देश के लिए सब प्रकार से स्वातंत्र्य-उपार्जन है। हमें हर बात में स्वतंत्र होना चाहिए। हमारा लक्ष्य यह है कि हम अपने देश का गौरव बढ़ावें। अपने देशवासियों में स्वाभिमान का संचार करें, उनको ऐसा बनाएँ कि भारतीय होने का उन्हें संकोच नहीं बल्कि अभिमान हो। यह स्वाभिमान स्वतंत्रता देवी की उपासना करने से मिलता है।'[3]

वस्तुतः भारतीय पत्रकारिता की कहानी स्वतंत्रता आंदोलन और राष्ट्रीयता के विकास की कहानी है। जहाँ दोनों की विकास-भूमियाँ एक-दूसरे की सहायक रही हैं। भारत में पत्र-पत्रिकाओं का आरंभ 29 जनवरी 1780 ई॰ से माना जा सकता है। इस समय जेम्स अगस्टस हिकी द्वारा

संपादित प्रथम पत्र 'हिकीज बंगाल गजट' या 'कलकत्ता जनरल एडवरटाइजर' प्रकाशित हुआ। तत्पश्चात् क्रमशः नवंबर 1780 में 'इंडिया गैजेट', फरवरी 1784 में 'कैलकटा गैजेट', फरवरी 1785 में 'बंगाल जर्नल', 'ओरियंटल मैग्जीन' व मासिक पत्र 'कैलकटा एम्यूजमेंट' प्रकाशित एक ओर कलकत्ते से ही 6 वर्षों के अंदर 6 पत्र, एक मासिक और 5 साप्ताहिक पत्र निकालकर भारतीय पत्रकारिता की नींव डाली तो वहीं दूसरी इनके माध्यम से भारतीयों को जागरण का नवसंदेश सुनाया। 'सही अर्थों में देशी पत्रकारिता के जन्म का श्रेय भी राजा राममोहन राय को ही जाता है। उन्होंने दिसंबर 1821 ई॰ में 'संवाद कौमुदी' नामक बंगला साप्ताहिक का प्रकाशन किया।'[4]

भारतीय पत्रकारिता के विकास के साथ अँग्रेजों की दमननीति भी उग्र होती जा रही थी। बरतानिया सरकार की आत्यधिक अनुदारता के व्यवहार ने भारतीय मानस को इतना पीड़ित और उन्मथित कर दिया था कि गहरी प्रतिक्रिया पत्रों के माध्यम से स्वाभाविक थी। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर विदित है कि भारत में नवजागरण और आधुनिकता का प्रवेश बंगाल से ही हुआ। जिस कारण 19वीं शताब्दी में अनेक हिंदी भाषाभाषी यहाँ आए। जिनके मन में हिंदी समाज को आधुनिकता से संपृक्त करने की निरंतर हिलोरे उठ रही थीं। कलकत्ते की सहज-सुलभ आधुनिक सुविधाओं ने उन्हें भीतर ही भीतर और अधिक प्रेरित किया, जिसके परिणामस्वरूप जुगलकिशोर द्वारा हिंदी का प्रथम साप्ताहिक पत्र 'उदंत मार्तंड' (1826) निकाला।[5] हिंदी के प्रथम पत्र 'उदंत मार्तंड' का पहला अंक 30 मई 1826 को महत् इच्छा और उच्चादर्श को लेकर प्रकाशित हुआ। जिसमें संस्कृत भाषा में लिखा था–

दिवाकान्त कान्ति विनाध्वान्तमन्तं, नचाप्नोति तद्वज्जगत्यज्ञ लोकः।
समाचार सेवामृते ज्ञत्वमाप्तं, न शक्नोति तस्मातत्करोमीति यत्नतम्।

इसके पश्चात् बंगदूत (1829), प्रजामित्र'(1834), साम्यदंत मार्तंड (1840), समाचार सुधा वर्षण (1854), सार सुधानिधि (1879), उचितवक्ता (1880) मतवाला (1923) आदि पत्रों ने हिंदी के स्वरूप का निर्धारण करते हुए स्वराष्ट्र प्रेम की भावनाओं को घर-घर तक पहुँचाया। इन सभी पत्रों ने भारतीयों को दासता, दौर्बल्य एवं रूढ़िपूजा से मुक्ति दिलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके साथ ही राजा राममोहन राय द्वारा 'हिंदू-हेराल्ड' जो कि बंगदूत नाम से प्रसिद्ध हुआ, श्री गोविंदनारायण दत्ते ने 'बनारस अखबार' (1845), श्री तारामोहन मिश्र द्वारा 'सुधाकर' (1850) और मुंशी सदासुख लाल द्वारा 'बुद्धिप्रकाश' (1852) पत्र निकाले गए। स्वतंत्रता संग्राम के प्रसिद्ध नेता अजीमुल्ला खाँ ने 1857 में दिल्ली से 'पयामे आजादी' नामक राष्ट्रीय अखबार निकाला। सन् 1868 में काशी से बाबू हरिश्चंद्र ने 'कवि वचन सुधा', 'हरिश्चंद्र मैग्जीन' (1873) व 'बालबोधिनी' पत्रिका निकाली। वे पहले ऐसे लेखक थे जिन्होंने 'नेशनेलिटी' का प्रयोग किया। देश की दुर्दशा को देखकर वे अत्यंत व्यथित थे। जिसका प्रमाण उनकी पंक्तियों से मिलता है–

अब जहँ देखहु तहँ दुःखहु तहँ दुःखहि दुःख दिखाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा ने देखी जाई।

पूर्वी उत्तर भारत भारतीय राष्ट्रीयता के उन्नायकों की भूमि है। बाबू कुँअरसिंह, शहीद मंगल पांडेय, चंद्रशेखर आजाद, मन्मथनाथ गुप्त, बिस्मिल आदि अगणित क्रांतिकारियों की यही कर्मभूमि रही है। स्वतंत्रता के इन सभी सेनानियों ने समवेत् स्वर से शहीद अशफाक उल्ला खाँ की आकांक्षा का उद्घोष किया–

कुछ आरजू नहीं है/ है आरजू तो यह है,

रख दे कोई जरा सी/ खाके वतन कफन में।

साथ ही आजमगढ़ के शिवली नुमानी साहब के साथ गौंरांग प्रभुओं से प्रश्न किया–

तुम्हीं बतला दो ऐ तहजीव इंसानी के उस्तादों।
जब जुल्माराइयाँ कब तक?
यह हम अंग्रेजियाँ कब तक?
* * *
यह माना तुमको शिकवा है फलक से खुश्क साली का,
हम अपने खून से सींचे तुम्हारी खेतियाँ कब तक?

इसी राष्ट्रप्रेम व प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर पूर्वांचल के पत्रकारों ने अकबर इलाहाबादी के जयघोष को शिरोधार्य किया–

खींचो न कमानों को, न तलवार निकालो।
जब तोप मुकाबिल हो, तो अखबार निकालो।

'बरातानियाँ सरकार के शोषण, दमन तथा सत्ता हड़पने की कुत्सित नीति के कारण भारतीय राजाओं और नागरिकों में क्षोभ फैल गया। सन् 1857 में रानी लक्ष्मीबाई व अवध के नवाब के साथ हुए दुर्व्यवहार के कारण मुगल सम्राट बहादुरशाह की पताका के नीचे क्रांति का बिगुल बज रहा था।'[6] 'पयामे आजादी' पत्र के माध्यम से श्री वीरभद्र प्रताप ने पूर्वी जिलों की समस्याएँ के अंतर्गत लिखा–'... लगभग सभी पूर्वी जिले बागी हो गए थे और 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में यहाँ के राजाओं और ताल्लुकेदारों ने ही नहीं, जनता ने भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपनी तलवारें निकालीं। जिस बर्बरतापूर्वक जनता का दमन किया गया और जनता ने उस दमन का जिस तरह मुकाबला किया वह भी अपने में एक इतिहास है। इसकी प्रशंसा उस समय के अँग्रेज कलेक्टरों ने भी अपने संस्मरणों में की है।'[7]

सन् 1877 में बालकृष्ण भट्ट ने प्रयाग से सिद्धांत व उद्देश्य का प्रतिरूप 'हिंदी प्रदीप' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन किया।

शुभ सरस देश सनेह पूरित, प्रगट है आनंद भरे।
नीच दुसह दुर्जन वायु सौ मणिदीप सम थिर नहीं टरै।

राष्ट्रीय चेतना के विकास की दृष्टि से 'हिंदी प्रदीप' का प्रकाशन एक क्रांतिकारी घटना है। सन् 1913 में महात्मा गांधी की दक्षिण अफ्रीका में हुई गिरफ्तारी का समाचार गांधी के चित्र के साथ प्रकाशित करते हुए 'हिंदी प्रदीप' में लिखा–

दीन है किंतु रखते मान हैं
कब माँगते किसी से दान हैं
न्याय से चाहते अपना अधिकार हैं
भव्य भारत वर्ष की संतान है।

17 मई, 1878 में कलकत्ता से 'भारत मित्र', 13 अप्रैल 1879 में 'सारसुधानिधि' पत्र निकले। पं॰ दुर्गाप्रसाद मिश्र ने 'उचित वक्ता' (7 अगस्त, 1887), प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण' (1883), बाबूराम कृष्णवर्मा ने 'भारत जीवन' (3 मार्च, 1884 ई॰), राजा रामपाल सिंह ने लंदन से 'हिंदुस्तान' (1885 ई॰), पं॰ रामगुलाम अवस्थी ने जबलपुर से 'शुभचिंतक' (1887 ई॰), पं॰ अमृतलाल चक्रवर्ती ने 'हिंदी-बंगभाषी' (1890 ई॰), बाबू देवकीनंदन खत्री ने 'साहित्य सुधानिधि'

(1 जनवरी 1883 ई॰) तथा नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (1896 ई॰) प्रकाशित की गई और सन् 1900 में 'सरस्वती' पत्रिका प्रकाशित हुई। हिंदी पत्रकारिता की गौरवगंगा यदि 'सरस्वती' कही जाए तो महावीरप्रसाद द्विवेदी जी को भगीरथ संपादक के अतिरिक्त और क्या कहेंगे?

सन् 1907 में डॉ॰ बालकृष्ण शिवराम मुंजे ने 'हिंदी-केसरी' (1907 ई॰) तथा पं॰ गणेशशंकर विद्यार्थी ने 'प्रताप' (सन् 1910 ई॰) प्रकाशित किया। 'प्रताप' नामक पत्र का कार्यालय तो देश पर मर मिटने वाले नवयुवकों का प्रेरणा एवं प्रशिक्षण केंद्र बन गया था। सन् 1907 में 'विश्वमित्र' का प्रकाशन हुआ यह एक तेजस्वी पत्र था। 5 सितंबर, 1920 को शिवप्रसाद गुप्त ने दैनिक 'आज' तथा सन् 1923 में निराला जी के संपादकत्व में 'मतवाला' का प्रकाशन हुआ। 'हिंदी पंच' (1926 ई॰) 'सेनापति' (1920 ई॰) में प्रकाशित हुए। सन् 1928 में श्री रामानंद चट्टोपाध्याय ने 'विशाल-भारत' को जन्म दिया। सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी यशपाल जी ने इसी समय जेल से छूटते ही 'विप्लव' नामक साहित्यिक पत्रिका का श्रीगणेश किया। सन् 1907 में प्रकाशित 'नृसिंह' मासिक पत्र उग्र राष्ट्रवाद का समर्थक व शुद्ध राजनीतिक पत्र था। सन् 1908 ई॰ में मालवीय जी ने प्रयाग से क्रांति का अगुवा 'अभ्युदय' नामक साहित्यिक पत्र निकाला। गांधी जी स्वयं सिद्धहस्त पत्रकार थे। वे स्वयं 'यंग इंडिया', 'नव-जीवन' तथा 'हरिजन' तीन पत्र चलाते थे। 'कर्मयोगी' पत्र के संपादकीयों में अँग्रेजों के विरुद्ध आग बरसती थी। यह पत्र राष्ट्रीय भावना की धुरी पर घूमता रहा। इससे प्रभावित होकर आगरकर जी ने राष्ट्रीय पत्र निरंतर 'स्वराज्य' निकाला। जबकि प्रेमचंद जी द्वारा संपादित 'हंस' एक क्रांतिकारी पत्र था।

गोरखपुर जनपद ने हिंदी साप्ताहिक 'स्वदेश' के माध्यम से ब्रिटिश सत्ता को खुली चुनौती दी। 'स्वदेश' का प्रकाशन उस समय हुआ जब हिंदी पत्रों का कोई नाम लेने वाला नहीं था। पराधीन भारत में देशवासियों में राष्ट्रप्रेम जाग्रत करने हेतु 'स्वदेश' ने अपने मूल सिद्धांत को सभी अंकों के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित किया–

जो भरा नहीं है भावों से, बहती जिसमें रसधार नहीं।
वह हृदय नहीं है पत्थर है, जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं।

द्विवेदी जी ने हर संपादकीय टिप्पणी का प्रारंभ इन पंक्तियों से किया–

स्वार्थ लाभ के लिए आत्मबलि हम न करेंगे।
जिस स्वदेश में जिए, उसी पर सदा मरेंगे।

गीतांजलि' के मुखपृष्ठ पर भी यही ख्वाहिश अंकित थी कि

सूख जाये न कहीं पौधा यह आजादी का,
खून से अपने इसे इसलिए तर करते हैं।

तत्कालीन पत्रकारिता का मूल स्वर स्वदेश प्रेम था। 'ज्ञान-शक्ति' ने स्वदेश प्रेम की भावना का प्रसार पूर्वी उत्तर प्रदेश में किया। राष्ट्र की पतित अवस्था पर पश्चाताप करते हुए 'मूनिस' ने लिखा–

ऐ कौम देख तो तेरी हालत को क्या हुआ?
हैरत में आइना है कि सूरत को क्या हुआ?
हमको जलील-सुस्त व मजबूर देखकर,
'परताप' कह रहा है, हयैयत को क्या हुआ?

पराड़कर जी ने सन् 1930 में 'रणभेरी' में लिखा–ऐसा कोई बड़ा शहर नहीं रह गया है, जहाँ से एक भी 'रणभेरी' जैसा परचा न निकलता हो, शुरू में वहाँ सिर्फ 'काँग्रेस बुलेटिन' निकलती थी। फिर रिवोल्ट रिवोल्यूशन (विप्लूव) 'बेलवो', 'फितूर' (द्रोह), 'गदर', 'बगावत' आदि निकलने लगी। दमन से द्रोह बढ़ता है, इसका यह अच्छा सबूत है पर नौकरशाही के गोबर-भरे गंदे दिमाग में इतनी समझ कहाँ? वह तो शासन का एक ही अस्त्र जानती है–'बंदूक'।

शहीद मंगल पांडेय के स्वर में स्वर मिलाकर यहाँ के निवासियों ने अजीमुल्ला खाँ के 'पयामे आजादी' का गीत गाया–

आया फिरंगी दूर से ऐसा मंतर मारा।
लूटा दोनों हाथों से प्यारा वतन हमारा।
आज शहीदों ने तुमको अहले वतन ललकारा।
तोड़ो! गुलामी की जंजीरे बरसाओ अंगारा।

स्वतंत्रता संग्राम सेनानी श्री राजाराम अचल के संपादकत्व में 'विजय' पाक्षिक का प्रकाशन 26 जनवरी, 1938 से प्रारंभ हुआ, जिसके मुखपृष्ठ पर ये पंक्तियाँ अंकित थीं–

अभिलाषा तेरी किसे नहीं, कौन जोहता राह नहीं
क्या कोई भी ऐसा जग में है, जिसे विजय की चाह नहीं?

इसके साथ ही–

'स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।'–तिलक

'मैं तो अपने देश में रामराज्य लाना चाहता हूँ। मेरे स्वराज्य का यही अर्थ है।'–महात्मा गांधी

विजय की सफलता के लिए मेरी शुभ कामना है, आशा है विजय काँग्रेस का संदेश जिले के कोने-कोने में पहुँचाने का प्रयत्न करेगा।'–जवाहरलाल नेहरू

लेकर पूर्ण स्वराज्य स्वप्न अपना पहचाने।
आजादी या मौत यही प्रण मन में ठाने। –अंचल

उक्त सभी अंश पाक्षिक पत्र की तेजस्विता के द्योतक हैं। पत्र की कामना प्रथम अंक में ही द्रष्टव्य है–'माँ स्वाधीनते! अभी तू कितनी दूर है। तुम तक पहुँचने में अभी कितने दिन लगेंगे? आजादी की देवी अब हम बेदार हो चुके हैं। अब हमें कोई पराधीन नहीं रख सकता।'

अस्तु, स्वतंत्रता आंदोलन में हिंदी पत्रों तथा संपादकों की भूमिका अविस्मरणीय है। पत्रकारिता राष्ट्रीयता की ऐसी डायरी है, जो पाठकों को परतंत्रता से मुक्ति दिलाने हेतु एक दृष्टि प्रदान करती है। सन् 1920 से 1947 तक स्वमतंत्रता संग्राम के उत्कर्ष का काल था। जहाँ ब्रिटिश साम्राज्यवाद का दमन-चक्र जितना क्रूर होता चला गया उसी अनुपात में स्वाधीनता आंदोलन का संग्राम भी उतना ही प्रखर होता गया। संघर्ष को प्रभावी बनाने के लिए कठोर बंदिशें व नियंत्रण रहने पर भी क्रांतिकारी गुप्त पत्रों का प्रकाशन करते रहे। जिनमें 'बंवडर', 'बोल दे धावा', 'रणभेरी', 'शंखनाद', 'चंद्रिका', 'रणडंका' और 'ज्वालामुखी' जैसे उग्र पत्रों ने आंग्ल शासकों को खुलकर चुनौती देते हुए स्पष्ट आह्वान किया–'हम भीख माँगकर, भारत सरकार की खुशामद कर अथवा उससे न्याय की दुहाई देकर स्वतंत्रता नहीं पा सकते। यदि हम स्वतंत्र हो सकते हैं तो आत्मविश्वास और शक्ति से ही। इसके लिए हमें बलिदान, त्याग और तपस्या करनी पड़ेगी। स्वतंत्रता की बलिवेदी पर लाखों और करोड़ों की बलि चढ़ानी होगी।' इसी के फलस्वरूप बस्ती से प्रकाशित होनेवाले 'विजय' पाक्षिक पत्र ने घोषित किया कि–

 ISSN 0975-735X

लेकर पूर्ण स्वराज्य स्वतंत्र अपना पहचानें।
आजादी या मौत यही प्रण मन में ठानें।

आजादी के इसी स्वर में स्वर मिलाते हुए 'समय' (जौनपुर), 'संदेश' (आजमगढ़) और 'कवि' जैसे पत्रों ने स्वतंत्रता संग्राम को गत्वरता प्रदान की। यह सभी पत्र गांधी की वैचारिक क्रांति के अग्रदूत बने। 15 अगस्त 1947 ई॰ को भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का सूर्य सदा-सदा के लिए अस्त हुआ और यूनियन जैक के स्थान पर भारतीय तिरंगा लहराने लगा। इस प्रकार पराधीन भारत में स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों के साथ आत्माभिमान और सम्मान की भावना जाग्रत करने हेतु पत्रों ने अपनी महती भूमिका का निर्वहन किया। जिन्होंने अन्याय, अज्ञान, प्रपीड़न और प्रवंचना को निडरता से प्रकाशित करते हुए सृजनात्मक, समन्वयवादी व सुसंस्कारित राष्ट्रोत्थान हेतु वैचारिक यज्ञ की उज्ज्वल यशोगाथा का अभिषेक लिखा।

संदर्भ

1. डॉ॰ अर्जुन तिवारी, स्वतंत्रता आंदोलन और हिंदी पत्रकारिता, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1982, आमुख, पृ॰ 6-7
2. वही, पृ॰ 8
3. 'आज' का अग्रलेख, 5 सितंबर, 1920 ई॰
4. बंगला साप्ताहिक 'संवाद कौमुदी' के आदिसंचालक ताराचंद दत्ता थे और संपादन भवानीचरण वंद्योपाध्याय करते थे। बाद में इसे राजा साहब ने ले लिया था। -श्री सुकुमार मित्रा : द न्यूजपेपर प्रेस -स्ट्डीज इन द बेंगाल रेनेसाँ।
5. डॉ॰ कृष्णबिहारी मिश्र, हिंदी पत्रकारिता, जातीय चेतना और खड़ीबोली साहित्य की निर्माणभूमि, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण आठवाँ, 2011, पृ॰ 44
6. वही
7. डॉ॰ अर्जुन तिवारी, स्वदतंत्रता आंदोलन और हिंदी पत्रकारिता, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1982, आमुख, पृ॰ 12
8. पयामे-आजादी : प्रथम अंक, 1857
9. जीवन : 20 मई 1935 ई॰

Dr.Laxmi Gupta
#1680 ,Sec-17 Huda, Yamunanagar-135001
Mob. 7988017085
drlaxmigupta111@gmail.com

किसान त्रासदी और 'फाँस'

नवीन राय, शोध छात्र
हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा तथा पत्रकारिता विभाग
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

भारत की अर्थव्यस्था में कृषि की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। कृषि ही हमारे सामाजिक, आर्थिक उन्नति का माध्यम रही है। हमारे यहाँ खेती का कार्य एक उत्सव के रूप में मनाया जाता रहा है। आज भी 60% जनसंख्या कृषि पर आधारित हैं। कृषि और ग्रामीण विकास बैंक की रिपोर्ट के अनुसार आज भी 10.7 करोड़ परिवार कृषि पर ही निर्भर हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद देश की जीडीपी में कृषि की हिस्सेदारी 51.81% हुआ करती थी, जबकि वर्तमान में 2021-22 के आर्थिक सर्वेक्षण के अनुसार देश की जीडीपी में कृषि का योगदान 20.02% है। वैश्विक महामारी करोना आपदा के असर से दुनिया के सभी प्रभावित देशों की तरह भारत की भी लगभग सभी आर्थिक गतिविधियाँ ठप हो गई थीं। फिर भी भारत की कृषि विकास की दर में 3.6% की वृद्धि दर्ज की गई। देश की जीडीपी में 20% का योगदान दो दशक पहले देखा गया था। यह सकारात्मक आँकड़ा सरकार की किसी नीति का नहीं अपितु कृषकों के संघर्ष और परिश्रम का परिणाम है। जिस कठिन दौर में लोग घर से नहीं निकलते थे उस दौर में किसान अपने संघर्ष से जूझ रहा था क्योंकि उनको मालूम था-'आगे कुआँ पीछे खाई'। किसान जानता था अगर महामारी से बच गए तो कृषि कार्य के हेतु लिए गए कर्ज से नहीं बच सकते।

किसानों की दयनीय स्थिति, कर्ज की समस्या और किसानों के शोषण की मार्मिक एवं दारुण स्थिति का यथार्थ चित्रण मुंशी प्रेमचंद ने अपने उपन्यास में प्रमुखता से किया है। इन्होंने अपने उपन्यास 'गोदान' और 'प्रेमाश्रम' में सामंती, महाजनी और बेदखली व्यवस्था के शिकार किसानों की दयनीय स्थितियों का चित्रण किया है। आमतौर पर प्रेमचंद को किसानों का कथाकार कहा जाता है और 'गोदान' को भारतीय कृषक जीवन का महाकाव्य। इस महाकाव्य में प्रेमचंद ने किसान होरी को नायक बनाकर कृषक वेदना पर उपन्यास लिखा, जिसमें किसानों की तत्कालीन परिस्थितियों का जीवंत चित्रण किया है। किसान सूदखोरों के कर्ज के जाल में फँसकर किस प्रकार अपने खेतों में ही मजदूर बन जाता है।

किसान जीवन पर प्रेमचंद ने वर्ष 1932 में 'जागरण' के संपादकीय में 'हतभागे किसान' नाम से लेख लिखा था जिसमें वे कहते हैं-'भारत के अस्सी फीसदी आदमी खेती करते हैं। कई फीसदी वह हैं जो अपनी जीविका के लिए किसानों के मुहताज हैं, जैसे गाँव के बढ़ई, लुहार आदि। राष्ट्र के हाथ में जो कुछ विभूति है, वह इन्हीं किसानों और मजदूरों की मेहनत का सदका है। हमारे स्कूल और विद्यालय, हमारी पुलिस और फौज, हमारी अदालतें और कचहरियाँ, सब उन्हीं की कमाई के बल पर चलती हैं, लेकिन वही जो राष्ट्र के अन्न और वस्त्र दाता हैं, भरपेट अन्न को तरसते हैं। जाड़े-पाले में ठिठुरते हैं और मक्खियों की तरह मरते हैं।'[1]

स्वतंत्र भारत में किसानों के लिए जो व्यवस्था बनाई गई वह व्यवस्था भी बहुत कुछ अँग्रेजी

 ISSN 0975-735X

राज्य के समान ही थी। अब जमींदारी प्रथा का अंत हो रहा था और उसकी जगह कार्पोरेट सेक्टर (औद्योगिक घराने) का उदय हुआ। सन् 1948 में औद्योगिक नीति लागू हो जाने के फलस्वरूप किसानों की जटिलता बढ़ने लगी। किसान, कृषक से औद्योगिक मजदूर बनता गया। उसकी भूमि पर औद्योगिक कंपनियों का कब्जा बढ़ता गया। इसके उपरांत सन् 1952 ई॰ में द्वितीय औद्योगिक नीति को लागू किया गया। इससे भी किसान की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ। देश की आजादी के 75 वर्ष बीत जाने पर भी किसानों की समस्या का समाधान नहीं हुआ वरन् समस्या का स्वरूप बदल गया। समस्या व्यवस्था के जुगलबंदी से अपने स्वरूप को नित नवीन करती जा रही है।

किसानों की परिस्थितियों में बस सतही परिवर्तन हुए मगर बुनियादी परिवर्तन नहीं हुए। उनकी समस्या आज भी रूप परिवर्तित करके यथावत् ही है। जिसका मूल कारण शासन व्यवस्था के द्वारा किसानों की समस्या की तरफ ईमानदारी से ध्यान नहीं देना है। कितनी विडंबना है कि भारत एक कृषि प्रधान देश होने के बाद भी यहाँ सबसे अधिक दुर्दशा किसानों की ही है। कितनी शर्म की बात है धरतीपुत्र का लड़का अपने पिता को किसान बताने में भी सकुचाता है। 21वीं सदी के आधुनिक दौर में एक तरफ जहाँ मशीनीकरण का प्रभाव बढ़ता जा रहा है वहीं दूसरी तरफ किसान, मजदूर, आम आदमी इसी यांत्रिक व्यवस्था में अपने स्वरूप को खोते जा रहे हैं। आज मशीन का दखल हर क्षेत्र में बढ़ा हुआ है। वर्तमान जीवन मशीन के इर्द-गिर्द ही घूमकर रह गया है। मशीनीकरण के इस दौर ने किसान जीवन और कृषि व्यवस्था को भी अस्त-व्यस्त बनाकर रख दिया गया है। आज खाद, बीज, कीटनाशक और तमाम तरह के यंत्रों की सुविधाओं से उपज की पैदावार में वृद्धि तो हुई है। लेकिन उपज का उचित लाभकारी मूल्य न मिल पाने के कारण किसान जस-का-तस बना हुआ है। आज भी किसान कर्ज में डूबा हुआ है। बस फर्क इतना है कि पहले वह जमींदार और महाजन का कर्जदार था और अब सरकारी बैंकों और कार्पोरेट घरानों का कर्जदार है। कर्ज का यह बोझ पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ता चला जा रहा है। इसी कर्ज के बोझ तले किसान आत्महत्या करने को मजबूर हैं। हजार वर्षों के इतिहास में किसान भूख, अकाल, प्राकृतिक आपदा, जमींदारी प्रथा, लगान, बेदखली की पीड़ा सहते हुए भी कृषि कार्य करता रहा है, लेकिन हतोत्साहित होकर आत्महत्या नहीं की। परंतु 21वीं सदी का किसान कार्पोरेट कंपनियों की लूट, बैंक का कर्ज, सरकारी तंत्रों से पराजित होकर कर्ज के जाल में फँसकर आत्महत्या करने पर विवश होता जा रहा है जिसका यथार्थ वर्णन संजीव के उपन्यास 'फाँस' में वर्णित है कि कैसे महाराष्ट्र से लेकर आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश और पंजाब के लगभग तीन लाख से अधिक किसान अब तक आत्महत्या कर चुके हैं।

'फाँस' उपन्यास कथाकार संजीव द्वारा लिखित हिंदी-मराठी भाषा के मिश्रण से लिखा गया अपनी शैली का यथार्थपरक अनूठा उपन्यास है। यह महाराष्ट्र राज्य के विदर्भ क्षेत्र में निवास करने वाले किसानों के जीवन में आने वाली जटिलताओं विनाशकारी समस्यायों पर आधारित है तथा आत्महत्या करने वाले लाखों किसानों का विस्तृत दस्तावेज है। यह उपन्यास उस अन्नदाता की दारुणगाथा है जो सबका पेट भरते हैं, सबका तन ढकते हैं और खुद खाली पेट सोते हैं और जाड़े में खुले आसमान के नीचे ठिठुरते हैं। विगत कुछ वर्षों में लाखों किसान आत्महत्या कर चुके हैं और यह सिलसिला अभी भी समाप्त नहीं हुआ है। अब भी जारी है। संजीव का यह उपन्यास विदर्भ के किसानों के बहाने संपूर्ण भारत के किसानों की दर्द कथा को बयां करता है। 'फाँस' उपन्यास में स्विट्जरलैंड की मर्सी किलिंग जैसा प्रसंग नहीं है बल्कि यह किसान के खोते धैर्य की दारुणगाथा

है जहाँ कर्ज के दलदल में फँसकर किसान आत्महत्या करने को मजबूर है। बयालीस छोटे-छोटे अध्यायों में विभक्त यह उपन्यास वनगाँव, गढ़चिरौली, चंद्रपुर, यवतमाल, धनोरा, मेंडालेखा, अमला आदि छोटे-छोटे गाँवों की जीवंत रिपोर्ट है। अलग-अलग होकर भी प्रत्येक अध्याय आपस में जुड़ा हुआ है। 'फाँस' उपन्यास की कथावस्तु का प्रारंभ महाराष्ट्र के 'यवतमाल' जिले से होता है। 'बनगाँव' का चित्र संजीव इस प्रकार करते हैं–

'भला कोई कह सकता है कि सुखाड़ के ठनठनाते यवतमाल जिले के इस पूरबी छोर पर 'बनगाँव' जैसा कोई गाँव भी होगा जो आधा वन होगा–आधा गाँव, आधा गीला होगा–आधा सूखा। स्कूल में लड़कों के साथ लड़कियाँ भी, जुए में भैंसे के साथ बैल भी। जो भी होगा आधा-आधा।'[2]

विकास की नई अवधारणाओं ने किसान को प्रकृति से दूर कर दिया है। जंगल से जीवन की सुविधाओं को इकट्ठा करने वाला किसान वन विभाग के अनेक कड़े नियमों के कारण जंगल में घुसने भी नहीं पाता, महुआ बीनने तक की मनाही है, और यदि वह वहाँ पहुँच गया तो वन विभाग का कारिंदा अनेक तरह से उसको परेशान करता है। 'फाँस' उपन्यास में संजीव ने गरीब किसान के जीवन में आने वाली एक बहुत ही भयावह घटना का चित्रण किया है जहाँ किसान की इज्जत पर हमला होता है जो उसकी आत्मा को भी झकझोर देता है इसी पहली समस्या से उपन्यास का कथा-चित्र आगे बढ़ता है–

'बाँस का हरापन, ताजे किसलयों की लपटें पलाश फूलों की महकती लाली! जिधर देखो, उधर सलोनी रंगत और महुए के फूलों की तो पूछो ही मत, जैसे सोने के कण बरसा रहे हों भगवान। ...इस गहरे एकांत में, जाने कैसे...अचानक उसे लगा किसी ने उसकी बाँह पकड़ी और खींच रहा है...कलावती को कहाँ पता था कि उसे जंगल में अकेला जाते देख भेड़िया उसके पीछे लग गया था, 'वन विभाग का सिपाही खुदाबख्श।'[3]

संजीव का यह उपन्यास वर्तमान आधुनिक समाज पर गहरी पकड़ रखता है, और इस समाज में किसान किस तरह से 'फँस' गया है, उसकी अनेक कोणों से व्याख्या करता हुआ हमारे मन में कई प्रश्न छोड़ जाता है। विदर्भ में हो रही किसानों की आत्महत्याओं का मूल कारण है विदर्भ का सूखा और गीला अकाल, सरकार और महाजनों की मनमानी, कपास की खेती से उचित लाभ न मिल पाना और कपास की खेती के लिए सरकार का उचित सहयोग न होना। इसके चलते बैंक और देशी साहूकारों से 'कर्ज' लेना और परत-दर-परत कर्ज की चक्की में पिसते जाना, जिसमें पिसना तो तय है, और इससे मुक्ति का एकमात्र उपाय है, 'आत्महत्या', जो लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा का मखौल उड़ाती है। उपन्यास में कोई केंद्रीय पात्र उभरकर नहीं आ पाता है, बल्कि संपूर्ण विदर्भ के शेतकरी (किसान) और उनका जीवन ही प्रमुख पात्र हैं। इससे उपन्यास का फलक विस्तृत व्याख्या कर पाता है विजयेंद्र, अशोक, नाना, मोहन, सुनील, शिबू आदि पुरुष पात्र हैं जो विविध स्थानों पर कथा का विकास करते हैं। स्त्री-पात्रों में शकुंतला, सरस्वती, कलावती (छोटी), शोभा, आशा प्रमुख रूप से उभरकर आती है। जीवन व्यवहार के प्रति पात्रों का रुख उत्तर-आधुनिक है, कुछ पात्र नई जीवन-पद्धति की रचना भी करते हैं।

किसान ने एक बार कर्ज ले लिया तो फिर कर्ज लेने के कुप्रभाव का सिलसिला शुरू हो जाता है और उसकी मृत्यु या घर से पलायन तक चलता रहता है। उसकी मदद कोई नहीं कर पाता है। आंदोलन कर रहे किसानों की खूब पिटाई होती है और अंततः आंदोलन टूट जाता है। सुनील एक क्रांतिकारी किसान नेता है, उसका भी मानना है–

रोटी और इज्जत भीख माँगने से नहीं मिलती।' फिर वह हिंदुस्तानी में एक फिकरा सुनाता, 'हिम्मते मर्दा मददे खुदा।'[4]

सुनील हिम्मत तो बहुत करता है, सबके लिए लड़ाई लड़ता है लेकिन अंततः होता क्या है, सुनील भी आत्महत्या कर लेता है। किसान आत्महत्याएँ कर रहे हैं–भूख, लाचारी, कर्ज की किल्लत से और सरकारी पटवारी-पुलिस लिख रहे हैं कि घरेलू झगड़े के कारण आत्महत्याएँ हो रही हैं, यही कारण है कि यदि बीस किसान मर रहे हैं तो सरकारी आँकड़े में 10 ही दर्ज हो पा रहा है। उपन्यास में एक पात्र 'शिबू' जब समस्याओं का सामना नहीं कर पाता और आत्महत्या कर लेता है तब उसके आत्महत्या को पात्र ठहराने के लिए घरवालों को काफी मशक्कत करनी पड़ती है यदि सरकारी कर्मचारी, बिचौलियों, दलालों को कुछ नहीं मिलता तो आत्महत्या, आत्महत्या नहीं ठहराते। अंत में घरवालों को मुआवजा भी नहीं मिलता है।

'किसान की जिंदगी अधजली गीली लकड़ी की तरह है, जो न तो कोयला हो पाई है और न ही राख अर्थात् उसका जीवन, जीवन की सुविधाओं की तलाश में, 'कर्जरूपी काले अँधेरे की गहरी गुफा में फँस गया है, जो न तो इधर जा पा रहा है, न उधर, बीच में जान फँसी हुई है, और इसकी निजात है 'आत्महत्या'।'[5]

संजीव ने अपने 'फाँस' उपन्यास में चित्रित किया है कि कैसे बाजार किसानों का शोषण करते हैं। किसान बाजार में दो बार लूटा जाता है। पहली बार जब वह अपनी आवश्यकता की वस्तु या कृषि से संबंधित सामानों को खरीदने के लिए बाजार जाता है तथा दूसरी बार जब वह अपने फसलों को बेचने के लिए बाजार जाता है। इन दोनों ही रूपों में केवल किसान का शोषण ही होता है। पहली बार में उसे अधिक दाम पर अपनी आवश्यकता की वस्तु खरीदनी पड़ती है तथा दूसरी बार में उसे लागत मूल्य से भी कम दाम पर फसलों को बेचना पड़ता है जो उसकी आर्थिक आवश्यकताओं को सबसे ज्यादा प्रभावित करती है। जब उसे अपनी फसलों की सही कीमत नहीं मिलती तो उसे बहुत पीड़ा होती है। वह अपने-आपके भरण-पोषण में भी अपने-आपको सक्षम नहीं पाता है। फसल बेचने के बाद भी उसे अपनी बेटी की शादी करने के लिए उपर्युक्त धन नहीं मिल पाता। ऐसे ही धीरे-धीरे मजबूर होता किसान आत्महत्या के प्रति अपने को उन्मुख पाता है, अंतः उसे स्वीकार भी कर लेता है।

किसानों की गुहार सुनकर प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह वर्ष 2006 में स्वयं विदर्भ गए थे तब तक विदर्भ के 11 जिलों में 30 हजार किसान आत्महत्या कर चुके थे और देश में लगभग 2.5 लाख किसान आत्महत्या कर चुके थे। तब जाकर समितियाँ बनीं और जाँच पड़ताल हुई। सभी का कहना था कि विदर्भ कृषि का ज्वालामुखी है। किसानों को अपना कर्ज उतरना तो दूर की बात है इतनी कम कीमत में उनका कृषि में बने रहना ही मुश्किल है।

'दिल्ली से लौटकर प्रधानमंत्री ने कहा कि कपास उत्पादक किसान को बचाना है तो उसे राहत पैकेज देना पड़ेगा। ठीक 2009 के चुनाव से पहले 72 हजार करोड़ रुपए की कर्ज माफी की घोषणा हुई। यानी कर्ज जो लिए थे, वो माफ। लेकिन कुछ गाँववालों का मुँह लटक गया था।'[6] अन्य लोगों के मुँह लटकने का कारण यह था कि उन्होंने गाँव में ही कर्ज लिया था और साहूकारों से लिया गया कर्ज माफ नहीं हुआ। इस कारण 70% किसानों पर कर्ज का फंदा ज्यों-का-त्यों रहा। रही बैंक लोन माफी तो हकीकत यह थी कि सरकार ने किसानों की नहीं, बैंकों की मदद की। किसानों के जीवन पर सरकार नए तरह के प्रयोग करती रहती है। कोई भी वैज्ञानिक उनके जमीनी

वातावरण का अध्ययन नहीं करता है बल्कि दिल्ली में ही बैठा हुआ योजनाएँ बनाता है। अमेरिका से 'बी॰टी॰' कपास का बीज आता है, पहली बार तो फसल बहुत अच्छी होती है लेकिन दूसरी बार वह बीज काम नहीं करता है। मनमोहनसिंह द्वारा दुधारू गायें दी जाती हैं कर्ज पर, किसानों के पास खाने के लाले हैं, ये मनमोहिनी गायें 20-30 सेर दूध देती हैं, लेकिन किसान इन्हें पाल नहीं पाते, यदि पाल भी लेते हैं, तो दूध कोई नहीं खरीदता है। इस तरह गाँव के धनी लोग किसानों से गायें औने-पौने दामों पर खरीद लेते हैं। घाटा होता है किसान का, और मजा मारते हैं अन्य।

आज देश में जैसे MSP पर अनाज खरीदा जाता है उसी प्रकार अगर दूध को भी खरीदने के लिए देश के प्रत्येक ब्लाक में एजेंसी बना दी जातीं तो निश्चित ही किसानों की दशा में सुधार होने लगता क्योंकि ज्यादा दूध उत्पादन होने पर गाँवों में उसका कोई खरीदार नहीं होता और मजबूर किसान उनके चारे की भी लागत नहीं निकाल पाता और अपने पशु को औने-पौने दाम में बेचने को मजबूर होता है। भारत के किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार करने का यह सबसे उत्तम साधन है लेकिन इसके लिए सरकार को ईमानदारी से प्रयास करना पड़ेगा और उन्हें बाजार उपलब्ध कराना पड़ेगा। इससे पलायन की भी समस्या का समाधान होगा और देश की आर्थिक स्थिति भी मजबूत होगी। .....

'फाँस' में कई पात्र ऐसे भी हैं जो सकारात्मक आधुनिक सोच वाले हैं तथा खेती की समस्याओं से गहराई से जुड़े हैं। दादाजी सोबरागड़े एच॰एम॰टी॰ धान खोज करने वाले, कलावती जो पढ़ी-लिखी नए विचारों की वाहक है, मल्लेश, विजयेंद्र खेती के अनेक गहन मुद्दों संबंधी शोध से जुड़े हैं, केवल आत्महत्या ही मूल समस्या नहीं है बल्कि किसान को इस तबाही तक लाने वाले अनेक अन्य कारण भी हैं। दादाजी खोबरागड़े सरकारी-गैरसरकारी संस्थाओं से चौरासी पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं। अपने विशेष योगदान के लिए, विजयेंद्र के मन में क्षोभ है। पूरे उपन्यास में उपेक्षित वर्गों के प्रति एक कुनमुनाहट है। शिबू दो लड़कियों का पिता कहता है यह जाति व्यवस्था न होती तो समाधान इतना मुश्किल न होता। वह किसान लड़के से अपनी लड़की की शादी नहीं करना चाहता। वह चपरासी लड़के से अपनी लड़की की शादी करना चाहता है लेकिन किसान से नहीं। उसका मानना है किसानी में ही आत्महत्या है।

किसानों की आत्महत्या और उसके समाधान के मुद्दे पर प्रो॰ राजेश मल्ल का विचार है कि– 'कर्जमाफी, फसल बीमा, आत्महत्या पर मुकदमा आदि नौटंकी से कृषिक्षेत्र में कोई सुधार नहीं आनेवाला है। मूल दो प्रश्न हैं जिसका समाधान जरूरी है। पहला, भूमि सुधारों को सख्ती से लागू करना तथा भूमिहीनों में भूमि का वितरण। दूसरा, लाभकारी मूल्य देना। इस बुनियादी कार्य के बिना किसानों की आत्महत्या नहीं रोकी जा सकती है।'[7]

बहुचर्चित उपन्यास 'फाँस' को पढ़ते हुए ऐसा लग रहा है कि यह व्यवस्था किसानों के साथ छल कर रही है। बड़े जमींदारों, काश्तकारों तथा साधारण किसान और माध्यम वर्ग के किसानों का यही हाल है। महँगाई आकाश चूम रही है। पहले किसान फसल बोने के लिए अपने घर में ही रखे बीज का प्रयोग करते थे। उत्पादन की वृद्धि के लिए नए-नए बीजों प्रयोग तथा उर्वरा शक्ति बढ़ाने के लिए नई-नई खादों जैसी सामग्री का प्रयोग किया जाने लगा जिससे खेतों की उर्वराशक्ति धीरे-धीरे समाप्त होती गई। विदेशी बीजों के प्रयोग से कर्ज तो बढ़ता ही था साथ-ही-साथ जमीन की उर्वरा शक्ति भी नष्ट होती रही। बी॰टी॰ काटन और सोयाबीन की खेती करने वाले किसानों में सबसे ज्यादा इस त्रासदी के शिकार हुए। चीन विश्व का सबसे ज्यादा कपास उत्पादन करने वाला

 ISSN 0975-735X

देश है। संपूर्ण विश्व के कपास उत्पादन की बात करें तो उसका एक चौथाई हिस्सा भारत के हिस्से में आता है। विश्वपटल पर खासकर चीन की तुलना में कपास उत्पादन और किसानों की बदहाली से संबंधित भारतीय आँकड़े चिंतनीय हैं। आखिर क्या कारण है कि इसी कपास की खेती करने वाला चीन लगातार समृद्ध होता जाता है और भारतीय किसान लगातार आत्महत्या करने पर मजबूर हो रहा है।

इस प्रकार संजीव का 'फाँस' उपन्यास उन सभी कारणों को बताता है जो किसानों को आत्महत्या की तरफ ले जाते हैं। संजीव ने केवल किसानों की समस्याओं को ही नहीं बताया है अपितु उनका समाधान भी बताया है जो आने वाले बड़े खतरे की ओर आगाह भी करता है और उसका समाधान भी इंगित करता है।

संदर्भ

1. प्रेमचंद के विचार, भाग-1, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2010, पृ॰ 474
2. संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2015, पृ॰ 9
3. वही, पृ॰ 19
4. वही, पृ॰ 66
5. विनोद विश्वकर्मा, किसान-आत्महत्या यथार्थ और विकल्प, प्रो॰ संजय नवले, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ॰ 80
6. संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2015, पृ॰ 66
7. राजेशमल्ल, किसान प्रश्न की राजनीति, स्वराज प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ॰ 17

Vill. Jameen Chandapar
Post. Maukuttubpur
Dist. Azamgarh 276127 U.P.
Mob. 9935356183
naveeniiat@gmail.com

थर्ड जेंडर पर बारह हिंदी उपन्यासों का परिचयात्मक अनुशीलन

पूजा विश्वकर्मा, शोधार्थी (हिंदी)
कल्याण स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सेक्टर 7, भिलाई नगर
डॉ॰ शैलेन्द्र कुमार ठाकुर, सहा॰ प्राध्यापक, शोध निर्देशक
डॉ॰ खूबचंद बघेल कालेज, भिलाई-3, दुर्ग (छ॰ग॰)
डॉ॰ सुधीर शर्मा, सह शोध निर्देशक
कल्याण स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भिलाई -3, दुर्ग (छ॰ग॰)

'थर्ड जेंडर' यह शब्द कोई नया नहीं है। इससे परिचित है समस्त धरा, समस्त मानव जाति, काल, संस्कृति और साहित्य। इन्हें अन्यत्र क्षेत्रों में अलग-अलग नामों से जाना जाता है। इस द्विलिंगीय समाज में ईश्वर ने भले ही इन्हें पृथ्वी पर एक मानव के रूप में भेजा परंतु सृष्टि संवर्द्धन में केवल स्त्री और पुरुष ही स्वयं को श्रेष्ठतम समझते रहे। ऐसा इसलिए है कि परमात्मा ने इन्हें इन दोनों ही चिह्नों से विमुख कर दिया। ये तृतीय लिंगी समुदाय सिर्फ और सिर्फ पृथ्वी का भार बढ़ाने वालों की खुशियों में शामिल होकर उनकी खुशियों की कामना करते हैं। ऐतिहासिक व पौराणिक ग्रंथों को देखने पर मिलता है कि रामायण में जब राम वनगमन को निकले तो उन्होंने सभी नर-नारियों को लौट जाने के लिए कहा, लेकिन यह किन्नर समुदाय वहीं वन में चौदह वर्ष प्रतीक्षारत रहा। क्योंकि वह न नर थे न नारी। इसी कड़ी में महाभारत में अर्जुन व शिखंडी का भी प्रसंग प्राप्त होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो इन्हें राजदरबारों में रानियों की सुरक्षा के लिए नियुक्त किया जाता था। इनकी हरम में सुरक्षाकर्मी हेतु नियुक्ति होती थी। इसके अलाव ये कई अन्य कार्यों को करने में संलिप्त रहते, परंतु वह स्वतंत्रता व मान-सम्मान इन्हें तब भी प्राप्त नहीं था। धीरे-धीरे इनकी स्थिति और बद-से-बदतर होती चली गई। समाज तेजी से विकास करता रहा लोग भी सभ्य होते रहे, परंतु तृतीय लिंगी समुदाय की गति वही की वही रही। इनमें कोई परिवर्तन नहीं आया। इसका ठहराव धीरे-धीरे सड़ांध पैदा करने लगा। इस समाज ने इन्हें कभी नहीं स्वीकारा। सामाजिक एवं पारिवारिक रूप से बहिष्कृत इस तृतीय लिंगी समुदाय को अब संवेदनाएँ प्राप्त हो रही हैं। परंतु जो इन सामाजिक व्यक्तियों की जड़ों में गड़े मानसिक विकार हैं, उससे बाहर निकलने में अभी शायद सदियाँ लगेंगी।

सर्वाधिक चर्चित उपन्यास 'पोस्ट बाक्स नं॰ 203 नाला सोपारा' उपन्यास चित्रा मुद्गल कृत इसी तृतीय लिंगी समुदायों पर आधारित है। यह उपन्यास पत्रात्मक शैली में लिखा गया है। इस उपन्यास का मुख्य पात्र है–विनोद उर्फ बिन्नी, उर्फ बिमली इन नामों की शृंखला से ऐसा लगता है जैसे विनोद स्वयं अपने अस्तित्व की पहचान ही न कर पा रहा हो।

घर व समाज से निकाले जाने के बाद वो उसी समुदाय में पहुँच जाता है जहाँ सभी को सहर्ष स्वीकार लिया जाता है। सुशिक्षित विनोद अपनी इस मर्मांतक पीड़ा को चिट्ठियों के द्वारा माँ से व्यक्त करता है, उन समस्त पत्रों में शिकायत होती है तर्क होता है। वह निरंतर प्रश्न करता है माँ से कि मैं किस प्रकार किसी से कम रहा माँ खेलने-कूदने पढ़ने सभी में अव्वल रहा फिर क्यों

 ISSN 0975-735X

निकाला? जहाँ इस उपन्यास में इतनी शिकायते हैं वहीं अपने परिवार से विनोद प्रेम व उनके लिए फिक्रमंद भी रहता है। 'सेजल भाभी ठीक है न? मंजुल अब भी मेरी गोद में चढ़ने के लिए मचलता हुआ याद आता है। पूछता है मेरे बारे में? तू ही ध्यान दे पाएगी। वह बावला ठीक से पढ़े। मैं होता तो तुझे इस जिम्मेदारी से मुक्त रखता।'[1]

उपर्युक्त वक्तव्य से यह स्पष्ट होता है कि घर, परिवार विनोद को क्यों न त्यागने पर मजबूर हो जाएँ, परंतु इस तृतीय लिंगी समाज की चिंता संवदेना कभी खत्म नहीं होती अपनों से, विद्रोह का जो साहस है उसे जीवनभर एकत्रित करना पड़ता है। फिर भी बिन्नी के मन में निरंतर यह प्रश्न उठता है कि माँ ने ऐसा क्यों किया? क्या कमी थी मुझमें–'जननांग विकलांगता बहुत बड़ा दोष है। लेकिन इतना बड़ा भी नहीं कि तुम मान लो धड़ का मात्र वही निचला हिस्सा भर हो। तुम्हारे हाथ पैर नहीं है सब वैसा ही है जैसा औरों के हैं। यौन सुख लेन-देने से वंचित हो तुम, वात्सल्य सुख से नहीं।'[2]

विनोद उक्त कथन से स्पष्ट करना चाहता है कि इस समाज में क्या केवल उसी धड़ मात्र की ही स्वीकार्यता है। लेखिका बहुत ही सुंदर तर्कों से अपनी बात को कहलवाने में सफल हुई हैं। किन्नर समुदाय में बिन्नी के शामिल होते ही एक कुछ माँ सा खयाल रखने वाली स्वयं को विनोद की प्रेमिका समझने वाली पूनम ही उसे पूर्णत: समझती है।

इस क्षेत्र में प्रथम उपन्यास होने का गौरव प्राप्त 'यमदीप' उपन्यास को। नीरजा माधव ने इतनी सशक्त बुनावट से लिखा कि तृतीय लिंगी समुदाय के समस्त पक्षों को उनकी अंतर्वेदनाओं को मानो इस एक उपन्यास में समेट लिया हो। समाज की तमाम परतों को खोल उसका भयावह रूप पाठक के समक्ष चित्रित कर देना, इस समुदाय के पक्ष में लेखिका का यह साहस अद्वितीय है।

'यमदीप' शीर्षक ही अपने-आपमें सभी कथा व्यक्त करने में समर्थ है। यमदीप का अर्थ है–'यम के लिए जलाया गया दीप'। घूरे पर रखे गए दीप को कोई पीछे मुड़कर नहीं देखता। वह बचे, बुझे कहीं पलटने पर वह पीछा न करे, इसलिए सारी समस्याओं को घूरे पर फेंक आने का प्रतीक है यमदीप। इस तृतीय लिंगी समुदाय व यमदीप में बेहद साम्यता दिखाई देती है। इस उपन्यास में नंदरानी मेजर के घर जन्मी संतान के जन्म से, नाज बीबी हिजड़ा बनने तक की हृदय विदारक और अत्यंत मार्मिक कथा है। नंदरानी के पिता बहादुर फौजी भी नंदरानी के लिए इस समाज से न लड़ सके–'एक दिन वह घर छोड़ देती है। कोई कह सकता है कि नंदरानी ने खुद से घर छोड़ा परिवार जनों ने उसे नहीं निकाला। मगर उपन्यास का पाठ स्पष्ट कर देता है कि परिवार के सदस्यों ने ही घर में उसके लिए ऐसा दमघोटू माहौल बना दिया कि विवश होकर उसे घर छोड़ना पड़ा।'[3]

उक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि इस प्रकार की संतान के जन्म से कोई उत्सव भले न हो परंतु अपनी दयनीयता, हीनता मान-सम्मान, क्रोध, आँसू सब उसी के सामने होते हैं जो नंदरानी को इतना बड़ा कदम उठाने को मजबूर करते हैं। यह उपन्यास ऐसे माता-पिता पर प्रश्न चिह्न लगाता है। इस समाज व परिवार पर वह तमाचा है जो नाजबीबी के माध्यम से पड़ता है।

'मैं भी औरत हूँ' उपन्यास की लेखिका अनुसूया त्यागी हैं जो पेशे से स्त्री-रोग व प्रसूती विशेषज्ञ हैं। प्रस्तुत उपन्यास में दो बहनों की कहानी है रोशनी और मंजुला, जिनमें जन्मजात विकृति रहने के कारण इनके माता-पिता डॉ॰ रमन्ना के पास जाकर दोनों का ऑपरेशन करा कर (कृत्रिम योनि का सर्जरी द्वारा बनाया जाना) दोनों की शादी कर दी जाती है। जिसमें मंजुला विवाहोपरांत माँ बन पाती है। परंतु छोटी बेटी रोशनी बच्चा जनने योग्य नहीं रहती, अत: वह बच्चा गोद लेती है।

इस उपन्यास में एक भय संत्रास है पात्रों के मन में, क्योंकि शुरू से लेकर अंत तक इस कथावस्तु में दोनों किन्नरों को छुपाने का कार्य किया जाता है। इनके पतियों को भी असलियत का आभास नहीं हो पाता। यह उपन्यास चिकित्सकीय दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। लेखिका समाज को एक दृष्टि देने का कार्य करती है। चिकित्सा पद्धति आज कहाँ से कहाँ पहुँच चुकी है इस माध्यम से बहुतों के जीवन सामान्य हो सकते हैं। रोशनी के मन में निरंतर द्वंद्व चलता रहता है। वह सोचती रहती है कि 'भगवान ने मेरे साथ ही यह अन्याय क्यों किया है? मुझे इतना अच्छा दिमाग दिया, सुंदर बनाया, पर मेरे साथ यह अन्याय क्यों किया है, क्यों मुझे शरीर का एक अंग न देकर मेरा जीवन निरर्थक कर दिया। मैं पत्नी बनने का सुख पा सकती हूँ पर मैं किसी पुरुष को सिर्फ इसलिए स्वीकार नहीं कर पा रही हूँ क्योंकि मैं उसे बच्चा नहीं दे सकती।'[4]

रोशनी आधुनिक टेक्नोलॉजी से भली-भाँति परिचित है। स्वयं को समझाती भी है कि आई॰वी॰एफ॰ सेरोगेट से बच्चा प्राप्त किया जा सकता है। परंतु उसका स्त्री मन उसे भाव विह्वल कर देता है।

यह उपन्यास अपने-आपमें एक अनोखा उपन्यास है, जो कई प्रकार की मानसिक विसंगतियों से भरे पात्रों को बड़ी ही कसावट के साथ बुनता है। इसी कड़ी में एक और उपन्यास जुड़ता है जो महाभारत पर आधारित है–'शिखंडी स्त्री देह से परे'। शरदसिंह कृत यह उपन्यास महाभारत की घटनाओं के साथ कल्पना का सुंदर रूप प्रस्तुत करता है, जो परंपरागत से कुछ इतर शिखंडी के नवीन पक्षों को पाठक के समक्ष पहुँचाता है। शिखंडी के पूर्व जन्मों की कथा इसमें पूर्ण विस्तृत रूप में सामने आती है। शिखंडी प्रथम जन्म में अंबा के रूप में काशी नरेश के यहाँ जन्मी। उसकी दो बहनें थी–अंबिका और अंबालिका। तीनों बहनें खुशी-खुशी राजमहल में जीवन व्यतीत करती रहीं। इनमें अंबा सबसे चंचल थी। अंबा द्वारा ही पुरुष बन शिखंडी के रूप में अपना बदला पूर्ण किया जाता है।

'शल्यक्रिया अनेक दिन तक सतत् रूप में चलती रही...चेतना लौटते ही शिखंडी को मर्मांतक पीड़ा का अनुभव हुआ....शल्यक्रिया सफल रही, 'राजकुमार शिखंडी' कर्कटी ने प्रसन्नता-भरे स्वर में बड़ा आभार पीड़ा के बाद भी शिखंडी यह सुनकर प्रफुल्लित हो गया।'[5]

उक्त कथन से स्पष्ट होता है कि उस समय भी शल्य-चिकित्सा के द्वारा लिंग परिवर्तन जैसी चिकित्साएँ उपलब्ध थीं, जिन्हें सँजोने की भी बात कही गई है। लौटकर आए शिखंडी को हिरण्यमयी तिलक लगाकर युद्ध में भेजती है।

यहाँ 'शिखंडी स्त्री देह से परे' और 'मैं भी स्त्री हूँ' इन दोनों के पात्रों का शल्य-चिकित्सा द्वारा लिंग परिवर्तन या नया स्वरूप प्रदान किया जाना इस पक्ष से दोनों उपन्यासों में समानता दिखाई देती है।

इसी क्रम में बढ़ते हुए निर्मला भुराडिया कृत उपन्यास 'गुलाम मंडी' आती है इस उपन्यास में यूँ तो कई पक्षों का समावेश है, छोटी-छोटी कथाएँ आवश्यकता के अनुरूप अपना स्थान बनाती जाती हैं। इसमें मानव तस्करी, देह व्यापार, गुलामी इत्यादि का चित्रण खूब मिलता है। कस्बों से बड़े शहरों विदेशों में भी ऐसे कृत्यों का होना पाया जाता है। यहाँ हमारा मुख्य उद्देश्य हिजड़ा समाज से है जो समाज से बहिष्कृत है। ऐसे लोगों का जीवन ही अलग-थलग सा हो जाता है। इन सभी कथाओं में एक कथा जुड़ती है जिन्हें हिजड़ा कहते हैं। समाज इन्हें कभी भी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता। लोगों का तिरस्कार झेलते हिजड़ा पात्रों की मन:स्थिति को लेखिका ने बखूबी चित्रित

किया है–

'हम न तुम्हारे जो शादी ब्याह हो तो नाचेंगी-गाएँगी, शगुन पाएँगी मगर यूँ तो रास्ते में आ पड़े ना हम, तो हिजड़ा कहकर धिक्कारोगी भी हैं।'[6] उक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि ऐसे संबोधनों एवं तिरस्कार या धिक्कार का जो भाव है इससे अब बाहर होना होगा।

लेखिका ने हिजड़ों के गुरु व उनके अंतिम संस्कार के विषय में बताया है उनके अंतिम संस्कारों में कैसे भयावह तरह से गुमसुम रात को काले वस्त्र में सब निकलते हैं कुदाल, फावड़ा, धतूरे का काँटेदार फल लेकर। मुर्दे को स्केटर से चलाते हुए उसे कब्र तक ले जाते हैं, जिससे कोई देख न सके। परंतु क्या ऐसा वास्तव में होता होगा। कई लेखिकाओं को पढ़ने पर तो ऐसे तथ्यों की बहुत अधिक पुष्टि नहीं होती। बहुतों की पुष्टि तो हो ही नहीं पाई, उपन्यासों में किंवदंती के आधार पर लिख दिया जाता है–

'हिजड़े उठाके ले जाएँगे, झोली में भरके।'

'छोरों का तो वो अंग-भंग करके अपने दल में मिला लेगें। तभी अंगूरी की आवाज ने ध्यान भंग किया।

'हमारा मंदिर देखोगी दीदी?'

'मंदिर? तुम लोगों के यहाँ मंदिर भी।' कल्याणी ने आश्यर्च से सवाल किया?

'हाँ, हमारे यहाँ मंदिर भी है और तुम्हारी अंगूरी और उसके जैसी कितनी और मूरख भगवान को मानती भी हैं जाओ-जाओ, देख आओ हमारे भी इंसान होने के एक और सबूत को।'[7]

इस तृतीय लिंग समुदाय को अपने इंसान होने का सबूत देना पड़ता है।

यह उपन्यास इन अफवाहों के आधार पर 'यमदीप' से साम्यता रखता है। यमदीप की पात्र मानवी महताब गुरु से ऐसे ही प्रश्न करती है कि आप लोगों का ऑपरेशन करके बलात उन्हें हिजड़ा बनाने का कार्य करते हैं? तो वे जवाब में कहते हैं कि बेटा ऐसा कुछ नहीं है देख लो मेरी कोठरी में अगर ऐसा कोई औजार रखा हो, इस दृष्टि से बहुत ही समानता है।

इन समुदायों से संबंधी कई उपन्यासों में, जो इनका रहने का स्थान है वो बेहद संकीर्ण और गंदी मैली बस्तियाँ हैं। जो कहीं किनारे पर बनी होती हैं।

न नल की व्यवस्था, न साफ सफाई की, वहीं सीलन से भभका मारते घर, चाहे वह यमदीप हो, नाला सोपारा पोस्ट बॉक्स 203, गुलाम मंडी इत्यादि सभी में वही भयावह स्थिति है। जहाँ यह तृतीय समुदाय बसर करने को मजबूर है, विकल्पहीन होने के कारण इनकी स्थितियों में सुधार नहीं हो रहा, वहीं परंपरागत पेशा। सरकारों की तरफ से भी निष्क्रियता ही दीख पड़ती है।

'किन्नर मुनिया मौसी' उपन्यास को डॉ॰ विमला मल्होत्रा ने बेहद खूबसूरती से पाठक के समक्ष प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास की कथावस्तु में लेखिका के मन में उठ रहे तमाम सवाल हैं, जो बचपन से समाज व परिवार ने बच्चे के मन में भरा होता है, उन्हीं सारे सवालों से जूझती इस उपन्यास की पात्र सविता है। वह सोचती है यह अशुभ क्यों हैं? इनका दोष क्या है? लिंग दोष का इलाज क्यों नहीं कराते? आदि-आदि प्रश्न। इसकी मुख्य पात्र मुनिया और मोना हैं। सेठ मोहनदास के घर में जन्मी मोना को ऐसे गुप-चुप तरीके से मुनिया किन्नर को दे दिया जाता, जैसे वह पैदा ही नहीं हुई। और उसकी मृत्यु की घोषणा कर दी जाती है। मुनिया समझाती है कि मात्र छोटे से ऑपरेशन से आपकी बेटी ठीक हो जाएगी, इसमें ज्यादा कमी नहीं है परंतु पिता और दादी की निष्ठुरता की पराकाष्ठा माँ के लिए जीवनभर का अपार दुख बन जाता है।

मुनिया निरंतर प्रयास करती है कि उनकी बेटी सामान्य है। एक छोटे से ऑपरेशन से वह पूर्णत: ठीक हो जाएगी, आज भी उसे बुला लो परंतु कोई सुनने को तैयार नहीं, वहीं माँ प्रतिपल मरती है–'छह महीने बीतने पर मुनिया (हिजड़ा) फिर आई, देख बेबे, आपकी बच्ची थोड़ी से इलाज से ठीक हो सकती है। आखिरी उम्र में एक नेक काम कर जा।' मैं अपने लिए नहीं आती बेबे। एक मासूम की जिंदगी को सँवारने के लिए आती हूँ। नहीं, मैं तेरे पीछे क्यों पड़ूँगी।'[8]

तमाम कोशिशों के बाद भी वह सेठ की दलीलें सुन वापस आ जाती है। इनकी वेदना सुनने वाला बहरा हो गया है, उनका अपना खून ही। यह समाज, परिवार सबने बंद कर लिए अपने कान।

उसी मोना की शादी होती है और वह बच्चे को जन्म भी देती है परंतु इस पूरे जीवन क्रम में न जाने कितने ताने, आक्षेप, बाँझपन का ताना सहती चुप रहती है।

'मेरे होने में क्या बुराई है' रेनू बहल का यह उपन्यास हिजड़ा समुदाय की मजबूरी और उनकी प्रगति दोनों की ओर इंगित करता है। इस उपन्यास के कुछ पात्र मुख्य रूप से सामने आते हैं जिसमें पहला नाम शेखर का है, जो बाद में शिखा हो गई। वहीं दूसरा नाम सितारा का है जो बचपन में नूरा था। ये दोनों पात्र किन्नर हैं, पर इनमें बहुत अंतर दिखाई देता है। शिखा पढ़ी-लिखी डांस टीचर है। सितारा अनपढ़ परंपरागत हिजड़ों का कार्य करती है। सितारा परिवार से भगाई गई है, तो शिखा स्वयं घर से निकल पड़ती है। लेकिन आंतरिक पीड़ा समाज की अस्वीकार्यता दोनों की एक जैसी है। इसी क्रम में सितारा गलत कार्यों में फँस जाती है। उस समुदाय की मजबूरी में सभी हिजड़े ऐसे कार्यों में लग जाने में कोई गुरेज नहीं करते–'इसके अलावा और कोई रास्ता भी तो नहीं इस पापी पेट का क्या किया जाए।' उसने लाचारी से पेट पर हाथ मारते हुए कहा।

उसका जवाब सुनकर मैं खामोश हो गई। अनपढ़ कबीले को यह ही रोजी कमाने का समाधान नजर आता है अशिक्षा अपने साथ बहुत सारी समस्याएँ लेकर आती है इससे ये लोग अंजान हैं। मैं किसी बहस के मूड में नहीं थी इसलिए खामोश हो गई।'[9] शिखा इस माध्यम को सही नहीं मानती। वह हमेशा इन्हें समझाती है जिस्मानी संबंध रखने से कुछ रोगों के शिकार हो सकते हैं परंतु ये अशिक्षा और आर्थिक मजबूरी इस समुदाय को यहाँ तक पहुँचा ही देती थी। इसमें इनकी विवशता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

इस समुदाय को परिवार अपनी मान-प्रतिष्ठा से जोड़ लेता है और थोप देता है अपने मन मुताबिक निर्धारित लिंगीय बोझ को। वहीं सितारा जो लड़के के रूप में जन्म लेती है पर जैसे ही उसमें परिवर्तन आता है उसे बाहर का रास्ता दिखा दिया जाता है। यह स्थिति बड़ी ही मार्मिक जान पड़ती है जिस बच्चे को सबसे ज्यादा प्यार किया गया उसको घर से बाहर भगा दिया जाता है, वहीं उसके साथ खेलने वाले बच्चे भी उसका माजक उड़ाते हैं, उसके साथ अस्वाभाविक हरकतें करते पाए जाते हैं। घर पर इसकी शिकायत करने पर उसको पीटा जाता है।

कितनी दुखद बात है कि अपने ही बच्चे के मन में हो रहे उथल-पुथल को लोग नहीं समझते, उसके साथ हो रहे दुर्व्यवहार में वे साथ नहीं खड़े होते। जब शेखर किन्नर समुदाय में शामिल होता है तो सभी जानते हैं वह शिक्षित प्रतिष्ठत परिवार से है। शिखा इन परंपराओं को नहीं मानती, पर जिस परिवार में रहती थी वहाँ उसका दम घुटता है वह स्वतंत्रता नहीं है जो उसने यहाँ अनुभव की इसलिए वह इन रस्मों को निभा लेती है।

शिखा इस समुदाय की सच्चाई से बहुत दूर थी। उन सभी के जीवन की घटनाओं व उनके मेकअप वाले चेहरे के पीछे कितनी पीड़ा है उसका अनुभव करना चाहती है।

शेखर लाख मिन्नते करता रहा परंतु पिता का दिल नहीं पसीजा वह ठोकर मारते आगे बढ़ गए। फिर कभी घर न लौटने भी बात मान शिखा (शेखर) लौट गई।

वह साहस बटोरकर जाना चाहती है जब से सितारा की मौत हुई, शिखा की सबसे प्रिय सहेली सितारा को एड्स हो जाता है। नहर में डूबकर मौत होती है जिसे पुलिस आत्महत्या बताती है। इस घटना से घबराई शिखा अम्मा की खबर सुनते ही निकल पड़ती है–'अम्मा से मिलने का पक्का इरादा करके मैं एक बार फिर शेखर का रूप बनाकर सुबह ही अस्पताल जा पहुँची। सितारा की मौत ने मुझे डरा दिया था। चाहकर भी हम जाने वालों से कभी मिल नहीं सकते, उन्हें देख नहीं सकते। ...कमरे के बाहर खड़े होकर मैंने अपने होश ठीक किए, हिम्मत बटोरी और दरवाजा खोलकर अंदर दाखिल हो गई। कमरे में ललित और उसकी बीबी मौजूद थे मेरी नजर अम्मा की तरफ थी जो अभी भी आँखे मूँदे लेटी थी। ...मैं सीधी अम्मा के बिस्तर तक पहुँच गई।'[10] न जाने कितने दिन वह अस्पताल की खिड़कियों से माँ को देखकर लौट जाया करती थी पर एक दिन वह जा पहुँची अम्मा के बिस्तर तक...सभी अवाक रह गए। इतना सोचने पर मजबूर शिखा अपनों से ही नहीं मिल सकती, यह पिता का खौफ व आदेश भी था।

माँ बच्चे का प्रेम उन तमाम आँसुओं में बह जाता है, सारा खारापन दूर हो जाता है–नीना शर्मा हरेश कृत उपन्यास 'मेरे हिस्से की धूप' एक पढ़े-लिखे नौकरी-पेशा हिजड़े पर आधारित है। पूरे घर वालों ने खूब लाड़-प्यार से उसे पाला-पोसा। लेकिन छीटाकशी करने वाला यह समाज और इसमें सबसे ज्यादा मुश्किल तो पड़ोसी ही खड़ी करते हैं। मोनी स्कूटर चलाकर स्कूल में पढ़ाने जाती है। वह पढ़ने में भी बहुत होशियार थी। मोनी की माँ पुष्पा उसका विशेष ध्यान रखती, पर उसी मोनी का भाई नवीन एक दिन नाराज हो जाता है।

यह पहली ही शुरुआत थी जहाँ नवीन के मन में भेदभाव, ईर्ष्या पैदा होने लगती है। दोनों माँ-बेटी कुछ समझ नहीं पातीं, यह क्या हो रहा है, देखती रहती हैं, उसको ताव में जाते हुए। मोनी एक तो शरीर से दुखी, साथ ही ऐसा व्यवहार उसे संकुचित कर देता है।

मोनी जब अपने अधूरेपन का एहसास करती, तो टूटने लगती–उसका एक मित्र है, या यों कहें कि उसके सुख-दुख में उसे सम्हाल लेने वाला साजिद, जिससे मोना प्रेम करती है–'साजिद ....मेरा शृंगार... ये कपड़े कुछ भी मुझे पूरा नहीं कर पाते हैं। अधूरेपन की कसक मुझे जीने नहीं देती और मर भी तो नहीं सकती। वह सिसककर रो पड़ी साजिद ने उसके सिर पर हाथ फेरा। 'साजिद कुछ बदल नहीं सकता। ये-ये मेरी आवाज...ये शरीर...वह रोने लगी।'[11]

उक्त कथन में एक साजिद ही है, जो मोनी को कभी कमजोर नहीं होने देता। साजिद विवाहित होने के बाद भी उसका हमेशा साथ देता है, जब भी कभी मोनी ऐसे संत्रास से गुजर रही होती है, उसे साजिद याद आता है।

लेखिका द्वारा दिया गया शीर्षक अत्यंत सार्थक सिद्ध होता है। यह वही बबली है, जब मोनी उनके दल में जा पहुँचती है, तो मोनी का वहाँ रहना और निकलना मुश्किल हो जाता है, बबली ही वह हिजड़ा है जो मोनी को वहाँ से निकलने में मदद करती है। लेकिन यह क्या आज बबली उसके दुकान में आई है, उसके शरीर पर अनेक चोटें हैं और उसे एड्स हो गया है। मोनी उसे डॉक्टर को दिखाती है, पर वह नहीं बचती। इसी पीड़ा का अनुभव करती मोनी निकल पड़ती है, इनके लिए उजाला खोजने।

डॉ॰ लता अग्रवाल कृत उपन्यास 'मंगलामुखी' इसी परंपरा का निर्वाह करते हुए कुछ नवीन

तथ्यों के साथ सामने लाता है। इसकी कथा 'भुजरिया' जिसे कजलिया भी कहते हैं, इसी त्यौहार से शुरू होती है। जो साक्षात प्रकृति का रूप है, सभी स्त्रियाँ सज-धजकर भोपाल की सड़कों पर निकलती हैं। तभी लेखिका इससे परे एक और सुंदरता का जिक्र करती हैं–'इससे परे भी एक आकर्षण और था लोगों के लिए। वह था हमारा किन्नर समाज। तालाब के एक किनारे पूरे उत्साह से एक साथ सिर पर भुजरिया रख तालियाँ बजाते नृत्य करते हम किन्नरों का बड़ा-सा हुजूम उमड़ा था। अपनी मस्ती में चूर जमाने की परवाह से बेखबर जनहित के लिए ही खुशी का उत्सव मनाते हम जिन्हें कोई मेहरा, कोई हिजड़ा, वृहन्नला, यूनक आदि नामों से पुकारता है।'[12]

उपर्युक्त वक्तव्य में एक टोली इनकी थी जो खूब जमकर मस्ती के साथ नाचते-गाते ताली बजाते भुजरियों का उत्सव मना रहे थे, बिल्कुल बेखबर बेपरवाह। हालाँकि इस समाज का इनकी खुशियों से कोई मतलब नहीं था। वो तो बस हिजड़ों को अपनी खुशियों में खुश होते नाचते देखने के आदी हैं।

इस उपन्यास की एक पात्र शकुंतला है, जिसका प्रेमी उसे छोड़कर भाग जाता है और वह माँ बनने वाली है उसे भी यहीं आश्रय मिलता है।

तृतीय लिंगी समुदाय के प्रति किसी में कोई संवेदना दिखाई नहीं देती। अपना घर, अपने सिर से छप्पर गायब हो जाता है, अपनों से दूर जाना पड़ता है, परिवार के सदस्य ऐसे बच्चों को अपनी इज्जत से जोड़ उन्हें रोते-बिलखते छोड़ देते हैं ठोकर खाने के लिए। यह जब भी कहीं जाते हैं तो उस परिवार का पूरा विवरण इनके पास संभवत: होता ही है।

अपनी जीविका हेतु लड़ते-झगड़ते भी हैं, कुछ ये सुनते, कुछ वो सुनाते। ये चलता ही रहता है। यह पहला उपन्यास है जो उनकी बद्दुआओं को खारिज करता है, इस परिवार पर कोई असर नहीं पड़ता, परिवार नहीं मानता इनकी बद्दुआ को।

'अस्तित्व' उपन्यास गिरिजा भारती कृत यह उपन्यास एक माँ के डर को दिखाता है। बच्चे के जन्म के बाद से ही वह निरंतर उसे छुपाती रहती है। किसी पर विश्वास नहीं करती, बच्चा छूने नहीं देती, उसे डर है कि कहीं अपने बच्चे से दूर न हो जाए। इस महिला ने इस हद तक सतर्कता बरती की उसके ही घर की सास को भी पता नहीं चला–

'किन्नर लोगों ने खूब नाच-गाना किया, फिर सास से नेग पर बहस करने लगे–'नेग नहीं देती हो तो लाओ बच्ची कहाँ है? उसे ही ले जाएँगे।' यह सुनते ही सुधा तो मानो चंडी बन गई। 'कैसे ले जाओगे मेरी बच्ची को आगे बढ़ो तो।' अपने पास में रखा चाकू उठा लिया यह देखकर सास डर गई ओर बोली, 'अरे भाई अपना नेग पकड़ो बहस मत करो।' किन्नर तो सुधा का यह रूप देखता ही रह गया। बोला–माँ जी आपकी बहू बड़ी खतरनाक है। सुधा को तुरंत अपनी भूल का एहसास हुआ और कमरे में घुस गई। ...तभी एक किन्नर ने पुकारा–'अरी! बेटी बच्चे को लेकर बाहर आओ, हम तुम्हें आर्शीवाद दे दें।'

सुधा ने कहा–'नहीं चाहिए किसी का आर्शीवाद चले जाओ।' ...बहुत देर बाद सास की आवाज आई... उनका तो काम ही है, लोगों को डराना-धमकाना। तुम तो ऐसे डर गई। अरे! मजाल है कि जो मेरी पोती को छू सके, हाथ न तोड़ दूँगी।'

सुधा ने धीरे से दरवाजा खोला उसका कलेजा तो अभी भी धक-धक धड़क रहा था। जैसे ही धूप निकलती, सुधा बच्चे की मालिश करने लगती कि कहीं माँ जी मालिश करने के लिए न कह दें कि लाओ सुधा मालिश मैं कर दूँ।'[13]

सुधा परिचित थी अपने समाज से इसलिए वह नहीं बताना चाहती किसी को कि उसने क्या जन्मा है। सभी यही समझते रहे कि उसकी बेटी है। घर का पूरा काम करने के बाद भी पूरा दिन वो अपने बच्चे की देख-भाल मालिश करती, इस डर से भी कही सास खुद न करने लगे और यह सच सामने आ जाए। अपनी इस बेटी के लिए सुधा सबसे टकराने को तैयार है।

सास हमेशा चिढ़ती अपनी बेटी छूने नहीं देती। बेटी के बड़े होने पर सास के मन में बहुत सवाल उठते हैं, जो वह अपनी बहू से जान लेना चाहती है–

सुधा हमेशा ही झूठ बोलती रही लेकिन प्रीत को खूब पढ़ाया-लिखाया। शादी की बात दादी हमेशा छेड़ती तो वह पढ़ाई की बात कर टाल देती।

उसके छोटे भाई-बहनों की शादी हो जाती है। उस पर भी दादी ने खूब बखेड़ा खड़ा किया। आज मोनी पढ़-लिखकर नौकरी करने लगी है–उसने इंटरनेट के माध्यम से अपने जैसा ही एक लड़का खोजा दोनों की शादी हो गई। पर प्रीत की भाभी उसे हमेशा स्वार्थ के भाव से देखती उसका उपहास करती दिखाई देती है।

प्रीत और अमन अब बच्चा चाहते थे पर यह राह बिल्कुल भी आसान नहीं था। न जाने कितनी सफाइयाँ देनी पड़ती हैं इन्हें, यह तृतीय लिंगी समुदाय अगर बच्चा लेना चाहता है या पालना चाहता है तो उसे ऐसे देखा जाता है कि वह कहीं कोई गलत कार्यों में तो नहीं, या यूँ कहें कि जैसे कोई देशद्रोही हो उसे शक की नजर से देखा जाता है। पर जैसे ही बच्चा प्राप्त होता है दोनों की खुशियों का कोई ठिकाना नहीं रहता।

'किन्नर कथा एक अंतहीन सफर' अर्चना कोचर कृत यह उपन्यास एक सामान्य बालिका मालती की जिज्ञासाओं पर आधारित है। मालती किन्नरों के सामाज व उनकी परंपरा, वेशभूषा की ओर खिंची चली जाती है। अपनी तमाम जिज्ञासाओं को वह समाप्त कर लेना चाहती है–'पाँच वर्षीय मालती भोली-भाली मासूम गाँव की धूल भरी गलियों में लँगड़ी टाँग, स्टैपू खेलती, एकाध बार गली के चौक-चौराहे पर खेलते लड़कों संग कंचे पर भी एक आँख बंद करके आजमाइश कर लेती थी। पढ़ने में कुशाग्र बुद्धि सुबह स्कूल जाने के लिए पास के घरों में मधु, सविता, पिंकी, चंचल, वीना...इत्यदि-इत्यादि को भी अपने संग स्कूल चलने के लिए सहर्ष तैयार कर लेती थी।'[14]

कोमल मन के ये बच्चे खेल-खेल में ही किन्नरों पर ढेर सारी चर्चाएँ करने लगते हैं। अपनों से या स्वयं से बात कर एक-दूसरे के ज्ञान में वृद्धि करते रहते हैं। मालती इन सभी की बातों को सुनकर उनके बारे में और अधिक जानना चाहती। अब समाज का स्तर बदल रहा है, लेखिका भी अपनी कलम से उनके विकास रच रही हैं, उनके जीवन संघर्षों के साथ सरकार के द्वारा प्राप्त अधिकारों के प्रति इन्हें जागरूक करती हुई दिखाई देती हैं।

इस पथ पर बढ़ते हुए एक और स्त्री लेखिका का उपन्यास आता है–'अस्तित्व की तलाश में सिमरन'। मोनिका देवी का यह उपन्यास सभी उपन्यासों से थोड़ा अलग है। इसकी किन्नर पात्र सिमरन जो पहले शत्रोहन नाम से जानी जाती है। उसी सिमरन के माध्यम से लेखिका ने बड़े मार्मिक चित्र उपस्थित किए हैं–सिमरन बचपन से शारीरिक शोषण का शिकार हो जाती है और निरंतर होती रहती है। इस उपन्यास को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे तृतीय लिंगी बच्चों को सब जानवर समझते हैं। अजूबे या नमूने जैसे लगते हैं, इस समाज का आईना पाठक के सामने रखने में लेखिका पूर्णत: सफल हुई हैं–'मेरा तब तक कोई मित्र नहीं बन सका था। मैं बहुत डर गई। वह इतना सब करने के बाद भी नहीं माने। उन्होंने मेरे हाथ पेशाब से धुलवाए। इस घटना के बाद मेरे मन में डर

बैठ गया। अब मैंने पाठशाला न जाने का निश्चय कर लिया।'[15] अस्तित्व की तलाश में सिमरन यहीं से कथावस्तु की शुरुआत ही होती है, जहाँ लिंग दोष होने के कारण अपने स्कूल के बड़े बच्चे उसको मानसिक व शारीरिक रूप से प्रताड़ित करते हैं। यह ऐसा समाज है, जो अपने बच्चों तक को संस्कार नहीं देता कि दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। जो बचपन में ही इतने बड़े शोषक हैं, वे आगे चलकर तो संपूर्ण साम्राज्य ही चाहेंगे। वहीं बड़े भी कुछ कम न थे–'पिताजी के जाने के बाद पास की दुकान के कुछ लड़के और बड़ी उम्र के आदमी मेरे पास आते। आकर मुझे तंग करने लगे। उनमें से कुछ मेरे पिता के मित्र थे। उनका व्यवहार मेरे प्रति बहुत भद्दा था, वह मुझे न जाने क्या समझते थे। जो मेरी जाँघों को सहलाते और मेरे नितंब पर चिमटी काटते। मेरे गालों को छूते जो मुझे बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगता। उनका व्यवहार अशोभनीय था।'[16]

उक्त प्रसंग के अनुसार–जो आपके ही मित्र या आपकी जान-पहचान के होते हैं, क्यों उन्हें भी ऐसे कुकर्मों से गुजरते हुए शर्म नहीं आती। कहने को तो पिता के मित्र थे पर उसी के हिजड़े बच्चे पर न जाने क्यों ऐसी कुदृष्टि। एक बात और यहाँ निकलकर आती है कि यह परिवार असहाय है, गरीब है, जिसका मुँह बंद कर देता है, यह सभ्य समाज।

माँ तो आखिर माँ होती है, उसका बच्चा कैसा भी हो, पर यहाँ तो माँ का समय-समय पर क्रूर रूप भी दिखाई देता है, जो उसके दर्द से काँप नहीं उठती, उसके लिए दूसरों से लड़ नहीं जाती, इस सारे दर्द को सिमरन अकेले झेलती है मानसिक व शारीरिक रूप में–

'बचपन से ही लोग हमारा यौन शोषण करने लगते हैं। वह बच्चा जिसको यह ज्ञात नहीं होता कि वह क्या है, मासूमियत में लिपटा है फिर भी समाज उसको हैवानियत भरी नजर से देखता है। असहनीय दर्द, पीड़ा से उसको गुजरना पड़ता है। आखिर क्या कसूर है, उसका? हिजड़े से हिजड़े पैदा नहीं होते। यह सभ्य समाज की देन है। हम स्त्री और पुरुष से ही पैदा होते हैं। बस वह हमको अपना नहीं पाते और त्याग देते हैं। ऐसा क्यूँ?'[17]

अंततः इस समाज से वह प्रश्न करती है कि तुम्हीं से जन्में हैं हम, कहीं बाहर से नहीं आए। यह समाज ऐसे बच्चों को हर रूप में अपने पैरों तले मसल देता है। इस समाज में न जाने वह किरन कब निकलेगी जब इन्हें यह समाज पूर्णतः स्वीकार करेगा।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि सभी लेखिकाओं ने अपने पात्रों के माध्यम से उनकी समस्याओं को प्रस्तुत करने का कार्य किया है। तृतीय लिंगी समुदाय की स्थिति को देखकर रूह काँप जाती है। शारीरिक, मानसिक शोषण, बलात बच्चों व बड़ों का बलात्कार कर मनुष्य अपनी मनुष्यता से हीन हो गया और इसमें सबसे अधिक दोषी परिवार है जो अपने बच्चों को बड़ी निर्ममता से छोड़ देता है। वैसे भी यह एक समस्याप्रद विषय है। इसमें इन्हें मुख्यधारा से जोड़ने का प्रयास देखा जा सकता है। जहाँ कई परिवार अपने बच्चों को धक्का मारकर बाहर फेंक देते हैं वहीं, ऐसे भी माता-पिता हैं, जो उसी बच्चे को सीने से लगाकर रखते हैं। इसलिए समाज को भी जागरूक होना होगा। 2014 में सरकारी मान्यता तो इन्हें प्राप्त हो गई, कि ये अपना विकास कर पाएँ, इन्हें भी उतना ही अधिकार हो जितना एक सामान्य व्यक्ति को होता है लेकिन क्या यह अधिकार तब तक सार्थक सिद्ध हो पाएगा, जब तक इन्हें समाज न अपना ले।

संदर्भ

1. चित्रा मुगल, पोस्ट बॉक्स नं॰ 203, नाला सोपारा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, छठा संस्करण-2020, पृ॰ 35

2. वही, पृ॰ 50
3. प्रो॰ नीरू, संपादक डॉ॰ एम॰ फीरोज खान, थर्ड जेंडर, अतीत और वर्तमान, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण, 2018, पृ॰ 14
4. अनुसूया त्यागी, मैं भी औरत हूँ, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा संस्करण 2009, पृ॰ 57
5. शरदसिंह, शिखंडी स्त्री देह से परे, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2020, पृ॰ 115
6. डॉ॰ विजेन्द्र प्रताप सिंह, हिंदी उपन्यासों के आइने में थर्ड जेंडर, अमन प्रकाशन, कानपुर, संस्करण प्रथम-2019, पृ॰ 101
7. निर्मला भुराड़िया, गुलाम मंडी, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2019, पृ॰ 12
8. डॉ॰ विमला मल्होत्रा, किन्नर मुनिया मौसी, आर॰के॰ पब्लिकेशन, मुंबई, प्रथम संस्करण-2019, पृ॰ 16-17
9. रेनू बहल, मेरे होने में क्या बुराई है, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2020, पृ॰ 16
10. वही, पृ॰ 85
11. नीना हरेश शर्मा, मेरे हिस्से की धूप, माया प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण-2020, पृ॰ 53
12. डॉ॰ लता अग्रवाल, मंगलामुखी, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण-2020, पृ॰ 20
13. गिरिजा भारती, अस्तित्व, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण-2018, पृ॰ 19
14. अर्चना कोचर, किन्नर कथा एक, अंतहीन सफर, मोनिका प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2020, पृ॰ 11
15. मोनिका देवी, अस्तित्व की तलाश में सिमरन, माया प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण, 2019, पृ॰ 12
16. वही, पृ॰ 20
17. वही, पृ॰ 112

Pooja Vishwakarma
C/o Vishwakarma traders
opp Teja furniture Awantibai Chowk, kohka
Bhilai 490023
Mob. 8518886391
poojanaveen29415@gmail.com

स्वतंत्र लेखन का अद्‌भुत दस्तावेज : 'हादसे' आत्मकथा

पूनम चौहान, असिस्टेंट प्रोफेसर (हिंदी)
फैकल्टी ऑफ एजुकेशन
तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद

आधुनिक हिंदी गद्य की प्रमुख विधाओं में आत्मकथा विधा एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। साहित्य का क्षेत्र जैसे-जैसे विकसित हुआ है। इसकी कई विधाएँ जनमानस में लोकप्रिय हो गईं। जिनमें से आत्मकथा विधा ने पाठकों को सबसे अधिक अपनी ओर आकर्षित किया है। इस विधा में लेखक अपने स्वयं के जीवन का लेखा-जोखा पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। एक आत्मकथा लिखते समय लेखक अपने जीवन को दोबारा से जीता है। अपने जीवन की सारी जटिलताएँ, अच्छे-बुरे का सारे संसार से साक्षात्कार वह अपनी आत्मकथा के माध्यम से कराता है। रमणिका गुप्ता ने अपने जीवनकाल में दो आत्मकथाएँ लिखीं। उनकी पहली आत्मकथा 'हादसे' सन् 2005 ई॰ में राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित हुई है। इस आत्मकथा में लेखिका ने अपने पूरे जीवन की सभी घटनाओं को पारदर्शिता के साथ प्रस्तुत किया है। समाज की तो सदैव यही आकांक्षा रहती है कि एक स्त्री दासी की तरह पुरुष के वर्चस्व में रहे। आज की नारी पुरानी परंपराओं तथा रूढ़ियों से मुक्ति की खोज में अपने कदम आगे बढ़ा रही है। रमणिका गुप्ता ने 'हादसे' आत्मकथा में केवल स्त्री की दशा, दुर्दशा तथा विडंबना से ही समाज का परिचय नहीं करवाया है बल्कि उस स्थिति से कैसे मुक्ति पाई जाए इसका दिशा-निर्देश भी दिया है।

'हादसे' आत्मकथा एक ऐसी लड़की की जीवन कथा है जिसका जन्म क्षत्रिय परिवार में हुआ। बचपन से ही अपनी मनमानी करने वाली, दूसरों से अपनी बात मनमाने वाली रमणिका गुप्ता जिद्दी स्वभाव की हठीली लड़की के रूप में हमारे सामने आती हैं। जिनको समक्ष रखकर रमणिका जी ने यह आत्मकथा लिखी है। रमणिका गुप्ता की इस आत्मकथा को राजेंद्र यादव ने 'अपराजेय संघर्ष की कथा' कहा है। 'हादसे' की भूमिका में ही उन्होंने कहा कि 'दुर्दम्य और दुर्धर्ष! रमणिका गुप्ता की इस आत्मकथा को पढ़ते हुए दो ही शब्द बार-बार दिमाग में आते हैं, अगर इसे कोई दूसरा नाम दिया जा सकता है तो वह 'अपराजेय संघर्ष-कथा'।'[1] 21वीं सदी की महिला लेखिकाओं में रमणिका गुप्ता एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। एक उत्कृष्ट लेखिका होने के साथ-साथ रमणिका जी ने सामाजिक आंदोलनों में भी अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाई है। उन्होंने अपनी आत्मकथा के माध्यम से अपने व्यक्तिगत जीवन को नि:संकोच ढंग से विश्लेषित किया है। रमणिका जी का जन्म जिस परिवार में हुआ था उसमें पहले लड़की का जन्म अशुभ माना जाता था। पुत्री के जन्म लेते ही उसको मार दिया जाता था। इस तरह के परिवेश में जन्म लेने वाली एक विलक्षण व्यक्तित्व की धनी रमणिका जी ने अपनी पहचान बनाने के लिए स्वयं ही संघर्ष किया। एक ऐसा संघर्ष जो उनके जीवनभर चला। उन्होंने रूढ़िवादी परंपराओं का सदैव विरोध किया। उनके सामंती परिवार में महिलाओं को स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी। अधिकांश अधिकार पुरुषों के पास सुरक्षित थे किंतु

 ISSN 0975-735X

रमणिका जी बचपन से ही विद्रोही स्वभाव की थीं। अपनी माँ के द्वारा सिर ढककर चलने के लिए कहने पर वे इसका सख्त विरोध करती हैं। वे कहती हैं–'मुझे नहीं चाहिए अच्छे घर के रिवाज। मैं नहीं बनूँगी अच्छे घर की लड़की। यह सब पुरानी बाते हैं। मैं नहीं मानूँगी कोई पुरानी बात। मैं अपना ही रिवाज चलाऊँगी, खुद अपने आप। मैं जोर देकर कहती।'[2]

रमणिका जी को बचपन से ही साहित्य के प्रति विशेष रुचि थी। जब ये बहुत छोटी थीं तब से ही इन्होंने मूर्ति-पूजा, पर्दा-प्रथा, छुआ-छूत आदि का विरोध करना आरंभ कर दिया था। अपने कालेज के दिनों से ही इन्होंने अँग्रेजी हुकूमत के विरोध में नारे लगाने, छोटी-छोटी गोष्ठियाँ स्थापित करना आरंभ कर दिया था और बाद में इन छोटे-छोटे आंदोलनों ने ही बड़े संघर्ष का रूप धारण कर लिया। उनके बचपन में उनका पालन-पोषण नौकरों के द्वारा ही हुआ। माँ के सारे कार्य नौकर ही करते थे। रमणिका जी ने परिवार वालों के विरोध करने के बाद भी अपनी जाति को छोड़कर अंतरजातीय प्रेम विवाह किया। उनकी निडरता का परिचय तो हमें इसी बात से मिल जाता है कि उन्होंने प्राचीनकाल से चली आ रही परंपराओं का विरोध करके स्वयं क्षत्रिय होते हुए भी विजातिय लड़के को अपने जीवनसाथी के रूप में चुना। उनके इस निर्णय को बदलने का उनके परिवार के द्वारा बहुत प्रयास किया गया। घर में तरह-तरह की यातनाएँ दी गईं, किंतु उन्होंने अपना फैसला नहीं बदला और सन् 1948 को उन्होंने वेदप्रकाश गुप्ता के साथ विवाह कर लिया। उस समय इस तरह का कदम उठाना किसी भी लड़की के लिए बड़ा कठिन कार्य था। उन्होंने स्वयं के विवाह की चिट्ठी अपने माता-पिता को लिखी और अंततः माता-पिता को बेटी की जिद के आगे झुकना पड़ा और वे विवाह में सम्मिलित भी हुए। उन्होंने अपने पिता से साफ कह दिया–'शादी तो आप ही को करवानी होगी मेरी। मैं भागूँगी नहीं, इंतजार करूँगीं।'[3]

उनके इस प्रकार के विद्रोही स्वभाव के कारण उनका पूरा परिवार उनसे दूर हो गया था क्योंकि उस जमाने में किसी दूसरी जाति के लड़के से प्रेम विवाह करना एक लड़की के लिए स्वयं में बहुत बड़ी भूल थी और समाज के लिए एक नई पहल। विवाहोपरांत ससुराल में आकर भी रमणिका गुप्ता ने 'परदा प्रथा' तथा 'छुआछूत प्रथा' का डटकर विरोध किया तथा एक मेहतरानी के पुत्र को अपने रसोइया के रूप में नियुक्त किया। कई वर्षों तक रमणिका जी ने गृहस्थी को सँभाला। उनके पति का तबादला जब धनवाद जिले में हुआ तो रमणिका जी की दृष्टि वहाँ की निम्नवर्गीय महिलाओं पर पड़ी। वहाँ महिलाओं की स्थिति बड़ी दयनीय थी। अतः उन्होंने 'रमणिका फाउंडेशन एक एन॰जी॰ओ॰' के माध्यम से दलित तथा आदिवासी स्त्रियों के पक्ष में एक मुहिम चलाई। रमणिका गुप्ता जी को देखकर ऐसा लगता था कि मानो उनका जन्म ही स्वतंत्र अस्तित्व और पहचान बनाने के लिए हुआ था। उनको अपने ऊपर किसी का भी वर्चस्व पसंद नहीं था। उसके बाद इन्होंने अपना पूरा जीवन झारखंड के लिए समर्पित कर दिया। रमणिका जी का व्यक्तित्व कई रूपों में बँटा हुआ था। कभी हम उनको समाज सुधारक के रूप में देखते हैं, कभी राजनेता के रूप में, कभी गृहणी के रूप में और कभी साहित्यकार के रूप में। रमणिका गुप्ता एक ऐसी लेखिका थीं, जिन्होंने अपने जीवन के नियम स्वयं तैयार किए थे। प्राचीन समय से चली आ रही परंपराओं को उन्होंने कभी नहीं माना। बड़ी निडरता के साथ उन्होंने वे सारे कार्य किए जो एक स्त्री के लिए असंभव हैं। उन्होंने जो भोगा, जिया और जैसा देखा उन सबको अपनी कलम के माध्यम से समाज के सामने रखा। रमणिका गुप्ता जब राजनीति में आई थीं, तब उनकी उम्र मात्र चौदह वर्ष थी। निम्नवर्ग की महिलाओं तथा दलितों के हित के लिए रमणिका अनुमति लेने की आवश्यकता

महसूस नहीं की। उनके अनुसार ये एक महिला के अधिकार का हनन है। अपने जीवन की हकदार वे स्वयं है। वे लिखती हैं–'मुझे लोग मेरे कारण पहचानें, प्रकाश की पत्नी होने के कारण नहीं।'[4] उन्होंने अपना जीवन किसी की शर्तों पर नहीं जिया बल्कि स्वयं ही अपने लिए रास्ता निर्धारित किया। रमणिका जी ने लोकहित को सदैव सर्वोपरि रखा। रमणिका गुप्ता ने बचपन में ही आर्य समाज द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' को पूरा पढ़ा और समाज में फैले आडंबरों का विरोध करना शुरू कर दिया तथा तभी से उनके अंदर लिखने की प्रेरणा जाग्रत हुई। रमणिका जी के परिवार में भी साहित्य का माहौल था क्योंकि उनके पिता भी कविताएँ लिखा करते थे। जिस प्रकार से रमणिका जी समाज के प्रति इतनी मुखर रहीं, उसी प्रकार से उनका साहित्यिक पक्ष भी बहुत प्रबल था। उनकी अधिकांश कृतियों में दलितों के अधिकारों की बात कही गई है। रमणिका जी ने जंगलों में रहने वाले आदिवासियों को लेकर अपनी पत्रिका के कई अंक निकाले। आदिवासी विशेषांक पत्रिका 'युद्धरत आम आदमी' की ये संपादिका बनीं तथा साथ-ही-साथ उन्होंने दलितों तथा स्त्री अस्मिता के सवालों को अपनी पत्रिका के माध्यम से प्रस्तुत किया। रमणिका गुप्ता अपने ढंग तथा अपने बनाए हुए रास्ते पर चलने वाली एकमात्र लेखिका थीं। जब भी कोई उनसे किसी भी विषय पर बात करता तो वो ये कहना नहीं भूलतीं कि मौत भी मुझसे डरती है। रमणिका गुप्ता मात्र चौदह वर्ष की थीं जब वे राजनीति में आई थीं। उनके परिवार का माहौल भी राजनीतिक चेतना से ओतप्रोत था। इनके भाई सत्यव्रत कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे। इन्हें बचपन से ही किसी भी प्रकार का अन्याय सहन करने की आदत नहीं थी। पहले तो उन्होंने काँग्रेस पार्टी की सदस्यता ग्रहण की, बाद में संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी की सदस्य बन जाती हैं। उन्होंने राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाते हुए समाज की सेवा करना भी आरंभ कर दिया। कोयला श्रमिक संगठन के नाम से रमणिका जी ने मजदूर यूनियन का गठन किया। दोबारा से काँग्रेस में आने के बाद ये काँग्रेस की अध्यक्ष बनीं। रमणिका जी ने महिलाओं, मजदूरों, दलितों के हित का सदैव ध्यान रखा। झारखंड के छोटे से गाँव में पानी की व्यवस्था के लिए इन्होंने बहुत संघर्ष किया। अंततः ये सफल भी हुईं और इनको 'पानी की रानी' के नाम से जाना जाने लगा। जंगल और जमीन की लड़ाइयाँ लड़ते-लड़ते ये कई बार जेल गईं। रमणिका गुप्ता एक प्रख्यात कवयित्री होने के साथ-साथ राजनीति के क्षेत्र में भी एक सफल नेता रही हैं। रमणिका गुप्ता पूरे जीवन संघर्ष करती रहीं, कभी अपने लिए, कभी समाज के दलित वर्ग के लिए, कभी महिलाओं के लिए तो कभी आदिवासी अधिकारों के लिए। उन्होंने लिखा भी है–'हमेशा अपने को समर्थ बनाने का लक्ष्य रखा ताकि अपनी शर्तों पर चल सकूँ। समाज को चला सकूँ। उसके पीछे नहीं चलूँ, उसे दिशा दूँ, चाहें राजनीति में, चाहें सामाजिक या व्यक्तिगत आचरण में। इसलिए मेरा पहला हमला प्रचलित नियमों, प्रथाओं, प्रतिबंधों, यहाँ तक कि यौन-संबंधों पर होने लगा। मुझे रूढ़ियाँ तोड़ने में बड़ा मजा आता था और प्रतिक्रिया में रूढ़िवादियों का तिलमिलाना या झल्लाना अच्छा लगता था।'[5]

अपनी आत्मकथा में रमणिका जी ने अपने साथ निचले तबके के मजदूरों की पीड़ा को समझा और चित्रण भी किया। रमणिका जी ने उनको अधिकार दिलाने के लिए अपने सुख का त्याग कर लिया। उन्होंने अपनी आत्मकथा के आरंभ में ही लिखा है–'उन मजदूरों को जिन्होंने मुझे विश्वास दिया, उन स्त्री कामगारों को जो बदलाव की भेंट चढ़ गई। उन प्रतिद्वंद्वियों को जिनकी चुनौतियों ने मुझे संघर्ष के लिए प्रेरित किया। स्नेह और आस्था के उन क्षणों को जिन्होंने मुझे कभी निराश नहीं होने दिया। उन बीहड़ जंगलों को लंबी यात्राओं को जिन्होंने मुझे कभी भी थकने नहीं

 ISSN 0975-735X

दिया।'[6] रमणिका जी ने बचपन में ही अपने सामंतवादी परिवार में चली आ रही परंपराओं का विरोध करना आरंभ कर दिया था। जब वे बहुत छोटी थीं तब ही वे मूर्तिपूजा का विरोध में तथा घर में होने वाली परदा प्रथा का विरोध करने के लिए घंटों बहस किया करती थीं। उन्होंने असत्य का विरोध करके सत्य का सदैव साथ दिया। 'हादसे' आत्मकथा में वे लिखती हैं–'और अगर कहीं राजनीति में हो और वह भी लता बनकर नहीं, बल्कि पेड़ या खूँटा बनकर तो उसे हिला देने की तरकीबें, झकझोर देने के ढंग, उखाड़ फेंकने के प्रयास इंतहा पर पहुँच जाते हैं। अगर वह ट्रेड यूनियन में हो, वह भी सफेदपोशों की यूनियन में नहीं, बल्कि स्वयंवर्गहीन होकर खाँटी खटने वाले ब्लू कालर कोयला मजदूरों के बीच रहकर उन्हें संगठित कर आंदोलित करने का दम रखती हो, तब तो 'युद्ध और प्रेम में हर चीज जायज है, का फार्मूला लागू करने में सहयोगी, सहभागी–यहाँ तक कि मित्र और प्रशंसक भी देर नहीं लगाते, दुश्मनों का तो कहना ही क्या। हाँ दुश्मनों का! ऐसी औरत के दुश्मन खड़े हो जाते हैं।'[7] उन्होंने निर्धन वर्ग की मजदूर महिलाओं के उत्थान के लिए सराहनीय प्रयास किए। रमणिका जी की आत्मकथा 'हादसे' में हम देखते हैं कि रमणिका जी ने बचपन से ही अपने निर्णय लेने आरंभ कर दिए थे। अपने द्वारा किए गए किसी भी निर्णय के परिणाम को भुगतने के लिए भी वे हमेशा तत्पर रहती थीं। 'हादसे' आत्मकथा हमें बताती है कि अपने ऊपर हो रहे अत्याचार का विरोध करके ही कोई महिला सफल हो सकती है। चुपचाप ही प्रताड़ना को सहने वाली महिला मान–मर्यादा की बेड़ियों में ही जकड़कर रह जाती है।

रमणिका जी इस बात को भली–भाँति जानती थीं कि सदियों से चली आ रही परिपाटी में स्वयं को बाँधकर रखना बेकार है और उन्होंने हर उस बात का विरोध किया, जिसमें स्त्री को केवल एक अबला नारी समझा जाता था। कई वर्षों तक ये राजनीति में काँग्रेस कार्यकर्त्ता के रूप में रहीं बाद में काँग्रेस पार्टी को त्यागपत्र देकर 'संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी' में शामिल हुईं, किंतु चुनाव में हार गईं। 1970 ई॰ में इन्होंने काँग्रेस पार्टी की सदस्यता ग्रहण की। इसी काल में उन्होंने 'कोयला श्रमिक संगठन' के नाम से मजदूर यूनियन का गठन भी किया। अपनी कर्त्तव्यनिष्ठता के कारण ये काँग्रेस की अध्यक्ष भी बनीं। उन्होंने राजनीतिक दबाबों को कभी स्वीकार नहीं किया अपनी मर्जी से पार्टी की सदस्यता को ग्रहण किया। रमणिका गुप्ता ने सन् 1985 ई॰ में बिहार विधानसभा में मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी में भी भाग लिया। रमणिका जी का अपने पति के अतिरिक्त कई पुरुष मित्रों से संबंध रहा, इस बात को रमणिका जी ने अपनी आत्मकथा में खुलकर स्वीकार किया है। उनके पति को अपनी पत्नी की पुरुष मित्रता तनिक भी नहीं भाती थी। अंततः उन्होंने रमणिका जी पर सख्ती रखने का असंभव प्रयास किया। वह स्वयं लिखती हैं–'मैंने कभी अपने यौन शोषण का आरोप किसी पर नहीं लगाया। चूँकि मैं या तो उसमें भागीदार रही या विरोध में डटी रही।'[8] लेखिका ने भी अपनी बेबाक लेखनी से अपना विरोध प्रकट किया है–'मेरे प्रतिवाद का यही तरीका रहा है पहले झेल लेना, बाद में झुँझलाना, पछताना और आगे प्रतिरोध करना, आवृत्ति नहीं होने देना। संभवतः हर लड़की का यही तरीका है। यह तो सब समझ आ रहा है कि वह सब क्या था, जिसने बचपन में ही मेरे भीतर भय, असुरक्षा और भीरूता के बीज बोने की कोशिश की। ये अप्रिय संस्कार मुझे नौकरों ने सगे संबंधियों या घर आए मेहमानों ने दिए, जिनकी स्मृति मेरे विद्रोही तेवरों से उभारने में सहायक तो जरूर हुई...मेरे अवचेतन में बैठ गया। मेरी शुचिता बार–बार टूटी...इस टूटन का अपराधबोध मुझे हीनता से भरता रहा। बहुत बाद में जाकर मैं इससे उबर पाई।'[9] रमणिका गुप्ता की आत्मकथा 'हादसे' को पढ़कर ये सहसा ही अनुभव हो जाता है कि एक स्त्री अपने अस्तित्व की

पहचान के लिए कितनी बार टूटती है, निराश होती है लेकिन फिर दोगुने साहस के साथ संघर्ष की राह पर बिना रुके, हर तरह के जोखिम को झेलते हुए चलती जाती है, चलती जाती है। जब रमणिका जी के पति पदोन्नत होकर कानपुर जाते हैं तो रमणिका जी अपने पति के साथ कानपुर जाने के लिए साफ इंकार कर देती हैं क्योंकि धनवाद में उन्होंने जो समाज सेवा का बीड़ा उठाया था, उसको बीच में छोड़ना नहीं चाहती थीं। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है–'परिवार के साथ कानपुर जाने से अधिक महत्त्वपूर्ण मेरे लिए उन स्त्रियों की जीविका और स्वाबलंबन का प्रयास था जो इन संस्थाओं पर आश्रित थीं।'[10] रमणिका गुप्ता ने निचले तबके के लोगों के विषय में सोचा और बिना अपनी सुख-सुविधाओं की चिंता किए लगातार निडर होकर समाज सेवा का कार्य करती रहीं। समाज हित को सर्वोपरि मानते हुए मजदूर और दलितों के अधिकारों के लिए सदैव कर्मनिष्ठ एवं निष्ठावान रहीं।

रमणिका जी ने अपनी आत्मकथा में सामंतवाद तथा लोकतंत्र की वास्तविकता को निडरता के साथ प्रस्तुत किया है। राजनीति के क्षेत्र में उतरने के बाद कई बार रमणिका जी को स्त्री होने के कारण दबाने, डराने तथा धमकाने का प्रयास किया गया लेकिन बचपन से ही निडर और साहसी स्वभाव की रमणिका गुप्ता कभी भ्रष्ट नेताओं की धमकी से भयभीत नहीं हुईं बल्कि उन्होंने सदन में नाबालिग बच्ची के बलात्कार के दोषी नेताओं के नाम का खुलकर प्रयोग किया। रमणिका जी ने कोयला खदान में कार्यरत लाखों मजदूरों के कल्याणार्थ अपने व्यक्तिगत सुखों का बलिदान देकर उनके हितों को सर्वोपरि रखा। दलितों एवं निर्धनों के अधिकारों के लिए रमणिका जी ने आंदोलन किए और उनके हितों के लिए वे कार्य किए जो विधानसभा में भी संभव न हो सके थे। 'हादसे' आत्मकथा में हम देखते हैं कि यह पूरी आत्मकथा रमणिका जी के केवल निजी जीवन की ही नहीं बल्कि राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन की कथा भी है। इस आत्मकथा में हम रमणिका जी को एक ऐसी संघर्षशील महिला के रूप में देखते हैं जो कोयला खदानों में काम करने वाले मजदूरों के अधिकार दिलाने के लिए जी-जान लगा देती हैं। बहुआयामी व्यक्तित्व वाली रमणिका जी जीवन के तमाम संघर्षों को झेलती हुए एक सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में हमारे सम्मुख आई हैं। उनकी आत्मकथा में यथार्थ जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रसंगों का साहित्यिक चित्रण हुआ है जो रमणिका जी की अद्‌भुत प्रतिभा का परिचय भी देता है। 'हादसे' आत्मकथा न केवल लेखिका की बेबाकी को प्रदर्शित करती है बल्कि समकालीन समाज की सभी प्रकार की स्थिति के कटु सत्य को भी हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। 'हादसे' आत्मकथा की लेखिका रमणिका गुप्ता नारी को आर्थिक परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त करना चाहती हैं। वे नहीं चाहती कि नारी का स्थान हमेशा पुरुषों से कमतर रहे। रमणिका गुप्ता स्वयं किसी के हाथ की कठपुतली बनकर रहना नहीं चाहतीं। आर्थिक दुर्बलता ही स्त्रियों को पुरुषों के आगे नतमस्तक होने के लिए विवश कर देती है। रमणिका गुप्ता ने कभी भी रूढ़िगत बंधनों में बँधकर अपना जीवन नहीं जिया। उनका मानना था कि शिक्षा प्रसार तथा आर्थिक स्वावलंबन के बाद ही स्त्रियाँ समाज में सम्मान तथा प्रतिष्ठा पा सकती हैं। रमणिका गुप्ता ने नारी मुक्ति के विचारों को क्रियात्मक रूप देने के लिए सिलाई प्रशिक्षण, महिला को-ऑपरेटिव तथा कल्याण केंद्रों की शुरुआत की तथा समाज में निचले तबके के लोगों के कल्याणार्थ कई सराहनीय कार्य किए। इतना ही नहीं रमणिका जी ने स्त्रियों को उनके अधिकारों से परिचित कराया तथा उस पर अमल का मार्ग भी दिखलाया।

रमणिका गुप्ता ने अपने जीवन का एक बहुत बड़ा समय दलितों तथा महिलाओं के लिए

 ISSN 0975-735X

संघर्ष करते हुए बिताया। सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने हिंदू, मुस्लिम, दलित, ईसाई तथा सिख जैसे भेदभाव को सिरे से नकार दिया। उनकी आस्था धर्म से अधिक कर्म पर थी। किसी से डरना तथा दबना उनके जीवन के नियमों के खिलाफ था। यदि देखा जाए तो उनके संपूर्ण जीवन की मुख्य विशेषता निर्भीकता ही है। उन्होंने अपनी आत्मकथा में बहुत सारी ऐसे बातें भी लिखी हैं जिससे पाठक असहमत भी हो सकते हैं लेकिन उन्होंने इसकी परवाह नहीं की। उनका कहना था कि अपनी अच्छाइओं के विषय में तो सभी बताते हैं किंतु अपनी कमियों को दूसरों के सामने रखने का साहस कोई विरला ही करता है। लेखिका ने न केवल अपने-अपने जीवन का, बल्कि भारतीय समाज एवं संस्कृति का कच्चा-चिट्ठा भी खोला है। जीवन के विविध आयामों के मिश्रण के कारण ही यह आत्मकथा सदैव जीवंत रहेगी।

संदर्भ

1. रमणिका गुप्ता, हादसे, राधाकृष्ण प्रकाशन (प्रा॰लि॰) दिल्ली, पहला संस्करण, 2005 भूमिका, पृ॰ 7
2. रमणिका गुप्ता, आपहुदरी, एक जिद्दी लड़की की आत्मकथा, पृ॰ 33
3. डॉ॰ राजेश्वरी, शोधपत्र 'पितृसत्तात्मक हादसों से मुठभेड़ करती लेखिका की आत्मकथा: हादसे', अक्टूबर, 2017
4. रमणिका गुप्ता, हादसे, राधाकृष्ण प्रकाशन (प्रा॰लि॰) नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2005, पृ॰ 26
5. वही, पृ॰ 17
6. रमणिका रचनावली (अप्रकाशित) सच्चिदानंद, पृ॰ 133
7. रमणिका गुप्ता, हादसे, राधाकृष्ण प्रकाशन (प्रा॰लि॰) नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2005, पृ॰ 15
8. वही, पृ॰ 54
9. रमणिका गुप्ता, आपहुदरी, पृ॰ 77-78
10. रमणिका गुप्ता, हादसे, राधाकृष्ण प्रकाशन (प्रा॰लि॰) नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2005, पृ॰ 27

पत्नी श्री शैलेंद्र सिंह
म॰नं॰ सी-61, **रेल विहार कालोनी**
बाबन कोठी के सामने मनोहरपुर
थाना मझोला, दिल्ली रोड
मुरादाबाद 244001 **(उ॰प्र॰)**
मो॰ 9068966309, 9410057836
poonam.chauhan402@gmail.com

रीतिकाल में हिंदू मुस्लिम संस्कृति का समन्वय

प्रो॰ राखी उपाध्याय, एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
डी॰ए॰वी॰ (पी॰जी॰) कॉलेज, देहरादून, उत्तराखंड

मानव व्यवहार में अनादिकाल से अभिव्यक्त होती हुई और आगत भविष्य में भी अभिव्यक्त होने वाली क्रिया ही मूलत: कला है। भारतीय कला सिंधु सभ्यता से लेकर मुगलकाल तक एक सुदीर्घ परंपरा रखती है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के इतिहास को ही अगर कलाओं का इतिहास कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह इतिहास भगवती भागीरथी की तरह कभी सिमटकर कठोर पाषाणों के मध्य प्रवाहित होता है और कभी आत्म विस्तार कर संपूर्ण मानव समाज को अल्पाधिक अपने में आप्लावित कर लेता है।

कला एक युगधर्म है।[1] जिसमें व्यापक स्तर पर सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था एवं भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। भारतीय कला विकास की दीर्घ परंपरा को द्रविण, आर्य, ग्रीक, शक, हूण और मुसलमान जातियों का विशेष सहयोग मिलता रहा है। यह विकास अपने भौगोलिक परिवेश में कभी काम प्रभावित रहा तो कभी धर्म। इस्लाम की प्रगति तथा उसका विकास, शुल्क तथा अल्पवृष्टि वाले प्रदेशों में हुआ जो पश्चिम में भूमध्यसागर के तट के लेकर पूर्व में चीन की प्राचीर तक विस्तृत थे। इन प्रदेशों में मीलों तक हरे-भरे दृश्य, वनस्पति तथा लहलहाते खेत नहीं दिखाई देते थे, इसके अतिरिक्त सच्चे मुसलमान तथा काफिर के विभेद के कारण मुस्लिम उपासकों को एक ही खुले विशाल मैदान में एकत्र होना पड़ता था जिसमें विस्तार पवित्रता, शांति और सुरक्षा की भावना विशेषत: कार्य करती थीं। अत: मुस्लिम कला धर्म और उपासना की कतिपय व्यावहारिक आवश्यकताओं और प्रदेश की भौगोलिक स्थिति से अधिक प्रभावित हई थी।[2]

धर्म सापेक्ष कला जैन बौद्ध और हिंदू अभिप्रायों से प्रेरित रही। प्रतीक पूजा को मानने वाले धर्मों की प्रकृति के अनुसार स्थापत्य, मूर्ति और चित्रकला का अधिक उन्नयन होता है। बौद्ध स्तूप और मूर्तियाँ, जैन मंदिर और मूर्तियाँ एवं हिंदू मंदिर और इष्ट-प्रतीक भारत की सृजनात्मक प्रतिभा के ज्वलंत प्रमाण हैं। भक्तिकाल में धर्माश्रयी कला के इस त्रिकोण को पंचमुखी कर दिया गया अर्थात् इसके साथ संगीत और काव्य का भी संयोग हुआ।[3] भारत में स्थापत्य और मूर्तिकला प्रधानत: धार्मिक क्षेत्र की कथाओं को ही अपनाती रही। सामान्य रूप से भरतोक्त नाटकीय मुद्राएँ और काम-शास्त्रीय विलास चित्र की मूर्तिकला को अनुप्रमाणित करते थे। उत्तर में खजुराहो की शृंगारी भित्ति मूर्तियाँ और दक्षिण की नाटकीय भित्ति मूर्तियाँ इसके प्रमाण हैं।

भारत में ज्यों-ज्यों मुस्लिम सत्ता सुदृढ़ होती गई त्यों-त्यों उसका कलात्मक स्वरूप भी स्पष्ट एवं मुखरित होने लगा। मुगल युग के पूर्व में स्थापत्य, संगीत एवं साहित्य का प्रारंभिक स्वरूप उसके सुनहले भविष्य का संकेत करती है। सल्तनतकाल से ही कला के उन्नयन और संरक्षण की परंपरा बनने लगी। रीतिकालीन कला इसी परंपरा का समुचित एवं सुविकसित स्वरूप है।

मध्यकालीन इतिहास में मुगलकालीन कला की दृष्टि से का स्वर्णयुग कहा जा सकता है।

 ISSN 0975-735X

इस समय ललित और उपयोगी दोनों प्रकार की कलाओं ने उन्नति की। इस उन्नति का कारण मात्र मुगलकालीन वैभव ही नहीं अपितु तत्कालीन शासकों की जागरूकता रही है। इस जागरूकता के कारण ही फारसी और हिंदू शैली के सम्यक् प्रयोग से मुगल शैली का विकास हुआ। जिसकी छाप तत्कालीन स्थापत्य, चित्रण, आलेखन आदि ललित कलाओं और जवाहरात-सोने-चाँदी के काम, कढ़ाई-बुनाई इत्यादि पर भी स्पष्ट अंकित है। इन सभी में ऐश्वर्य का उल्लास है।[4]

रीतिकालीन युग में कला विकास की हिंदू एवं मुस्लिम दो अलग-अलग धाराएँ भी प्रवाहित रहीं और दोनों का समन्वय भी हुआ। वैसे मुस्लिम समाज दो वर्गों में बँटा हुआ था—एक वर्ग धर्म के कला-निरपेक्ष रूप को स्वीकार करता था तो दूसरा कला को धर्म-क्षेत्र में स्वीकार करता था। बाबर से शाहजहाँ तक के दरबार में कला बराबर आश्रय पाती रही मगर औरंगजेब ने कला को ऐहिक जीवन से संबद्ध मानकर उसे दफनाने की आज्ञा दी थी। परिणामस्वरूप कला ने विकास केंद्र से हटकर स्थानीय रूप धारण कर लिया। फलतः वह सहस्रमुखी होकर चारों दिशाओं में बिखर गई।

स्थापत्य एक व्यय साध्य कला है। इसलिए कभी भी यह प्रत्येक राजा सामंत या सामान्य जनता के लिए संभव नहीं था कि वे इसको संरक्षण दे। लेकिन चित्रकला काव्यकला की ही तरह सरल, सहल एवं अल्पव्यय की कला है। रीतिकालीन परिवेश में चित्रकला राजसभाओं में काव्य की ही भाँति समाहित हुई, वास्तविकता तो यह है कि चित्रकला काव्य कला की ही भाँति-जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत मानव जीवन को अपने विशाल बाहुपाश में बाँधे हुए है। काव्य और चित्रकला दोनों अनादिकाल से साथ-साथ चलते रहे हैं। मगर इस युग में इन दोनों में चोली-दामन का संबंध दिखाई पड़ता है। जैसे रीतिकालीन काव्य का स्रोत प्राचीन काव्यों एवं भक्तिकालीन काव्यों में मिलता है। उसी प्रकार इस युग के चित्रकला का स्रोत भी वही रहा है।

इस काल की चित्रकला के स्रोत हिंदी और संस्कृत के लक्षण लक्ष्य साहित्य, पुराण और भक्ति साहित्य एवं दरबारी और लोकजीवन से माना जा सकता है। साहित्य में क्रांतिकारी परिवर्तन भक्ति आंदोलन से आया। इससे लक्षण और लक्ष्य दोनों प्रकार के साहित्य प्रभावित हुए और इन्हीं दोनों ही स्रोतों से रीतिकाल के पूर्ववर्ती एवं समवर्ती कलाकरों ने वस्तु एवं अभिवायों का चुनाव किया। शृंगार के रसराजत्व में भावी काव्य और चित्रकला दोनों के ही तत्त्व निहित थे। शक्ति आंदोलन की भावात्मक साधना पद्धति में शृंगार को शीर्ष स्थान प्राप्त हुआ। शृंगार के साथ राधाकृष्ण और गोपियों के प्रेमगीत गृहीत हुए। इस विधान में नायक-नायिका और दूती के भेद-प्रभेदों को लोकप्रियता मिलना स्वाभाविक था। फलतः शृंगार के क्षेत्र में नायक-नायिका भेद प्रमुख हो गया। भानुदत्त की 'रसमंजरी' नायिका भेद पर सबसे विशद और स्वतंत्र ग्रंथ है। इसने परवर्ती भक्ति साहित्य को भी प्रभावित किया और रीतिसाहित्य को भी। 'रसमंजरी' के आधार पर बसोहली शैली के अनेक भव्य चित्रों की रचना हुई।[5] उज्ज्वल नीलमणि और भक्ति रसामृत-सिंधु काव्यशास्त्र में नायिकाओं की विभिन्न स्थितियों के आधार पर वर्णित साधना पद्धति और जयदेव का 'गीतगोविंद' और संगीतशास्त्र में वर्णित रागरागनियों के चित्र भावी कवियों और चित्रकारों के लिए प्रेरणास्रोत बना। काँगड़ा शैली तथा अन्य शैलियों के भी चित्र इसके आधार पर बने हुए हैं।

आगे चलकर केशवदास की 'रसिकप्रिया' के आधार पर अष्टनायिकाओं के अनेक चित्र बने। इतना ही नहीं 'रसिकप्रिया' ने काँगड़ा, बसोहली और राजपूत शैली को बहुत प्रभावित किया। बिहारी सतसई में चित्रित नायिकाओं और भाव भूमियों को रंग और रेखाओं के माध्यम से भी अनेक चित्रकारों ने उतारा। अन्य रीतिकालीन कवियों के प्रभाव को भी स्वीकार किया जाता है, जैसे मतिराम, बंशीधर

आदि।[6] इस युग के कुछ चित्रों के ऊपर रीतिकालीन कवियों के छंद भी अंकित हैं–

लोक लाज तजि राज रंग निरसंक बिरासत।
कह 'केशवदास' विलास निधि फागुन फागुन छड़ियै।[7]

केशव का यह छंद अजितघोष के संग्रह के एक चित्र पर लिखा है। इसमें संगीत, चित्र और काव्य तीनों का सामंजस्य है। राजपूत शैली से प्रभावित इस चित्र में बसंत राग और बारहमासा के एक भाग का वर्णन है। इसी प्रकार बिहारी सतसई के आधार पर राजपूत शैली में अनेक चित्र बने हुए हैं। बसोहली शैली में कृष्ण लीला के अभिप्राय के एक चित्र में–

अहे दहेंडी जिनिधरै जिवि तूँ लेहि उतारिं।
नीके है छींके छुबै ऐ सैंई रहि नारि।[8]

बिहारी का यह दोहा लिखा है। इसी प्रकार बसोहली चित्र संग्रह में एक और चित्र है। उस पर कीया बासक सज्जा की आकृति बनी है। उस पर रीतिकालीन कवि का यह छंद भी अंकित है– 'देरनि जठनि सास नंद राषी स्वाइ।'[9] रीतिकाल के पूर्व सूरदास के गीतों के आधार पर बने चित्रों ने भी इस काल के चित्र को व्यापक पृष्ठभूमि प्रदान की थी। तुलसी और जायसी की कृतियों के आधार पर कथात्मक और धार्मिक चित्र बने। संस्कृत और हिंदी के लक्षण-लक्ष्य साहित्य ने इस युग के सभी शैलियों के चित्रों को नवीन जीवन प्रदान किया। भागवत् की कृष्ण लीलाओं ने मुगलकालीन चित्रों को बहुत अधिक प्रभावित किया।

बल्लभ संप्रदाय का केंद्र राजस्थान बनने से यहाँ पर पौराणिक भित्तिचित्रों की कला अधिक पनपी। यह राजपूत शैली के बहुत भिन्न नहीं थी। इसके अलावा भक्ति संप्रदाय के संत और आचार्यों के चरित्र भी अनेक चित्रों के प्रेरणास्रोत रहे हैं। रामानंद के प्रभाव से सीता और राम, विष्णु और लक्ष्मी के चित्रों की परंपरा प्रत्येक शैली में चली। कबीर धर्मदास और कमाल के कई चित्र काँगड़ा शैली में मिलते हैं। बसोहली शैली के चित्रों में नारायण नामक जहाँगीर कालीन संत के चमत्कारपूर्ण कार्यों के अनेक चित्र भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त सिक्खों के दस गुरु भी आते हैं। जिनका चित्र सांसारचंद के दरबारी को कलाकारों ने बनवाया था। भागवत् के आधार बने चित्रों में वात्सल्य, गोचारण, लोकरक्षक-लीलाएँ, वंशीवादन और दूसरे शृंगारी लीलाओं कसे संबंधित चित्र मिलते हैं।

इन सब स्रोतों से अलग लोकजीवन का विस्तृत फलक था जिसने तत्कालीन चित्रों को प्रभावित किया। इसमें पंजाब और राजस्थान की लोकसंस्कृति का विशेष योगदान रहा है। काँगड़ा शैली के चित्रों में चित्रित स्त्री और पुरुषों की वेश-भूषा पंजाब के लोकजीवन के संबद्ध है तो अन्य पोशाक राजस्थानी लोकजीवन से कहीं-कहीं मुगल वेश-भूषा से युक्त राजाओं के व्यक्ति चित्र भी पाए जाते हैं। मात्र लोकजीवन की साज-सज्जा ही नहीं अपितु लोकजीवन की प्रेम कहानियों को भी उन्होंने चित्रित किया। पंजाब की लोककथा हीर-रांझा, मिर्जा-साहिबान और सोनी-महीपाल ऐसी ही कथाएँ हैं। जिन्हें काँगड़ा शैली में प्रमुखता प्राप्त है। राजपूत शैली के चित्रों ने तो लोकाश्रय और राज्याश्रय समान रूप से प्राप्त किए थे। इसी से इसका प्रचार-प्रसार ज्यादा हुआ। काँगड़ा की परिष्कृत शैली लोकजीवन से बराबर संपर्क बनाए रही। उत्तर भारत की संपूर्ण धार्मिक और लौकिक शिल्प-रेखाएँ इस चित्रकला को आधारभूमि प्रदान करती हैं।

दरबारी जीवन से संबंधित तीन प्रकार के चित्र मिलते हैं–राजाओं के व्यक्ति चित्र, दरबार चित्र और राजविनोद चित्र। इसके प्रेरणास्रोत मुगल दरबार थे। मुगल दरबार के चित्रों के आधार पर अनेक राजपूत राजाओं के दरबार उनके जीवन की प्रमुख घटनाएँ तथा उनके व्यक्तित्व से संबंधित अनेक चित्र

खींचे गए। राजकीय संरक्षण के कारण उनमें दरबारी कला की सब विशेषताएँ मिलती हैं।[10]

रीतिकाल की दो शताब्दियों में प्राप्त होने वाले चित्रों को देखने से प्रतीत होता है कि काव्य की तरह यहाँ भी परंपरा का पालन किया गया है। प्रतिपाद्य की दृष्टि से तत्कालीन चित्रों को चार भागों में बाँटा जा सकता है–(1) शृंगारी चित्र, (2) धार्मिक व पौराणिक उपाख्यानों पर आधृत चित्र, (3) राग-रागिनियों के प्रतीक चित्र, (4) व्यक्ति चित्र।[11]

किसी युग की विशेषता उसकी विषयवस्तु और अभिव्यंजना शैली दोनों से ही स्पष्ट होती है। विषयवस्तु परिवेश के विचार पक्ष को स्पष्ट करता है। रीतिकालीन चित्रकला में 11वीं शताब्दी से लेकर 17वीं शताब्दी की भावात्मक उत्क्रांति दृष्टिगत होती है। इसके अतिरिक्त स्थूल परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है।

काव्य की तरह चित्रकला का भी केंद्रीय भाव शृंगार ही रहा। रंग और द्युति अलंकृति उस काल के शब्द और रेखाओं की विशेषत नहीं थी। तत्कालीन चित्र शृंगार रेखाओं की गरिमा को भुलाकर रंगों की तड़क-भड़क और उसके सुरुचिपूर्ण साम्य पर आधारित हो गया। अनुभूतियों के उभार के स्थान पर अंग-प्रत्यंग का उभार सामने आया। सूक्ष्म अलंकरण की प्रवृत्ति चमत्कारोंन्मुख होने लगी। शृंगारिक चित्र में ऋतु चित्र अस्ठबिध नायिका चित्र, नायक चित्र, कृष वार्ता से संबंधित चित्र और स्फुट शृंगारिक चित्र मिलते हैं। धार्मिक चित्र भित्तिचित्रों या रामायण और महाभारत जैसे ग्रंथों के पृष्ठों पर अंकित हुई। इसी समय समुद्र मंथन, विष्णुस्तुति, कृष्ण-जन्मादि एवं दावानल, लीला, कालीयदमन गोवर्द्धन धारण लीलादि के चित्र बने। पौराणिक कथाओं के पट चित्रों का भी प्रचलन था। राग-रागनियों के प्रतीक चित्रों में विदेशी प्रभाव दिखाई पड़ता है। टोड़ी राग, रागबिलावल, हिंडोलराग, राग कुसुम, राग असावारी, राग मेघमल्हार, राग गौड़ मलारादि[12] के चित्रों में इसे देखा जा सकता है। व्यक्तिचित्र में सम्राट, उसका दरबार, आखेट, प्रमुख घटनाओं आदि का समावेश है।

शैली की दृष्टि से तत्कालीन चित्रों को मुख्यत: दो भागों में बाँटा जा सकता है–भारतीय और मुस्लिम। भारतीय शैली में राजपूत शैली, काँगड़ा शैली और बसोहली शैली प्रमुख हैं। मुगल शैली के चित्रों में भारतीय कथाचित्र, अभारतीय कथाचित्र, ऐतिहासिक कथाचित्र, व्यक्तिचित्र और मनोविनोद व आखेट के चित्र मिलते हैं।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि काव्य की तरह ही चित्रकला भी सामंती जीवन का प्रतिनिधित्व करती है। इसमें लोकतत्त्व जहाँ भी आए हैं–वे अपने स्वाभाविक रूप में नहीं।

रीतिकालीन परिवेश हिंदू और मुस्लिम संस्कृति में संधिस्थल रहा है। दोनों में समन्वय एवं संघर्ष की शक्तियाँ बराबर बनी रहीं। मुस्लिम संस्कृति में मूर्तिकला पर एक धार्मिक वर्णन सदैव प्रबल रहा है। इस संस्कृति के सुधारवादी रूप में सामान्य रूप से कलाओं का प्रोत्साहन एक सीमा तक ही संभव रहा है। हिंदू संस्कृति में मूर्तियों या प्रतीक की उपासना तत्कालीन लोकप्रिय प्रवृत्ति के अंतर्गत थी। स्थापत्य के क्षेत्र में धार्मिक और ऐहिक दोनों प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही थीं। धार्मिक स्थापत्य में दोनों ही संस्कृतियाँ आत्म विस्तार, गरिमा एवं भव्य विशलता को प्रश्रय देती थीं, परंतु शिखर, गुंबद, मेहराव, द्वार एवं प्रतीक भिन्न-भिन्न थे। फलत: एक युगव्यापी संघर्ष हुआ। मंदिर और मस्जिद धर्म के प्रतीक होने के कारण एक समन्वित कला को जन्म नहीं दे सके। यह समन्वय राजमहलों भवनों एवं छतरियों के निर्माण तक सीमित होते हुए भी आदान-प्रदान की पद्धति से एक अद्‌भुत सौंदर्य उभरकर संपूर्ण परिवेश को गौरवमंडित कर देता है।

साहित्य के क्षेत्र में जैसे प्रबंध एवं मुक्तक दो स्वतंत्र काव्य स्वरूप देखने को मिलते हैं उसी

प्रकार स्थापत्य के क्षेत्र में भी एक प्रबंध की सी संधि योजना, विषदता एवं सांस्कृतिक पीठिका कलाकारों के लिए अभीष्ट थी। मुक्तक या गीत का स्वरूप स्थापत्य में लोकप्रिय नहीं हुआ। यह विराटता, भव्यता एवं महानता शासक के महान व्यक्तित्व एवं विशाल आकांक्षाओं का ही प्रतिनिधित्व करता है।

मुगलकालीन स्थापत्य अकबर के शासनकाल से ही प्रारंभ होता है। उसके राज्यकाल में स्थापत्य के क्षेत्र में हिंदू और ईरानी दोनों शैलियों का वर्चस्व था। डॉ॰ शिवलाल जोशी का विचार है कि 'सूक्षम दृष्टि से उसके समय के भवनों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य में भारतीय कला का अधिक बोलबाला था।' इसका कारण शायद उसका भारतीय दृष्टिकोण उदार मनोवृत्ति एवं हिंदुओं की सहानुभूति अर्जित करना था। अकबरकालीन अनेक भवनों का शिल्प हिंदू है और उसके अलंकरण तत्त्व हिंदू तथा जैन मंदिरों से लिए गए हैं। आगरा के किले में जहाँगीरी महल और उसके वर्गाकार स्तंभों तथा छोटी-छोटी मेहराबों की पंक्तियों में फतेहपुर सीकरी के अनेक भवनों तथा लाहौर के किले में हिंदू शैली विलक्षण रूप से प्रकट हुई है। पुरानी दिल्ली में ईरानी शैली पर बना हुमायूँ के मकबरे में भी कब्र की बनावट भारतीय है। इमारत के बाह्य भाग में श्वेत संगमरमर का स्वच्छंद प्रयोग भी भारतीय है।

इसके अतिरिक्त अनेक दुर्ग राजप्रासाद, आमोद-प्रमोद के भवन, स्तंभ, सराय, शालाएँ, तालाब, कुएँ इत्यादि में भी इन दोनों शैलियों का प्रयोग हुआ है। जोधाबाई का महल तो सबसे भव्य एवं आकर्षक है। इसके अलावा हिंदू रचना पद्धति पर बने हुए दीवाने खास, फतेहपुर सीकरी की शान जामा मस्जिद, बुलंद दरवाजा, भारतीय एवं बेजोड़ स्थापत्य के नमूने हैं। अन्य प्रसिद्ध भवनों में बीरबल का गृह, ख्वाबगाह, आमेर की राजकुमारी का निवास स्थान सुनहरा महल, इलाहाबाद का चालीस स्तंभों वाला राजप्रासाद जिसमें छतवाला बरामदा हिंदू 'स्तंभों की पंक्तियों पर आधारित है—निश्चित रूप से भारतीय शैली की रचना है। इसी प्रकार सिकंदरा में अकबर का मकबरा बौद्ध बिहारों की शैली पर आधारित है। लाल पत्थर का बनाया हुआ आगरे का किला भी तत्कालीन स्थापत्य का एक सुंदर नमूना है। अकबरकालीन स्थापत्य में एक तरफ ओज दूसरी तरफ हिंदू एवं मुस्लिम शैलियों का समुचित समन्वय बड़ा ही आकर्षक एवं मनोरम है। अकबर कालीन स्थापत्य में प्रयुक्त हिंदू शैली की व्यापकता और मुसलमानों की धार्मिक एवं विस्तारवादी नीति तथा व्यवहार के अंतर को देखकर आश्चर्य होता है।

जिस प्रकार के स्थापत्य का निर्माण अकबर ने कराया उसी शैली के आधार पर जोधपुर, जयपुर, ओढछा, दतिया आदि राज्यों में भी राज्य भवनों का निर्माण हुआ। राजा मानसिंह ने स्थान-स्थान पर लाल पत्थर से हिंदू मंदिर बनवाए। उनमें शुद्ध पारिभाषिक रूप से शिखरों और सामान्य प्रभाव की योजना मिलती है। वृंदावन का पुराना गोविंद मंदिर भी मानसिंह ने ही बनवाया था। इसके अतिरिक्त अनेक देशी राजाओं ने स्थापत्य का निर्माण कराया। जो अपने आपमें अनुपम है।

जहाँगीर के समय में वास्तुकला के उद्देश्यों एवं रूपरेखा में परिवर्तन हो गया। विलासी जीवन की अभिव्यक्तियाँ वास्तुकला को अधिक प्रभावित करने लगीं। यहाँ आकर शिल्प अलंकरण प्रिय हो गया। विषदता एवं गंभीरता का स्थान लालित्य एवं सुकुमारता ने लिया। सिकंदरा में अकबर के मकबरे की अंतिम मंजिल जहाँगीर की अलंकार प्रियता का स्पष्ट संकेत देती है। इसमें विषदता गंभीरता एवं अलंकृत लालित्य का संधिस्थल है तथा इसका निचला भाग अलंकृत लालित्य में सराबोर है। अलंकरण की प्रवृत्ति ने धीरे-धीरे बढ़कर मकबरों की प्राकृतिक शांति सरलता और

गंभीरता को समाप्त कर दिया। एक तरफ 'एतमा-दुद्दौला' के मकबरे में नूरजहाँ की अलंकारप्रियता चित्र को प्रफुल्लित करता है तो दूसरी तरफ अकबरकालीन पौरुष का दफन कष्ट देता है साहित्य की स्त्रैणता स्थापत्य में भी आ गई। डॉ॰ नगेंद्र ने उसे लक्ष्य करके कहा है–'श्वेत संगमरमर में झिलमिल पच्चीकारी तथा मूल्यवान पत्थरों के अलंकरण के कारण ऐसा जान पड़ता है मानो कोई बहुमूल्य आभूषण भवन के रूप में खड़ा कर दिया गया है।'

शाहजहाँ के शासनकाल में स्थापत्यकला चरमोत्कर्ष को प्राप्त होती है। अकबर द्वारा निर्मित लाल पत्थर संगमरमर के मंडपों का निर्माण किया गया। संगमरमर के कटावदार महाराव, मूल्यवान, पत्थरों की जड़ाई परिष्कृत सज्जा तथा सूक्ष्म अलंकरण शाहजहाँ द्वारा निर्मित भवनों की मुख्य विशेषताएँ हैं। दीवाने-आम, दीवाने-खास, खासमहल, शीशमहल, मुसम्मन बुर्ज, तथा मच्छी भवन शाहजहाँ द्वारा बनवाई हुई मुख्य इमारतें हैं। इन सभी की आत्मा शृंगारिक है। सूक्ष्म पच्चीकारी, चित्रलिखित-सी सजीवता, सुनहले तथा रंगीन स्तंभ, इन सभी में एक विलासपरक ऐश्वर्य प्रधान जीवनदृष्टि का परिचय मिलता है। मोतीमहल, हीरामहल, रंगमहल, नहरेबहिश्त तथा शाहबुर्ज नाम ही इसी तथ्य की पुष्टि के लिए यथेष्ट हैं।[13] निर्माण की दृष्टि से जमामस्जिद तथा ताजमहल की योजना मुगल-स्थापत्य-परंपरा की प्रथम इमारत हुमायूँ के मकबरे के अनुकरण पर हुई है। ताज की विशेषता तथा वैभव उसकी सज्जा तथा अलंकरण है। शाहजहाँ की वास्तुकला की चरम पराकाष्ठा आगरा की मोती मस्जिद में देखी जा सकती है। यह अपनी पवित्रता, सादगी, अनुपात की पूर्णता और रचनावृत्ति के सामंजस्य के लिए अपने ढंग की अनुपम एवं बेजोड़ इमारत है। इनके मेहराबों और स्तंभों में हिंदू-प्रतीक तथा रचनावृत्ति की पुनरावृत्ति है।

अलंकरण और सज्जा की मौलिकता औरंगजेब के समय में रूढ़ बन गई। रजिया बेगम का मकबरा बनारस की मस्जिद, सफदरजंग का मकबरा, बनारस की मस्जिद, दिल्ली के लालकिले में औरंगजेब द्वारा बनवाई मोती मस्जिद, ये सब फारस की परंपरित शैली के आधार पर बने हैं। 19वीं शताब्दी में लखनऊ के एक मकबरे में ताज की अनुकृति बनाने की चेष्टा हीन तथा अपरिष्कृत रुचि का परिचय देता है। बाह्य समानता होने पर भी दोनों का प्रभाव भिन्न है। औरंगजेब के मकबरे में मार्दव है, न गांभीर्य और न ऐश्वर्य। अनेक सामंतों के मकबरे इससे उत्कृष्ट हैं।[14]

वास्तव में यह युग ही प्रतिभा के ह्रास का रहा है। इसका बोध लखनऊ की इमारतों की हीन रुचि तथा अपरिष्कृत को देखकर हो जाता है। लखनऊ की प्रायः सभी इमारतों में ऐसा जान पड़ता है मानो शिल्पी ने उस लिपि का अनुकरण करने का प्रयास किया हो जिसका न तो वह अर्थ समझता है और न जिसकी वर्णमाला से ही उसका परिचय है।[15]

इन सम्राटों के समानांतर ही हिंदू नरेश भी कला को प्रश्रय देते थे। उन्होंने भी राज-प्रासाद, दुर्ग, मंदिर आदि का निर्माण कराया। यहाँ ध्यान देने योग्य बात ये है कि हिंदू स्थापत्य में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। हिंदू राजाओं ने भी बड़े-बड़े राजप्रासाद बनवाए थे जिसमें दीवाने आम, शीशमहल और शाही महल की बारहदरी का अनुकरण था। इनके स्थापत्य में हिंदू और ईरानी शैली दृष्टिगत होती है। इस युग के स्थापत्य का उदाहरण वीरसिंह बुंदेला का विशाल महल, जोधपुर दुर्ग और राजप्रासाद आमेर के महल और अजमेर झील के भवन हैं। मुसलमानों के अनुकरण पर हिंदू नरेश भी अपनी छतरियों तथा समाधियों का निर्माण कराने लगे। सूरजमल, छत्रसाल तथा उनकी रानी की छतरियाँ इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। इस युग का प्रसिद्ध मंदिर वीरसिंह का मंदिर था–जिसे शाहजहाँ ने नष्ट कर दिया था। उत्तरी भारत के अधिकांश मंदिर जो इस समय भी मौजूद हैं इसी युग की देन है।

इस प्रकार रीतिकालीन स्थापत्य कला को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि रीति-साहित्य की समांतर प्रवृत्तियाँ ही इस क्षेत्र में भी चलती रही। वह परंपराबद्ध शैली, अलंकरण की प्रवृत्ति, चमत्कारिक भावना, शृंगार और दरबारी वैभव विलास की सृष्टि का प्रयास सर्वत्र परिलक्षित होता है।

संगीत में नृत्य, नाट्य और गीत तीनों का समावेश होता है। इन कलात्रयी के आदि प्रवर्तक भगवान शिव माने जाते हैं। कालांतर में नाट्य और नृत्य की परंपरा भरत और संगीत को नारद ने आगे बढ़ाया। यह संगीत परंपरा हमारे देश में अनादिकाल से चला आ रही है। संस्कृत साहित्य में संगीत पर अनेक ग्रंथ पाए जाते हैं। भक्तिकाल में तो इसका अभूत पूर्व प्रचार-प्रचार हुआ। इसकी सबसे बड़ी विशेषता वह थी कि यह राजदरबार और सामान्यजन में बराबर रूप से समादृत हुई।

रीतिकालीन परिवेश में हिंदू और मुसलमान दोनों दरबारों में इसे समान रूप से सम्मान मिला। इसके संवर्द्धन में राजदरबार, धार्मिक प्रवृत्तियाँ एवं जनसामान्य सबका योगदान रहा है। जैसे कला के अन्य क्षेत्रों में समन्वय हुआ उसी प्रकार संगीत के क्षेत्र में भी। इस युग में संस्कृत के समानांतर हिंदी में भी संगीतशास्त्र की रचनाएँ हुईं। इसके प्रथम पुरोधा तानसेन माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त देव का 'राग रत्नाकर' हरिबल्लभ जी का 'संगीत दर्पण' अब्दुलवली का 'रागमाला', कृष्णकवि का 'रागकुतहल', कृष्णदेव व्यास का 'रागकल्पद्रुप', गंगाधर का 'रागमालादि' संगीत शास्त्रीय ग्रंथ हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत में भी अनेक रचनाएँ लिखी गईं-उनमें मेशकर्ण की 'रागमाला', पुंडरीक विट्ठल की 'रागमाला', सोमनाथ की 'रागविनोद', भावभट्ट की 'अनूपसंगीत विलास' व 'अनूपसंगीत रत्नाकार' दामोदार मिश्र का 'संगीत दर्पण' कोश ग्रंथ 'रागकल्पद्रुप' राजा जगजोति मल्ल का 'संगीत सार संग्रह', वैंकट मक्की का 'चतुरदंडि प्रकाश' अहोबल का 'संगीत पारिजात', सुभांकर का 'संगीत दामोदार' मुदेवेद का 'संगीतमकरंद' पुरुषोत्तम मिश्र का 'संगीत नारायण', तुलाजी का 'संगीत रसामृत' और प्रतापसिंह देव का 'संगीत सार' प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। उस युग की आवश्यकतानुसार इनके भाषानुवाद भी होने लगे थे।

मुगल शासक भारतीय संगीत से इतने प्रभावित हुए कि रागदर्पण, संगीत दर्पण, संगीत पारिजात और मानकुतूहलादि का फारसी अनुवाद कराए। इसके साथ-साथ चित्रकला और काव्य कला का घनिष्ठ संबंध रहा है। मंदिरों से या लोकजीवन से जुड़नेवाली संगीत की आंतरिक भावभूमि विस्तृत थी और दरबारों से संबंधित संगीत शास्त्रीय विधान से जुड़ी थी। वस्तुवादी युग में संगीत उतनी दृढ़ता से युग मानस को नहीं पकड़ सका-जितना की अन्य कलाएँ।

रीतिकालीन कला और परिवेश पर विहंगम दृष्टिपात करने से एक निर्विवाद सत्य उभरकर सामने आता है कि हिंदुओं की प्राचीन चित्रकला, स्थापत्य कला और संगीत मुगलों के संपर्क से विकसित नवीन शैली में विलीन नहीं हुई। ईरानी और मुगल शैलियों के संपर्क से इनका पुनर्जागरण हुआ। राजपूत शैली का उद्‌भव अजंता शैली से माना जाता है। जयपुर केंद्र होने से यह राजस्थानी शैली कही जाती है। कतिपय विशिष्ट परिवर्तनों के साथ सत्रहवीं शताब्दी में इसे पहाड़ी शैली से अभिहित किया गया। लेकिन दोनों में मूलभूत अंतर भी है-राजस्थानी शैली आलंकारिक है तो पहाड़ी शैली भाव प्रधान। पहाड़ी शैली के विषय अधिक विस्तृत हैं। उसमें पौराणिक तथा धार्मिक चित्रों के अतिरिक्त लोककथाओं तथा कृषक जीवन का सफल चित्रण है। दोनों में रसों का उच्चतम निर्वाह, रेखाओं में भावाभिव्यंजना और जीवन की गतिशीलता का निर्वाह है, परंतु पहाड़ी शैली में राजा और राजकीय वैभव का चित्रण और संगीत का प्रभाव आभासित होता है।

राजपूत शैली में दिव्यातिदिव्य गुणों के लिए प्रख्यात राजपूत जाति की भावनाओं की रंग और

 ISSN 0975-735X

रेखाओं के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। ग्रामीण जीवन उनके धर्म, आमोद-प्रमोद गाँव के बाजार, पनघट, खेत-खलिहान, घरेलू काम-धंधे, उद्योग तथा यात्रा और विश्राम स्थलादि के बहुविध चित्र पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त करुणा, सहानुभूति, स्नेह, प्रेम, वात्सल्यादि मनोवेगों का चित्रण इसमें बहुत सुंदर हुआ है। राजपूत शैली में धर्म के क्रियात्मक रूप से जीवन के पूर्णत्व के दर्शन होते हैं। शैली की दृष्टि से मुगल चित्रकला में ईरानी अलंकारिता के स्थान पर और स्वाभाविकता आ गई। इस चित्र में रेखाओं की गोलाई और कोमलता आकृतियों में गति तथा स्फूर्ति, हस्तमुद्राओं में सजीवता और उनके प्रयोग का बाहुल्य था। विविध चटकीले, सुनहले तथा रूपहले रंगों का प्रयोग भी अत्यधिक हुआ है। व्यक्तिचित्र के चित्रण में आकृति अंकन, व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण और मुख तथा मस्तिष्क के बनाने में चित्रकारों ने सूक्ष्मता तथा पटुता प्रदर्शित की है, परंतु इस शैली में भाव तथा जीवन का अभाव है। मुगलों की विलासिता और वैभव प्रदर्शन में ही कला संकुचित और कृत्रिम बन गई।

मुगलों के स्थापत्य में ईरानी प्रभाव की अधिकता के कारण मुस्लिम स्थापत्य की सरलता कम हो गई थी। मुगल सम्राटों के अपूर्व वैभव और असीमित धनागार ने उनमें अत्यंत मनोरम भवन निर्माण, उद्यान, नगर निर्माण की शक्ति उत्पन्न कर दी थी। ईरानी और हिंदू शैली के समन्वय के विकासपूर्ण मुगल शैली का निर्माण किया जिसकी छाप तत्कालीन, चित्रकला, स्थापत्य तथा ललित कलाओं पर अंकित है। मुगलकालीन विभिन्न इमारतों की प्रमुख विशेषताएँ गोल गुंबद, पतले स्तंभ और विशाल खुले द्वार हैं।

संगीत के दो अलग-अलग क्षेत्र विकसित हो रहे थे–मंदिर और दरबार। मंदिर के संगीत का संबंध भावनात्मक लयों से था तो दरबारी संगीत का शास्त्रीय विधान से। इस युग में काव्य और संगीत दोनों दो क्षेत्रों में बँट गए। भक्तिकाल की विशेषता समाप्त हो गई। काव्य और चित्र के क्षेत्र में समन्वय हुआ। संपूर्ण कलाओं में वस्तुपरकता और विलासयुक्त अलंकरण की बहुलता सर्वत्र व्याप्त है।

संदर्भ

1. डॉ॰ के॰एल॰ शर्मा, साहित्य : अन्य कलाओं के संदर्भ में, पृ॰ 5
2. डॉ॰ शिवलाल जोशी, रीतिकालीन साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, पृ॰ 172
3. डॉ॰ वै॰ वेंकटरमण राव, रीतिकालीन काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ॰ 397
4. डॉ॰ नगेंद्र, रीतिकाव्य की भूमिका, पृ॰ 21
5. डॉ॰ वै॰ वेंकटरमण राव, रीतिकालीन काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ॰ 405
6. वही, पृ॰ 46
7. केशवदास, कविप्रिया, मातृभाषा प्रकाशक, प्रयाग, 10(35)
8. जगन्नाथ रत्नाकर, बिहारी रत्नाकर, दोहा सं॰ 611
9. डॉ॰ वै॰ वैंकटरमणराव, रीतिकालीन काव्य की साहित्य पृष्ठभूमि, पृ॰ 407
10. डॉ॰ नगेंद्र, रीतिकालीन साहित्य का वृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ॰ 21
11. वही, पृ॰ 21
12. वही, पृ॰ 19
13. वही, पृ॰ 26
14. वही, पृ॰ 26
15. वही, पृ॰ 26

5/2 KISHANPUR CANAL ROAD
DEHRADUN 248001
Mob. 9411190099
drrakhi.418@gmail.com

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की कहानियों में राष्ट्रीय-सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण का प्रभाव

कनक नंदिनी, शोधार्थी, हिंदी विभाग
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग

हिंदी कहानी की परंपरा के दृष्टिकोण से उग्र की कहानियों पर विचार किया जाय तो ये उसी प्रकार की समस्यामूलक कहानियां हैं जिस प्रकार की प्रेमचंद लिखते थे और घटनाओं के संयोजन से कथावस्तु की एक ठोस संरचना होती थी। लेकिन वास्तव में किसी लेखक की परंपरा को केंद्र मानकर उस आधार पर रचना का विश्लेषण बहुत सार्थक नहीं होता, अब इसमें बहुत संदेह की गुंजाइश नहीं रह गई है। उग्र जी की कहानियों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि वे ऐसे लेखक थे जो किसी बनी-बनाई लीक पर नहीं चल सकते थे। इसीलिए परंपरा की बात की जाए तो निश्चय ही उग्र जी की कथा-दृष्टि प्रेमचंद की ही परंपरा वाली थी, यानी समस्यामूलक थी, लेकिन प्रेमचंद की तरह ग्रामीण जमीनी समस्याओं से बहुत ज्यादा जुड़ी नहीं थी। गोपाल राय इस संदर्भ में कहते हैं–प्रेमचंद की तुलना में उग्र महानगरों से अधिक जुड़े हुए थे। इसका प्रभाव दोनों की कहानियों की प्रकृति को भी काफी कुछ निर्देशित करता है। प्रेमचंद और उग्र के संवेदना-संसार की सबसे बड़ी समानता समकालीन औपनिवेशिक दासता के प्रति उनका विद्रोह था। प्रेमचंद इसका परिचय अपनी 1920 के पूर्व की कहानियों में भी दे चुके थे।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण को ध्यान से देखें तो यह साफ हो जाता है कि दोनों लेखकों की कहानियों की जमीन भले ही भिन्न हो, मगर देश और देश की आम जनता के प्रश्नों को लेकर दोनों समान भूमि पर खड़े नजर आते हैं। 1920 के पहले की कहानियों में प्रेमचंद अपनी राष्ट्रीय भावना का परिचय दे चुके थे जो उनके कहानी संकलन 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' जैसी कहानियों में मिलता है। उग्र जी की कहानियों को देखें तो वे बिल्कुल युवा थे और जोश से भरे हुए थे। यही जोश प्रेमचंद की प्रारंभिक कहानियों में भी दिखाई पड़ता है लेकिन उग्र में आक्रोश ज्यादा है, प्रेमचंद में भावनात्मक अनुभूति ज्यादा सघन है। 1919 में गोरखपुर से निकलने वाले 'स्वदेश' साप्ताहिक पत्र में 'उग्र' नाम से उनकी राष्ट्रीय भावना से भरी कविताएँ प्रकाशित होने लगीं और 1920 में बाबूराव विष्णु पराड़कर के अखबार 'आज' से उनका जुड़ाव हुआ और उनकी छवि एक लेखक के रूप में बनने लगी है। इन्हीं दिनों उनकी पहली कहानी 'गांधी आश्रम' छद्म नाम से 'आज' में प्रकाशित हुई और लेखक के रूप में उनकी पहचान बनने लगी। गोपाल राय कहते हैं–

'1921 के आरंभ में गांधीजी सत्याग्रह आंदोलन के सिलसिले में बनारस गए और उनसे प्रभावित होकर 'उग्र' ने आंदोलन में शामिल होकर स्कूली शिक्षा का बहिष्कार किया, गाँवों में जा-जाकर सत्याग्रह का प्रचार किया, जन-काव्य की रचना की और जेल गए। 1921 के अंत में जेल से लौटने के बाद, वे एक साथ, स्वाधीनता आंदोलन और साहित्य-रचना में सक्रिय रहे। 1924 तक उग्र स्वदेश के साथ साथ आज और मतवाला (कलकत्ता) में स्वाधीनता आंदोलन से प्रेरित

 ISSN 0975-735X

कहानियाँ, कविताएँ, व्यंग्य आदि लिखते रहे थे। अक्टूबर, 1924 में उन्होंने स्वदेश के 'विजयांक' का संपादन किया था, जिस पर सरकार ने मुकदमा चलाया था और पत्र के संचालक दशरथ प्रसाद द्विवेदी, सरस्वती प्रेस के प्रिंटर महताब राय आदि तो गिरफ्तार हो गए थे, पर 'उग्र' भाग निकले थे और पहले (जनवरी, 1925) मतवाला के दफ्तर में, और वहाँ से भी भागकर बंबई में पकड़े जाने पर नौ महीने की सजा भुगती थी। जेल से लौटने पर (फरवरी, 1926) 'उग्र' फिर मतवाला-मंडल से जुड़े और प्रकट तथा छद्म नामों से अनेक कहानियाँ, व्यंग्य, राजनीतिक टिप्पणियाँ आदि लिखीं।'[2]

इनकी एक प्रारंभिक कहानी 'प्रभा' नामक मासिक पत्र (लखनऊ) में छपीं। उनकी कहानियों में देशभक्ति की उत्कट भावना दिखाई देती है। दरअसल, उग्र जी की राष्ट्रीय चेतना में आक्रोश का पुट ज्यादा है जो राष्ट्रीय आंदोलन के उस दौर के लिए स्वाभाविक थी। स्वयं प्रेमचंद की प्रारंभिक कहानियों में राष्ट्रवाद का भावनात्मक स्वरूप दिखाई देता है। इसलिए उग्र जी की कहानियों में यह प्रभाव दिखाई देता है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस प्रसंग में सबसे पहले उन कहानियों की चर्चा जरूरी है जिनमें इस प्रकार की राष्ट्रीय चेतना दिखाई देती है। लेकिन यह ध्यान में रखने की भी जरूरत है कि भावनात्मक राष्ट्रवाद में देश के लिए बलिदान देने का जोश अवश्य है लेकिन उस पर गांधीवादी सत्याग्रह और अहिंसा का प्रभाव ज्यादा है। सबसे पहले 'बलिदान' शीर्षक कहानी की चर्चा अपेक्षित है। हालाँकि यह कहानी राष्ट्रवादी भाव की कहानी है लेकिन इसकी चर्चा इसलिए अपेक्षित है क्योंकि नवजागरण के केंद्र में आजादी की आकुलता है आजादी के आंदोलन में अपनी शहादत देने का जोश उग्र जी की कई कहानियों में नजर आता है, मगर इसमें हिंसा का पक्ष लेता लेखक नजर नहीं आता। इसका कारण है कि लेखक की क्रांतिकारी चेतना पर गांधी के सत्याग्रह और अहिंसा के सिद्धांत का भी प्रभाव है। 'बलिदान' कहानी का प्रारंभ एक सोलह वर्षीय बालक के द्वारा एक कपड़े की दुकान के सामने खड़ा होकर कहता है–

'विलायती कपड़े छोड़िए, पवित्र खद्दर को अपनाइए! काँग्रेस की आज्ञा मानिए!'[3] कहने की जरूरत नहीं कि विलायती कपड़ों के बहिष्कार का जो नारा महात्मा गांधी ने दिया था उसी की प्रतिध्वनि इस कहानी में सुनाई देती है। एक प्रकार के जनजागरण का उद्देश्य इसमें दिखाई देता है क्योंकि अँग्रेजी राज में भारत की जो आर्थिक लूट हो रही थी उससे आम जनता परिचित नहीं थी। बालक के माध्यम से लेखक जनता को जगाने का कार्य करता है। सेठ की दुकान पर बैठे ग्राहक बालक से पूछते हैं कि क्यों, विलायती कपड़े खरीदना क्यों खराब बात है तो बालक लोगों को संबोधित करते हुए कहता है–

'भाइयो, आप लोग नहीं जानते कि इस विलायती कपड़े से हमारी कितनी बड़ी हानि होती है। पहले हमारे यहाँ घर-घर चर्खे चला करते थे और हम लोग अपने जरूरी कपड़े खुद तैयार कर लेते थे। किसी का मुँह नहीं देखना पड़ता था, परंतु जबसे हम विलायती कपड़े पर प्रेम करने लगे हैं, तब से नितांत आलसी बन गए हैं। इसी कारण हमारे घरों में चर्खे के दर्शन नहीं मिलते। अब यदि विलायत वाले कपड़े देना बंद कर दें तो हमें नंगा फिरना पड़े। इस प्रकार हम उनके दास बने हुए हैं। हमें अपने अधीन समझकर वे तिगुने और चौगुने मुनाफे पर कपड़े बेचते हैं और हम लाचार होकर उन्हें खरीदते हैं। इस समय दुनिया की प्रत्येक जाति स्वतंत्रता चाहती है। स्वतंत्र होने के लिए लोगों का स्वावलंबी होना अत्यावश्यक है। अस्तु, जब तक हम लोग इन विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार करके स्वयं सूत कातकर खद्दर तैयार करने न लग जाएँ, तब तक स्वराज्य पाने की इच्छा करना केवल खिलवाड़ समझा जाएगा। इसीलिए काँग्रेस ने, जो कि देश के हित-चिंतकों द्वारा स्थापित

एक सबसे बड़ी संस्था है, यह आज्ञा प्रचारित की है कि विदेशी वस्त्रों का पूर्ण बहिष्कार किया जाए। अस्तु...।'[4]

जैसा कि ब्रिटिश सरकार का दमनकारी रवैया सर्वविदित है, लड़के का भाषण खत्म होते-होते कोतवाल बीस सिपाहियों को लेकर आ गया, लड़के से बहस हुई और कोतवाल ने उसे गिरफ्तार कर लिया। कोतवाली में आकर उसे माफी माँगने को कहा गया, मगर लड़का अड़ गया, उसने माफी माँगने से इंकार कर दिया। कोतवाल के कहने पर सिपाहियों ने उसे बुरी तरह मारा लेकिन तब भी उसने माफी नहीं माँगी। कोतवाल ने जब और मारने कहा तो दो सिपाहियों ने उसको मारने से इंकार कर दिया और अपनी वर्दी पेटी कोतवाल के सामने सरकार रख दी। बहरहाल लड़के की खराब हालत देखकर उसे छोड़ दिया गया। लेकिन लड़का बच नहीं सका। कहानी का अंत चिता जलते समय एक योगी के अचानक प्रकट होने से होता है जो घोषणा करता है कि अब भारत आजाद होगा। इस प्रकार कहानीकार देश की आजादी में बलिदान के महत्त्व को बतलाता है।

इस आलेख में उग्र जी की कहानियों में नवजागरण के प्रभाव पर चर्चा करनी है। नवजागरण और 1857 के गदर में एक अनिवार्य संबंध था। इसमें स्वामी दयानंद एवं उनके द्वारा चलाए गए आर्य समाज आंदोलन की बड़ी भूमिका थी। दयानंद के गुरु थे स्वामी विरजानंद। गदर में राष्ट्रवादी चेतना के सर्जक के रूप में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान था। गदर पर चर्चा के क्रम में एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी उभरकर आई है कि गदर आधुनिक राष्ट्रवाद का जनक था और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का प्रारंभ इसी से माना जाता है। इसलिए ऊपर कहा गया है कि नवजागरण और राष्ट्रीय आंदोलन में अनिवार्य संबंध था। उग्र जी की कहानियों पर नवजागरण के विविध अभिलक्षणों में एक महत्त्वपूर्ण गिंदु है राष्ट्रवादी चेतना। यही कारण है कि ऊपर उनकी 'बलिदान' कहानी का उल्लेख किया गया है। यह उल्लेख सिर्फ नवजागरण के विविध बिंदुओं को जोड़ने वाले सूत्र के रूप में किया गया है, उनकी कहानियों में राष्ट्रवादी चेतना पर अलग से विचार किया जाएगा। यहाँ उनकी कहानियों पर नवजागरण के अन्य प्रभावों की विवेचना की जा रही है।

नवजागरण सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण के दौर के रूप में जाना जाता है। अतीत को लेकर इसमें दो तरह के दृष्टिकोण दिखाई देते हैं—एक है अतीत की महानता का भव्यीकरण और दूसरा इसके ठीक उलट परंपरा से से चले आ रहे सड़े-गले रिवाजों, अंधविश्वासों, भेदभावपूर्ण सामाजिक संरचना और अवैज्ञानिक धार्मिक कृत्यों का विरोध। स्वामी दयानंद ने वेदों की ओर लौटने का नारा दिया था और यह उल्लेखनीय है कि पूर्व वैदिक समाज में न तो धार्मिक अंधविश्वासों का महत्त्व था न ही भेदभावपूर्ण सामाजिक संरचना थी। उत्तर वैदिककाल तक आते-आते ये नकारात्मक प्रवृत्तियाँ भारतीय समाज में स्थान पा गईं और इसी के कारण वर्ण एवं जाति के नाम पर भेदभाव, छुआछूत आदि की शुरुआत हुई जो राष्ट्रीय चेतना के स्वरूप की निर्मिति के लिए बाधक थीं। नवजागरण के नेताओं ने इन सबका कड़ा प्रतिरोध किया क्योंकि वे समझ गए थे इस प्रकार के विभाजित समाज को राष्ट्रवाद के नाम पर एकजुट करना किसी प्रकार संभव नहीं था।

उग्र जी की अनेक कहानियाँ सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण की अभिव्यक्ति करती हैं। उन्होंने सीधे-सीधे ब्राह्मणवाद पर प्रहार किया जो वर्ण और जाति के आधार पर समाज के विभाजन के लिए जिम्मेदार था। गोपाल राय कहते हैं—'उग्र ने समकालीन सामाजिक समस्याओं को भी अपनी कहानियों का विषय बनाया है। 'ब्राह्मणद्रोही' शीर्षक कहानी में जन्मना ब्राह्मणत्व की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाली विचारधारा को चुनौती दी गई है। इस बात को लेकर पिता-पुत्र में विवाद हो

 ISSN 0975-735X

जाता है और कट्टर ब्राह्मण पिता बेटे को उत्तराधिकार से वंचित कर घर से निकाल देता है। इस बहाने दो पीढ़ियों का संघर्ष भी सामने आ गया है। पर कहानी के अंत में पुत्र-प्रेम के आगे विचारधारा नतमस्तक हो जाती है और कहानी एक मानवीय संवेदना से भी जुड़ जाती है।'[5]

इस कथन से यह समझने में दिक्कत नहीं रह जाती कि उग्र धर्म के नाम पर होने वाले भेदभाव और अमानवीय प्रथाओं से जरा भी सहमत नहीं थे, बल्कि एक विध्वंसक रुख रखते थे। खुद जाति से ब्राह्मण होने के बावजूद उन्होंने ब्राह्मणों के ढोंग और पाखंड पर करारा प्रहार किया।

नवजागरण के दौरान जो सामाजिक सुधार की बातें हो रही थीं, उनका एक बिंदु सामाजिक बुराइयाँ भी थीं। इनमें एक तरफ समाज में स्त्री से जुड़ी समस्याएँ थीं तो दूसरी ओर लोगों में व्याप्त दुर्व्यसन भी थे, जैसे शराबखोरी या जुआ। ये दोनों अलग-अलग भी हैं और आपस में संबंध भी रखती हैं। इन दोनों दुर्व्यसनों के कारण अनेक युवा, अनेक घर-परिवार बर्बाद हो गए। उग्र जी ने अपने कथासाहित्य में इन समस्याओं को भी उठाया। इनकी एक कहानी है–'जुआरी'। यह एक बयान की शक्ल में है। लेखक कहता है–

'मालवा में कोई पाँच बड़े-बड़ों से सैद्धांतिक लड़ाई लड़ने में जुआ ही नहीं छूटा, एक हरकत शराब भी छूट गई जिसका कारण में अर्थाभाव मानता हूँ। बंबई में एक रोजगार छूटे तो आदमी भूखों नहीं मर सकता, दस काम उसके लिए अनायास ही तैयार रहते हैं। मगर मालवा में सो बात नहीं। यहाँ तो राजा से कमाओ या रईस से और अगर इन्हीं से किसी सबब छिड़ जाए तो पेट पर तवा बाँधे फिरो। मेरी मालवा में छिड़ी ज्यादातर रईसों से, जो राजाओं से खाकर भी उनके नाश पर, परदेशियों से मिलकर आमदा रहते हैं। मेरे मत से भारतवर्ष के राजे अगर अपने मिल-मालिकों और जागीरदारों को खत्म कर दें तो उनका शासन बहुत कुछ सन्नय और शुभ हो जाए। बहुत से बदमाश रईस राज के बल पर ही बली बन वहाँ के सत्यवानों को सताते और सतियों का सर्वनाश करते हैं। अँग्रेज से भी मेल रखते हैं प्राइवेट और राजा से भी पर्सनल। फलतः गौर से देखिए तो राज्य प्रायः सभी खतरे में, मगर सभी राज्यों से रईस मौजें मारते।'[6] इस कहानी को लेखक मनोवैज्ञानिक स्तर तक ले जाकर यह बतलाना चाहता है कि ये बुरी आदतें जल्दी छूटती नहीं हैं। वह खुद कहता है कि मन जब एक बार गलत मार्ग की ओर अग्रसर हो जाता है तो ये छूटती नहीं, दब जरूर जाती हैं। मालवा में उसकी जुए की आदत दब गई थीं, खत्म नहीं हुई हैं। जब लेखक मालवा से लंबे समय बाद मुंबई जाता है तब वहाँ जुए का प्रदर्शन देखकर उसकी पुरानी आदत जग गई। मगर कई दाँव लगाने के बाद भी लेखक हारता रहा और अंत में जब एक बार जीतने का मौका भी मिला तो मामूली चीजें हाथ लगीं। अंत में होता वही है कि फिर से लेखक कसम खाता है कि अब आगे जुआ नहीं खेलूँगा और इसी के साथ कहानी खत्म हो जाती है।

स्त्री को लेकर नवजागरण के दिनों में एक नया दृष्टिकोण उभर रहा था और इसमें मुख्य रूप से पुरुषों की कामुकता, अवैध स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर अपने लेखन में सबसे ज्यादा मुखर लेखकों में उग्र जी का नाम आता है। लेकिन पारंपरिक रूप से वे नैतिकताबोध से ग्रस्त नहीं हैं। इस प्रसंग में उनकी एक उल्लेखनीय कहानी है–'करुण कहानी'। वे साफ शब्दों में इस कहानी में अपना मत प्रकट करते हैं कि इसकी नायिका सनातन धर्म की दृष्टि से वह भले ही सती नहीं थी लेकिन उसकी स्थिति, प्रकृति को समझे बिना उसे कुलटा कहना बिल्कुल अनुचित है। गोपाल राय इस कहानी के संदर्भ में कहते हैं–''करुण कहानी' समकालीन संदर्भ में स्त्री-विमर्श की, समाज और परिवार में स्त्री की दयनीय स्थिति की, कहानी है। व्यभिचारी और वेश्यागामी पति भी अपनी

पत्नी को किसी अन्य पुरुष से बातें करते देखकर उसे घर से निकाल देता है। किसी मेले में अपने परिवार से अलग हो जाने वाली स्त्री को हिंदू-मुसलमान सभी एक ही दृष्टि से, भोग की भटकी हुई अरक्षित सामग्री के रूप में देखते हैं। ऐसी स्त्री को अपनी रक्षा करने वाले युवक से प्रेम करने का भी अधिकार नहीं होता। यही इस कहानी का कथ्य है। कहानी के अंत में करुणा की संवेदना मुखरित हुई है, जो इसे 'कथा' से 'कहानी' की कोटि में पहुँचा देती है।'[7] इसी प्रकार एक कहानी है–'विधवा'। इसमें उग्र जी ने बाल विवाह और विधवाओं की समस्या को भी लेकर भी कहानी लिखी है। वे इसमें विधवाओं के पुनर्विवाह का पक्ष लिया और विधवा विवाह न करने को लेकर भारतीय समाज की आलोचना की। इस कहानी में लेखक कहता है कि 'हमारा समाज उस मायावी राक्षस की तरह है जो लड्डू कहकर जहर देता हो। रमा के ससुर और सास, समाज-राक्षस से छोटी 'दुल्हन' रूपी जहरीला लड्डू चाहते थे। उन्हें अपने पुत्र के भविष्य की कोई चिंता नहीं थी। उधर भुवनेश्वर और उसकी पत्नी-पुत्री के लिए समुचित मात्रा में प्रेम रखते हुए भी... उतारने के फेर में थे। अस्तु लग्न निश्चित हो गया। दोनों ओर तैयारियाँ होने लगीं।'[8]

यानी स्त्री को लेकर भारतीय समाज हमेशा असहिष्णु रहा है। विधवा विवाह के समर्थन में नवजागरण के नेता चाहे राममोहन राय हों या स्वामी दयानंद, भारतीय समाज का पुरापंथी वर्ग दोनों से नफरत करता है। कहानी का एक पात्र जटाशंकर शास्त्री कहता है कि आर्य समाजी पतित, मूर्ख, चांडाल और क्रिस्तान हैं, इस पर कटाक्ष करते हुए देवरत्न कहता है–

'आप ठीक कहते हैं, महाराज! आर्यसमाजी जरूर पतित हैं। क्योंकि वे 'व्यवस्था' देने के पूर्व आध-पाव का भंग का गोला छानकर नहीं बैठते, क्योंकि वे 'मुख में राम, बगल में छुरी' नहीं रखते, क्योंकि वे मस्तक पर त्रिपुंड धारण कर-उपवीत पर तालमखाने से पालिश कर, अपने सनातन धर्म की प्रतिष्ठा (?) के लिए, समाज की आँखों में धूल झोंककर एकांत रात्रि में वेश्या-सदन में नहीं जाते, क्योंकि वे श्री विश्वनाथजी के पवित्र मंदिर में भक्ति से आए हुए श्रद्धालुओं के हृदय में 'दक्षिणा! दक्षिणा!!' की पुकार से अभक्ति नहीं उत्पन्न करना चाहते, क्योंकि वे प्रातः स्नान के बाद घाट की चौकी पर बैठकर, संध्योपासन के ब्याज से, पर-स्त्रियों पर पाप-दृष्टि डालने के विरोधी हैं! ऐसे आदमी पतित नहीं तो क्या हैं?'[9]

यह कहानी रमा नाम की आठ साल की बालिका की है जिसका विवाह होता है और वह ससुराल जाती है तो लेखक ससुराल का वर्णन जेल के रूप में करता है। उस बालिका को इसकी समझ भी नहीं है और ससुराल जाने के पहले ही पति की मृत्यु की खबर आ जाती है। इसके बाद पिता के घर में वह किस प्रकार विधवा का जीवन जीती है, इसका बड़ा ही मार्मिक वर्णन लेखक ने किया है। एक उद्धरण द्रष्टव्य है–

'त्योहारों के दिन रमा की सखियाँ चूड़ियाँ पहनती हैं, चोटी सँवारती हैं, शृंगार करती हैं, पर वह–सिवा इसके कि उन सुखों की ओर दूर से देखकर एक लंबी साँस ले, दो बूँद आँसू ढार दे, और कुछ नहीं कर पाती। तीज पर सब स्त्रियों के यहाँ तीज आती है, पर रमा के यहाँ...? उस दिन मुहल्ला-का-मुहल्ला उद्यान-सा हो जाता है जिसमें रंग-बिरंगे फूलों की तरह विविध रंग के कपड़े पहने, स्त्रियाँ शोभायमान होती हैं, पर अभागिनी रमा...? विवाहादि शुभ कर्मों में रमा को देखकर समाज घृणा करता है क्योंकि वह अभागिनी है, विधवा है। इन सब कारणों से रमा का मन विद्रोही होने लगा। वह रह-रहकर यही सोचने लगी कि यहाँ प्रेम नहीं, जहाँ सहानुभूति नहीं, जहाँ मनुष्यता नहीं, आदर नहीं–कुछ नहीं, वहाँ रहने से और उस समाज का भय मानने से लाभ?'[10] यह

 ISSN 0975-735X

विचारणीय है कि विधवा होने मात्र से किसी स्त्री का जीवन नर्क क्यों हो जाता है? सती प्रथा के खिलाफ राममोहन राय ने आंदोलन चलाया और वह अमानवीय प्रथा समाप्त हुई। मगर यह अकेली समस्या नहीं है। सबसे पहली बात है कि पहले बालविवाह होते थे और किसी कारणवश लड़के की मृत्यु हो जाती थी तो उस बालिका को विधवा घोषित करके उसके सारे मानवीय अधिकार छीन लिए जाते थे। निचली जातियों में दुबारा विवाह का कोई निषेध नहीं था, लेकिन कथित ऊँची जातियों में विधवा विवाह वर्जित था। आर्य समाज आंदोलन ने बालविवाह का विरोध किया और विधवा विवाह का समर्थन किया। यहाँ दुहराने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि नवजागरण आंदोलन में आर्य समाज की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। उग्र जी पर नवजागरण का प्रभाव था इसलिए उपर्युक्त संदर्भ में उनकी कई कहानियाँ हैं। यहाँ एक और मार्मिक कहानी की चर्चा लाजिमी है, जिसका शीर्षक है–'मोको चूनरी की साध'। आठ साल की अबोध बालिका को लाल छींट की चुनरी पहनने की बहुत इच्छा थी जो विवाह के बाद ससुराल जाते समय पहनी जाती है। जब गौने का समय आया तो वह बहुत खुश इसलिए थी कि उसे चुनरी पहनने को मिलेगी, अन्यथा उसे विवाह का कोई मतलब पता नहीं था। मगर गौने के ठीक एक दिन पहले खबर आती है कि उसके पति की मृत्यु हो गई और उसके बाद चुनरी उससे छीन ली जाती है। उसे इतना आघात लगता है कि बीमार हो जाती है। अंत में उसकी माँ पूरे समाज का विरोध झेलने के बावजूद उसे चुनरी पहना देती है। वह पहनकर खुश हो जाती है लेकिन उसका जीवन बचता नहीं, वह मर जाती है। एक कुप्रथा के कारण एक बालिका का जीवन नष्ट हो जाता है।

नवजागरण का विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक मुद्दों पर प्रभाव पड़ा है और द्विवेदी युग से लेकर छायावाद तक के साहित्य पर इस प्रभाव को देखा जा सकता है। राष्ट्रवाद का संबंध भी नवजागरण से है जिस पर इस आलेख के प्रारंभ में संकेत किया गया है।

संदर्भ

1. गोपाल राय, हिंदी कहानी का इतिहास 1900-1950, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ॰ 145
2. वही, पृ॰ 145
3. सुरेश सलिल (संपा), उग्र की श्रेष्ठ कहानियाँ, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2015, पृ॰ 19
4. वही, पृ॰ 19-20
5. गोपाल राय, हिंदी कहानी का इतिहास 1900-1950, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ॰ 152
6. महेश दर्पण (संपा॰), पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की कहानियाँ, भाग 2, एपीएन पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2017, पृ॰ 74
7. गोपाल राय, हिंदी कहानी का इतिहास 1900-1950, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ॰ 153
8. महेश दर्पण (संपा॰), पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की कहानियाँ, कथा धरोहर-2, पृ॰ 113
9. वही, पृ॰ 112
10. वही, पृ॰ 118

द्वारा श्री राम रंजन
शबरी नगर, वार्ड नं॰ 19,
(बड़ा पाकर पेड़, नीला भवन),
सिरका रोड, खिरगाँव, (हजारीबाग) 825301 **(झारखंड)**
मो॰ 7903830315
kanak.nandini1988@gmail.com

हिंदी मीडिया और भाषा

डॉ॰ राकेश कुमार दुबे

आमतौर पर पत्रकारिता या मीडिया के लिए टिप्पणी की जाती है कि अब उसकी विश्वसनीयता घट गई है। इस वाक्य को संजीदा होकर समझने की कोशिश किया जाए तो पता चलेगा कि मीडिया पर अविश्वास करते हुए भी कहा जा रहा है कि भरोसा घटा है, समाप्त नहीं हुआ है। दरअसल, मीडिया पर समाज का विश्वास कभी खत्म नहीं होता है, क्योंकि लोकतंत्र के चौथे स्तंभ की मान्यता प्राप्त इस संस्था की पहली जिम्मेदारी सामाजिक सरोकार की होती है। सत्ता, शासन और अदालत तक आम आदमी की तकलीफ को ले जाना और अवगत कराना मीडिया की जवाबदेही है। जब मीडिया अपनी जवाबदेही से पीछे नहीं हटता है तो समाज का उस पर भरोसा घट नहीं सकता है। हाँ, मीडिया पर समाज का भरोसा समाप्त हो सकता है। शून्य के स्तर पर जा सकता है, जब मीडिया अपनी जवाबदेही को भूल जाए। इस पर समाज के भरोसे को किसी तराजू में नहीं तौल सकते हैं, क्योंकि भरोसे का कोई मोल नहीं है।

समाचार पत्रों को राष्ट्र का चतुर्थ स्तंभ माना गया है। अखबारों की संबंधित भाषा के विकास या विकार में अहम भूमिका होती है। अखबार भाषा के उत्थान या पतन उत्थान में खाद का काम करते हैं। अखबारों की पहुँच जन-जन तक होती है। अखबार ही जनमानस में भाषा के प्रति विशेष धारणा वितरित करते हैं। अखबारों में भाषा के भावी स्वरूप की जड़ें होती हैं। भाषा के विकास और विनाश में समाचार-पत्रों की भूमिका प्रमुख होती है, क्योंकि जनता का सर्वाधिक और सीधा संपर्क इनसे होता है। सामान्यत: मनुष्य की प्रकृति अनुकरण करने की होती है। समाचार-पत्रों में हम जैसा सुनते हैं, पढ़ते हैं और देखते हैं वैसा ही लिखते हैं, उच्चारण करते हैं और भाषिक प्रयोग करते हैं। यदि सामान्यजन को भाषा का सही और मानक रूप सुनने और पढ़ने को मिलेगा तो जनता की भाषा में भी सुधार आता जाएगा। यदि समाचार-पत्र का सही और शुद्धता से प्रयोग करेंगे तो पाठकों की भाषा विकृत नहीं होगी। लोग भाषा का प्रयोग ध्यानपूर्वक करेंगे और भाषा के साथ उनका अटूट रिश्ता बना रहेगा। इसके विपरीत यदि समाचार-पत्र भाषा का अशुद्ध प्रयोग करेंगे, अनावश्यक शब्दों का प्रयोग करेंगे, तो वह भाषा को बोझिल ही बनाएँगे और यह बोझिलपन भाषा के संप्रेषण में बाधक बनता है ।

पिछले सौ वर्षों में हिंदी का निरंतर आधुनिकीकरण होता रहा है। इसमें संस्कृति की सौंदर्यात्मक चेतना और प्रगतिमूलक-ज्ञान-विज्ञान दोनों को अभिव्यक्त करने की क्षमता के दर्शन होते हैं। किस कदर परंपरा प्रगति में ढलती है, इसे देखना हो तो सिर्फ दो शब्द ही उदाहरण के लिए काफी होंगे। एक शब्द है 'आकाशवाणी' और दूसरा शब्द है 'दूरदर्शन' और ये दोनों ही सांस्कृतिक शब्द आज मीडिया के अंग हो गए हैं।

हिंदी में गजब की ग्राहिका-शक्ति है। उसने जनता के बीच रहकर स्वयं को इतना समृद्ध कर लिया है कि किसी भी क्षेत्र में संप्रेषण का समुचित माध्यम बन सकती है। पुलिस, रेल, बस, मेट्रो,

 ISSN 0975-735X

मोटर, टिकट, फोन, जैसे हजारों शब्द उसने पचा लिए। जच्चाघर (मैटरनिटी होम), नजरबंद, ईंधन, शेयरघाटी (शेयर होल्डर), जलप्रदाय (वाटर सप्लाई), बोनस भुगतान दूरमुद्रक (TelePrinter) अकादमी, तकनीक, त्रासदी, कामदी जैसे शब्द उसने बनाए और बनाती जा रही है। द्विवेदीयुग में गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने कहा था–

हजारों लफ्ज आएँगे नए, आ जाएँ क्या गम है।
पचा लेगी उन्हें हिंदी की है जिन्दा जुबाँ हिंदी।

मगर खेद की बात रही है कि ज्ञान-विज्ञान की, उच्चशिक्षा की माध्यम भाषा हिंदी को बनने नहीं दिया, यह अधिकार एकमात्र अँग्रेजी को देने से हिंदी-सहित भारतीय भाषाओं का बड़ा अहित हो रहा है। भारतीय भाषाएँ लोक व्यवहार की भाषाएँ हैं मगर उच्च शिक्षा और प्रशासनिक प्रयोजनों की भाषा अँग्रेजी को बना दिया है। इस तरह जनता की भाषा और प्रशासन की भाषा में खतरनाक विभाजन हो रहा है जो प्रजांतत्र और लोक कल्याणकारी राज्य के सिद्धांतों के खिलाफ है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि लोग लगभग मान बैठे हैं कि जब अँग्रेजी में काम चल ही रहा है तो देशी भाषाओं को लेकर सिर खपाने की क्या जरूरत है।

हिंदी पत्रकारिता में बंगदूत, बनारस अखबार, बिहारबंधु, भारतमित्र, उचितवक्ता, हितवार्ता, अभ्युदय, आज मारवाड़ी बंधु, प्रताप, कर्मवीर, सरस्वती, माधुरी, चाँद, मतवाला जैसे अखबारों और पत्रिकाओं ने राजनीति और साहित्य के साथ-साथ भाषा के मोर्चे को भी सँभाला था। आजादी के बाद और अस्सी के दशक तक यह क्रम चलता रहा। धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान और दिनमान जैसे साप्ताहिक आज भी प्रतिमान बने हुए हैं। विशेषकर 'दिनमान' ने अज्ञेय के संपादकत्व में भाषा के स्तर पर भी हिंदी को विशिष्ट रूप और पहचान दी थी।

आज हिंदी में ऐसे साप्ताहिक नहीं है, जिसका एक कारण टी॰वी॰ चैनलों और इंटरनेट का महाजाल भी है। फिर भी दैनिक समाचार-पत्रों के व्यवसाय के लिहाज से यह स्वर्णयुग ही है। अँग्रेजी-सहित सभी भारतीय भाषाओं की तुलना में हिंदी अखबारों की प्रसार संख्या बहुत अधिक है। यह काबिले गौर है कि समाचार-प्रयुक्ति (News Registers) के द्वारा हिंदी निरंतर आधुनिकीकृत होती रही है। समाचारों की परिधि में प्रादेशिक, राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय आदि सभी प्राकर की गतिविधियाँ आती हैं। घटना, तथ्य, संपादकीय टिप्पणियाँ, फीचर, व्यंग, विज्ञान, अर्थजगत, खेलकूद, मनोरंजन सबका समावेश मीडिया में होता है। इसमें तथ्यपरकता, तात्कालिकता और संक्षिप्त का विशेष महत्त्व होता है। आजादी के बाद हजारों शब्द हिंदी ने प्रचलित किए हैं पुस्तक विमोचन और लोकार्पण, साक्षरता, संकाय, नसबंदी चलचित्र, रजतपट और उसके सितारे, सभाकक्ष, पुण्यतिथि, शपथग्रहण, गुट और धर्म निरपेक्षता, वायु-जल और ध्वनि-प्रदूषण, भूमिगत (अंडरग्राउंड), लाल फीताशाही और भाई-भतीजावाद, बजट-सत्र, श्वेत-पत्र जैसे शब्द हमारे जीवन में आ चुके हैं।

सब जानते हैं हमारे देश में अँगेजी का दायरा सीमित है केवल बड़े शहरों में थोड़े से अत्युच्च वर्ग के लोगों को छोड़कर कहीं भी सामाजिक व्यवहार केवल अँग्रेजी के बूते नहीं होता। किसी भी दूसरी भाषा की तुलना में हमारे देश के भीतर हिंदी में सामाजिक व्यवहार अधिक व्यापक है।

आज हिंदी मीडिया का दायरा बढ़ा है क्योंकि यह प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक में और फिर फिल्म, टेलीविजन, कंप्यूटर, मोबाइल वगैरह के रूप में बढ़ता जा रहा है। इसके साथ ही इसका दूसरा काम भी बढ़ा है।

हिंदी मीडिया का काम जीवन के सभी क्षेत्रों की घटनाओं, परिघटनाओं, विचारों आलोचनाओं

और विश्लेषणों को प्रस्तुत करना होता है। अगर हम पिछले कुछ वर्षों की राष्ट्रीय पैमाने पर हुई हलचलों पर विहंगम दृष्टि डालें तो पता चलता है कि रामजन्म भूमि-बाबरी मस्जिद विवाद, गोधरा कांड, मंडल आयोग, आरक्षण, राजस्थान गुर्जर आंदोलन, महिला आरक्षण और सशक्तीकरण के साथ-साथ अन्य क्षेत्रों की हलचलों, मसलन सिनेमा, टी०वी०, फैशन, पर्यटन, खानपान, प्रेम, विवाह, सेक्स, महानगरीय जीवन, प्रौद्योगिकी, विज्ञान, सहित्य, संस्कृति, नाटक-रंगमंच, संगीत, चित्र, नृत्य आदि को समेटा है।

फलस्वरूप मीडिया में हिंदी एक उथल-पुथल की भाषा भी बनती गई है। इस सिलसिले में सही-गलत-स्टिंग ऑपरेशन से लेकर Paid News तक के कारनामे होते रहे हैं। 19वीं सदी में ही एक प्रसिद्ध फ्रेंच उपन्यासकार ने व्यवसाय बन चुकी पत्रकारिता के बारे में कहा था कि दरअसल वह 'मानसिक वैश्यालय' होती है जिसमें पत्र-मालिक ठेकदार होते हैं और पत्रकार, दलाल। आज मीडिया का लगभग यही हाल हो रहा है, इसे निकट से जानने वाले मानते हैं कि यह नरक बन गया है फैशन और ग्लैमर से चमचमाता एक नरक।

भाषा विभिन्न क्षेत्रों की अपनी होती है, जैसे समाज की भाषा, साहित्य की भाषा, बाजार और विज्ञापन की भाषा, प्रौद्योगिकी और विज्ञान की भाषा, उप-संस्कृतियों की भाषा आदि। मीडिया की भाषा को इन सबका समन्वित रूप बनना पड़ता है। लेकिन हिंदी मीडिया की भाषा विशेषकर बाजार और विज्ञापन की भाषा पर निर्भर हो गई है। इसका अपना ही मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र है। वस्तुतः भाषा आती है, जनता के पास-से उसके यहाँ बनती है और जब विद्वान और बुद्धिजीवी भाषा बनाते हैं, तब भी उसकी मंजूरी जरूरी होती है।

आजादी के बाद से ही धीरे-धीरे शब्द और कर्म का फर्क दिनों-दिन बढ़ता रहा है और आज तो शब्द और कर्म प्रायः विपरीत ध्रुवीय हो गए हैं। हालत यह है कि जो चरित्रहीन है, वही चरित्र प्रमाण-पत्र बाँटने वाला हो गया है। अब इस पर हैरानी भी नहीं होती। बड़े पैमाने पर शब्द अपने मूल अर्थ खोत जा रहे हैं, और खोखले बन रहे हैं। जीवन में सज्जनता, गंभीरता और गहराई को लोग गैरजरूरी मानने लगे हैं, सस्ती, मस्ती और मजे को जीवन का लक्ष्य बताया जा रहा है। पैसे और पॉवर की माया में लोग ऊभ-चूभ कर रहे हैं।

हालात ऐसे हैं कि एक सर्वेक्षण के अनुसार हमारा युवा-वर्ग औसतन रोज छः घंटे टी०वी० देखता है जिसमें पौने-तीन घंटे के करीब यानी 45 प्रतिशत विज्ञापन होते हैं। आज बुद्धू बक्शा हरेक मध्यवर्गीय घर में घुस चुका है और लोगों का किसी-न-किसी कदर बुद्धू बना रहा है। वह सूचना देता है, सलाह देता है और हुक्म भी देता है। लोभ, लालच, भय दिखाता है। दंतमंजन, कपड़े, जूते, कैमरे और जाने क्या-क्या अपनाने को कहता है। इस उपसंस्कृति में खेल मनोरंजन, शिक्षा, सूचना, खबरें, सभी मुनाफे से प्रेरित उत्पाद बन जाते हैं। इस तरह श्रोता-पाठक और दर्शक ग्राहक, माने खरीददार, बन जाते हैं। यहाँ तक कि उत्पाद क बहाने विचारधारा और विचारधारा को भी उत्पाद बनाकर पेश किया जाता है।

आज मीडिया का उद्देश्य लाभ कमाना है। इसमें खबरों से ज्यादा विज्ञापन उत्पाद हैं। मीडिया उच्चवर्ग के पक्ष में सहमति निर्मित करने का सबसे कारगर औजार बन गया है। नॉम चॉमस्की के अनुसार कहें तो 'सहमति निर्माण करने और जनमन का नियंत्रण करने वाला औजार।' अब चैनल नए कार्यक्रम केवल इस दृष्टि से बनाते हैं कि नए विज्ञापन लाए जा सकें। तुर्रा यह कि छद्म किस्म की आजादी का बखान करते हैं जिसका उद्देश्य दर्शक को सतही ग्लैमर वाली चीजों का गुलाम बना

 ISSN 0975-735X

देना होता है। मीडिया को पता है कि विकास से संबंधित विषय बिकाऊ नहीं होते, अतः वह कुपोषण, भूख, झुग्गी, झोपड़ी गरीबी, बेकारी और ग्रामीण समस्याओं को क्यों दिखाएँ? सो वह जान-बूझकर भूत-प्रेत, अपराध, तंत्र-मंत्र, सेक्स, रहस्य आदि को मसालेदार बनाकर पेश करता है। (याद कीजिए मटुकनाथ-जूली प्रंसग मीका-राखी चुंबन प्रसंग, राखी और राहुल महाजन की शादियों को लेकर बनाए गए रियालिटी शो, डी॰आई॰जी॰ पंडा-प्रसंग वगैरह)।

वास्तविक समस्याओं को भी सुंदर, अचंभेदार, चटपटा और सनसनी-खेज बनाने से टीआरपी बढ़ता है पर संदेश गलत जाता है। मीडिया समीक्षकों का दायित्व है कि बाजारवादी निहित स्वार्थों की पोल खोलें पर कहाँ खोलेंगे? मीडिया पर तो पूँजी काबिज है। इसी हालात को नॉम चॉमस्की ने Corporate Propeganda कहा है। इस वास्तविकता को उघाड़ने के लिहाज से एक नया यथार्थवाद सामने लाया जा रहा है जिसे कुछ सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक क्षेत्र के अध्यताओं ने Global Realism (भूमंडलीय यथार्थवाद) का नाम दिया है और इसे जादुई यथार्थवाद से आगे की कड़ी बताया है।

शब्द और अर्थ का संबंध मीडिया ने भी इस कदर गड़बड़ा दिया है कि लोग संवेदनहीन होने लगे हैं। कुछ चैनल तो सनसनी पैदा करने के लिए स्टूडियो में मरते हुए व्यक्ति को भी दिखाने लगे हैं। सिर्फ मुनाफे के लिए की जाने वाली हरकत से जब भाषा को जोड़ दिया जाता है तो छल-झूठ-लूट-खसोट, मक्कारी-धोखेबाजी के अर्थों और बिंबों से उसे सजाया जाता है।

कुछ साल पहले जॉर्ज बुश साहब कह गए थे कि हिंदी 21वीं सदी की भाषा होने जा रही है। वैश्विक-ग्राम के इस उदार अर्थतंत्र वाले जमाने में हिंदी में दुनिया की नामी-गिरामी पत्र-पत्रिकाएँ और टी॰वी॰ चैनल आने लगे हैं। इंटरनेट पर भी अँग्रेजी को हिंदी, मंदानि और स्पेनी जैसी भाषाएँ चुनौती पेश कर रही हैं। लेकिन इस प्रक्रिया में क्या भाषाओं की प्रकृति नहीं बदल रही है? अब भाषा में छल की विशेषता भर गई है। अगर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और विज्ञापनों की भाषा पर यदि गौर किया जाए तो देखना आसान होगा कि विज्ञापन जो नकली जरूरतें पैदा करते हैं उसमें नकली भाषा सहायक होती है जो आकर्षक होने के बावजूद सतही, सत्वहीन होती है।

आज जो मीडिया की 'मुख्य धारा' बह रही है उसमें ग्रामीण तथा निम्नवर्गीय जनसंख्या ओर उसकी भाषा के लिए नहीं के बराबर जगह है। मीडिया की भाषा, भाषा के आंचलिक रूपों के उलट है और 'इलीट' की भाषा जबरन बनाई जा रही है। भूमंडलीकरण का यह प्रताप है कि मीडिया न तो गाँव तक पहँचता है न गाँव को शहर तक ही पहुँचाता है। लोकसाहित्य, लोकजीवन, लोकसंस्कृति, लोकभाषा से मीडिया की भाषा का बहुत दूर का रिश्ता है।

यह अकारण नहीं है कि मीडिया की हिंदी में अँग्रेजी के शब्द घुसते चले जा रहे हैं। पिछले साल पत्रकार राजकिशोर जी से बातें हो रही थीं। वे इस स्थिति से इतने दुःखी थे कि व्यंग्यबाण छोड़ रहे थे। उन्होंने एक हिंदी अखबार संपादक के हवाले से बताया कि उनके प्रबंधन की ओर आदेश आया था कि संपादकीय समेत सभी आलेखों में 25 प्रतिशत शब्द अँग्रेजी के रखे जाएँ। उन संपादक पत्रकार महोदय को तकलीफ तो हुई लेकिन विवश होकर हुक्म बजाना पड़ा, नहीं तो नौकरी जाती। दरअसल, विवेकवान पत्रकारों के लिए इन दिनों मीडिया में काम करना करना बेहद तनावपूर्ण है। नौकरी इतनी ग्लैमरस है कि छोड़ नहीं सकते और अंतरात्मा इस काम की गवाही नहीं देती। राजकिशोर को संपादक ने एक फिल्मी गाने की याद दिलाई 'मेरे हाथों में नौ-नौ चूड़ियाँ हैं, उतनी ही मगर मजबूरियाँ हैं।'

हिंदी समाचार-पत्रों की भाषा हिंदी की दशा और दिशा को दर्शाती है। आज समाचार-पत्रों में आवश्यक रूप से विदेशी शब्दों का प्रयोग किया जा रहा है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है की हिंदी विदेशियों द्वारा लिखी जा रही है। वस्तुत: कोई भी भाषा समाज अपनी भाषा का विदेशीकरण स्वीकार नहीं करता। दूसरी भाषा से शब्द ग्रहण कर सामान्यत: विशिष्ट संज्ञाओं में नगण्य होता है। यह हिंदी का दुर्भाग्य है कि आज के समाचार-पत्रों में न व्याकरण का उचित प्रयोग दिखाई देता है, न शब्दों के सार्थक अर्थ की प्रतीति होती है और ना ही स्वाभाविकता का ध्यान रखा जाता है। यदि स्पष्ट रूप से कहा जाए तो आज के हिंदी समाचार-पत्रों में जहाँ अप्रचलित, अप्रासंगिक और गलत वर्तनी वाले शब्दों का तथा अधूरे और अस्पष्ट वाक्यों का प्रयोग किया जा रहा है, वहीं इनमें अँग्रेजी के शब्दों की बहुलता भी देखी जा सकती है।

शब्द हमारी भावनाओं के प्रकटीकरण का उचित माध्यम है। कहने को तो हर मनुष्य का शब्दों से गहरा रिश्ता होता है, परंतु पत्रकार का शब्दों से और भी गहरा रिश्ता होता है। प्रत्येक शब्द का अपना विशिष्ट महत्त्व और वजूद होता है। कोई भी शब्द किसी भी अन्य शब्द के स्थान पर प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। एक अदद शब्द ही अपने नियत स्थान को अपने अर्थ के साथ रूपायित करता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और उसके पास भावनाएँ हैं। जब हम अपने मन की बात किसी से कहना चाहते हैं, मन की बात कहने को जुबान व्याकुल हो जाती है अर्थात् शब्द गले तक आना ही चाहते हैं और अचानक शब्द गले तक पहुँचकर फिसल जाए, परंतु उन्हें प्रकट करने के लिए उचित शब्द न मिले, उस वक्त मन गहरी खीज और क्षोभ से भर जाता है। उसी वक्त शब्द का महत्त्व याद आता है। जो शब्दों का शिल्पी होता है, वह व्यक्ति महत्त्व पाता है। पत्रकार भी शब्दों का शिल्पी और भाषा का जादूगर माना जाता है। साफ है, जिस पत्रकार की भाषा जितनी पैनी होगी, वह उतना ही सफल और सक्षम पत्रकार होगा।

किसी भी अखबार की पहचान का आधार या तो खबरें हैं या फिर उसकी अपनी विशिष्ट भाषागत शैली। हिंदी अखबारों में भाषागत शुद्धता को लेकर बहुत सारा विरोधाभास है। आज जब अँग्रेजी सुधारने की बात आती है तो लोग कह देते हैं कि 'द हिंदू' या फला समाचार-पत्र पढ़ो, लेकिन जब हिंदी की शुद्धता की बात करें तो उसके लिए किसी भी अखबार का नाम ध्यान नहीं आता। हिंदी पत्रकारिता में भी एक युग ऐसा था, जब समाचार-पत्रों को भाषा के लिए पढ़ा जता था। समाचार-पत्र पढ़ना अनिवार्य लगता था। उद्देश्य सामान्य ज्ञान बढ़ाने से अधिक शुद्ध भाषा का ज्ञान प्राप्त करना था।

समाचार पत्र ही वह माध्यम है, जिसमें बच्चों से लेकर वृद्धों तक की पठनीय सामग्री एक ही स्थान पर उपलब्ध होती है, चाहे वह राजनीति हो, खेलकूद या सिनेमा हो या फिर व्यवसाय संबंधी समाचार हो। हर उम्र, हर वर्ग का व्यक्ति इन्हें पढ़ता है। इसलिए एक औसत भारतीय की समझ में आने वाली भाषा का विचार निरंतर चलता रहता है। समाचार-पत्र के पाठकों में एक मंत्री व अधिकारी से लेकर मामूली भाषा ज्ञान वाले व्यक्ति, मजदूर, रिक्शाचालक भी होते हैं। समाचार प्राय: जल्दी में भी पढ़ा जा सकता है—दफ्तर जाते जाते या अन्य कार्यों के बीच बीच में, जाहिर है, कठिन भाषा होने पर कोई शब्दकोश उठाकर उसका अर्थ जानने की कोशिश नहीं करेगा, इसलिए समाचार-पत्रों में सरल एवं आसानी से समझ में आने वाली भाषा का प्रयोग करने की बात की जाती रही है। समाचार-पत्रों की भाषा की विशेषताओं में कहा गया है कि भाषा एकदम सहज, सरल और बोधगम्य होनी चाहिए, जिससे सामान्य पाठक भी खबर के उद्देश्य को आत्मसात कर सके।

 ISSN 0975-735X

खबर की भाषा का उद्देश्य सूचना को ऐसी भाषा से संप्रेषित करना होता है, जो पाठकों को सहजता से समझ में आ जाए। संवाददाता को ध्यान रखना चाहिए की भाषा का जादू चलाने के लिए वह खबर को उसकी बोधगम्यता से झटका तो नहीं रहा है, क्योंकि खबर का मूल उद्देश्य भाषा ज्ञान का प्रदर्शन नहीं, बल्कि अधिक-से-अधिक पाठकों तक पहुँचाना है। पत्रकारिता की वही भाषा अच्छी मानी जाती है, जिसमें प्रस्तुत सूचना सरल तरीके से पाठक को समझ में आ जाए। समाचार-पत्र पत्रिका की भाषा (चाहे वह किसी भी भाषा में प्रकाशित हो) शुद्ध, सरल और आसानी से समझ में आने वाली होनी चाहिए। समाचार-पत्र पत्रिका की भाषा कठिन होने पर आम आदमी उसे पढ़ने में कठिनाई अनुभव करने लगता है।

हिंदी भाषा में प्रकाशित होने वाले समाचार-पत्रों में मुख्यत: वर्तनी, लिंग, कारक-विभक्ति और वचन-संबंधी अशुद्धियाँ बहुतायत में मिलती हैं। कई समाचार-पत्रों में शब्दों का अस्वाभाविक प्रयोग भी दृष्टिगत होता है। हिंदी समाचार-पत्रों में अँग्रेजी के ऐसे शब्दों का प्रयोग हो रहा है, जिनके लिए हिंदी में भी शब्द सहज रूप से उपलब्ध हैं और साधारण पाठक भी इन शब्दों का स्वाभाविक प्रयोग करता है। इस प्रकार अँग्रेजी के शब्दों की जबरन घुसपैठ से न केवल वाक्य विन्यास बिगड़ता है अपितु भाषा शिल्प और भाषा का संस्कार भी बिगड़ता है और सबसे बड़ी बात यह है कि पाठक जिन शब्दों का दैनिक जीवन में स्वाभाविक प्रयोग करता है, वह उन शब्दों से भी दूर हो जाता है

कभी-कभी समाचार-पत्रों में प्रमाद के कारण भी वर्तनी संबंधी अशुद्धियाँ रह जाती है। जैसे-'वह भगवान के भेग लगाकर ही भोजन करता है।' 'डॉक्टरों ने महिला के पेट की शल्यक्रिया कर 5 किलो की गाँठ निकली।' 'तेंदुआ तड़पता रहा परंतु उसकी दहाड़ के बाद भी कोई वनकर्मी झाँकने तक नहीं आया।' हिंदी व्याकरण के नियमानुसार शब्द के अंत की 'ई' बहुवचन में 'इ' बन जाती है लेकिन समाचार-पत्रों में सामान्यत: यह परिवर्तन नहीं किया जाता है। जैसे भाइयों की लड़ाई में पिता की मौत। आँखों की झाइयों की समस्या के लिए इस नुस्खे का प्रयोग करें।' कभी-कभी समाचार पत्रों में कारक चिह्न और विभक्तियों का लोप कर दिया जाता है। जिससे पाठक समाचार को समझ ही नहीं पाता और अर्थ का अनर्थ हो जाता है, जैसे-बालिका बालश्रम से मुक्त करवाया।

अँग्रेजी शब्द का हिंदी विभक्ति के अनुसार प्रयोग देखा गया है कि समाचार-पत्र की भाषा में बहुत सारे शब्द अँग्रेजी के प्रयोग किए जाते हैं। लेकिन वाक्य बनाते समय उसमें विभक्ति लिंग और वचन के प्रयोग पर ध्यान नहीं देते। समाचार-पत्रों की भाषा शैली में भी निरंतर परिवर्तन आता गया है। पहले वर्तनी में नासकिय ध्वनियों, अनुस्वार की बजाए पंचमाक्षर का प्रयोग दिखाई देता था। जैसे-पंच, परंतु आजकल ध्वनियों एवं अनुस्वारों का प्रयोग किया जाता है। आज समाचार-पत्रों की भाषा में जनसामान्य द्वारा बोले जाने वाले शब्द भी धड़ल्ले से प्रयुक्त हो रहे हैं, जैसे पहनने की जगह 'पहरने' में खाने की जगह 'खावें' आदि।

समाचार-पत्रों की भाषा मुख्यत: बोलचाल की भाषा है जिसमें मेट्रो शहर की भाषा भी है जो मुख्यता हिंदी नहीं है, 'हिंग्लिश' है। इसमें अँग्रेजी, भाषाओं के शब्द भी समाहित हैं। यह शब्द लोगों में मानक होकर प्रचलित भी है, परंतु प्रचलित किए किसने? आज सभी समाचार-पत्र ज्यादा मुनाफा कमाने के चक्कर में और अधिक बिकने की अंधी दौड़ में हिंग्लिश का प्रयोग भी करते हैं जो हमारी गुलामी की मानसिकता को इंगित करती है। आज अखबारों की सुर्खियाँ चुटीली, मुहावरेदार और अँग्रेजी की छौंक लिए होती हैं। जिसके कारण कई बार तो शीर्षक और खबर में

तालमेल बैठाना भी कठिन हो जाता है। भाषा का यह प्रयोग अनायास रूप से नहीं आया है अपितु एक खास उभर रहे उपभोक्ता वर्ग को केंद्र में रखकर इस तरह की मिश्रित भाषा का प्रयोग किया जा रहा है।

उदारीकरण, बाजारीकरण और भूमंडलीकरण के इस वर्ग की आय में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है। यही वर्ग खुद को इस भाषा में अभिव्यक्त कर रहा है। इस प्रकार आज समाचार-पत्रों से भाषा का संप्रेषण जिस तीव्र गति से हमारे तक पहुँच रहा है, वह बहुत ही भयावह है। एक प्रकार से ये हमारी भाषाई अस्मिता का प्रश्न है कि भाषा अपनी जड़ों से निरंतर विलग होती जा रही है और यह बिगाड़ का सिलसिला इतना गंभीर एवं भयावाह हो गया है कि यदि आने वाले वर्षों में इस समस्या पर ध्यान नहीं दिया गया तो वह दिन दूर नहीं कि विश्व की पूर्णतया वैज्ञानिक और नंबर एक भाषा अपने मानकीकरण रूप को खो चुकी होगी। भाषा के इस बदलते हुए स्वरूप का कोई एक कारण नहीं है, अपितु विदेशी भाषा के प्रति हमारी मानसिक गुलामी, भाषा के मानकीकरण, स्वरूप एवं व्याकरण के अल्पज्ञान और उदारवाद के बढ़ते प्रभाव, सूचना प्रौद्योगिकी एवं भूमंडलीकरण जैसे कई कारण हैं। आज हमें जो भाषा सुनाई देती है, वह आदमी को अपने साथ जोड़ नहीं पाती।

अत: निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि हिंदी समाचार-पत्रों के पाठकों, लेखकों, संपादकों और समाचार पत्र-पत्रिकाओं को मिल बैठकर अपनी भाषा और उसकी पत्रकारिता के सामने आ रहे संकटों पर बातचीत करनी चाहिए। इन समाचार-पत्रों के मालिकों और संचालकों को सोचना चाहिए कि उनकी सबसे बड़ी जिम्मेदारी हिंदी पाठकों में रुचि जाग्रत कर और भाषा को परिष्कृत एवं परिमार्जित कर उसके व्याकरणिक स्वरूप को सुनिश्चित करने की है, जिससे भाषा अपने शुद्ध रूप में हमारे सामने आ सके।

संदर्भ

1. जगदीश्वर चतुर्वेदी, मीडिया समग्र, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली
2. सुभाष धूलिया, सूचना क्रांति की राजनीति और विचारधारा, ग्रंथशिल्पी, दिल्ली
3. हरमन, एडवर्ड एस और मैकचेस्नी, रोवर्ट डब्ल्यू, (अनु॰), चंद्रभूषण, भूमंडलीय जनमाध्यम निगम पूँजीवाद के नए प्रचारक, ग्रंथशिल्पी, दिल्ली
4. जगदीश्वर चतुर्वेदी, माध्यम साम्राज्यवाद, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली
5. जगदीश्वर चतुर्वेदी, टेलीविजन संस्कृति और राजनीति, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली
6. जोड, सी॰ई॰एम॰, इंटरोडक्शन टु मॉडर्न पोलिटिकल थ्योरी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, मुंबई
7. मधु अग्रवाल, भारतीय विज्ञापन में नैतिकता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000
8. आऊटलुक साप्ताहिक, 16 अक्टूबर 2006
9. प्रभा खेतान, भूमंडलीय ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 1990
10. कुमुद शर्मा, विज्ञापन की दुनिया, नटराज प्रकाशन, 2006
11. अनवर जमाल, साइबल चटर्जी, हॉलीवुड बॉलीवुड वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

sangoshthimala1994@gmail.com

अवधी लोकगीतों में रस-व्यंजना

डॉ॰ सीमा गुप्ता, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
बी॰एस॰एम॰ (पी॰जी॰) कालेज, रूड़की

भारतीय समाज में विभिन्न अवसरों एवं पर्वों पर गाए जाने वाले गीत लोकसाहित्य की अमूल्य निधि हैं। 'मानव हृदय का भाव-विलास अपनी उत्कट स्थिति में लयात्मक आरोहावरोहों में जब भाषाबद्ध होकर प्रवाहित होने लगा तो शब्द शास्त्रियों ने उसे गीत कहा और इसी गीत परंपरा की एक धारा जब अपनी देशज बोलियों में (अपनी घरेलू भाषा) लोकवाणी को प्रवाहित करने लगी तो उसे लोकगीत के नाम से ज्ञापित किया गया है।'[1]

अपनी सरलता व सुंदर अभिव्यक्ति के कारण आज भी हमारे जीवन में लोकगीतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लोकमानस की अभिव्यक्ति जितनी लोकगीतों में होती है, उतनी अन्यत्र नहीं है। डॉ॰ सत्येंद्र ने लिखा है कि 'वह गीत जो लोकमानस की अभिव्यक्ति हो अथवा जिसमें लोकमानस भी हो, लोकगीत के अंतर्गत आएगा।'[2]

मराठी साहित्य के विद्वान डॉ॰ फड़के का मत है कि 'शास्त्रीय नियमों की विशेष परवाह न करके सामान्य लोकव्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव अपनी आनंद तरंग में जो छंदोबद्ध वाणी सहज उद्‌भूत करता है, वही लोकगीत है।'[3]

प्रसिद्ध लोकगीत संग्रहकर्ता देवेंद्र सत्यार्थी तो लोकगीतों को संस्कृति के मुँह बोलते चित्र कहते हैं। उनके अनुसार, 'युग-युग की पीड़ा-वेदना, युग-युग की हर्ष-श्री, रीति-नीति, प्रथा-गाथा, अचूक-सहज रूढ़ि वार्ता भौगोलिक एवं वातावरण निर्मित संस्कृति, परंपराएँ सभी इन स्वरों में अपने नाम, धाम अथवा वंश आदि का परिचय देती प्रतीत होती हैं।'[4]

आदिकाल से गीतों की शीतलधारा प्रवहमान है, जिसमें अवगाहन कर मानव के मन-प्राण शीतल और सरल बन जाते हैं। लोकगीतों के माध्यम से क्षेत्र विशेष की संस्कृति, रीति-रिवाज, तीज-त्यौहार, रहन-सहन सब सहजता से जाना परखा जा सकता है।

अवध प्रांत में बोली जाने वाली अवधी बड़ी सरल और सुमधुर भाषा है। इसमें रचे गए लोकगीत उतने ही सुमधुर और मार्मिक हैं।

'अवधी लोकगीतों को प्रधानतया छह वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

1. **संस्कार-संबंधी गीत**–पुत्र जन्म, मुंडन, यज्ञोपवीत, विवाह, गवना, मृत्यु गीत।

2. **ऋतु-संबंधी गीत**–कजली, सावन, होली, बारह मासा।

3. **व्रत तथा देवता-संबंधी गीत**–देवी के गीत, शीतला माता के गीत, निर्गुन, भजन, जवारा।

4. **जाति-संबंधी गीत**–अहीरों के गीत (विरहा), गोड़ों के गीत (कहरवा), चमारों के गीत (चमरुआ), धोबियों के गीत, दु:साधो के गीत (पचरा)।

5. **श्रम-संबंधी गीत**–जंतसार, सोहनी या निराई के गीत, कोल्हू के गीत, रोपनी के गीत।

6. **विविध गीत**–मेला के गीत, बालगीत, खेल के गीत, पाटनि।'[5]

अवधी लोकगीतों में एक ओर तो जनजीवन की आकर्षक झाँकी प्रकट होती है तो वहीं उनमें विभिन्न रसों की प्रभावी अभिव्यंजना भी हुई है। इन रसों की महत्ता से ही लोकगीतों का रसात्मक रूप हमारे समक्ष आता है।

सभी रसों में से श्रृंगार रस को रसराज की उपाधि से विभूषित किया गया है। अवधी लोकगीतों में श्रृंगार के दोनों स्वरूप-संयोग और वियोग का सुंदर चित्रण मिलता है। दांपत्य प्रेम का यह वर्णन कितना मर्मस्पर्शी तथा मनमोहक है–

नजर हमरे लागि गई अरे मोरी गोइयाँ।।
जउ हमरे बलमू दुअखा पर आये,
ओसरवा मे भाग गइउँ, अरे मोरी गोइयाँ।।
जउ मोरे राजा कोठरिया माँ आये,
सेजरिया में भाग गइउँ, अरे मोरी गोइयां।।
जउ मोरे राजा सेजरिया पर आये,
गोदिया में लोटि गइउँ, अरे मोरी गोइयाँ।।[6]

नायक व नायिका का विरह चित्रण सदैव ही पाठक व श्रोता को अपनी ओर आकर्षित करता है। ऐसी ही एक नायिका की व्यथा धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है क्योंकि सावन बीता जा रहा है और प्रियतम अभी तक घर नहीं लौटा है। वियोग श्रृंगार का यह उदाहरण देखिए–

मोरवा बोलै सारी रात, रात पिया नींद न आवै।
बाग भी बोले, बगइचा भी बोलै,
आरे बोले निबुलवा की डारि,
रात पिया नींद न आवै।[7]

श्रृंगार रस की तरह ही अवधी लोकगीतों में हास्य रस का बड़ा ही मनोहारी वर्णन मिलता है। विवाह के अवसर पर मनोरंजक कार्यक्रम होते हैं जिनमें हास-उल्लास के गीत गाये जाते हैं। विवाह के अवसर पर छोटी सालियाँ जूतों को किसी सुंदर रेशमी वस्त्र में लपेटकर रख देती हैं और उन्हें कुल देवी बताकर वर से उनके पैर छूने का आग्रह करती है। ऐसा ही एक मनोरंजक गीत इस प्रकार है–

लालु देवी के लागौ पाँव।।
ई देवी कुल पूज्य तुम्हारी, हिंया उचित है आई।
ई देवी हैं साधु संत की, कलयुग पूजा पाई।।
प्रभु मुस्काये, कैसी देवी बैठी हैं बदन छिपाई।
क्रोध प्रसन्न जानि कैसे पाये, बिना सरूप दिखाई।।
कोई सखी मुख मोर हँसी है, कोई सरमुख आई।
आओ लालु तुम खेलौ सिया संग, तुम हो पढ़े पढ़ाये।।[8]

इच्छा के विरुद्ध किसी कार्य के होने पर क्रोध की उत्पत्ति होती है। शत्रुओं के प्रति क्रोध का आविर्भाव होने पर मनुष्य अनेक प्रकार की आक्रामक चेष्टाएँ करता है। यही भाव रौद्र रस कहलाता है। अवधी लोकगीतों में रौद्र रस के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। इसी भाव से ओत-प्रोत यह गीत है–

इक मोरे बैरी है बीध विधाता दुसरै धिया के भार।
तिसरे बैरी मोरे नारद ब्राह्म, जिन ऐसो लाए दमाद।
गौरी लै उबब, गौरी लै डूबब गौरी लै पइठब पतार।
ऐसन बौराह बर से गौरी नाहीं ब्याहब, मोरि गौरी रहिंहें कुंवार।
लोटा धोती पोथी पत्रा सब कुछ लेबै छिनवाय।
जो कुछ बोलिहैं नारद ब्राह्मण, दाढ़ी है घिसियाय।
बसहा बरद के नाक नथ्वायब डमरू देवै फोरवाय।
रुद्र की माता समुद्र बहाडब नगर से देबै निकार।।[9]

रौद्र रस के समान ही वीर रस का अवधी लोकगीतों में सुंदर परिपाक मिलता है। मुगलों का सामना कर विजय प्राप्त करके आए भाई की आरती उतारती बहन कहती है–

भइया थरिया दिहेन सरकाय बलैया लेउं बीरन।
बिरना लै लिहै ढाल तरुवारि बलैया लेउं बीरन।
बिरना मुगुल की ओरि सब साठि बलैया लेउं बीरन।
मोर भइया अकेलवइ ठाढ़ बलैया लेउं बीरन।
बिरना भौजी बोले विष बोल बलैया लेउं बीरन।
नंदा हमका किहिउ आंधियार बलैया लेउं बीरन।
बिरना जूझि मरे मुगुल पठान बलैया लेउं बीरन।
मोर भइया समर जीति ठाढ़ि बलैया लेउं बीरन।
बिरना मइया के बहे दूधाधार बलैया लेउं बीरन।
बिरना भउजी के हिरदा हुलास बलैया लेउं बीरन।[10]

आश्चर्यजनक वस्तुओं एवं घटनाओं के द्वारा अद्भुत रस की उत्पत्ति होती है। अवधि लोकगीतों में इस रस का मनोहारी चित्रण मिलता है। अवध प्रांत की जनता अप्राकृतिक तत्त्वों के प्रति अटूट श्रद्धा रखती है इसलिए अवधी लोकगीतों में इन अद्भुत वस्तुओं और प्रसंगों का समावेश है। एक पति परायणा पापनिष्ठ जेठ से अपनी रक्षा के लिए अपने आँचल से अग्नि उत्पन्न करके पति के शव के साथ भस्म हो जाती है।

ऊँची अटारी उरेही चित्रसारी हो ना।
रामा किन धन पुतरी उरेछा हो ना।।
तुम्हें छौंड़ि जैठा न और क होबे हो ना।
जेठा रचि रचि सरा रोपाउहु हो ना।।
रामा अंचरा भभकि उठे आगिया हो ना।
बरै लागी लकड़ी भसम भई छोटका हो ना।
रामा जेठवां मिलै दुनौ हथवा हो ना।
जो हम जनत्यो छोटका इतना छल करबिउ हो ना।
रामा काहे मरतेउं सग भइया हो ना।।[11]

अवधी लोकगीतों में भयानक रस का समुचित संसार लक्षित होता है। ग्रामीण स्त्रियाँ सावन भादों की मूसलाधार वर्षा, अँधेरी रात तथा बादलों के गरजने से भयभीत हो उठती हैं। ऐसे ही वातावरण के चित्रण द्वारा इस लोकगीत में भयानक रस का सुंदर चित्रण किया गया है–

एक त गोरिया अंगवा क पातरि दूसरे पिया परदेस।
तिसरे मेह झमाझम बरसै सावन अधिक अंदेस।
भादों रैनि भयावनि ऊधौ गरजै अरु घहराय।
लउका लउके बदरा गरजै छतिया दरद उठि जाय।।[12]

कवि मन अपने दुख और वेदना को गीतों के रूप में निर्मित करता है जिसे सुनकर जनमानस अपने दुखों से उसकी समानता करने लगता है। ऐसे ही करुणा से भरे गीत अवधी में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। एक स्त्री की आंतरिक वेदना इस लोकगीत में बड़ी मार्मिक बन पड़ी है जहाँ उसके पति की मृत्यु के पश्चात् संबंधीजन उसे सांत्वना दे रहे हैं–

कन्हैया विरोगिन करि गए हमौ।
खंभा की ओट ससुर समझावैं,
अरे बहुवर नाहीं तुम बिटिया हमारि।
का समझाओ ससुर तुम हमको,
अरे हरी हरी चुरिया दुलभ भई हमको।
घूँघट ओट जेठ समुझावै,
अरे भैहो नहीं तुम बिटिया हमारि।
का समुझावो जेठ तुम हमको,
अरे मोतिन माँग दुलभ भई हमको।
गोदहि बैठि देवर समुझावै,
अरे भाभी नाही तुम माता हमारि।
का समुझावौ देवर तुम हमको,
अरे फूलन सेज दुलभ भई हमको।
माय और बाबू अति समुझावै
एक जनम बेटी खेल गमाआ।
का समुझाओ माय औ बाबू,
अरे पिया की छाँह दुलभ भई हमको।[13]

घृणोत्पादक वस्तुओं और कार्यों को देखकर जो जुगुप्सा का भाव उत्पन्न होता है वह वीभत्स रस कहलाता है। इसके अंतर्गत कुत्सित और निंदनीय पदार्थ आते हैं। अवधी लोकगीतों में ऐसे प्रसंग यत्र-तत्र मिल जाते हैं।

सिलियहिं बूढ़ी भौजी पांव के पनहिया हो,
खुनवां डूबी तरवरिया हो राम।
कवने वन नाहि हरिन का देखा हो,
भइया सिकार खेली आयव हो राम।
कहँवहि मारेव देवरा कहँवा गिरायेव,
कहँवा चिल्हरिया मेड़रानी हो राम।
ऊँचावहि मारेव भउजी, बिचवाँ गिरायेव हो,
सरग चिल्हरिया मेडरानी हो राम।
जौनेह मथवा कलँगिया मत सौहे हो,

तौने भाथ कागा चोंच मारे हो राम।
तुहरहि छोड़ि देवरा आनै के न होबय हो।
तनि यक लोथिया देखावहु हो राम।[14]

इस गीत में भाभी को प्राप्त करने के लिए सगे भाई की हत्या करने वाले का वर्णन है जो वीभत्स भाव को दर्शाता है। अवधी लोकगीतों में अन्य रसों की भाँति शांत रस की धारा भी प्राप्त होती है। शरीर की नश्वरता और संसार की असारता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए इस गीत में कहा गया है–

ई देहियाँ तरुवर की छहियाँ,
संखै कतौ कोउ नाय, जो मन भंखहि राम।
सब भैयन से राम राम गुरु जी से बन्दगी,
माता-पिता के सेवा करि ले मनवां लगाय के।
देई-देवा नाहक पूजै चीरा बंधाय के,
दुनियाँ माँ नेकी कैसे थोरे दिन के जिंदगी।[15]

नव रस के अतिरिक्त वात्सल्य रस को विद्वानों ने दसवें रस की संज्ञा दी है। लोकगीतों में वात्सल्य रस का व्यापक रूप परिलक्षित होता है। शिशु जन्मोत्सव के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों में वात्सल्य रस की धारा प्रवाहित होती है।

कौशल्या के वात्सल्य भाव को यह लोकगीत हमारे समक्ष उपस्थित कर देता है–

भितरां से निकसी कौसिल्या,
आँगनवाँ में ठाढ़ भई।
हो अरे रानी, धै धै करेजवा लगावे,
करै न्योछावर।[16]

जनमानस के ये गीत सभी रसों से सराबोर हैं। 'ये गीत मानवों के लिए कभी उल्लास का वरदान लेकर आते हैं तो कभी धार्मिक संदेश लेकर, कभी ये शिशुओं को क्रीड़ा करने की प्रेरणा देते हैं, और कभी वयस्कों को कार्य करने का प्रोत्साहन, कभी ये सभी के लिए मंगल कामना लेकर आते हैं और कभी समस्त जीवन गाथा लेकर। तात्पर्य यह है कि लोकगीतों से मनुष्य जीवन का कोना-कोना गुंजायमान हो उठा है।'[17] इन लोकगीतों की रसात्मकता के आगे बड़े-बड़े कवियों की उक्तियाँ भी निर्जीव जान पड़ती हैं। रस इन लोकगीतों का प्राण है यह कहना गलत न होगा।

इस प्रकार अवधी लोकगीतों में विभिन्न रसों का अनुकूल और हृदयस्पर्शी परिपाक हुआ है जो साहित्यिक दृष्टि से इसे अत्यंत मूल्यवान बनाता है।

संदर्भ

1. विद्या चौहान, लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ॰ 73
2. डॉ॰ सत्येंद्र, लोकसाहित्य विज्ञान, पृ॰ 3
3. सम्मेलन पत्रिका (लोक संस्कृति विशेषांक), मराठी लोकगीत, पृ॰ 250
4. देवेंद्र सत्यार्थी, बेला फूले आधी रात, पृ॰ 11
5. जगदीश पांडेय, अवधी साहित्य : सर्वेक्षण और समीक्षा, पृ॰ 5, 6
6. वही, पृ॰ 12, 13
7. वही, पृ॰ 15

8. प्रो॰ इंदुप्रकाश पांडेय, अवधी लोकगीत और परंपरा, पृ॰ 222
9. विद्यावती कोकिल, सोहाग गीत, पृ॰ 34
10. प्रो॰ इंदुप्रकाश पांडेय, अवधी लोकगीत और परंपरा, पृ॰ 63
11. पं॰ रामनरेश त्रिपाठी, कविता कौमुदी, पृ॰ 580, 581
12. झवेरचंद मेघाणी, लोकसाहित्य, पृ॰ 111
13. पं॰ रामनरेश त्रिपाठी, कविता कौमुदी, पृ॰ 740, 741
14. सत्यव्रत अवस्थी, लोक रागिनी, पृ॰ 150
15. विद्या चौहान, लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ॰ 346
16. डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय, हिंदी प्रदेश के लोकगीत, पृ॰ 110
17. ताराकांत मिश्र, मैथिली लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ॰ 15

Mob.9410747689
seema.gupta.hdr76@gmail.com

 ISSN 0975-735X

सम्यक् आजीव बौद्ध आर्थिक व्यवस्था का मूलाधार : एक अध्ययन

शुभम महेश गजभिये, शोधार्थी, बौद्ध अध्ययन
साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, साँची (म०प्र०)

भारतीय इतिहास में एक व्यापक धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्रांति के लिए छठी शताब्दी इसवी पूर्व यह काल अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसी कालखंड में भारतीय जन-मानस की चेतना में परिवर्तन लाने वाले महावीर और भगवान् बुद्ध का आविर्भाव दृष्टिगोचर होता है। भारत वर्ष में इस धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्रांति के संकेत पालि बौद्ध साहित्य व जैन अर्द्ध मागधी (प्राकृत) साहित्य में परिलक्षित होते है। इस काल में निश्चय ही समकालीन दो परंपराएँ मुख्यत: द्रष्टव्य हैं यथा–श्रमण परंपरा एवं ब्राह्मण परंपरा। भारत वर्ष में उदित हुए बौद्ध और जैन दोनों ही श्रमण परंपरा ध्वजवाहक है। भगवान् बुद्ध और उनके उपदेश तो वर्तमान समय तक एक अत्यंत विस्तृत भूभाग के जनमानस पर अधिराज्य कायम किए हुए दिखाई पड़ते हैं। भगवान् बुद्ध के विचारों में न केवल आध्यात्मिक समुन्नति है वरन् जन-जीवन के समुन्नति का भी विचार दिखाई देता है।

'किसी समाज के अंदर या किसी भौगोलिक क्षेत्र के अंदर उत्पादन, संसाधनों के नियतन, तथा वस्तुओं एवं सेवाओं के वितरण को आर्थिक व्यवस्था कहा जाता है।' जीवन मुक्ति के लिए भगवान् बुद्ध ने आर्य अष्टांगिक मार्ग को प्रतिपादित किया है। जीवनयापन करते हुए व्यक्ति की आजीविका किस प्रकार होनी चाहिए, वह किस प्रकार एक व्यवस्थित जीवन निर्वहन कर सके। जीविका के साधन उसके और अन्य सभी सत्वों के लिए उपकारक है अथवा हानिकारक है। इसकी सम्यक् विवेचना तथागत ने मार्ग सत्य में की है। बौद्ध आर्थिक व्यवस्था का यही मूल दर्शन है, जो जीवन निर्वहन के लिए अत्यंत उपयुक्त है।

संबोधि लाभ के पश्चात् भगवान् बुद्ध ने विभिन्न क्षेत्र में चारिका करते हुए जो कुछ उपदेश दिए वह त्रिपिटक में संग्रहीत है। बुद्ध उपदेशों में सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांत, चार आर्य सत्य 'चत्तारि अरियसच्चानि'[1] अपना एक विशेष स्थान रखता है। इसी के ज्ञान के प्रवर्तन उपरान्त वे लोक में सम्यक् सम्बुद्ध के नाम से ख्यात हुए। बोधिसत्व सिद्धार्थ गोतम ने गृहत्याग करने से पूर्व जीवन में अनुभूत नाना प्रकार के दु:खों को जो देखा था, उसी का निदान उन्हें बोधि ज्ञान के प्राप्ति पश्चात्प्राप्त हुआ।विनय पिटक के महावग्ग से ज्ञातव्य है कि भगवान् बुद्ध ने पंचवर्गीय भिक्षुओं को इन्हीं चार आर्य सत्यों का उपदेश दिया था। वस्तुत: यह बुद्ध के जीवन का प्रथम धर्मोपदेश था। जिसे पालि साहित्य में 'धम्मचक्कपवत्तन' कहा जाता है। जो महत्ता की दृष्टि से भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। भगवान् बुद्ध ने अपने प्रथम उपदेश में जिन सत्यों को उद्घटित किया उसके चार विभाग किए गए हैं अत: इन्हें 'चार आर्य सत्य' कहा जाता है। वह चार आर्य सत्य हैं–दु:ख, दु:खसमुदय, दु:खनिरोध तथा दु:खनिरोधगामिनी प्रतिपदा आर्यसत्य।

भगवान् बुद्ध के वचनों में इन चारों आर्य सत्यों की व्याख्या संक्षेप में निम्न प्रकारेण की जा

सकती है-

दु:ख आर्य सत्य–भगवान् बुद्ध ने पंचवर्गीय भिक्षुओं को उपदेश देते हुए कहा–'इदं खो पन, भिक्खवे, दुक्ख अरियसच्चं जाति पि दुक्खा जरा पि दुक्खा, व्याधि पि दुक्खो, मरणम्पि दुक्खं, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं संखित्तेन पृच उपादानक्खन्धा दुक्खा।'[2] अर्थात् जन्म लेना दु:खकारक है, वृद्धावस्था भी दु:ख है, रोग भी दु:ख है, मृत्यु भी दु:ख है, अप्रिय वस्तुओं या व्यक्तियों का मिलना भी दु:ख है, प्रिय वस्तुओं या व्यक्तियों का बिछुड़ना भी दु:ख है, जिस वस्तु की इच्छा हो उसका न मिलना भी दु:ख है और संक्षेप में कहा जाय तो पंचस्कंध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) से निर्मित सत्त्व का जीवन ही दु:ख है। सब वस्तुओं या परिस्थितियों के मूल में जो यह 'दु:ख' विद्यमान है, वह वस्तुत: है क्या? इसके उत्तर में भगवान् बुद्ध ने कहा है–'पटिकूलवेदना ति दुक्खं' या 'दुक्करेन खमति इति दुक्खं'। दूसरे शब्दों में, प्रतिकूल वेदना ही दु:ख है या फिर जिसका दुष्करता या कठिनाई से वहन किया जाए वही दु:ख है।

दु:ख समुदय आर्य सत्य–भगवान् बुद्ध ने द्वितीय आर्य सत्य के स्पष्टीकरण में कहा–'इदं खो पन, भिक्खवे, दुक्खसमुदयं अरियसच्चं यायं तण्हा पोनोब्भविका नंदिरागसहगता तत्र तत्राभिनंदिनी सेय्यमिद-कामतण्हा, भवतण्हा, विभवतण्हा।'[3] अर्थात् यह जो विविध तृष्णा या इच्छा है यही सभी प्रकार के दु:खों की जड़ है। यहाँ कामतृष्णा से तात्पर्य है, हमारी छ: इंद्रियों से संबंधित सुख भोगने की इच्छा, भवतृष्णा से तात्पर्य है इस संसार में बारंबार पुनर्जन्म लेते रहने की इच्छा एवं विभवतृष्णा से तात्पर्य है जन्म पुनर्जन्म लेने की प्रक्रिया से मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा। इन्हीं तीन प्रकार की तृष्णाओं से प्रेरित होकर व्यक्ति विभिन्न प्रकार के कुशल अकुशल कार्य करता है तथा नानाविध दु:खों को भोगता है।

द्वितीय आर्य सत्य के संबंध में हम कह सकते हैं कि भगवान् बुद्ध ने मनुष्य के दुखों का कारण तृष्णा को बतलाया। वह तृष्णा जो हमारे स्वयं की होती है।

अनेकजातिसंसारं सन्धाविसं अनिब्बिसं।
गहकाराकं गवेसंतो दुक्खा जाति पुनप्पुनं।।
गहकारक! दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसिं
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसंखितं।
विसंङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा।।[4]

अर्थात् गृहकारक को ढूँढते हुए मैं अनेक जन्मों तक लगातार संसार में मैं दौड़ता रहा। बार बार जन्म लेना दु:ख है। गृहकारक! तू दिखाई दे गया। अब फिर घर नहीं बन सकेगा। तेरी सब कड़ियाँ टूट गईं। घर का शिखर बिखर गया। चित्त संस्कार रहित हो गया। तृष्णाओं का क्षय हो गया।

बुद्ध अनीश्वरवादी थे। उन्होंने किसी भी ऐसी ईश्वर जैसी सत्ता को मानने से इंकार कर दिया जो कि अजर, अमर, अविनाशी हो और सृष्टि का सृजन करता है। ऐसा मानने के चलते बुद्ध ने दु:ख को अकारण या ईश्वर जैसी किसी भी अलौकिक सत्ता द्वारा प्रदत्त नहीं माना। भगवान् बुद्ध ने कहा है–

अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो पयो सिया।
अत्तनाव सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं।।[5]

अर्थात् मनुष्य अपना स्वामी आप है, दूसरा और कौन स्वामी हो सकता है? अपने को दमन

करने वाला दुर्लभ स्वामित्व को प्राप्त करता है। उन्होंने स्पष्ट कहा कि दु:ख होने के पीछे कोई-न-कोई कारण होता है और वह कारण है 'तृष्णा' जो तीन प्रकार की होती है-कामतृष्णा, भवतृष्णा एवं विभवतृष्णा। वह तृष्णा भी किन्ही दूसरों के कारन नहीं अपितु हमारे कारण होती है।

दु:ख निरोध आर्य सत्य-तृतीय आर्यसत्य में बुद्ध ने स्पष्ट किया कि 'इदं खो पन, भिक्खवे, दुक्खनिरोधं अरियसच्चं यो तस्सा येव तण्हाय असेसविरागनिरोधो चागो पटिनिस्सग्गो मुत्ति अनालयो।'[6]

दु:ख निरोध आर्यसत्य पर प्रकाश डालते हुए बुद्ध कहते हैं चूँकि दु:ख कारण उद्भूत है, अत: इन कारणों को दूर करना भी संभव है। इन तृष्णाओं को दूर करने से ही दु:ख को रोका जा सकता है। तृष्णाएँ जितनी ही कम होंगी, दु:ख की मात्रा भी उतनी ही कम होगी। इस क्रम में तृष्णाओं के बिल्कुल समाप्त हो जाने की स्थिति में दु:ख भी बिल्कुल ही समाप्त हो जाएगा। दु:खों के स्थाई रूप से समाप्त हो जाने को अवस्था को ही निर्वाण की अवस्था कहते हैं।

बुद्ध ने इस बात पर जोर देकर कहा कि दु:ख का विनाश उसके कारणों के विनाश से ही संभव है। अत: वे जब तृष्णा के समूल नाश, उस पर रोक, उसका त्याग, उससे मुक्ति आदि की बात करते हैं तो उनका स्पष्ट निर्देश दु:ख से सर्वथा मुक्ति अर्थात् निर्वाण की ओर होता है। इस प्रकार तृतीय आर्य सत्य में दु:ख निरोध की संभावना पर प्रकाश डाला गया है।

दु:खनिरोध गामिनीप्रतिपदा आर्यसत्य–यदि दु:ख के कारणों की उत्पत्ति एवं उनका विनाश संभव है, तो उसके लिए कोई न कोई उपाय या मार्ग अवश्य होना चाहिए और यही मार्ग श्दु:खनिरोध गामिनीपटिपदा (मार्ग) कहलाता है। इसे 'मध्यम मार्ग' भी कहा गया है, क्योंकि यह 'कामेसुकामसुखल्लिकानुयोग' (अर्थात् सांसारिक सुखों में अत्यधिक लिप्त रहना) एवं 'अत्तकिलमथानुयोग' (आत्मशुद्धि के नाम पर शरीर को अत्यधिक कष्ट देना) जैसे दो अतियों या अंतों का त्याग कर मध्य का मार्ग है। इसमें आठ चरण या अंग हैं, जिनके चलते इसे 'आर्य अष्टाङ्गिक' मार्ग भी कहा जाता है। ये आठ अंग हैं–सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मांत, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि।' इन आठ अंगों तीन भागों मे विभाजित कर भी संक्षिप्त किया जाता है यथा–प्रज्ञा, शील तथा समाधि के। इसके अनुसार प्रज्ञा के अंतर्गत सम्यक् दृष्टि तथा सम्यक् संकल्प आते हैं। शील के अंतर्गत सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मांत तथा सम्यक् आजीव एवं समाधि के अंतर्गत सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि।

इन आठों अंगों को संक्षिप्त रूप में निम्न प्रकार से समझाया जा सकता है–

सम्यक् दृष्टि–सम्यक् दृष्टि का अर्थ है कि हम हर वस्तु को उसके यथार्थ रूप में देखें अर्थात् यह अच्छी तरह समझें कि हर वस्तु अनित्य, दु:ख तथा अनात्म है। इन त्रिलक्षणों की दृष्टि से देखने पर किसी भी वस्तु में राग या तृष्णा उत्पन्न नहीं होती और पहले से होने पर भी वह समाप्त हो जाती है।

सम्यक् संकल्प–यदि हमारी दृष्टि सम्यक् है, तभी हम अपने द्वारा लिए जाने वाले संकल्प को सम्यक् कह सकते हैं। सम्यक् रूप से लिए गए संकल्प से हम अपने लिए कुशल व कल्याणकारी कार्य करने की दिशा में दृढ़ता से बढ़ सकते हैं।

सम्यक् वाचा (वचन)–सम्यक् वचन का अर्थ है मिथ्यावचन से विरत रहकर उचित तथा मधुर वचन बोलना। झूठ बोलना, चुगली करना, कठोर वचन बोलना तथा व्यर्थ की बकवास करना-ये चार प्रकार के मिथ्या व निंदनीय वचन कहे गए हैं। इनसे विरत रहकर सत्य बोलना,

परनिंदा न करना, मृदुवचन बोलना तथा आवश्यकतानुसार उचित बोलना ही सम्यक् वचन है।

सम्यक् कर्मांत–हिंसा, चोरी, व्यभिचार इत्यादि अकुशल कर्मों से विरत रहकर कुशल कर्म करना ही सम्यक् कर्मांत कहलाता है।

सम्यक् आजीव–अन्य बातों के साथ-साथ बुद्ध ने आजीविका के साधनों की पवित्रता पर भी काफी बल दिया। अपना पेट भरने के लिए दूसरों के समक्ष झूठ-मूठ ही अलौकिक शक्ति का दावा या प्रदर्शन करना, किसी भी स्त्री-पुरुष का संवाद अन्य स्त्री-पुरुष के पास पहुँचाना, अपनी या किसी अन्य की बीमारी का बहाना कर भोजन पाना इत्यादि भिक्षुओं के लिए एवं हथियारों का व्यापार, प्राणी का व्यापार, मांस-मद्य आदि का व्यापार इत्यादि गृहस्थों के लिए मिथ्या आजीव माने गए। इन सबों से विरत रह कर उचित ढंग से जीविका चलाना ही सम्यक् आजीव है।

सम्यक् व्यायाम–इंद्रियों पर संयम करना तथा मन में उठने वाली उत्पन्न हो चुकी बुरी भावनाओं को समाप्त करना, अच्छी भावनाओं को उत्पन्न करने का प्रयास करना, अभी तक उत्पन्न नहीं हुई बुरी भावना को उत्पन्न होने से रोकना एवं अभी तक उत्पन्न हो चुकी अच्छी भावना को बढ़ाने एवं सशक्त करने का प्रयत्न करना यही सम्यक् व्यायाम है।

सम्यक् स्मृति–स्मृति का सामान्य अर्थ होता है-स्मरण करना। किंतु बौद्ध दर्शन में इसका प्रयोग अधिक व्यापक है। यहाँ स्मृति का अर्थ है मानसिक जागरूकता। यह मन रूपी द्वार पर स्थित सतत जागरूक द्वारपाल की भाँति है जो अवांछित धर्मों को मन में प्रवेश करने से रोकती है तथा वांछित धर्मों को ही वहाँ प्रवेश करने देती है। काया, वेदना, चित्त और मन के धर्मों की ठीक ठीक स्थितियों अर्थात् उनके मलिन होने, क्षणभंगुरता आदि का सतत ध्यान रखना सम्यक् स्मृति है।

सम्यक् समाधि–कहा गया है–'कुसलचित्तस्स एकग्गता समाधि'[7] अर्थात् कुशल चित्त की एकाग्रता ही समाधि है। अलोभ, अद्वेष तथा अमोह–ये तीन कुशल मूल हैं। इनसे संप्रयुक्त चित्त या कर्म को ही कुशल चित्त या कुशल कर्म कहते हैं। इंद्रियों के यत्र-तत्र भटकाव को रोककर चित्त को किसी एक विषय पर एकाग्र करना ही समाधि या सम्यक् समाधि है।

अस्तु, शोध आलेख का मुख्य अभिधेय सम्यक् आजीव का आजीव अर्थात् आजीविका जीवन निर्वाह के साधनों की प्राप्ति करना। मिथ्या आजीव का त्याग करके सम्यक् आजीव को स्वीकार करने का उपदेश त्रिपिटक में बार-बार मिलता है। मिथ्या आजीव को अधर्म और सम्यक् आजीव को धर्म कहा गया है। अंगुत्तर निकाय में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है।

'मिच्छाआजीवो, भिक्खवेअधम्मो, सम्माआजीवोधम्मो, ये च मिच्छाआजीवकेपच्चया अनेक पापका अकुसला धम्मा संभवन्ति, अयं, अनत्थो; सम्माआजीवपच्चया च अनेके कुसला धम्मा भावनापारिपूरिं गच्छन्ति, अयं अत्था।'[8]

कौन-कौन से व्यवसाय मिथ्या आजीव हैं, इसका उल्लेख अंगुत्तर निकाय में मिलता है। उपासक वग्ग के वाणिज्जसुत्त में उपासकों के लिए निम्न आजीव का निषेध किया गया है। 'पञ्चिमा भिक्खवे वणिज्जा उपासकेन अकरणीया। कतमा पञ्च। सम्थवणिज्जा, सत्तवणिज्जा, मंसवणिज्जा, मज्जवणिज्जा, विसवणिज्जा।[9]

सत्थवणिज्जाति आवुधभंडं कारेत्वा तस्स विक्कयो अर्थात् आयुध आदि बना कर उसका विक्रय करना। सत्तवाणिज्जाति मनुस्स विक्कय अर्थात् मनुष्य एवं जीवों का विक्रय करना। मंसवणिज्जा तिसूकरमिगादयो पोसेत्वा तेसं विक्कयो अर्थात् सूकर मृग आदि प्राणिओं का पोषण कर उनका मांस के लिए विक्रय करना। मज्जवणिज्जा तियं किञ्च मज्जं कारेत्वा तस्स विक्कयो अर्थात् मद्य आदि

नशाकारक चीजों का उत्पादन करके उनके विक्रय करना। विसवणिज्जा ति विसं कारेत्वा तस्स विक्कयो अर्थात् विष आदि का उत्पादन करके उनका विक्रय करना।

आजीव के संबंध में धर्म और अधर्म की चर्चा पूर्वोक्त है। आजीव का संबंध आर्थिकता और जीवनयापन के साथ भी है। धर्म शब्द का एक अर्थ नहीं है, धर्म एक बहुवार्थक शब्द है। यहाँ देशना, नियम और सदाचार अर्थ अभिप्रेत है। भगवान् बुद्ध ने आध्यात्मिक समुन्नति और व्यावहारिक जीवन का समन्वय कर मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया है। जीवन चरितार्थ चलने के लिए केवल अर्थ की ही आवश्यकता नहीं अपितु सदाचार की आवश्यकता है। इसलिए तथागत द्वारा उपदिष्ट सम्यक् आजीव समाज को अधिक नैतिक और सुदृढ़ करने की लिए नितांत आवश्यक है। Small is beautiful इस पुस्तक के लेखक E.F.S. Schumacher अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि 'Right livelihood is one of the requirement of the Buddha's Noble Eight Fold Path- It is clear, therefore, that there must be such a thing as Buddhist Economy.'[10] इस उद्धरण से यहीं स्पष्ट होता ही कि सम्यक् आजीविका ही बौद्ध आर्थिक व्यवस्था का अर्थगर्भ है। वह सम्यक् आजीविका पंचसील से मार्ग से ही क्रियान्वित हो सकती है। प्राणी हिंसा करना, न दिए हुए वस्तु को ग्रहण करना अर्थात् चोरी करना, व्यविचार करना, असत्य बोलना एवं शराब आदि नशा का सेवन करना, यह मिथ्या आचरण है। जो इस प्रकार आचरण करते हुए जीवनयापन करते हैं वह मिथ्या आजीविका कहलाती है। इसके विपरीत शील का पालन करते हुए जीविकोपार्जन करना सम्यक् आजीव है। सम्यक् आजीव के संबंध में डॉ॰ अंबेडकर अपने Buddha and his Dhamm ग्रंथ में लिखते हैं कि 'Every individual Has to earn his livelihood- But there are ways and ways of earning ons's livelihood- Some are bad: some are good. Bad ways are those which cause injury or injustice to others. Good ways are those by which the individual earns his livelihood without causing injury or injustice to others- This is samma ajivo.'[11] तात्पर्य यह है की प्रत्येक व्यक्ति को अपना चरितार्थ चलाना है, परंतु चरितार्थ के अनेक मार्ग है। कुछ बुरे हैं और कुछ अच्छे मार्ग हैं जिसके द्वारा औरों पर अन्याय या हानि होती हो वह बुरे मार्ग हैं। औरों पर अन्याय एवं हानि न करते हुए जीविका चलाने के लिए अवलंबित मार्ग अच्छे होते हैं। यही सम्यक् आजीव का मूल अभिधेय होता है।

आधुनिक अर्थव्यवस्था में, मनुष्य का जीवनमान उसकी वस्तु उपभोगिता पर निर्भर करता है, विचार करता है। किंतु बौद्ध आर्थिक व्यवस्था मर्यादित उपभोगिता के आधार पर मनुष्य का जीवनमान को सुनिश्चित कराती है। बौद्ध आर्थिक व्यवस्था में गरीब और अमीर होने का महिमागान नहीं है, उन्होंने जीवन का मध्यम मार्ग स्वीकार किया है। यह मध्यम मार्ग पर निर्भर जीवन संसाधनों के मर्यादित उपयोगिता पर आधारित है। आधुनिक अर्थशास्त्री उपभोगिता अथवा उपयोगिता को साध्य और भूमि, श्रम एवं पूँजी को साधन मानते हैं। उनके अनुसार अधिकाधिक साधनों की उपलब्धता कर देने से मनुष्य को उपभोग को साध्य मान कर उपयोगिता की जा सकती है। किंतु बौद्ध आर्थिक व्यवस्था में साध्य और साधन का अर्थ अलग है। Small is beautiful में लेखक E.F.S. Schumacher कहते हैं कि 'The Keynote of Buddhist economics, therefore, is simplicity and non-violence.'[12]

सरलता और अहिंसा यही बुद्ध के आर्थिक व्यवस्था का मुख्य सूत्र है। इस विचार का मूलाधार 'सम्यक् आजीव' है। सम्यक् आजीविका के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति सादगीपूर्ण जीवनयापन

कर सकता है। बौद्ध आर्थिक व्यवस्था में मनुष्य का सर्वोच्च ध्येय सुखी जीवनयापन करना है। उपभोगिता और उपयोगिता से मनुष्य सुख कम और ज्यादा मानसिक और शारीरिक कष्ट को प्राप्त करता है। इसलिए भगवान् बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित सम्यक् आजीव कि वर्तमान में अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

संदर्भ

1. भदंत आनंद, कौसल्यायन, पालि-हिंदी कोश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ॰ 37
2. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, महावग्गपालि, बौद्धभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2013, पृ॰ 13
3. तथैव
4. भदन्त आनंद, कौसल्यायन, धम्मपदं, बुद्धभूमि प्रकाशन, नागपुर, 1993, पृ॰ 38
5. तथैव, पृ॰ 40
6. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, महावग्गपालि, बौद्धभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2013, पृ॰ 13
7. भिक्षु धर्मरक्षित, विसुद्धिमग्ग, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ॰ 147
8. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, अंगुत्तरनिकायपालि, अट्ठक निपात, दान वग्ग, बौद्धभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2013
9. तथैव
10. E.F.S. Chumacher, "Small is beautiful", India Book Distributors, Bombay-21, Ed.1983, P.44
11. Ambedakar, B.R., "Buddha and his Dhamma" Siddharth College Publication:I, 1957, P.125-126
12. E.F.S. Chumacher, "Small is beautiful", India Book Distributors, Bombay-21, Ed.1983, P.60

Shubham Mahesh Gajbhiye
Shanti Vihar, Near Telephone Exchange,
Ward No.05, Sanchi 464661 M. P.
Mob. 8380852588
shubhamchitta@gmail.com

कुसुम अंसल की कहानी में किन्नर जीवन

शिवानी, शोधार्थी, हिंदी विभाग
गुरुकुल काँगडी समविश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखंड)
प्रो॰ सुचित्रा मलिक (शोध सह निर्देशिका), हिंदी विभाग
गुरुकुल काँगडी समविश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखंड)

किन्नर हमारे समाज का ही एक समुदाय है जो पूर्ण रूप में न स्त्री होते हैं और न पुरुष। ये स्त्री और पुरुष दोनों के लक्षणों से युक्त होते हैं। इनकी शारीरिक संरचना इन्हीं का मिला-जुला रूप है। किन्नरों का इतिहास देखें तो हमारे पवित्र धार्मिक ग्रंथों रामायण और महाभारत में इनका वर्णन मिलता है। संभव है कि मानव जाति के पृथ्वी पर पदार्पण के साथ ही किन्नरों का अस्तित्व जुड़ा है। शादी-विवाह, बच्चों के जन्म होने पर नाचने-गाने, बधाइयाँ देने से मिले रुपए इनकी कमाई का एकमात्र साधन है, जिससे ये स्वयं की जरूरतें पूरी करते हैं। अपने जीवन की ऐसी कल्पना से ही हमारी रूह काँप उठेगी और वे ऐसा भुगत रहे हैं। वास्तव में ये हमारे ही घरों में ये पैदा होते हैं। पूरी तरह जननांग का विकास न होने के कारण किन्नर समुदाय को सौंप दिए जाते हैं और वहीं इनका पालन-पोषण होता है। अंततः ये भिक्षावृत्ति वाला जीवन जीने को मजबूर होते हैं।

प्राचीन भारतीय साहित्य में तृतीय लिंग का बहुधा वर्णन मिलता है। वेद-पुराण, शतपथ ब्राह्मण, हरिवंश पुराण, वायुपुराण, रामायण, महाभारत इन पौराणिक ग्रंथों के अतिरिक्त बौद्ध ग्रंथों, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इनके प्रसंग देखने को मिलते हैं। कुमारसंभव में भी इनकी चर्चा है, जिसमें पार्वती की करुण दशा देख किन्नर रुदन करते हुए चित्रित हैं। मनुस्मृति में इनका वर्णन है। प्राचीन समय से लेकर आज तक यह तीसरा लिंग समाज के सभी वर्गों के साथ विषमताओं, विसंगतियों को सहते हुए जीवन बिता रहा है। शिखंडी से हर कोई परिचित है वह एक किन्नर ही था जिसकी उपस्थिति युद्ध का परिणाम बदलकर रख देती है। बारह वर्षों के वनवास के दौरान अर्जुन को देवलोक में श्राप मिलता है, जिसके प्रभाव से एक साल तक किन्नर का रूप धारण कर वृहन्नला बनकर अभिशप्त जीवन जिया। इनके अलावा साहित्यिक रचनाएँ इनको चर्चा केंद्र में लाईं। तीसरे जेंडर पर चर्चाएँ आज बहुत अधिक हो रही हैं। इनकी संख्या निरंतर बढ़ रही है। इनके अस्तित्व और अधिकार को अनदेखा कर बदतर व्यवहार होता है। अपने जननांगी दोषों के कारण ये सदियों से अंधकार में जीते आ रहे हैं। हिंदी साहित्य के लेखकों ने इनसे जुड़ी समस्याओं को उठाया है। अनेक लेखक किन्नर जीवन को बड़े शक्तिशाली ढंग से समाज के सम्मुख प्रस्तुतीकरण करने में लगे हैं। हमारा हिंदी साहित्य इस समुदाय के विषय पर मौन नहीं रहा, एक सशक्त अभिव्यक्ति दी। इन्हें मनोरंजन के तौर पर नहीं लिया। हास्य का माध्यम न बनाकर इनकी अस्मिता की पहचान कराना लक्ष्य रहा। समकालीन लेखिकाओं में कुसुम अंसल एक ऐसा नाम है जिनकी कहानी सिर्फ एक कमी के कारण समाज की मुख्यधारा से अलग रहने वाले तीसरे लिंग की पीड़ा से गंभीरतापूर्वक अवगत कराती है। इनकी अनोखी लेखन क्षमता किन्नर जीवन के हितार्थ अधिक

सोचने और अधिक कार्य करने को मजबूर करती है।

अनेक विषयों पर इन्होंने निष्पक्ष होकर वैचारिक मंतव्य पेश किए हैं जिनका मकसद सभी को तीसरे जेंडर के अस्पर्शी पहलुओं से अवगत कराना है। कुसुम अंसल के कहानी-संग्रह 'धुएँ की ईमानदारी' में संकलित 'ई मुर्दन का गाँव' कहानी तीसरे जेंडर के रहस्यमयी जीवन की समस्याओं से पर्दा उठाती है और इनके उत्थान तथा अधिकारों की बहाली का प्रयास करती है। कहानी के किन्नर पात्र बीलू को बचपन में गाने-बजाने का शौक चढ़ा, पर उसकी माँ ने उसे रोका और डाँटते हुए कहा कि 'गाने-बजाने का नाम लिया तो तेरी हड्डियाँ तोड़ दूँगी।'[1] अपने साथ के बच्चों के साथ क्रिकेट खेलने की उसमें रुचि नहीं दिखी बल्कि लड़कियों के साथ गुड्डा-गुड्डी से खेलने की जिद करता है। अधिक जिद करने पर घरवाले कमरे में बंद कर देते हैं। बीलू को स्कूल के नाटक में सफल अभिनय पर पुरस्कार मिला। इस पर परिवार वालों ने न खुशी मनाई, न उसे शाबाशी दी उल्टा डांट पड़ी और इनाम पाने की सजा स्कूल बदलने के रूप में मिली। इसका कारण था उसका किन्नर होना। हुनर होने के बावजूद बीलू को आगे आने से रोकना उसके साथ बड़ी नाइंसाफी है।

स्वीमिंगपूल में बच्चों को नहाता देखा तो उसका भी मन हुआ इनके साथ मस्ती करते हुए नहाने का। नीलिमा की देखा-देखी मोटी-सी बनियान पहनकर इनके बीच पानी में उतर गया। अचानक सरदार जी ने उसे देखा, तुरंत बाहर खींचा और उसके घर छोड़ आए। उसके चाचा से बोले कि 'अंदर वाडो जी आपणा बच्चा... कोई फड़ के ले जाएगा।'[2] इस घटना के बाद बीलू को उसकी मौसी स्कूल छोड़ने और लाने लगी। हर वक्त इस पर नजर बनाए रखते, कभी अकेला न छोड़ते। घर के दरवाजे पर एक हट्टा-कट्टा आदमी तैनात कर दिया। इस पर बहुत-सी पाबंदियाँ लगा दी गईं जैसे कि सभी बच्चों से दूर रहना, अजीब-से कपड़े पहनना, आस-पड़ोस में आने-जाने से रोकना आदि। कितने ही दिनों तक ऐसे ही चलता रहा। एक दिन सुबह के समय तीन काली और मोटी औरतें चाचा के घर के सामने रिक्शा से उतरीं, फुसफुसाकर थोड़ी देर बातें करते रहीं। चाचा ने ढेर सारे रुपए इनको थमा दिए और वे वापस चली गईं। बहुत दिनों तक इन औरतों का इसी तरह आना तथा पैसे लेकर जाना चलता रहा। बीलू को रातोंरात मौसी के साथ लंदन भेज दिया गया और मुहल्ले के लोगों को बताया कि वह अब वहीं रहकर पढ़ाई करेगा। चाची पूजा-पाठ में जुट गई और ज्यादा ही चुप-चुप रहने लगी। आए दिन कीर्तन कराते रहते। कलकत्ता से एक बार इनके यहाँ कोई मंडली आई, उनमें से किसी ने अपने बारे में जानकारी देते हुए कहा कि 'अपनी उस अवस्था से, तादात्म्य से हम लौट भी आते हैं और धीरे-धीरे सात-आठ महीने बाद पुराने रूप-रंग में ढल जाते हैं।'[3] अपनी दुर्दशा कोई नहीं चाहता। सब कुछ स्वयं के हाथों में होना असंभव है। समाज से अलग काटकर किसी के दायरे सीमित करना एक पक्षीय होना है। हम शहर की गुमनाम गलियों में रहने वाले इस समुदाय की अधिकांश बातों से अनजान है। लेखिका अपने दायित्व के प्रति पूरी तरह सजग हैं तभी इन्होंने हमें इनके रहन-सहन, इतिहास और वर्तमान की जानकारी दी जिससे इनके भविष्य का अंदाजा लगाया जा सके और सुधार किया जा सके।

सिद्धार्थ इनके बारे में जानने को जिज्ञासु हुआ कि ये कहाँ रहते हैं? कैसी इनकी दुनिया है? सरदार जी ने यह सब जानने में मदद की और दोनों टूटी-फूटी हवेली जा पहुँचे। जहाँ किन्नर समुदाय रहता है। इनकी एक गुरु है जिसका नाम है जया। दमे की मरीज है, पूरे शरीर में दर्द है, खाना-पीना छोड़ दिया है और सभी इसके ठीक होने की दुआ माँगने में लगे हैं। समय गम का हो या खुशी का

सभी एक दूजे के संगी हैं। समाज से कटकर रहना इनके लिए बहुत मुश्किल है। अनिच्छा से बहुत कुछ करना पड़ता है। बात करते हुए स्नातक उत्तीर्ण सलीमा बड़ी सज्जनता से कहती है–'आई एम एजुकेटेड, मैंने बी॰ए॰ पढ़ा है, इफ यू वांट आई केन स्पीक इंग्लिश...।'[4] यह सब हमारा दुर्भाग्य है इस तरह का जिस्म लेकर पैदा होना, ऐसे जीना, ऐसी खंडहरनुमा जगह पर रहना और कर भी क्या सकते हैं, मजबूर हैं। ऐसा कहते-कहते उसकी आँखों में उदासी छा गई। शिक्षित होकर भी समाज उसके दहलीज फलाँगकर नौकरी करने से असहमत है। यह तीसरे जेंडर के विकास में बाधक सबसे बड़ी समस्या है। ये समस्याएँ इन्हें और लाचार बनाती हैं। जीने के लिए काम करना आवश्यक, ये शब्द किसी को प्रेरित करते हैं तथा किसी की मजबूरी बन जाते हैं। यही मजबूरी सलीमा को वेश्यावृत्ति तक पहुँचाती है। किन्नरों की बातें सुनकर, इनके बारे में जानकर सिद्धार्थ का सिर चकराने लगा तो सलीमा ने पानी लाना चाहा मगर सरदार जी तुरंत ही बोल पड़े–'कैंपा दी बोतल माँगवाओ जी... तुआडे हत्थदा पाणी किस्तरां पी सकते आं असी...।'[5] अपमान महसूस किए बिना दुकान से ठंडे की बोतल लाने किसी को भेज दिया। समाज में ये अस्पृश्य हैं, इनसे यह अपेक्षित भाव निराशाजनक है। इनके द्वारा सुख के समय दिए गए ढेरों आशीर्वाद और दुआएँ फलते हैं। समाज को शुभकामनाएँ देने वाले इस समुदाय की जिंदगी आसान नहीं होती।

जया गुरु बताती हैं कि पहले हमें ख्वाजा सरा कहते थे। बादशाह व राजा के महलों और हवेलियों में रहा करते, मंदिरों की पहरेदारी करते। अन्य जगहों की देखभाल का कार्य सौंप दिया जाता। कोई राजा का गुप्तचर बन जाता। राजा को यहाँ-वहाँ से सूचना एकत्र कर बताते रहते। अब इस स्थान को ही देख लो, यही हमारा ठिकाना है, पुश्तैनी अड्डा है। ये किसी की हवेली है। किस्मत का मारा हमारा समुदाय ऐसे ही जून भुगत रहा है। दमे से गुरु की साँसे उखड़ने लगीं, पानी से गोलियाँ निगलकर बोली–'ये भी कोई जीवन है, जिसकी कोई पहचान न हो। बेइज्जती से बहुत जी लिए, अब सहना असंभव होता जा रहा है। अपने जन्म पर हमारा नियंत्रण नहीं है मगर उसे ठीक से जिया तो जा सकता है। बच्चे की कामना लेकर बाँझ स्त्रियाँ हमारे पास आती हैं, आशीर्वाद लेती हैं। फलस्वरूप उनकी गोद भर जाती है। हज जाने वाला हमारा हाथ चूमकर जाए तो उसकी तमाम इच्छाएँ पूर्ण होती हैं। हमारा शरीर आदमी का, मन औरत जैसा है। हमआधे-अधूरे स्वयं के लिए कुछ नहीं कर सकते हैं। सलीमा अपनी किस्मत व स्थिति कुछ इस तरह बयां करती है–'हमारी समाज में न कोई जगह है न पहचान...हम सब अछूत से भी नीचे समझे जाते हैं।'[6] जन्म के बाद मुझे देखते ही मेरी माँ चल बसी। पिता ने दूसरी बार घर बसा लिया। मुझे अपने साथ नहीं रखा, अनाथाश्रम छोड़ दिया। वहीं रहा, बड़ा हुआ, पढ़ना-लिखना सीखा। बचपन में परिवार और बड़ा होने पर मेरा अपना जिस्म मेरा दुश्मन बन गया। सच्चाई जानने के बाद मैं यहाँ आ पहुँचा। आप-बीती बताते हुए बद्री की आँखें लाल हो गईं। माँ-बाप ने जन्म देकर ऐसे जीने के लिए छोड़ दिया उनकी तस्वीर ये अपने पास नहीं रखते और न उन्हें याद करते हैं।

आज इंसान मन के अनुकूल जीवन चाहता है और बहुत से लोग अपनी इच्छानुसार जी भी रहे हैं। अपनी इच्छा से ही किसी छोटे या बड़े काम को करते हैं। इसी आधार पर किन्नर समुदाय को देखें तो इच्छा के मामले में इनके सामने बहुत सारी समस्याएँ आती हैं। तकिये के नीचे से पुरानी तस्वीर निकालकर दिखाते हुए जया गुरु ने बताया कि अभिनेत्री बनने की इच्छा मन में ले मैं मुंबई पहुँची। मुझमें अभिनय के प्रति अधिक झुकाव था। हिंदी सिनेमा जगत में अपने काम के बलबूते छा जाना चाहती थी। अपने समुदाय के लोगों की खातिर ऊपर उठना चाहा। कुछ न हुआ, कुछ नहीं

कर पाई। वापस लौटकर किन्नरों के हाव-भाव सीखे। इनके करने खाने की सुविधा होती तो अपमान की जिंदगी झेलने से आजाद हो जाते। इनके धंधे से सब वाकिफ हैं। ढोलकी उठाकर जाता देख सरदार जी ने जानना चाहा कि बच्चा कहाँ जन्मा है, इसका पता कैसे चलता है? बद्री बताता है कि 'हस्पताल की नर्सों, दाईयों, जमादारिनों से हमारा कान्ट्रेक्ट है बाकायदा, हर खबर के वो लोग पैसे लेते हैं।'[7] ये सड़क पर उतर आए और नाचना-कूदना, भद्दे मजाक जैसी हरकतें करने लग गए। पीछे से आती एक किन्नर ने कहा कि ये वास्तविकता नहीं है, एक नाटक है, एक स्वाँग है, पेट पालने का महज एक धंधा है। न जाने कितनी समस्याएँ इनके आड़े आती हैं, कुछ काम करना चाहें तो शरीर बीच में आता है और आमदनी का साधन ढूँढे तो नर्सें, दाईयों जैसे इनसे हिस्सा माँगते हैं। सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े इस वर्ग की दशा जानकर लोग इनका भला करने से तो रहे उल्टा अपनी जेब गर्म करते हैं।

आधुनिक युग कुछ ज्यादा ही दौड़-भाग से भरा है। इस भाग-दौड़ से हर व्यक्ति जुड़ा है, लेकिन इसमें यह समुदाय पीछे रह गया है। जिस तरह हम अपने दु:ख-दर्द को समझते हैं वैसे ही इनके जीवन के मर्म को समझना चाहिए। मानवीय कर्त्तव्य और धर्म का पालन करने के लिए किसी को बुलावा नहीं भेजा जाता, सच्चे और अच्छे वही होते हैं जो भेदभाव त्याग कर समाज में जन्मीं समस्याओं की जड़ों पर प्रहार कर उखाड़ने में लगे हैं। हमारी सरकार व समाज का प्रबुद्ध जागरूक वर्ग किन्नर समाज के विकास में आने वाली विपरीत परिस्थितियों में बदलाव लाने में संघर्षशील है। लेखिका कुसुम अंसल ने एक कहानी को आधार बनाकर किन्नर संबंधी कई बातें हम सभी के सामने रखी हैं। इनका लेखन हमारा ध्यान तीसरे जेंडर की तरफ ले जाकर हमें विचार करने के लिए मजबूर करता है। इन्हें उपहास, तिरस्कार के बदले मान, अधिकार मिलें। सुविधा, शिक्षा, सर्विस मिलें। इनकी प्रतिभा का उपयोग हो ताकि समाज का इनको देखने का नजरिया बदले। ये अपनी बनावट से नहीं योग्यता के बल से पहचाने जाएँ। नकारात्मक परिस्थितियों को सकारात्मक बनाया जाए तभी इनका उत्थान संभव है और यही लेखिका का प्रयास रहा है। अंत में यही कह सकते हैं कि कुसुम अंसल ने किन्नर जीवन की समस्याओं को उठाकर समाधान तक ले जाने का प्रबल प्रयास किया है।

सन्दर्भ

1. कुसुम अंसल, धुएँ की ईमानदारी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1999,पृष्ठ संख्या-9
2. वही, पृ॰ 10
3. वही, पृ॰ 11
4. वही, पृ॰ 12
5. वही, पृ॰ 12
6. वही, पृ॰ 13
7. वही, पृ॰ 14

शिवानी सुपुत्री श्री रविंद्र कुमार
गाँव-खेड़ी गनी, निकट शिव मंदिर
पोस्ट-मोहम्मदपुर रायसिंह
तहसील-बुढाना (मुजफ्फरनगर) 251309
मो॰ 9258437036
malikshivani199@gmail.com

ISSN 0975-735X

दीनदयाल उपाध्याय की पत्रकारिता और एकात्म मानववाद

शुभांगी

पत्रकारिता के विषय में उन्होंने समस्त जानकारी अपने अध्ययन और अनुभव से प्राप्त की। न केवल संपादन करना सीखा बल्कि अटल जी के साथ-साथ दूसरों को भी सिखा दिया। दीनदयाल जी काम करते हुए स्वयं सीखते थे और सीखते हुए दूसरों को सिखाते चलते थे। अपने इस गुण का उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में पूरी तरह से उपयोग किया।

पत्रकारिता के संदर्भ में दीनदयाल जी के व्यक्तित्व के कई पहलू सामने आते हैं। औपचारिक रूप से भले ही उन्हें ऐसा पत्रकार स्वीकार न किया जाए जो पत्रकारिता के माध्यम से अपनी रोटी-रोजी कमाता हो अथवा उसने किसी विश्वविद्यालय से पत्रकारिता की विधिवत शिक्षा ग्रहण की हो। परंतु स्वतंत्रता संग्राम के दौरान और उसके बाद भी अनेक दर्जनों लोगों ने पत्रकारिता को 'मिशन' बनाकर इसमें महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद देश का विकास ही किसी 'मिशन' का ध्येय हो सकता था। दीनदयाल जी का एक मात्र उद्देश्य देश को हर तरह से परम वैभव के मार्ग पर ले जाना था। उनके इस दौर में मिशनरी पत्रकारिता के प्रतीक रूप म अटलबिहारी वाजपेयी, लालकृष्ण आडवाणी, बालेश्वर अग्रवाल, केवलरत्न मलकानी, यादवराव देशमुख, देवेंद्र स्वरूप अग्रवाल और भानुप्रताप शुक्ल सरीखे वरिष्ठ पत्रकारों की गणना की जा सकती है।

जनकल्याण व देशहित उनकी लेखनी में सदैव सर्वोपरि रहता था। प्रसिद्ध विचारक श्री दत्तोपंत ठेंगडी के अनुसार पत्रकार के नाते दीनदयालजी का योगदान अनुकरणीय था। वे पत्रकार थे, किंतु कार्ल मार्क्स ने जिस श्रेणी को 'जर्नलिस्ट थिंकर' कहा है, उस श्रेणी में आप नहीं थे। उनकी पत्रकारिता मात्र समकालीन परिस्थितियों में ही उपयुक्त हो, ऐसी नहीं थी। उनकी पत्रकारिता तो सुदूर भविष्य तक उपयोगी रहने वाली पत्रकारिता थी।

उन्होंने 'राष्ट्रधर्म' मासिक के बाद 'पांचजन्य' साप्ताहिक और 'स्वदेश' नामक दैनिक समाचार पत्र प्रारंभ किए। संपादक के रूप में उनका अपना नाम कहीं नहीं छपता था परंतु इन पत्रों का कोई अंक ऐसा नहीं निकला जिनमें उनके विचारों कि अमिट छाप न हो। सकारात्मक सामग्री के चयन के कारण, राष्ट्रवादी पत्रकारिता की यात्रा में आज भी इन पत्रिकाओं को मील का पत्थर माना जाता है।

शनैः-शनैः देश के विभिन्न भागों से प्रकाशित होने वाली कितनी ही पत्र-पत्रिकाओं के साथ दीनदयालजी का नाता जुड़ता गया। आज देश के प्रायः हर जिले और देश की हर भाषा में प्रकाशित होने वाली कितनी ही जागरण पत्रिकाएँ दीनदयालजी के विचार से ही प्रारंभ हुई हैं।

पांचजन्य के संपादक श्री भानुप्रताप शुक्ल ने यह स्वीकार किया कि भले ही दीनदयाल जी 'पांचजन्य' के साथ ऊपरी संबंध दिखाई न देते हों परंतु हर अंक के भीतर उनकी छवि झलकती थी। समय-समय पर वह 'पांचजन्य' और 'आर्गेनाइजर' के संपादकों से विचार विमर्श करते थे। उनका सान्निध्य बहुत मधुर और शिक्षाप्रद होता था। वे आते थे, पत्रकारिता पर चर्चा होती थी, खबर

कैसे बनाना, शीर्षक कैसे लगाना आदि से लेकर समाचारों से जुड़ी सभी छोटी-बड़ी बातें खुलकर होती थी। संपादकीय विभाग के लोग हमेशा उनके सुझाव जानने के इच्छुक रहते थे। इस प्रकार वह संपादकों के भी संपादक थे।

दीनदयालजी ने अनगिनत लेख लिखे हैं। सुप्रसिद्ध काँग्रेसी नेता तथा काशी विद्यापीठ के तत्कालीन कुलपति डॉ॰ संपूर्णानंद ने दीनदयाल जी के पत्रकरिता से संबधित लेखों को तीन विभागों में वर्गीकृत किया है। अखबारी तर्क-वितर्क को ध्यान में रखकर लिखे गए वे लेख जो केवल तात्कालिक अवसरों पर किसी मुद्दे पर प्रतिक्रिया के लिए लिखे गए। ऐसे लेखों में आमतौर पर एक-दूसरे पर राजनीतिक प्रहार करने अथवा ऐसे प्रहारों का उत्तर देने की कोशिश की गई है। इनमें राजनीतिक उठा-पटक, खासतौर पर चुनावी जोड़-तोड़ की भरमार है।

दीनदयाल जी के अनुसार, 'संवाददाता न तो शून्य में विचरता है और न ही कल्पना जगत की बातें करता है। वह तो जीवन की ठोस घटनाओं को लेकर चलता है और उसमें शिव का सृजन करता है।' दीनदयालजी ने अनुभव किया था कि 'तथ्यगतता समाचार का प्रधान गुण होते हुए भी वह संकलनकर्ता के व्यक्तित्व से अछूता नहीं रह सकता। प्रत्येक समाचार में अपनी निजी विशेषता रहनी चाहिए।'

दीनदयाल जी ने पाया कि समाचार-पत्रों के पास समाचार आने का एक ही स्रोत होता है। इस कारण समाचार-पत्र के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता। एक-आध न्यूज एजेंसी के अतिरिक्त अधिकतर समाचार-पत्र अपनी सामग्री के लिए सरकार के सूचना विभाग पर निर्भर रहते हैं। समाचार पत्रों के पास निजी संवाददाताओं की संख्या बहुत ही कम होती है। एक ही संवाददाता कई समाचार-पत्रों को समाचार भेजता है। स्वतंत्रता के बाद से पत्रकारिता के क्षेत्र में कोई विशेष विकास नहीं हुआ है। इसका एक कारण था—भारतीय भाषाओं की उपेक्षा। क्योंकि संवाद की भाषा के महत्त्व को हमारे देश में ठीक से समझा ही नहीं गया। समाचार जगत का पूरा कार्य-व्यवहार अँग्रेजी में होता है। भारतीय भाषाओं के पत्र भी अँग्रेजी से अनुवाद के सहारे काम चलाते हैं। अँग्रेजी में सोचने-विचारने और लिखने वाले संवाददाता, स्तंभकार और संपादक भारतीय भावों की गहराई को समझ ही नहीं पाते। जो थोड़ा-बहुत समझ लेते वे उन्हें अँग्रेजी भाषा में ठीक से व्यक्त नहीं कर पाते। जितने समाचार संकलित किए जाते हैं वे अँग्रेजी के पाठकों को ध्यान में रखकर किए जाते हैं। पृष्ठ संख्या कम होने के कारण हिंदी एवं भारतीय भाषाओं के पत्रों को समाचार छोटे करके भेजे जाते हैं। इन्हें समाचार एजेंसी की कम दरों वाली सेवा ही उपलब्ध करवाती है। इन समाचारों के संपादक केवल अनुवादक बनकर रह जाते हैं। उनकी सारी प्रतिभा अनुवाद कार्य में ही लग जाती है। अक्सर ऐसा होता है कि कोई नेता हिंदी में अपना वक्तव्य देता है। संवाददाता उसे अँग्रेजी में अनुवाद करके एजेंसी में भेजता है। छपने से पहले पुनः उसका हिंदी अथवा संबंधित भाषा में अनुवाद किया जाता है। इस दोहरे अनुवाद से मूल की दुर्गति हो जाती है। कई बार तो अर्थ का अनर्थ ही हो जाता है।

दीनदयाल जी समाचार जगत में एक बदलाव लाकर ऐसे सभी आधिपत्यों को समाप्त करना चाहते थे। उनका मत था कि जब तक विदेशी समाचार, अँग्रेजी भाषा, राजनीति, एक ही समाचार एजेंसी और सरकारी सूचना विभाग के एकाधिकार को समाप्त नहीं किया जाएगा तब तक इसका विकास संभव नहीं। इसके लिए उन्होंने हिंदुस्थान समाचार को परिपुष्ट करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। दीनदयालजी के सहयोगियों और परिचितों की यह आम राय रही है कि यदि वह

 ISSN 0975-735X

राजनीति में नहीं जाते तो निश्चय ही एक सफल पत्रकार अथवा लेखक होते। राजनीति के उलझन भरे माहौल में निरंतर काम करते हुए भी पत्रकारिता के क्षेत्र में उनका योगदान अतुलनीय है।

संवाददाता को उपदेशक की भूमिका में नहीं आना चाहिए। उसे यथार्थ के सहारे पाठक को 'शिव तत्त्व' की ओर इस तरह ले जाना चाहिए कि शिव वास्तविकता बन जाए। उनका मत था कि पत्रकार का यह उद्देश्य होना चाहिए कि सत्य और केवल सत्य ही लिखे। गीता के उपदेश से प्रेरित वह कहा करते थे कि कटुसत्य को भी प्रिय रूप में लिखना चाहिए। इतना ही नहीं, कथन यदि सत्य और प्रिय दोनों हो परंतु देश और समाज के लिए अनिष्टकारी हो तो उसे न लिखना ही वे पत्रकार का आदर्श मानते थे। स्वयं अपने लेखों में वह इस बात का ध्यान रखते थे कि उनमें एक भी ऐसे शब्द का प्रयोग न हो जाए जिसका प्रभाव लोकहित के प्रतिकूल हो। हर लेख में वह अपनी बात को आग्रहपूर्वक रखते थे लेकिन भाषा में पूरी शालीनता हो इसका भी ध्यान उन्हें निरंतर रहता था। जीवन के अन्य क्षेत्रों की ही भाँति वह शब्दों में भी मितव्ययिता बरतते थे। अपनी बात बहुत सटीक ढंग से नपे-तुले शब्दों में करते थे। दीनदयालजी का मत था कि समाज में पत्रकार का वही स्थान होता है जो शिक्षक का होता है। जो सूचना देने में भेदभाव करता है वह पत्रकार नहीं हो सकता।

एकात्म मानववाद के प्रणेता पं॰ दीनदयाल उपाध्याय का मानना था कि भारतवर्ष विश्व में सर्वप्रथम रहेगा तो अपनी सांस्कृतिक संस्कारों के कारण। उनके द्वारा स्थापित एकात्म मानववाद की परिभाषा वर्तमान परिप्रेक्ष्य में ज्यादा सामयिक है। उन्होंने कहा था कि मनुष्य का शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा, ये चारों अंग ठीक रहेंगे तभी मनुष्य को चरम सुख और वैभव की प्राप्ति हो सकती है। जब किसी मनुष्य के शरीर के किसी अंग में काँटा चुभता है तो मन को कष्ट होता है, बुद्धि हाथ को निर्देशित करती है कि तब हाथ चुभे हुए स्थान पर पल-भर में पहुँच जाता है और काँटे को निकालने की चेष्टा करता है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। सामान्यत: मनुष्य शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा इन चारों की चिंता करता है। मानव की इसी स्वाभाविक प्रवृति को पं॰ दीनदयाल उपाध्याय ने एकात्म मानववाद की संज्ञा दी। उन्होंने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के सिद्धांत पर जोर दिया उन्होंने कहा कि संस्कृति-प्रधान जीवन की यह विशेषता है कि इसमें जीवन के मौलिक तत्त्वों पर तो जोर दिया जाता है पर शेष बाह्य बातों के संबंध में प्रत्येक को स्वतंत्रता रहती है। इसके अनुसार व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रत्येक क्षेत्र में विकास होता है। संस्कृति किसी काल विशेष अथवा व्यक्ति विशेष के बंधन से जकड़ी हुई नहीं है, अपितु यह तो स्वतंत्र एवं विकासशील जीवन की मौलिक प्रवृत्ति है। इस संस्कृति को ही हमारे देश में धर्म कहा गया है। जब हम कहते हैं कि भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश है तो इसका अर्थ मजहब, मत या रिलीजन नहीं, अपितु यह संस्कृति ही है। उनका मानना था कि भारत की आत्मा को समझना है तो उसे राजनीति अथवा अर्थ-नीति के चश्मे से न देखकर सांस्कृतिक दृष्टिकोण से ही देखना होगा। भारतीयता की अभिव्यक्ति राजनीति के द्वारा न होकर उसकी संस्कृति से होगी।

पूरी दुनिया के साथ आज भारत वर्ष में भी बदलाव दिख रहा है। युवाओं के भीतर राष्ट्र को लेकर भाव जागा है। यह सच है कि पूरी दुनिया में जहाँ भी परिवर्तन हुआ है, युवावर्ग ने ही किया है। इस युवा सोच पर पं॰ दीनदयाल उपाध्याय की छाप अलग से दिखती है। उनके द्वारा बताए गए रास्ते आज उनके हमारे बीच नहीं होने के बाद भी पथप्रदर्शक के रूप में हमें राह दिखा रहा है। यह रास्ता कई कई मोड़ से चलते हुए उस नए भारत की तरफ ले चलता है जिसकी कल्पना पंडित उपाध्याय के साथ भारतीयता के महामनाओं ने की थी। समाज में जो लोग धर्म को बेहद संकुचित

दृष्टि से देखते और समझते हैं तथा उसी के अनुकूल व्यवहार करते हैं, उनके लिए पं॰ दीनदयाल उपाध्याय की दृष्टि को समझना और भी जरूरी हो जाता है। वे कहते हैं कि विश्व को भी यदि हम कुछ सिखा सकते हैं तो उसे अपनी सांस्कृतिक सहिष्णुता एवं कर्त्तव्य-प्रधान जीवन की भावना की ही शिक्षा दे सकते हैं, राजनीति अथवा अर्थनीति की नहीं। अर्थ, काम और मोक्ष के विपरीत धर्म की प्रमुख भावना ने भोग के स्थान पर त्याग, अधिकार के स्थान पर कर्त्तव्य तथा संकुचित असहिष्णुता के स्थान पर विशाल एकात्मता प्रकट की है।

पं॰ दीनदयाल उपाध्याय महान चिंतक और संगठक थे। इस महान व्यक्तित्व में कुशल अर्थचिंतक, संगठन शास्त्री, शिक्षाविद्, राजनीतिज्ञ, वक्ता, लेखक व पत्रकार आदि जैसी प्रतिभाएँ छुपी थीं। उन्होंने 'चंद्रगुप्त नाटक' लिख डाला था। वे मानते थे कि समाज तक सूचना पहुँचाने और उन्हें जागरूक बनाने के लिए पत्रकारिता से अलग और श्रेष्ठ माध्यम कुछ भी नहीं है। इसी सोच के साथ उन्होंने लखनऊ में राष्ट्रधर्म नामक प्रकाशन संस्थान की स्थापना की और अपने विचारों को प्रस्तुत करने के लिए एक मासिक पत्रिका 'राष्ट्रधर्म' शुरू की। बाद में उन्होंने 'पांचजन्य' (साप्ताहिक) तथा 'स्वदेश' (दैनिक) की शुरुआत की। पंडितजी ने अपने जीवन में जो सुशासन का रास्ता बताया था और अंतिम जन की चिंता करते थे, आज वह समय आ गया है कि हम उनके बताए रास्ते पर चलें और उनके सपनों को साकार करें। आज जरूरत है कि हम उनके बताए रास्ते पर चलें और भारत की सांस्कृतिक विविधता को विस्तार देकर एक नए भारत का निर्माण करें।

संदर्भ

1. तनसुखराम गुप्ता, उपाध्याय महाप्रस्थान और जीवन दर्शन, सूर्यभारती प्रकाशन, दिल्ली, 1992
2. दत्तोपंत ठेंगड़ी, एकात्म मानव दर्शन : एक अध्ययन, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, 1994
3. जे॰सी॰ अग्रवाल, विद्यालय प्रशासन, आर्य बुक डिपो, करौलबाग, नई दिल्ली, 1972
4. दत्तोपंत ठेंगड़ी, कम्युनिज्म अपनी ही कसौटी पर, भारतीय संस्कृति पुरुत्थान समिति, लखनऊ, 1991
5. परमानंद चंद्रशेखर, पं॰ दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, खंड-5 (राष्ट्र की अवधारणा), सुरुचि प्रकाशन, झंडेवालान, नई दिल्ली, 1991
6. दत्तोपंत ठेंगड़ी, अर्थ अनर्थ, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996
7. पुत्तीलाल यादव, युगपुरुष दीनदयाल, राष्ट्रभाषा प्रकाशन, कानपुर, 1993
8. महेशचंद्र शर्मा, दीनदयाल उपाध्याय : कृतित्व एवं विचार, वसुधा पब्लिकेशन प्रा॰लि॰, नई दिल्ली, 1994
9. शरद कुलकर्णी, पंडित दीनदयाल उपाध्याय विचार खंड-4, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987

sangoshthimala1994@gmail.com

केदारनाथ सिंह की कविताओं में व्यक्त भावबोध

श्रीमती शुभ्रा पांडेय, असिस्टेंट प्रोफेसर हिंदी
राजेंद्र मिश्र महाविद्यालय, सहरसा (बिहार)

विमर्श का शब्दकोशीय अर्थ होता है–विचार-विनिमय, किंतु समकालीन साहित्य में विमर्श कुछ अर्थों में रूढ़ हो चुका है। केदारनाथ सिंह रूढ़ अर्थों में विमर्शों के कवि नहीं हैं। उनके लिए मानव-जीवन अर्थ प्रकृति अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि मानवीय संवेदना बची है, मानवता बची है तो समकालीन विमर्शों की सत्ता-मीमांसा अपने-आप कमजोर पड़ जाती है। दलित विमर्श और स्त्री-विमर्श समकालीन विमर्श के सबसे महत्त्वपूर्ण बिंदु हैं, लेकिन इस संदर्भ में केदारनाथ सिंह ने कविताएँ उस तरह नहीं लिखी हैं, जिस तरह विमर्शकार लिखते हैं। उस तरह बात भी नहीं करते, जिस तरह विश्वास विमर्शकार करते हैं। संध्यासिंह ने लिखा है कि 'केदारनाथ सिंह की कविताओं में प्रकृति की छोटी से बड़ी आवाजाही जीवन से एकाकार संगीत की तरह सुनाई पड़ती है। देखा जाए तो उनकी कविताओं में प्रकृति की मौजूदगी साँस की तरह है–अदृश्य और अनायाश, पर अनवरत और अपरिहास। इन कविताओं की बुनावट में वनस्पतियाँ, जीव-जंतु, कीट-पतंग विषय की तरह नहीं, चरित्र की तरह आते हैं। कभी मधुमक्खियाँ नारे लगती हैं, चीटियाँ रोती हैं तो पानी प्रभु से प्रार्थना करता है। दरअसल, उनकी कविताओं को अलग-अलग साँचे में बाँधकर बात की ही नहीं जा सकती। बबूलों और अबाबीलों की बात कहकर कवि इतिहास, समाज, राजनीति और पर्यावरण की कई जटिल वास्तविकताओं को सहजता से हमारी संवेदना का हिस्सा बना लेता है। कवि के रूप में केदारनाथ सिंह की सफलता की यह एक महत्त्वपूर्ण वजह है।'[1] केदारनाथ सिंह के इन कविताओं को पढ़ते हुए बार-बार यह लगा कि नदी संबंधी कविताओं के साफ-साफ पानी की उपस्थिति यहाँ इतना अधिक है कि इनका भी अलग से संकलन तैयार करने की आवश्यकता है। कवि केदार के यहाँ पानी के इतने भिन्न रूप, भिन्न स्रोत, भिन्न स्वरूप मिलते हैं, इस पर अलग से भी विचार करने की जरूरत महसूस होती है। यह अकारण नहीं है कि टिटिहरी, फूलसुंघनी, चीटियाँ, कबूतर, नीलकंठ, अबाबील, केंचुआ, गौरया, बिच्छू, जलकुंभी, दीमक, चील, बया, गूलर, कीचड़, बड़, पाकड़, बालू, महुआ, बबूल जैसे कविताओं में दिखाई पड़ने वाले कविता के अस्थाई नागरिक कवि के यहाँ स्थाई नागरिकता हासिल करते हैं। कविता के परिवेश से सामान्यतः बाहर रहने वाले प्रकृति के ये घटक कवि केदार की कविता में पूरी ठसक के साथ मनुष्य से अभिन्न संवाद करते हुए दिखाई देते हैं। कहने की जरूरत नहीं है कि केदारनाथ सिंह मानव और मानवेतर प्राणियों की चिंता अपनी कविताओं में गंभीरता से करते हैं। इससे कवि के दृष्टि-विचार को समझने और ऐसे जरूरी संवेदनशील बिंदुओं को उजागर करने में कुछ सहायता अवश्य मिलेगी।

हमारा समय अत्यंत कठिन है–हर दृष्टि, जिसमें मानव स्वभाव की परख करना और भी कठिन है। कठिन समय समकालीन कविता के संदर्भ में बहुत अमूर्त या अपरिभाषित में ही रह गया है। अकारण नहीं कि समकालीन कविता की कठिनाइयों और चुनौतियों के बारे में सबसे पहले

सोचते हुए प्रसिद्ध जर्मन कवि ब्रेख्त याद आए, जिन्होंने बुरे दिनों के बारे में भी कविता लिखी और अक्सर अपने समय के चुनौती भरे रचनाकर्म को इस तरह किया कि कविता और रचना के बीच का तनाव पूरी तरह व्यक्त हुआ। केदारनाथ सिंह ने लिखा है–

कविताएँ/रात-रातभर करती हैं गुप्त मंत्रणाएँ
जहरा हवा चलती है-कहीं एक पत्ता पट से गिरता है जमीन पर।[2]

केदारनाथ सिंह ने इन पंक्तियों के माध्यम से एक बड़ी बात कहने का प्रयास किया है। हिंदी में अच्छी और महान कविता का द्वंद्व भी चला। रघुपति सहाय फिराक में एक निबंध लिखा था, जिसका शीर्षक है, महान कविता क्या है? केदारनाथ अग्रवाल ने मुक्तिबोध के संग्रह 'भूरि-भूरि खाक धूल' के संदर्भ में लिखा है कि मुक्तिबोध की कविता के अध्येता का काम इसलिए और भी कठिन हो जाता है कि कविताओं के रचनाकार का संकेत न तो पहले संग्रह में दिया गया था न तो दूसरे में। यदि कोई पाठक कविताओं के कालगत-संदर्भ को समझना भी चाहे तो फिर उसके सामने उनका मुद्रित पाठ ही एक मात्र आधार बच रहता। यह काम आगे के अध्ययेताओं को करना होगा और मेरा ख्याल है कि इसमें अन्य प्रमाणों के अलावा कविताओं में आने वाले प्रतीकों, बिंबों और अभिप्रायों की तुलना के आधार पर भी इस बात की पड़ताल की जा सकती है।[3] 'भूरी-भूरी खाक धूल' में कई छोटी कविताएँ भी हैं और दूसरी बातों को छोड़ भी दें तो यह एक ऐसी बात है, जिसमें यह संग्रह 'चाँद का मुँह टेड़ा' से अलग दिखाई पड़ता है। इनमें से कुछ सहज गीतात्मक प्रेम-कविताएँ भी हैं, जिनमें मुक्तिबोध के पुराने पाठकों को एक नए मुक्तिबोध से साक्षात्कार होगा। इस अर्थ में यह संग्रह मुक्तिबोध-काव्य में सर्वथा नए अध्यायों को खोलता है। मुक्तिबोध के काव्य संग्रह का उल्लेख इसलिए आवश्यक है कि कविता की जमीन को तोड़ने वाले मुक्तिबोध ने समकालीन विमर्शों पर कोई बात नहीं की। 1960 के बाद केदारनाथ सिंह की पीढ़ी के किसी भी रचनाकार ने सायास समकालीन विमर्शों से अपने को नहीं जोड़ा है। इसका कारण है कि वे अपनी रचनाओं में सारे विमर्शों को समेट लेने के प्रति आश्वस्त थे।

सच्चाई यह है कि बहुत से समकालीन रचनाकारों ने अपने अध्ययन औन अनुभव से जिस आधुनिकताबोध को अर्जित किया है, उसमें अपनी जड़ों से आई हुई स्मृतियाँ और अभिप्राय भी चुपचाप शामिल हो गए हैं। इससे अर्जित बोध एक स्थानीय प्रामाणिकता मिलती है, जहाँ रचना अपने पाँव टिकाकर खड़ी होती है। आज की ज्यादातर कविताएँ अपने स्थान से होकर अपने समय में प्रवेश करती हैं और थोड़ा प्रयास किया जाए तो उनमें एक आवर्तकालीन साँचा पहले से मौजूद है।

केदारनाथ सिंह कहते हैं कि बहैसियत एक रचनाकार के मेरे लिए आधुनिकता सबसे पहले मेरा अनुभव है। यह अनुभव बहुत से मानसिक प्रतिक्रियों, दृश्यों, उम्मीदों का मिला-जुला घोल है, जो कि असल में मेरी दुनिया है। मेरी आधुनिकता को एक बड़ा हिस्सा बेशक वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के गर्भ से पैदा हुआ है, परंतु मेरी विविष्ट स्थिति की विडंबना यह है कि मेरी आधुनिकता के स्वरूप को निर्धारित करने में वे वास्तविकताएँ भी एक खास तरह की भूमिका निभाती हैं जो आधुनिकता के सुपरिचित दायरे से लगभग बाहर हैं।[4] मेरी आधुनिकता की एक चिंता यह है कि उसमें लालमोहर कहाँ है? मेरी बस्ती के आखिरी छोर पर रहने वाले लालमोहर वह जीती-जागती संससई है, जिसके नीरंध्र अज्ञानता के आगे मुझे अपनी आधुनिकता कई बार विडंबनापूर्ण लगने लगती है।

तीसरा सप्तक के अपने वक्तव्य में केदारनाथ सिंह ने स्वीकार किया है कि प्रकृति बहुत शुरू से उनके भावों का आलम्बन रही है। अपने गीतों तथा अपने कविताओं द्वारा उन्होंने इस स्वीकृति के प्रमाण प्रस्तुत किए। उनकी भाषा में एक ताजगी है, लेकिन समकालीन विमर्शों को उन्होंने अपनी कविताओं के अंतर्वस्तु में समाहित कर लिया है। डॉ॰ विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने लिखा है कि केदारनाथ सिंह की कविताओं के शीर्षकों से भी उनकी अंतर्वस्तु का कुछ संकेत मिल जाता है। जमीन पक रही है, संग्रह की कविताओं में भूख, रोटी, नमक, दाना, कुल्हाड़ी, पतीली, चूल्हा, तवा, आलू, आटा, चक्की आदि शब्द एकाधिक बार आते हैं। इनमें चीखती चिड़िया, दाने के लिए भूखी चिड़िया, गट्ठर लादे चलता बैल, भूखा आदमी, लकड़ी चीरता आदमी, पिता की चाय के लिए नुक्कड़ की दुकान तक अकेला जाता बच्चा, टमाटर बेचेने वाली गुड़िया आदि के चित्र उभरते हैं। ये सभी के सभी शीर्षक किसी-न-किसी रूप में दलित विमर्श को संकेतित करते हैं। 'रोटी' शीर्षक कविता में रोटी को कवि ने दुनिया की सबसे आश्चर्यजनक चीज कहा है। हर बार जब वह उसे आग से निकलते देखता है, उसे लगता है कि उसने उसका शिकार किया है और हर बार से ज्यादा उसे स्वादिष्ट लगती है। पहले से ज्यादा गोल और खूबसूरत, पहले से ज्यादा सुर्ख और पकी हुई। यह रोटी के लिए आदमी के शाश्वत संघर्ष की अभिव्यक्ति है।[5] 'बढ़ई और चिड़िया' शीर्षक कविता में लकड़ी उस स्तर की प्रतीक हो जाती है, जिसमें चिड़िया का दाना गायब हो जाता है। यह ध्यान देने की बात है कि 'जमीन पक रही है' संग्रह की कविताओं में चिड़िया और माँ जैसी संज्ञाओं तथा चीखना और पकना जैसी क्रियाओं का अधिक प्रयोग हुआ है चिड़िया और माँ संज्ञा तथा चीखना क्रिया के द्वारा कवि ने आज की क्रूर यातनापूर्ण स्थितियों को जितनी तीव्रता से व्यक्त किया है, उतनी तीव्रता से शायद ही किसी दूसरी संज्ञा और क्रिया से व्यक्त कर पाता।

केदारनाथ सिंह ने बिंबों और प्रतीकों का जिस तरह प्रयोग किया है, उसे समझने के लिए किसी विशेष तैयारी की जरूरत नहीं पड़ती। उन्होंने लिखा है–

मैंने अपने समय के सबसे मजबूत आदमी को
अँधेरे से कूदकर
एक माचिस के अंदर जाते हुए देखा है
दुश्मन/कहीं दिखाई नहीं पड़ता
रेडियो उसके नाम का जिक्र कभी नहीं करता
नमक और पानी/सिर्फ दो शब्द मेरे पास हैं।
पर कितना अजीब है
कि सारी सुविधाओं के बावजूद
इस समय/ टेलीफोन के किसी भी नंबर पर
उससे संपर्क नहीं स्थापित किया जा सकता।[6]

केदार की कविता आज की वास्तविकता, व्यवस्था की क्रूरता, समझौता, चुप्पी, मामूली आदमी की पीड़ा और उसके संघर्ष को बड़े सांकेतिक ढंग से व्यक्त करती है। यह जमीन न केवल केदार के पहले की कविताओं से भिन्न है, बल्कि आज की कविता के मुहावरे से भी। आज की कविता में जो आक्रोश, विद्रोह और आक्रामकता है वह केदारनाथ सिंह की कविताओं में नहीं मिलेगी। उनकी कविताओं में चालू मुहावरों को जो दोहराव और सेक्स का जो गहरा काव्यानुशासन और संयत अमृत है, केदार की ताकत गोली की नहीं शब्द की ताकत है। वे शब्द और आदमी की

टक्कर से पैदा होने वाले धमाके को सुनना चाहते हैं।

केदारनाथ सिंह उद्घोष के कवि नहीं हैं, प्रेरणा के कवि हैं। केदार जी की कविता के एक तने से अनेक टहनियाँ फूटती हैं—और अपने में संपूर्ण एक घर था/ वह आदमी के घर का भूला हुआ पूर्वज/ सच यही है कि बाजार में मिलते नहीं घोसले/ वहाँ सिर्फ पिंजरे मिलते हैं, क्या राष्ट्रों की तरह/ अलग-अलग होता है, घोसलों का इतिहास भी।' अरुण कमल ने लिखा है कि ये सब एक ही कविता के अलग-अलग टुकड़े हैं, जो मूल अर्थ से घूमकर भी उसे ही पुष्ट करते हैं। यह कहना वैसे कम कहना होगा कि यह कविता किसी खास विषय पर है। शायद किसी भी श्रेष्ठ कविता के बारे में ऐसा कहना उचित नहीं होता। जैसे बुद्ध से ऐसी कविता जो अनेक कालों और अवधियों से एक साथ आती-जाती अपने समय की कठोर आलोचना भी है और बुद्ध के दर्शन पर शंका भी। नितांत निजी एवं निपट सार्वजनिक भी, आसक्त और विरक्त और सबके ऊपर एक गहरी करुणा, जो पाठक को रोमांचित कर देती है। कविता की थिर, गंभीर लय और कुछ शब्दों—भंते, फेरी, जेतबन, पूर्वा, भेड़ का दूध और ज्वार की रोटी, मृग दाल-महाभिषक, निर्वाण-से जाग्रत पुरातन स्मृतियों की बुनावट इसे विलक्षण बना देती है। अनेक कालों में आवाजाह त्रनिदाद में भी है और पांडुलिपियों में भी, और अब यहाँ सारा समय एक जगह इस तरह है/ कि आपको लगेगा जैसे ब्रह्मसूत्र/ पढ़ रहा है मुक्तिबोध को/ और शाकुंतल का हिरन/ कुछ कह रहा है पद्मावत के तोते से।[7] इस कविता की एक विशेषता यह भी है कि एक काल से दूसरे काल में, एक स्मृतिलोक से दूसरे आने जाने का सहज योग दिखाई देता है। छंद में लिखने का एक फल यह भी है कि आप कई कालों में एक साथ उपस्थित होते हैं। छंद में लिखने या न लिखने का निर्णय कई बार काल की हमारी चक्रीय या रेखिकीय अवधारणा पर भी निर्भर है।

केदार जी की कुछ कविताओं का अलग से भी जिक्र जरूरी है, जिसमें एक कविता तो है, शहर बदर और दूसरी नया गाँव की बस्ती। दोनों ही विलक्षण अनुभवों की कविताएँ हैं। एक में यदि उस छोटे शहर का महाजीवन है तो दूसरे में एक छोटे से आदमी का बड़प्पन। अरुण कमल ने लिखा है कि अब यह एक खास बात है। शमशेर जी ने कहीं कहा है कि ऐनक कहने से आकार के घुमाव का जो एहसास होता है, वह चश्मा कहने में नहीं। तो कोई शब्द, कोई ध्वनि कैसे इतना चित्रमय हो जाती है, कैसे वह कई रूपाकारों और बिंबों को जाग्रत कर देती है, यह केदार जी के इस संग्रह से भी जाना जा सकता है। टालस्टाय और साइकिल भी इसी तरह की एक अनूठी कविता है, जहाँ साइकिल चलाना सीखते तटालस्टाय के गिर पड़ने का जिक्र है। एक मामूली-सा प्रसंग जो केदार जी के हाथों पड़कर मनुष्यता के संपूर्ण विकास का मनोरंजक आख्यान बन जाता है, साथ ही इस बात का दृष्टांत भी कि महानता हमेशा बेध्य भी होती है, कहीं पर बेहद विवश और भंगुर। मसलन बच्चे का यह कहना कि बापू यह शब्द/ दो अक्षरों से मिलकर बना है, पर पूह हमें ज्यादा आनंद देता है, पता नहीं क्यों। महानता और उसकी गरिष्ठता को आत्मीय तथा सुपाक्ष्य बना देता है। केदार जी के यहाँ अब भोलापन भी अनुभव-जनित है।[8] जब कविता परंपरा का अनुगमन करती है, मानव-स्वभाव को दर्ज करती है, लगभग एक स्वरता के निकट पहुँचने लगती है, तब अचानक कोई एक कवि ऐसा उभरता है, जो झटके से एक स्वरता की लय को नया मोड़ देता है—कविता के शिथिल और बासी पड़ते शिल्प व कथ्य को नई कलफ लगाकर परिमार्जित करता है। हिंदी कविता के विराट भवन में केदारनाथ सिंह के पदार्पण से कविता में एक नया मोड़ आया—वह मोड़, वह विशिष्टता आज भी उनके नए संग्रह टालस्टाय और साइकिल तक अपने अनूठेपन के साथ

कायम है। कविता में शिवत्व क्या कवि की इस आकांक्षा में शामिल नहीं है, जब वह कहता है, भरने दो अपने शब्दों में सारे शहरों की खाक धूल-इस यात्रा में वापसी नहीं बस चलना है।

केदारनाथ सिंह का 'टालस्टाय और साइकिल' संग्रह अनेक स्थानों-समयों में जिस वृहतर कविता-समय का संधान करता है, उसमें जहाँ एक ओर कविता कला के समस्त उपादानों की सन्निध नजर आती है, वहीं तमाम सांस्कृतिक संकटों-झंझावातों, आपदाओं को सहकर भी अपने अस्तित्व को बार-बार बचा लेने वाली मनुष्यता की कौंध भी, जिसे केदार जी शुरू से ही अपनी कविता और निबंधों की ताकत के रूप में सहेजते आए हैं। ओम निश्चल ने लिखा है कि केदारनाथ सिंह वैविध्य और विलक्षणता से भरे हिंदी कविता के एक ऐसे उदारहण हैं, जिनकी भाषा में दूब की सी हरितिमा है, और वृहता का एक ऐसा आस्वादन तत्त्व है, जिसके सान्निध्य से वह स्फटिक गरिमा प्राप्त करती है। जिसकी चर्चा केदार जी ने अपनी कविता में की है। कविता के तमाम गुजरे आंदोलनों के बीच केदारनाथ सिंह की उपस्थिति एक ऐसे कवि के रूप में रही है, जो कभी आंदोलनों अथवा वैचारिक प्रतिश्रुतियों से जुड़कर सतही लोकप्रियता जुटाने का हामी नहीं रहा। यही वजह है कि अपने समकालीनों के मध्य कविता की एक अलग किस्म इजात करने वाले केदारनाथ सिंह के यहाँ कथ्य की अलग भंगिमा, ध्वनियों, बिंबों और प्रतीकों के नए प्रयोग भी कविता का अलंकरण बन जाते हैं। कविता उनके लिए सदैव उम्मीदों का एक कोना बचाए रखती है। वे कहते हैं कि मौसम चाहे जितना खराब हो/उम्मीद नहीं छोड़ती कविताएँ।[9] एक जमाने में गीतों की लालित्यपूर्ण रेखा खींचने वाले केदार जी की कविता ने अभी बिल्कुल अभी से एक नया रुख अख्तियार किया। उनके गीतों में जैसे लयात्मकता के नए कल्ले फूटते दिखाई देते थे, कविता भी कथ्य और कलात्मकता का नाजुक संतुलन बुनती है, किंतु जमीन पक रही है, कविता के इलाके में एक सर्वथा नया मोड़ था, जिसने न केवल केदार जी के कविता के विन्यास को एकाएक बदल दिया, बल्कि हिंदी कविता के लिए भी यह एक अचिन्हा स्वाद था।

केदार जी की जमीन गाँव की है। वे गाँव से अपने संबंध को कभी खत्म नहीं करते। अपनी आधुनिकता के खाँचे और साँचे में कविता को ढालते हुए भी एक जीवनमूल्य के रूप में आविष्कृत करते हैं। 'जमीन पक रही है' आधुनिकताबोध से संपन्न कविताओं का एक ऐसा विस्फोट था, जो उन्हें न केवल उनके तबतक के अर्जित मुहावरे से अलग करता था, बल्कि अपने समकालीनों से भी। रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और कैलाश वाजपेयी के प्रभावों से भी वे अछूते रहे और अकविता के अवसाद से भी, जिसका शुरुआती प्रभाव श्रीकांत वर्मा और जगूड़ी पर पड़ा तथा चंद्रकांत देवताले काफी दिनों तक उसके प्रभामंडल से बँधे रहे। ओम निश्चल ने लिखा है कि यह वह समय था जब केदार जी कह रहे थे मैं भरी सड़क पर सुनना चाहता हूँ व धमाका/ जो शब्द और आदमी की अक्क्र से पैदा होता है। केदार की कविता में कंटेंट से भी ज्यादा कविता का फार्म निर्मित करने की विकलता और व्यग्रता थी। उनकी संवेदना वर्तमान को भी इतिहास की धूल में सने अतीत के आइने में देखती है, तभी वह काम पर गए लोगों की तरफ से और यहाँ तक कि उस चींटी की तरफ से भी बोलती है, जो नागासाकी में अकेली बच गई थी। केदार जी की कविता का कोई निश्चित व्याकरण नहीं है। वह नैरेटिव में भी घटित होती है और आख्यान में भी। वह बोलचाल के गद्य में भी संबोधित करती है और एकालाप के छंद में भी।[10]

उनकी कविता किसी को अपनी पूरी कद-काठी में देशज लगती है तो किसी को उसमें गाँव को नए ढंग से देखने की कोशिश मिलती है। कविता के शिल्प में ज्यादा गुंजाइश न होते हुए भी

उनकी अनेक कविताओं में बनारस, पड़रौना, कुशीनगर और दिल्ली तक की यात्रा के पड़ावों का सूक्ष्म ब्यौरा मिल सकता है।

संदर्भ

1. संध्या सिंह, पानी की प्रार्थना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2020, पृ॰ 7
2. केदारनाथ सिंह, उमस, पृ॰ 81
3. परमानंद श्रीवास्तव, एडिशन: समकालीन हिंदी आलोचना केदारनाथ सिंह, कालबद्ध और पदार्थमय, साहित्य अकादमी, पृ॰ 243
4. परमानंद श्रीवास्तव, एडिशन: समकालीन हिंदी आलोचना केदारनाथ सिंह हिंदी आधुनिकता का अर्थ साहित्य अकादमी, पृ॰ 256
5. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, समकालीन हिंदी कविता, लोकभारती प्रकाशन, 2010, पृ॰ 218
6. केदारनाथ सिंह, जमीन पक रही है, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2014, पृ॰ 72
7. अरुण कमल, आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, अक्टूबर, 2004, पृ॰ 207
8. वही, पृ॰ 210
9. ओम निश्चल, आलोचना, प्रभात प्रकाशन, अक्टूबर 2004, पृ॰ 213
10. वही, पृ॰ 214

Mob. 9752802565
anooppandeyias@gmail.com

ISSN 0975-735X

कालगणना में सृष्टि रचना का महत्त्व

डॉ॰ सोनिया, सहायक आचार्य, संस्कृत संकाय
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

ज्योतिषशास्त्र के अनुसार सृष्टि का मूल कालतत्त्व ही है। काल के कारण ही सृष्टि अस्तित्व में आती है और फिर विलीन हो जाती है। काल ही समस्त ब्रह्मांड पर शासन करता है। काल को निर्देशित करने वाले देवता सौरमंडल के ग्रह हैं। ग्रहादि पदार्थों का मूल्यांकन काल की सीमाओं में ही किया जाता है। ज्योतिष के प्राचीनतम सिद्धांत ग्रंथ सूर्यसिद्धांत[1] में काल के दो भेद बताए गए हैं–अंतकृत् तथा कलनात्मक। प्रथम प्रकार यानी अंतकृत् सृष्टि तथा प्रलय का कारक है और कलनात्मक काल हमारे दैनिक जीवन की घटनाओं की गणनाओं में उपयोगी है। काल का प्रथम प्रकार अनंत तथा अनादि होने के कारण जाना नहीं जा सकता। इसे ही हम मृत्यु भी कहते हैं। यह सृष्टि की रचना तथा प्रलय दोनों ही अवस्था में बना रहता है। काल के दूसरे प्रकार के भी दो भेद हैं–मूर्त तथा अमूर्त। कलनात्मक काल के केवल मूर्त प्रकार को ही हम जान सकते हैं। अमूर्त काल अत्यधिक सूक्ष्म है और उसकी गणना भी हमारे लिए संभव नहीं है। व्याकरण में काल शब्द की व्युत्पत्ति प्राप्त होती है। इसमें कलयति तथा कालयति दो धातुओं का प्रयोग प्राप्त होता है। पाणिनी व्याकरण के अनुसार काल शब्द 'कल' धातु से बना है जो गति का बोधक है। 'कल गतौ संख्याने', 'कल क्षेपे', 'कल आस्वादने' तथा 'कल शब्दसंख्यानयोः', इन सभी धातुओं में 'घञ्' प्रत्यय करने से बनता है। इस प्रकार काल की परिभाषा बनी–कलयति सर्वं इति कालः। यास्काचार्य के अनुसार काल समस्त पदार्थों को गति प्रदान करता है और कालयति अर्थात् संहार करता है।[2] इस प्रकार कह सकते हैं कि जिससे सब कलित होते हैं या फिर जो सबको कलित करता है, वह काल है। सामान्य भाषा में कहें तो जिससे सब उत्पन्न हों, जिसमें सभी समाप्त हो जाएँ, जिसके द्वारा सबकी गणना की जाए, जिससे क्रम की व्यवस्था बने, वह काल है।

काल की अवधारणा को समझने में समस्या यह आती है कि काल मौलिक स्वरूप में केवल मापन-विधि पर आधारित नहीं है, जिसे सटीकता के साथ मापा जा सके। संभवतः पूर्ण जानकारी हमें आज तक प्राप्त न हो सकी है। क्योंकि न तो सूर्योदय को हम काल मान सकते हैं, न सूर्यास्त को, न वर्ष को, न निमिष या पल को। हम अपनी-अपनी कल्पनाओं के अनुसार निमिष से लेकर परार्ध तक को काल की संज्ञा देते हैं किंतु क्या हम इन्हें 'काल' कह सकते हैं? हम जानते हैं कि ये सारे परिवर्तन प्रकृति के विभिन्न अवयवों के संयोग-वियोग पर आधारित परिणाममात्र हैं। जबकि काल में दर्शन की भूमिका आ जाती है। आधुनिक साइंस के जन्म से पहले भी कालगणना में विज्ञान की अपेक्षा दर्शन की भूमिका होती थी। न्यायदर्शन के अनुसार 'काल' भी एक द्रव्य है। दिशा को भी द्रव्य के अंतर्गत ही यहाँ स्थान दिया गया है। 'काल' और 'दिशा' दोनों के संबंध आपेक्षिक सामीप्य एवं आपेक्षिक दूरी से हैं। हम कह सकते हैं कि दिशागत आपेक्षित समीपता व दूरी का आधार भौगोलिक या भौतिक होता है। कालगत आपेक्षित समीपता व दूरी का आधार

ऐतिहासिक या अवस्थागत होता है। कोई व्यक्ति दिशा की दृष्टि से हमारे समीप या दूर हो सकता है किंतु दिशागत सामीप्य या दिशागत दूरी के आधार पर हम कालगत सामीप्य या दूरी का निर्धारण नहीं कर सकते।

काल का निरूपण तथा गणना केवल साइंस यानी विज्ञान का विषय नहीं है। इसमें दर्शन की अनिवार्य भूमिका होती है। काल गणना की भारतीय विधियों तथा वर्तमान में प्रचलित यूरोपीय विधियों में अंतर का मूल कारण है, सृष्टि रचना-संबंधी वर्तमान में प्रचलित अवधारणाओं तथा वैदिक अवधारणाओं में भिन्नता का होना। काल की उत्पत्ति सृष्टि की उत्पत्ति से जुड़ी है। स्वाभाविक सी बात है कि सृष्टि रचना के विज्ञान को समझने से ही कालगणना को समझना संभव होगा। सृष्टि की उत्पत्ति से काल की उत्पत्ति होती है और उसके संहार से काल की समाप्ति। इस प्रकार काल सृष्टि की गति यानी यात्रा को चिह्नित करता है। इसलिए काल की अवधारणा को समझना हो तो हमें सृष्टि की अवधारणा को भी समझना होगा। आज काल की विभिन्न अवधारणाएँ इसलिए ही प्रचलित हैं, क्योंकि सृष्टि के बारे में कई प्रकार के मत प्रचलित हैं।

भारतीय अवधारणा में काल को ब्रह्म भी कहा है। महाकाल को ही सृष्टि का निर्माता भी कहा है। इस प्रकार सृष्टि और काल परस्पर संबद्ध हैं। काल की गणना का प्रारंभ सृष्टि के रचना से किया जाता है, परंतु यह गणना करता मानव ही है। इसलिए मानवोत्पत्ति के बाद ही यह कालगणना विधिवत् प्रारंभ होती है। मानवोत्पत्ति से पूर्व की कालगणना भारतीय विधा में ईश्वरीय ज्ञान वेद के आश्रय मानी गई है। उसके आधार पर ऋषियों द्वारा गणना की जाती है। आधुनिक पश्चिमी विज्ञान उसे अमान्य कर अपने अनुमान लगाता है। अंतरिक्ष में स्थित विभिन्न उपकरणों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर की गई कल्पनाओं के आधार पर सृष्टि की कालगणना की जाती है।

इन दोनों ही प्रकार की कालगणनाओं में एक बात स्पष्ट है कि ब्रह्मांड की कालगणना करने में सृष्टि की रचना कैसे हुई, यह बात महत्त्वपूर्ण है। काल को ले कर वस्तुतः दो प्रमुख अवधारणाएँ बताई गई हैं। पहली अवधारणा काल को ब्रह्मांड की घटनाओं के संयोग से उत्पन्न एक प्रभाव मानती है दूसरी अवधारणा काल को सृष्टि रचनाक्रम में निर्मित एक पदार्थ मानती है। भारतीय और पश्चिमी दोनों ही अवधारणाएँ सृष्टि के मूल तत्त्वों को पहचानने का प्रयास करती हैं। सृष्टि के मूल तत्त्वों की उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया ही समस्त कालगणनाओं का मूल है।

वेदों के आधार पर समस्त भारतीय अवधारणाओं में ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना किया गया माना जाता है। उपनिषदों[3] में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ईश्वर की इच्छा या संकल्प ने प्रजा यानी सृष्टि की उत्पत्ति हुई। यह सिद्धांत इतना मान्य है कि ब्रह्मसूत्रों में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए सृष्टि की रचना होने को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वहाँ कहा है– 'जन्मायदस्य यतः' यानी जिससे यह सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती है। ब्रह्म की इस वाक् (वेद) को हर कोई देखता और सुनता है, परंतु कोई विरला योगी ही इसे पढ़ने, सुनने और समझने में समर्थ है। इसीलिए ऋग्वेद[4] में कहा गया है कि कुछ लोग हैं कि वे ब्रह्म की वाक् की उद्भावना रूप जगत को देखते हुए भी नहीं समझ पाते। अन्य लोग भी श्रव्य-कणिकाओं (श्रुति) के रूप में विद्यमान ईश्वर के श्रव्य-काव्य वेद रूप (जगत) को सुनते हुए भी इसे समझ नहीं पाते हैं। यह सृष्टि कुछ पात्र लोगों के समक्ष ही अपने रहस्य का उद्घाटन करती है, जैसे की पत्नी अपने पति के समक्ष ही अपने रूप को उद्घाटित करती है।

ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना किए जाने के सिद्धांत को मानने के कारण भारतीय अवधारणा

में सृष्टि के मूल तत्त्वों को पहचानना सरल हो जाता है। इतना ही नहीं, ईश्वर की उपस्थिति के कारण सृष्टि के रचना की निरंतरता को समझना और समझाना भी सरल हो जाता है। जैसा कि ऋग्वेद के अघमर्षण सूक्त में कहा गया है कि जैसे ईश्वर ने पूर्व में रचना की थी, उसी प्रकार इस बार भी अथवा हर बार सूर्य, चंद्र, पृथिवी, अंतरिक्ष तथा उसके अन्यान्य पिंडों की रचना की है अथवा करता है।[5] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि की रचना कोई पहली बार नहीं हो रही है और न ही अंतिम बार हो रही है। यह पहले भी हो चुकी है और आगे भी फिर होगी। यह प्रक्रिया बारंबार होती है। हरेक प्रलय के बाद होती है। प्रलय और सृष्टि में एक निश्चित अंतराल होता है, जिसे भारतीय शास्त्रों में रात्रि से संबोधित किया गया है। जो ब्रह्म की रात्रि है, वही प्रलय के बाद का अंतराल है। इस रात्रि के काल में प्रकृति अपनी मूलावस्था तथा साम्यावस्था में स्थित होती है। जीव सुषुप्तावस्था में होते हैं। केवल ईश्वर चेतन और सक्रिय होता है। इसे ही नासदीय सूक्त[6] में कुछ इन शब्दों में कहा गया है कि सृष्टि के निर्माण से पूर्व न तो सत् था, न असत् और न ही रजकण तथा व्योम था। यानी सब कुछ एकसार था, उसमें अवकाश नहीं था, न ही उसमें कोई विकृति थी जो सत् असत् के रूप में प्रकट होती। विकृति से अभिप्राय आज की शब्दावली में बिगाड़ से नहीं है, बल्कि परिवर्तित होने की सामर्थ्य से है। प्रकृति अचलावस्था में थी, इसलिए उसमें कोई परिवर्तन संभव नहीं था। एकमात्र ईश्वर की चैतन्य शक्ति स्वधा के रूप में उपस्थित थी।

भारतीय सृष्टि विज्ञान में जड़ के निर्माण का अर्थ मूल कणों का निर्माण नहीं होता। भारतीय सृष्टि विज्ञान मानता है कि मूल कण कभी भी नष्ट नहीं होते। इसलिए वैदिक ऋषि सृजन को विकार एवं विघटन को प्राकृत अवस्था कहता है। इसी रहस्य से पर्दा उठाते हुए महाभाष्यकार पतंजलि[7] कहते हैं–प्रवृत्ति (परिवर्तन) नित्य होता रहता है। कोई भी अपने स्वरूप में क्षण मात्र भी स्थिर नहीं रहता, जब तक बढ़ना चाहिए तब तक बढ़ता है, फिर अपाय (विघटन) से युक्त हो जाता है। यह नियम सर्वत्र लागू होता है। देखा जाए तो आधुनिक विज्ञान को भी यह स्वीकार करना पड़ता है। आखिर बिगबैंग जिसमें हुआ, वे तो सृष्टि की रचना से पूर्व से ही विद्यमान थे ही। वे तत्त्व कहाँ से आए तथा उनका निर्माण कैसे हुआ, यह तो आधुनिक विज्ञान बता नहीं पा रहा। भारतीय विज्ञान उन्हें मूल प्रकृति मानता है और उसे अनादि अनंत मानता है। इस संबंध में वेदों के नासदीय सूक्त में वर्णित विज्ञान की व्याख्या करते हुए श्वेताश्वतर ऋषि[8] कहते हैं कि तीन अक्षर ब्रह्म हैं जो सुप्रतिष्ठित हैं। इनको ब्रह्म रूप में जो जान लेता है, वह ब्रह्म में लीन होकर मुक्त हो जाता है। ऐसी एक अज (अजन्मा) है जो श्वेत-कृष्ण एवं लोहितवर्णा है, जो निरंतर अनेकरूपा प्रजाओं की सृष्टि करती जा रही है और उसका एक अज (पुरुष) उसके साथ प्रेम में साहचर्य सुखभोग करता है; जब कि दूसरा अज (पुरुष) समस्त सुखों के भोग को त्याग देता है। इस बात को ही ऋग्वेद में 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया...' कहकर तीन अनादि, अनंतों की चर्चा करता है। सृष्टि-निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन शतपथ ब्राह्मण[9] में विस्तार से इस प्रकार किया गया है–'त्रिगुणात्मक प्रकृति (आपः) पहले साम्यावस्था में थी। सृष्टि रचना का समय आने पर प्रकृति ने सृष्टि क्रम को प्रारंभ किया। सृष्टि क्रम का प्रारंभ साम्यावस्था के भंग होने से श्रम (रजोगुण के उदय अर्थात् गति के प्रारंभ) से हुआ। श्रम के कारण तप आरंभ हुआ अर्थात् रजोगुण (गति) के संयोग से सत्त्व (प्रकाश/विकिरण) और स्थिति या जड़ता के स्वरूप वाला तमोगुण भी सक्रिय हो उठे। इसी क्रम में 24 तत्त्वों की उत्पत्ति के बाद ऊर्जा का एक पिंड उत्पन्न हुआ जिसे स्वायंभुव मंडल कहा गया, वही स्वायंभुव ब्रह्मा नाम से ब्रह्मांड की उत्पत्ति का कारण बना'।

वैदिक सिद्धांत के अनुसार ईश्वर, आत्मा, प्रकृति, काल, दिक् एवं आकाश यह नित्य पदार्थ हैं। इनका कभी विनाश नहीं होता। ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण है, प्रकृति सृष्टि का उपादान कारण है तथा आत्मा, काल, दिक् एवं आकाश ये सब साधारण कारण हैं। नित्य पदार्थ का काल से संबंध नहीं रहता; किंतु जितने भी अनित्य पदार्थ हैं उन सबका संबंध काल से रहता है। जितने अनित्य पदार्थ हैं, वे उत्पत्तिमान् कार्य हैं अर्थात् उत्पन्न होते हैं, रहते हैं और नष्ट होते हैं। और कार्य बिना काल के संपादित नहीं हो सकता। अतएव काल को अनित्य पदार्थों का कारण कह सकते हैं।

वैदिक मतानुसार प्रकृति के स्वरूप और संरचना को जानना आवश्यक है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है।[10] अर्थात् प्रकृति सत्त्व, रजस् एवं तमोगुण वाली है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि सत्त्व, रजस् एवं तमोगुण कि साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है। साम्यवस्था से अभिप्राय है–नाजुक संतुलन। प्रकृति के इन तीन तत्त्वों सत्व रजस और तमस गुणों की भौतिक स्वरूप को योग एवं साँख्य दर्शन में संक्षेप में वर्णित किया है। महर्षि पतंजलि योग दर्शन[11] में इन तीनों गुणों के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि जीवों के भोग और अपवर्ग के लिए बना हुआ यह पंचभूतात्मक एवं इंद्रियात्मक भौतिक जगत् प्रकाशात्मक (Radiation) सत्त्व गुण, गत्यात्मक (Motion) रजोगुण एवं स्थित्यात्मक (Inertia) तमोगुण से बना हुआ है।

इसी प्रकार सांख्य दर्शन में सत्व गुण को प्रित्यात्मक (रागात्मक) अर्थात् दूसरे की ओर आकृष्ट होने वाला; रजोगुण को अप्रीत्यात्मक (विरागात्मक) अर्थात् दूसरे से अपकर्षित होने वाला (दूर हटने वाला); एवं तमोगुण को विषादात्मक अथवा तटस्थ स्वरूप वाला कहा है।

इन तीनों गुणों के उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर हम प्रकृति तत्त्व के मूल स्वरूप को समझ सकते हैं। प्रकृति तत्त्व नित्य है। उसमें प्रकाश, गति, स्थिति, क्रियाशीलता, भार, भारहीनता, राग रागात्मकता (आकर्षित होना), विरागात्मकता (अपकर्षित होना) तथा विषादत्मकता अथवा तटस्थता आदि धर्म हैं। इसका अर्थ है की प्रकृति में जहाँ ये गुण या धर्म विद्यमान हैं, वहीं इन गुणों या धर्मों को धारण करने वाले गुणी या धर्मी अर्थात् द्रव्य भी विद्यमान हैं, जिनसे मिलकर प्रकृति का स्वरूप बनता है। प्राकृत अवस्था (प्रलय अवस्था) में यह गुणधर्म संतुलन बनाकर विद्यमान रहते हैं। इस नाजुक संतुलन को वैदिक ऋषि साम्यावस्था (Symmetry) कहते हैं। साम्यावस्था में सृजन संभव नहीं। सृजन के लिए साम्यावस्था का टूटना आवश्यक है। यह साम्यावस्था ईश्वर की इच्छा शक्ति (ऋत के सिद्दांत) से टूटती है। जब वह सृष्टि रचना की इच्छा करता है तो उसके साथ संयुक्त प्रकृति में क्षोभ (Agitation) उत्पन्न होता है जिससे प्रकाशात्मक सत्त्व गुण, गत्यात्मक रजोगुण एवं स्थित्यात्मक तमोगुण का संतुलन बिगड़ जाता है और रजोगुण गतिमान् होकर और सत्त्व और तमोगुण से मिलकर दृश्य जगत् की उत्पत्ति में हेतु बनता है।

उपर्युक्त विवरण से हमें यह स्पष्ट होता है कि कालगणना का सृष्टि रचना के विज्ञान से बहुत ही घना संबंध है। बिना सृष्टि रचना के विज्ञान को समझे हम उसकी कालगणना को नहीं समझ सकते। इसलिए इतिहास की कालगणना में भी सृष्टि की रचना के इतिहास को अनिवार्य रूप से शामिल करना पड़ता है। जैसा हम ऊपर देख आए हैं, चूँकि सृष्टि का इतिहास विज्ञान से अधिक दर्शन का विषय है, इसलिए प्रत्यक्ष अवलोकनों पर अत्यधिक विश्वास करने वाला आधुनिक विज्ञान उसके रहस्यों को ठीक से समझ नहीं पा रहा है।

संदर्भ

1. लोकानामन्तकृत् कालः कालोन्यः कलनात्मकः।

सद्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वात् मूर्तश्चामूर्त उच्यते।। सू. सि. 1/10

2. कालः कालयतेर्गति इति कर्म्मणः
3. 'सोकामयत्बहुस्यांप्रजायेयेति' (तैत्तिरियोपनिषद्शिक्षावल्ली),
   या फिर 'तदैक्षत्बहुस्यांप्रजायेयेति' (छांदोग्योपनिषद्6/2/1)
4. उतत्त्वःपश्यन्ददर्शवाचमुतत्त्वःशृण्वन्नशृणोत्येनाम।
   उतोत्वस्मैतन्वंविसस्रेजायेवपत्यउशतीसुवासा।। (10.71.4)
5. सूर्याचंद्रमसौधातायथापूर्वमकल्पयत्, दिवंचपृथिवींचान्तरिक्षमथोस्वः।
6. नासदासीन्नोसदासीत्तदानींनासीद्रजोनोव्योमापरोयत्।
   किमावरीवः कुहकस्यशर्मन्नम्भःकिमासीद्गहनंगभीरम्।1
   नमृत्युरासीदमृतंनतर्हिनरात्र्याअह्नआसीत्प्रकेतः।
   आनीदवातंस्वधयातदेकंतस्माद्धान्यन्नपरःकिंचनास।।2
7. प्रवृत्तिःखल्वपिनित्या।नहीहकश्चिदपिस्वस्मिन्नात्मनिमुहुर्तमपिअवतिष्ठते, वर्द्धतेवा, यावदनेन वर्द्धितव्यम् अपायेनवायुज्यते। तच्चोभयंसर्वत्र। (4.1.1.3)
8. उद्गीतमेतत्परमंतुब्रह्मतस्मिंस्त्रयंसुप्रतिष्ठाऽक्षरंच।
   अत्रान्तरंब्रह्मविदोविदित्वालीनाब्रह्मणितत्परायोनिमुक्ताः। श्वेताश्वतरोपनिषद्, 1/7
   अजामेकांलोहितशुक्लकृष्णांबह्वीःप्रजाःसृजमानांसरूपाः।
   अजोह्येकोजुषमाणोऽनुशेतेजहात्येनांभुक्तभोगामजोऽन्यः। श्वेताश्वतरोपनिषद्, 4/5
9. आपोहवाइदमग्रेसलिलमेवास। ताअकामयन्त। कथंनुप्रजायेमहिइतिंता अश्राम्यन्।
   तास्तपोऽतप्यन्त। तासुतपस्तप्यमानासुहिरण्यमाण्डंसम्बभूव। तदिदं....यावत्संवत्सरस्यवेलातावत्पर्यप्लवत्।
   ततःसंवत्सरेपुरुषःसमभवत्। सप्रजापतिः। (11.1.6.1-2)
10. सत्त्वरजस्तमसांसाम्यावस्थाप्रकृतिः। (सांख्यसूत्र, 1.61)
11. प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकंभोगापवर्गार्थंदृश्यम्। (2.18)

Room No-34, Block- F,
School of Humanities,
IGNOU, Maidan Garhi, Delhi-110068
Mob. 9718371370
soniya85@ignou.ac.in

डॉ॰ दामोदर खड़से के उपन्यास 'बादल राग' में नारी-संघर्ष

स्वाति पाल, शोधार्थी, हिंदी
डॉ॰ शशिकला सालुंखे, शोध निर्देशिका
के॰टी॰एच॰एम॰ महाविद्यालय, नाशिक
सावित्री बाई फुले विश्वविद्यालय, पुणे

नारी-संघर्ष का साहित्यिक दस्तावेज साहित्य है। नारी को अपने अधिकारों के बारे में सचेत बनाकर सशक्त कराने में साहित्य की अहम भूमिका है। साहित्य के माध्यम से ही नारी अपने अधिकारों को जानने में सफल हो रही है और अपने पैरों में पड़ी बेड़ी को तोड़कर अपने जीवन को स्वतंत्र रूप से जीने की ओर अग्रसर है। नारी मुक्ति के लिए प्रयासों में खास भूमिका विभिन्न रचनाकारों की हैं। समकालीन हिंदी कवि अनामिका, कात्यायनी, नीलेश रघुवंशी, रेणु यादव, निर्मला पुतुल, मंजूश्री वात्स्यायन, सुशीला टाकभौर, मालती जोशी, दीप्ति खंडेलवाल, मन्नू भंडारी आदि ने अपने साहित्य द्वारा नारी को अपने अधिकारों के बारे में आवाज उठाने के लिए जाग्रत किया है। रमणिका गुप्ता के अनुसार आज स्त्री सजग है। वे कहती हैं–एक साझी व्याख्या तो स्त्री की समझ में आ गई है कि पुरुष ने उसके मन को गुलाम बनाने से पहले उसे परिवार, विवाह, संतान और समाज की लक्ष्मण रेखाओं के बाड़े में कैद करके उसके शरीर को गुलाम बनाया और उसे सभी अधिकारों से वंचित किया।'[1]

डॉ॰ दामोदर खड़से जी का जन्म 11नवंबर 1948 को गाँव सरगुजा छत्तीसगढ़ में हुआ था। डॉ॰ खड़से जी ने हिंदी में कविता, कहानी, उपन्यास, यात्रा व भेटवार्ताएँ तथा अनुवाद आदि साहित्य की रचना की है। खड़से जी की 'भटकते कोलबंस', 'पार्टनर', 'आखिर वह एक नदी थी', 'जन्मांतर गाथा', 'इस जंगल में', 'गौरैया को गुस्सा नहीं आता', 'यादगारी कहानियाँ', 'संपूर्ण कहानियाँ' संग्रहों में नारी, बच्चे, छात्र और मजदूर आदि के जीवन को विषय बनाया है। लेखक जी की कहानियाँ मानवीय रिश्तों और संबंधों के ठंडेपन के विरुद्ध एक चीख हैं। ये कहानियाँ स्थापित आदर्शों को झटकारती हैं और परिवर्तित हो रहे यथार्थ को टटोलती हैं। आदर्श और यथार्थ का वर्तमान अंत:संबंध और अंत:विरोध खड़से जी की कहानियाँ की खास पहचान हैं।

बादल राग, काला सूरज, भगदड़ जैसे उपन्यासों में खड़से जी ने समय और समाज को प्रभावित करने वाले विषयों को केंद्र में रखकर दर्शाया है। राजनीति में भ्रष्टाचार, राजनीति का अपराधीकरण, उद्योगपतियों-पूँजीपतियों कअ मायाजाल, व्यक्ति का प्रेम, वासना, दमित इच्छाएँ, स्त्री-पुरुष संबंध, स्त्री का संघर्ष, मध्यमवर्गीय मानसिकताएँ, निम्न-मध्यमवर्गीय स्थितियाँ, टूटते परिवार आदि का सूक्ष्म वर्णन करते हुए पाठकों को विचार करने के लिए बाध्य किया है।

'अब वहाँ घोसले हैं', 'जीना चाहता है मेरा समय', 'सन्नाटे में रोशनी', 'तुम लिखो कविता', 'अतीत नहीं होती नदी' आदि काव्य-संग्रह के माध्यम से लेखक ने भारतीय समाज का चारित्रिक पतन, नदी, वनस्पतियाँ, चाँद, सूरज, नदी, मंदिर, समुद्र, पहाड़, झरने, फूल आदि

 ISSN 0975-735X

प्राकृतिक बिंबों को जीवंतता से प्रस्तुत किया है।

'जीवित सपनों का यात्री', 'एक सागर और', 'संवादों के बीच' जैसे यात्रा व भेंट वार्ताओं के माध्यम से स्वयं के जीवन अनुभवों को उजागर किया है। डॉ॰ दामोदर खड़से जी ने मराठी के कई वरिष्ठ साहित्यकारों की पंद्रह से अधिक प्रसिद्ध कृतियों का हिंदी में अनुवाद भी किया है। डॉ॰ खड़से को कई सम्मान भी प्राप्त हुए हैं। महामहिम राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभादेवी पाटिल द्वारा केंद्रीय हिंदी संस्थान के 'गंगाशरण सिंह पुरस्कार 2012' से भी सम्मानित हुए हैं।

प्राचीनकाल में नारी की पहचान केवल चूल्हा-चौका और घर की चारदीवारी के भीतर तक सीमित थी। समय के साथ परिस्थितियाँ बदलीं और नारी संघर्ष के द्वारा पुरुष से कंधे से मिलाकर चलते हुए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष को पीछे छोड़ने में आतुर है। चाहे प्रशासनिक क्षेत्र हो या राजनीतिक क्षेत्र हो, चाहे खेल, कला, संगीत, शिक्षा और स्वास्थ्य आदि सभी क्षेत्रों में महिला की भूमिका अहम रूप से उभरकर सामने आ रही है। कल तक आमजन के मनों में उत्पन्न यह धारणा कि आगे बढ़कर समाज या परिवार का नेतृत्व करना नारियों के बस की बात नहीं है। उन धारणाओं को तोड़ते हुए नारी पहले से कई अधिक आत्मविश्वास के साथ घर-परिवार, समाज, देश या अंतर्राष्ट्रीय स्तर के हर मामलों में शीघ्र व सही निर्णयों के साथ अपने जीवन की राहें खुद चुन रही है। युगद्रष्टा स्वामी विवेकानंद ने ठीक ही कहा है कि 'नारी जब अपने ऊपर थोपी गई बेड़ियों एवं कड़ियों को तोड़ने लगेगी तो विश्व की कोई शक्ति उसे रोक नहीं सकेगी।'[2]

आधुनिक समय में जहाँ स्त्री के व्यक्ति स्वातंत्र्य को उभारा है, वहीं उसके जीवन में उत्पन्न असंख्य जटिलताओं को शामिल किया है। कहीं-न-कहीं वह आज भी अपनी दयनीय स्थिति से उभर नहीं पाई है। उसका आंतरिक द्वंद्व तथा विद्रोह उसकी वाणी को बुलंद करता दिखाई देता है। कुछ ऐसा ही नारी संघर्ष लेखक के उपन्यास 'बादल राग' में दिखाई देता है। 'बादल राग' उपन्यास की पात्र सुनिधि जो एक मध्यमवर्गीय सुंदर और संस्कारी लड़की है किंतु अपने माता-पिता के कारण नंदन जैसे लड़के से विवाह करती है। सास-ससुर यशोधरा और आलोक अपने बेटे नंदन की बुराइयों पर पर्दा डालते हुए अपने स्वार्थ के कारण सुनिधि का जीवन कष्टप्रद बनाते हैं। एक दिन सुनिधि इन चीजों से तंग आकर विद्रोह कर उठती है कि 'आप अपने स्वार्थ के लिए एक सुंदर और समझदार बहू ले आए कि आपका बेटा उसकी सुंदरता पर रीझकर बुरी आदतें छोड़कर अपनी गृहस्थी बसा लेगा। लेकिन मेरे साथ तो धोखा हुआ न! मेरी जिंदगी बर्बाद हो गई...।'[3] ऐसा ही नारी विद्रोह रूप लेखक ने नंदिनी के माध्यम से भी अपने इस उपन्यास में दिखाया है। नंदिनी का विवाह उसके परिवार वाले ऐसे लड़के से करा देते हैं जिसे वह पसंद नहीं करती। अपने इस रिश्ते के प्रति विद्रोह करते हुए कहती है, 'मैंने पहली रात में कह दिया, मैंने यह शादी घरवालों की इच्छा से की है। मैं किसी और को चाहती हूँ। वह अमेरिका चला गया है। संपर्क नहीं था। उन्होंने रिश्ता ढूँढा और शादी हो गई। मैं उस समय दबाव में थी। तुम्हारे बारे में कोई आकर्षण या लगाव नहीं है।'[4] इस प्रकार नंदिनी अपने इस रिश्ते से आजाद हो जाती है। अंत में सुनिधि भी नंदिनी की भाँति अपने इस रिश्ते से मुक्त होने के लिए ससुराल छोड़कर नंदन से तलाक लेने का फैसला करती है। वह कहती है, 'वहाँ तो अब बहुत घुटन महसूस होती है। अब मैंने अगली पढ़ाई शुरू कर दी है। मैंने बैंकिंग की परीक्षाएँ दे दीं। अब सी॰ए॰ करना चाहती हूँ। जब तक अलग होने का समय आएगा, मैं सी॰ए॰ हो जाऊँगी।'[5] इस प्रकार लेखक ने नारी के भीतर की विद्रोह की भावना को उजागर किया है।

दामोदर खड़से जी ने मानसिक रूप से स्त्री के जीवन में आने वाली कठिनाइयों को भी

अपने जीवन के एकरसता से उपजी बेचैनी, घुटन, अंतर्मन के द्वंद्व से किस प्रकार जूझती है यह लेखक ने पात्र सुनिधि के रूप में व्यक्त किया है। सुनिधि जो नंदन के साथ रहकर अपनी पूरी जिंदगी नहीं गुजार सकती। वह भीतर-ही-भीतर घुटती भी रहती की किससे अपने मन की व्यर्थ कहे जो उसे समझ सके। सुनिधि अपनी माँ से भी कुछ नहीं बता पाती क्योंकि वह माँ का सुझाव जानती है। माँ बस यह कहती है, 'छोटी की शादी में व्यवधान आ सकता है, इसलिए इसका कोई दूसरा विकल्प ढूँढो यानी छोटी की शादी के लिए मैं अपना तलाक नहीं ले सकती। एक की शादी के लिए दूसरे की शादी का बलिदान..।'[6] ऐसे ही अंतर्मन के द्वंद्व से कहीं-न-कहीं नारी जूझ रही है। इस द्वंद्व के कारण ही वह निर्णय-अनिर्णय के दर्द से भी संघर्ष करती है। इस निर्णय-अनिर्णय के दर्द में उसका जीवन उलझता चला जाता है। यदि नारी इस दर्द से स्वयं को बाहर नहीं निकाल पाती तो अपना संपूर्ण जीवन उस नरक में डाल लेती है। इसका एक उदाहरण लेखक ने सुनिधि द्वारा अभिव्यक्त किया है। जो अपने बेरंग हो रहे जीवन से बाहर निकलना चाहती है लेकिन वह दुविधा में है कि किसी एक की सजा सबको भुगतना पड़ेगी। सुनिधि दुविधा में थी क्योंकि एक स्त्री होने के कारण वह उसके दुखों को जानती भी थी पर एक माँ के रूप में वह सुनिधि से आस लगाए बैठी थी। सुनिधि सोचती है कि 'यशोधरा की भावनाएँ अच्छी थीं। वह जानती थी कि कोई छलकपट नहीं है व्यवहार में... काश वह इस घर को अपना पाती। पर नंदन के कारण वह विवश थी।'[7] जिसके परिणामस्वरूप पारिवारिक संबंधों का विघटन होता है।

दांपत्य जीवन या पारिवारिक संबंधों के विघटन के समय नारी को समाज, परिवार तथा रिश्तेदारों के विविध प्रकार के प्रश्नों का सामना करते हुए अपने संघर्ष को एक नया रूप प्रदान करती है। जब बात स्त्री द्वारा संबंध तोड़ने पर आती है तो उससे कई तरह के तर्क-वितर्क किए जाते हैं। उसके चरित्र पर उगलियाँ उठाई जाती हैं। ऐसा ही तर्क-वितर्क का रूप लेखक के उपन्यास बादल राग में दिखाई देता है। सुनिधि जब फैसला करती है कि वह अपने पति नंदन से अलग होना चाहती है तो सास द्वारा जो संवाद सुनिधि के प्रति शुरू होता है वह इस प्रकार है–

'मैं अलग होना चाहती हूँ..
पर.. अचानक.. नौकरी लगते ही!
मुझे लगा ही कि आप ऐसा सोचेगी..
पर समय ही ऐसा हो गया न।
हमारे परिवार का क्या होगा? कभी सोचा है!
यही सोचकर तो अब तक रुकी... पर अब नहीं..
लोग क्या कहेंगे बेटी?

लोग तो अभी भी कुछ-न-कुछ कह ही रहे हैं। अभी तक यह रिश्ता तो लोगों के लिए ही था। मैं कभी पत्नी तो बन ही नहीं सकी..।'[8]

अत: स्पष्ट है कि सुनिधि की सास यशोधरा के मन में इस रिश्ते के विघटन का कुछ और ही कारण उत्पन्न होने लगता है। समाज और लोगों की दुहाई देकर इस रिश्ते को न तोड़ने के लिए बाध्य करती है।

निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि इस आधुनिक समय में कहने के लिए ही स्त्री स्वतंत्र है लेकिन कहीं-न-कहीं उसे स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए समाज द्वारा बनाए गई रूढ़िवादी सोच एवं परंपराओं से संघर्ष करते हुए स्वयं के लिए जागरूक होना पड़ता है। एक नारी अपने जीवन को दूसरे

के इशारे पर न व्यतीत कर अपनी इच्छा द्वारा जिंदगी बसर करने के लिए कामकाजी स्त्रियों के लिए पुरुष सहकर्मियों द्वारा असहज वातावरण बनाना, स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा कमतर आँकना, अकेली स्त्री के चरित्र पर तंज कसना, समाज द्वारा अकेली स्त्री को किसी संबंध में बँधने के लिए मजबूर करने का प्रयास करना, जैसी कई अड़चनों को झेलना होता है। ऐसी अड़चनों को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए सबसे पहले समाज को स्त्री के प्रति अपना नजरिया बदलना पड़ेगा। समाज की स्त्रियों के प्रति दोहरी सोच। कभी-कभी माता-पिता ही संतान को ज्यादा पढ़ाने-लिखाने की अपेक्षा उसका विवाह कर अपने जिम्मेदारियों से जल्दी मुक्त होना चाहते हैं जबकि वे अपनी बेटी की आकांक्षाओं एवं सपनों के बीच दीवार बन जाते हैं। वहीं दूसरी ओर कुछ माता-पिता ऐसे भी होते हैं जो अपनी कमाऊ बेटी के शादी न करके उसकी कमाई पर स्वयं अपना स्वार्थ सिद्ध करते हुए उसकी खुशी की ओर ध्यान नहीं देते। अत: इस आधुनिक युग में भी हमारे समाज में स्त्री-पुरुषों की समानता वाली सोच पूरी तरह विकसित नहीं हुई। स्पष्ट है कि स्त्री-पुरुषों की समानता वाली सोच ही महिलाओं के जीवन में आने वाली अड़चनों को कुछ हद तक समाप्त करने में कारगर है।

संदर्भ

1. मधुमती (पत्रिका), दिसंबर 2015, पृ॰ 30
2. राष्ट्रवाणी, फरवरी-मार्च 2017, पृ॰ 11
3. डॉ॰ दामोदर खड़से, बादल राग, उपन्यास, पृ॰ 27
4. वही, पृ॰ 41
5. वही, पृ॰ 151
6. वही, पृ॰ 79
7. वही, पृ॰ 47
8. वही, पृ॰ 37

Swati Pal
Flat No 10, Ruturang Apartment
Murlidhar Nagar, Pathardi Patha
Nashik 422010 (M.H.)
Mob. 8948338406
palswati07@gmail.com

सरकारी योजनाओं के क्रियान्वयन में जनसंपर्क विभाग द्वारा डिजिटल मीडिया के प्रयोग का एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

सुधाकर शुक्ला, शोधार्थी, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग
जे॰ई॰सी॰आर॰सी॰ यूनिवर्सिटी, जयपुर (राज॰)
डॉ॰ नरेंद्र कौशिक, प्रोफेसर
डीन-स्कूल ऑफ मास कम्युनिकेशन
जे॰ई॰सी॰आर॰सी॰ यूनिवर्सिटी, जयपुर (राज॰)

आज के हाईटेक युग में अब जनसंपर्क भी डिजिटल होने लगा है। एक दौर था जब जनसंपर्क मुख्य रूप से पत्र-पत्रिकाओं और रेडियो, टीवी के इर्द-गिर्द तक ही सीमित था, मगर आज कई अन्य साधनों के जरिए भी जनसंपर्क किया जा रहा है। प्रसिद्ध संचार विद्वान मार्शल मैक्लूहान ने दुनिया को एक ग्लोबल विलेज यानी वैश्विक गाँव माना है। खासकर संचार क्रांति के इस युग में मीडिया प्रौद्योगिकी ने समय व स्थान की दूरी को पाट दिया है। ऐसे में जनसंपर्क के क्षेत्र में भी सूचना प्रौद्योगिकी ने संभावनाओं के नित-नए द्वार खोले हैं। आज जनसंपर्क में तकनीक का प्रयोग लगभग अनिवार्य-सा हो गया है। जनसंपर्क अधिकारी ई-मेल के जरिए वांछित लोगों (पब्लिक) तक पहुँच सकता है। परस्पर सूचना संप्रेषण के लिए मोबाइल और ई-मेल ही कारगर जरिया हैं। सोशल नेटवर्किंग साइट्स भी आजकल जनसंपर्क का बेहतर माध्यम साबित हो रही हैं। इस शोध पत्र के माध्यम से जनसंपर्क के क्षेत्र में डिजिटलीकरण के कारण आ रहे बदलावों का गहनता से पड़ताल किया गया है।

जनसंपर्क उतना ही पुराना है जितना कि मानव सभ्यता। प्रारंभिक दौर में जनसंपर्क का कार्य एक दूसरे से सीधे संपर्क स्थापित कर किया जाता था। विभिन्न समूहों और कबीलों के स्वरूप से गुजरती हुई मानव सभ्यता आज के नए दौर तक आ चुकी है। इसमें तकनीक का बड़ा योगदान रहा है। आज के इस डिजिटल दुनिया में हर कार्यक्षेत्र में डिजिटलीकरण को अपनाकर उसे बढ़ावा दिया जा रहा है। ऐसे में जनसंपर्क का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रह गया है। परंपरागत जनसंपर्क विधियों पर विचार करें तो पाते हैं कि जनसंपर्क प्रचार में दीवारों व कपड़े के बैनर पर हाथ से रंगे मैटर चर्चा में रहते थे। गली-मोहल्ले में लाउडस्पीकर वाले तिपहिया-चौपहिया वाहन और रिक्शा दौड़ाए जाते थे। कार्यकर्ता शोर मचाकर लोगों को इकट्ठा कर लेते थे। कई दल बिल्ला बाँटा करते थे। लेकिन अब राजनीतिक दलों ने डिजिटल चुनाव प्रचार की तकनीक अपना ली है। एंड्राइड मोबाइल और सोशल मीडिया के सहयोग से वे अपने प्रत्याशियों का प्रचार करने लगे हैं। इस प्रकार से डिजिटलीकरण अब राजनीतिक दलों के लिए भी एक सशक्त माध्यम बन चुका है। भाजपा व काँग्रेस जैसे बड़े राजनीतिक दलों में स्थानीय स्तर पर स्वतंत्र रूप से सोशल मीडिया सेल काम कर रहा है। इसके लिए बाकायदा टीम गठित की जाती है। ऐसे में जनसंपर्क का क्षेत्र भी डिजिटल रथ पर सवार नजर आ रहा है। अँग्रेजों ने समाचार-पत्रों से संपर्क रखने तथा सूचना देने के लिए प्रेस

 ISSN 0975-735X

कमिश्नर की नियुक्ति की थी। बाद में सेंट्रल बोर्ड ऑफ इंफॉर्मेशन की स्थापना की गई, जिसका नाम आजादी के बाद बदल कर प्रेस इंफॉर्मेशन ब्यूरो कर दिया गया। स्वतंत्रता के पश्चात् केंद्रीय व प्रांतीय सरकारों ने अपने अपने स्तर पर भी जनसंपर्क निदेशालयों की स्थापना की। लोकतांत्रिक व्यवस्था में जनसंपर्क का विशेष महत्त्व है। सरकार का मुख्य उद्देश्य जनकल्याण होता है। अत: अपने समस्त कार्यक्रमों की सूचना जन-जन तक पहुँचाना भी जनसंपर्क विभाग का ही काम है। इस काम को तीव्रता और सुगमता के साथ करने के लिए केंद्र तथा राज्य सरकारों के जनसंपर्क विभाग डिजिटल जनसंपर्क का सहारा ले रहे हैं।

शोध का उद्देश्य–(Objectives of Research)

1. सरकारी जनसंपर्क के क्षेत्र में डिजिटलीकरण की वजह से आ रहे बदलावों के बारे में जानकारी हासिल करना।

2. डिजिटल जनसंपर्क के माध्यम से जनसंपर्क विभागों में होने वाले परिवर्तन के बारे में पता लगाना।

3. सरकारी योजनाओं के क्रियान्वयन का जमीनी स्तर पर पता लगाना।

शोध की परिकल्पना–(Hypothesis of Research)

1. डिजिटलीकरण की वजह से जनसंपर्क का क्षेत्र भी बदलाव के दौर से गुजर रहा है।

2. जनसंपर्क का क्षेत्र में डिजिटल आयाम के बल पर तीव्रता से अपनी गतिविधियों को संचालित कर रहा है।

3. सरकारी योजनाओं के क्रियान्वयन में डिजिटल जनसंपर्क की विशेष भूमिका है।

शोध प्रविधि (Research Methodology)–प्रस्तुत शोध कार्य के लिए सर्वे विधि का सहारा लिया गया है। इसके माध्यम से प्रश्नावली बनाकर प्राथमिक आँकड़ों का संकलन कर उनका विश्लेषण किया गया है। प्रश्नावली को डिजिटल प्रारूप में उत्तरदाताओं के पास भेजकर प्रस्तुत शोध विषय के बारे में विभिन्न प्रश्नों के माध्यम से आँकड़ों का संकलन किया गया है। इसके तहत उद्देश्यपूर्ण निदर्शन विधि से 100 उत्तरदाताओं का चयन कर उनको इमेल के जरिए प्रश्नावली भेजा गया और उनका विश्लेषण कर एक निष्कर्ष पर पहुँचने की कोशिश की गई है।

शोध की सीमाएँ–(Limitations of Research)इस अध्ययन के लिए जनसंपर्क के क्षेत्र में कार्यरत कर्मचारियों और अधिकारियों की उपलब्धता के आधार पर प्रश्नावली भेजकर उनके उत्तर जानने की कोशिश की गई है। जनसंपर्क से जुड़े व्यक्तियों में सुविधा के आधार पर शोध सीमा के अंतर्गत बहुत से उत्तरदाताओं को शामिल नहीं किया गया है। अत: इस शोध के माध्यम से निकलकर आने वाले परिणामों को राष्ट्रीय स्तर पर सामान्यीकृत नहीं किया जा सकता है।

साहित्य पुनरावलोकन (Literature Review)–वाटमोघ (2018)[1] प्रस्तुत पुस्तक के माध्यम से लेखन का मानना है कि आज के समय में डिजिटल सब कुछ बदल देता है। यह एक सच्चाई है जो दुनिया भर के उद्योगों व विभिन्न सरकारी एवं गैर-सरकारी प्रक्रमों में दिखाई देती है। जनसंपर्क ऐसे उद्योग का एक आदर्श उदाहरण है जिसमें तेजी से बदलाव नजर आ रहा है। यह पुस्तक परिवर्तन के इस युग के लिए एक मार्गदर्शक के रूप में कार्य करती है। यह एक मैनुअल है जो जनसंपर्क क्षेत्र को प्रभावित करने वाले रुझानों का सारांश देता है। यह उन तकनीकों की जाँच करता है जो बदल गई हैं और कुछ नए दृष्टिकोणों की भी जाँच करती हैं जो उभरने लगे हैं। यह

उन सवालों को प्रस्तुत करता है जिसका सामना आधुनिक जनसंपर्क कर्मियों को करना पड़ रहा है। यह पुस्तक इस बात पर प्रकाश डालती है कि डिजिटल लेंस के माध्यम से देखे जाने वाले डेटा, ऑडियंस प्लानिंग और रचनात्मकता को कैसे अपनाया जाता है। डिजिटलीकरण एक उद्योग को बदल सकता है, इसे पहले से कहीं अधिक प्रासंगिक और आवश्यक बना सकता है। इन्हीं तथ्यों को देखते हुए इस पुस्तक का चयन शोध कार्य के लिए किया गया है।

टुगुड एवं लॉयड (2014)[2] इस पुस्तक के जरिए लेखकद्वय का मानना है कि जनसंपर्क और पत्रकारिता का एक सदी से अधिक समय से एक प्रगाढ़ संबंध रहा है। इंटरनेट और विशेषकर सोशल मीडिया व डिजिटल प्लेटफॉर्म के आगमन ने उसमें बहुत कुछ बदल दिया है। राजनीतिक और कॉर्पोरेट संचार पेशेवर अधिक आवश्यक हो गए हैं, और व्यापार, राजनीति और अन्य संस्थानों के शीर्ष क्षेत्रों में अधिक प्रभावशाली हो गए हैं। कंपनियाँ और सरकारें अब स्वयं मीडिया बन सकती हैं। दर्शकों को आकर्षित करने के लिए सामग्री तैयार कर सकती हैं और उन्हें अपनी रणनीतियों में शामिल करने के लिए अपने नेटवर्क तक पहुँच सकती है। इस प्रकार से यह अनूठा अध्ययन एक नए मीडिया युग पर प्रकाश डालता है। जनसंपर्क के क्षेत्र में डिजिटल मंच के जरिए लगातार बदलाव आ रहे हैं। इस पुस्तक में उनके बारे में विस्तार से चर्चा की गई है। इसी वजह से इसका चयन साहित्य अध्ययन के लिए किया गया है।

शोध आँकड़ों का विश्लेषण (Analysis of Research Data)–प्रस्तुत शोध अध्ययन के लिए सर्वे विधि से आँकड़ों का संकलन किया गया। इसके लिए सौ उत्तरदाताओं का चयन कर ईमेल के जरिए उन्हें प्रश्नावली डिजिटल प्रारूप में भेजा गया। उत्तरदाताओं में शामिल लोग किसी न किसी जनसंपर्क संस्थान या गतिविधि से जुड़े हुए थे। उत्तरदाताओं का चयन उद्देश्यपूर्ण निदर्शन विधि से किया गया। आंकड़ों के संकलन से तथ्य निकलकर सामने आए उनकी व्यख्या निम्नलिखित है– जनकल्याण से संबंधित कई योजनाओं का संचालन लगातार केंद्र तथा राज्य सरकारों द्वारा किया जाता है। इन योजनाओं की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उनका क्रियान्वयन किस प्रकार से किया जा रहा है। योजनाओं के क्रियान्वयन में जनसंपर्क विभाग की विशेष भूमिका दिखाई देती है।

आज के समय में विभिन्न क्षेत्रों के साथ-साथ जनसंपर्क का क्षेत्र भी डिजिटल हो रहा है। ऐसे में जनसंपर्क विभागों की कार्यप्रणाली में भी उसी अनुरूप बदलाव देखने को मिल रहा है। अब डिजिटल प्रणाली से जनसंपर्क गतिविधियों को अंजाम दिया जा रहा है। पहले जहाँ किसी भी जनसंपर्क कार्य के परंपरागत तरीके से जमीनी स्तर पर जाकर लोगों से संपर्क स्थापित किया जाता था वहीं आज नया मीडिया, ब्लॉग, ईमेल, पोर्टल, यूट्यूब चैनल, लाइक पेज, फेसबुक, वाट्सअप आदि आधुनिक प्रकार के डिजिटल प्लेटफॉर्म के सहारे जनसंपर्क का काम किया जा रहा है।

वर्तमान में एक आम आदमी भी स्मार्ट फोन का उपयोग करने लगा है। यही वजह है कि किसी जनसंपर्क अभियान के दौरान आज आमजन तक डिजिटल तरीके से पहुँचना आसान हो गया है। जनसंपर्क का क्षेत्र जब तक डिजिटलीकरण से अछूता था तब तक किसी भी प्रकार की सूचना या जनता से संपर्क के लिए परंपरागत तरीकों का सहारा लिया जाता था। लेकिन जनसंपर्क के डिजिटल होने से अब इस क्षेत्र में काम करने वाले पेशेवरों को ज्यादा सुविधा मिली है। वे किसी भी सूचना को संबंधित लोगों या जनता तक पल भर में आसानी से पहुँचा पाते हैं और जनमानस की प्रतिपुष्टि भी आसानी से हासिल कर पाते हैं। ऐसे में सरकारी योजनाओं के क्रियान्वयन को भी

बल मिला है। जनसंपर्क विभाग अब नए साधन से लैस होने लगे हैं। इसका लाभ निश्चित तौर पर सरकारी योजनाओं के लाभुकों को हो रहा है। सरकारी योजनाओं का क्रियान्वयन भी अब इसी कारण से बेहतर तरीके से हो पा रहा है।

निष्कर्ष एवं सुझाव (Conclusion and Suggestions)–डिजिटल जनसंपर्क कॉर्पोरेट प्रबंधन में नवीनतम अवधारणा है। यह नई सूचना संचार, प्रौद्योगिकियों के माध्यम से जनसंपर्क का अभ्यास है। प्रौद्योगिकियों में नवीनतम प्रगति के कारण, कंप्यूटर, इंटरनेट, वर्ल्ड वाइड वेब, मोबाइल दूरसंचार के लिए वैश्विक प्रणाली और अन्य सूचना प्रौद्योगिकी प्रणालियों के उपयोग के माध्यम से जनसंपर्क का अभ्यास किया जा रहा है। यह अध्ययन कॉर्पोरेट प्रबंधन में एक नई रणनीति के रूप में डिजिटल जनसंपर्क के स्थान की जांच करता है। प्रस्तुत अध्ययन के माध्यम से पता चला कि कैसे सरकारी क्षेत्र में कार्यरत कंपनियां व विभिन्न विभाग एवं संगठन, बहुराष्ट्रीय निगम संस्थान और व्यक्ति डिजिटल जनसंपर्क का उपयोग अपने जनता और अन्य हितधारकों के बीच अपनी छवि और प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए कर सकते हैं। तकनीकी एवं सामाजिक बदलावों के साथ-साथ जनसंपर्क के क्षेत्र में भी गुणात्मक परिवर्तन देखने को मिल रही है। यही कारण है कि जनसंपर्क के डिजिटल होने से सरकारी योजनाओं का क्रियान्वयन बेहतर तरीके से होने लगा है। सरकारी योजनाओं के क्रियान्वयन को बेहतर तरीके से लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए यह जरूरी है कि उनका लाभ संबंधित जनता तक समय पर पहुँच पाए। आज के समय में हालाँकि आमजनों के पास भी स्मार्ट फोन और अन्य डिजिटल माध्यम दिखाई पड़ता है लेकिन इसके साथ ही कई लोग ऐसे भी हैं, जिनके पास इन सुविधाओं का अभाव है। ऐसे में डिजिटल तरीके के साथ-साथ परंपरागत तरीकों के सहारे भी जनसंपर्क के कार्य को अंजाम देना आवश्यक प्रतीत होता है।

संदर्भ

1. कुमुद शर्मा (2006), जनसंपर्क प्रबंधन, ज्ञान गंगा, दिल्ली
2. बलवीर कुंदरा (2006), संचार से जनसंचार और जनसंपर्क तक, के॰के॰ पब्लिकेशंस, नई दिल्ली
3. अमित कुमार (2006), जनसंपर्क, डायमंड पॉकेट बुक्स प्रा॰लि॰, नई दिल्ली
4. विजय कुलश्रेष्ठ (2005), जनसंपर्क प्रचार एवं विज्ञापन
5. कालीदत्त तिवारी एवं अन्य (2003), राज्य सरकार एवं जनसंपर्क, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा॰लि॰, दिल्ली
6. अर्जुन तिवारी एवं विमलेश तिवारी (2007), जनसंपर्क सिद्धांत एवं व्यवहार, विश्वविद्यालय प्रकाशन
7. तारेश भाटिया (2007), आधुनिक विज्ञापन और जनसंपर्क, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली
8. Bhattacharjee, Tomojit. (2020). New Media in Public Relations: The Evolving Scenario in India. United States: Notion Press.
9. Jethwaney, J. N., Sarkar, N. N. (2009). Public Relations Management. India: Sterling Publishers Pvt. Limited.
10. Kumar, V. (2005). Public Relations in India. India: Institute for Sustainable Development.
11. Lloyd, J., Toogood, L. (2014). Journalism and PR: News Media and Public Relations in the Digital Age. United Kingdom: Bloomsbury Publishing.
12. Sachdeva, I., Sachdeva, I. S. (2009). Public Relations: Principles and Practices. India: Oxford University Press.

13. Verma, S. K. (2019). Public Relations and Media in Cooperatives: An Indian Perspective. India: Studera Press.
14. Vilanilam, J. V. (2011). Public Relations in India: New Tasks and Responsibilites. India: SAGE Publications.
15. Whatmough, D. (2018). Digital PR. United Kingdom: Emerald Publishing Limited.
16. up.mygov.in
17. mib.gov.in

Sudhakar Shukla
589 A , Raj Colony Near Dist. Supply Office
JAUNPUR 222002 U.P.
Mob. 9506289531
jaunpur96@gmail.com

 ISSN 0975-735X

हिंदी की समकालीन कहानियों में महानगरीय बोध का चित्रण

सुषमा माधवराव नरांजे, सहा॰ प्राध्यापक, हिंदी विभाग
एस॰एस॰ गर्ल्स कॉलेज, गोंदिया (महाराष्ट्र)

आज महानगर की भाग-दौड़ से तालमेल स्थापित करता व्यक्ति नितांत वैयक्तिक होता जा रहा है। वह अपने अस्तित्व की रक्षा करने में इतना व्यस्त है कि अन्य रिश्ते-नातों के लिए उसके पास समय ही नहीं है। वह आत्मकेंद्रित होता जा रहा है। ऐसा ही आत्मकेंद्रित व्यक्ति अपने अर्जित सुखों, उपलब्धियों एवं वर्तमान परिस्थितियों से नाखुश होने की स्थिति में असंतुष्ट हो जाता है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ महानगरीय व्यक्ति से मिलती हैं। महानगर में जन्म लेनेवाला और आजीविका हेतु या अन्य कारणों से महानगर में आकर बसनेवाला बाहरी व्यक्ति, अपनी-अपनी परिस्थितियोंवश संकुचित दायरे में बँधते जा रहे हैं। संपूर्ण महानगरीय सामाजिक व्यवस्था आत्मकेंद्रित हो गई है। इस संबंध में डॉ॰ नीलम गोयल कहती हैं–'महानगरों में एक बंधुत्व-विहीन सभ्यता का प्रसार हो रहा है। बिना प्रयोजन किसी से बात करना, किसी पड़ोसी के विषय में जानकारी रखना, उससे मिलना-जुलना, कोई संबंध स्थापित करना और यहाँ तक कि घर में रहते हुए भी किसी पारिवारिक सदस्य से बिना मतलब कोई मेल-जोल रखना या बातचीत करना, इस सभ्यता से अपेक्षित नहीं है।'

भौतिकवाद व भोगवाद की प्रवृत्ति ने विलासिता और भोग मूल्यों को बढ़ावा दिया है, जिसके फलस्वरूप महानगरीय व्यक्ति में त्याग, अपरिग्रह जैसी भावनाओं के प्रति उदासीनता आ गई है और असंतोष बढ़ता के जा रहा है। महानगरीय व्यक्ति महत्त्वाकांक्षी होने के कारण भी असंतुष्ट है। वह अधिक-से-अधिक धन, सुविधाओं, शक्ति आदि का संग्रह करना चाहता है। उसकी इच्छाओं की कोई सीमा नहीं। रातों-रात समृद्धि एवं प्रसिद्धि पाना उसका ध्येय बनता जा रहा है। अपने सुखों को कम और दु:खों को अधिक आँकने के कारण उसमें असंतोष फैल रहा है। पश्चिम के अंधानुकरण ने महानगरीय व्यक्ति को अधिक व्यवहार-कुशल और औपचारिक बना दिया है। अखबार, रेडियो, टी॰वी॰ के माध्यम से व्यक्ति पूरे विश्व की घटनाओं को जानने के लिए तो लालायित होता है किंतु एक ही इमारत में रह रहे पड़ोसी से अपरिचित और अनभिज्ञ रहता है। महानगरीय व्यक्ति के संदर्भ में सलमान रश्दी की यह टिप्पणी विचारणीय है–'वास्तविक महानगरीय अनुभव वह होता है जब यह तय करने में आपकी कोई रुचि नहीं होती कि आपका पड़ोसी कौन होगा।'

हिंदी साहित्य में महानगरीय जीवन का व्यापक चित्रण हुआ है विशेषकर समकालीन कहानियों के माध्यम से कहानीकारों ने महानगरीय समाज की चुनौतियों का अत्यंत सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन-वेश्लेषण किया है। आज का कहानीकार जीवन की जटिलताओं के प्रति अधिक सचेष्ट है। वह पुरातन मिथ्या आदर्शों और नैतिकताओं से अपने-आपको मुक्त कर चुका है। यथार्थ जीवन के आधार पर वह पुरातन मानव-मूल्यों का खंडन और नवीन मानव-मूल्यों का मंडन करना चाहता है। उसका दृष्टिकोण कलावादी न होकर यथार्थवादी है। एक श्रेष्ठ कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की आंतरिकता में प्रवेश कर उसकी जटिलताओं और अंतर्गुंफित जीवन के सत्य सूत्रों को पकड़कर

उद्घाटित करे। यही समकालीन कहानियों में हुआ है। इस दृष्टि से महानगरीय बोध इस कहानी की एक प्रमुख विशेषता है क्योंकि कहानीकार व्यक्ति का उसके परिवेश में विश्लेषण करके देखता हैं अच्छे-बुरे का यहाँ कोई मापदंड नहीं है। जीवन की सत्यता, यथार्थता, आंतरिकता, जटिलता और उसकी विसंगतियाँ उद्घाटित भर कर देना ही उसका अभिप्रेत है। समकालीन कहानी का संसार अधिकतर महानगर और नगर का संसार है। महानगरीय संवेदनाएँ इस कहानी में अपने यथार्थ रूप में उभर कर आई हैं। मूल्यों के टूटने की प्रक्रिया महानगर और नगर में अधिक दृष्टिगत होती है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद संबंधों में बदलाव आया है, मूल्य टूटे हैं, संक्रांतियाँ आई हैं, दृष्टिकोण बदले हैं, बौद्धिकता ने अनेक विश्वासों को तोड़ा है और जीवन पद्धति में भी उल्लेखनीय अंतर आया है। नगरबोध के अंतर्गत आधुनिकता, परंपरा से मुक्ति के लिए प्रयत्न, कृत्रिम जीवन प्रणाली, काला बाजारी, अनैतिकता, काम की उग्र भूख, जीवन मूल्यों और जीवन दृष्टि में तीव्र परिवर्तन, संबंधों में परिवर्तन, प्राचीन एवं नवीनता के मध्य संघर्ष, अपरिचय, ऊब, अकेलापन, अविश्वास, फिट न होने की विवशता, क्षणबोध, स्त्री-पुरुष का जूझना और अंत में टूटना, दिग्भ्रम आदि संवेदनाएँ प्रधान हैं। महानगर बोध को अपनी संपूर्णता में चित्रित करने वाले कहानीकार हैं–निर्मल वर्मा (पराये शहर में, लवर्स, अंतर), राजेंद्र यादव (टूटना, एक कमजोर लड़की की कहानी, जहाँ लक्ष्मी कैद है), मोहन राकेश (मिस्टर भाटिया, काला रोजगार, सोया हुआ शहर), मन्नू भंडारी (मैं हार गई, यही सच है), कृष्ण बलदेव वैद (बीच का दरवाजा, अजनबी, भगवान के नाम सिफारिश चिट्ठी), उषा प्रियंवदा (वापसी), रघुवीर सहाय (प्रेमिका, मेरे और नंगी औरत के बीच), कमलेश्वर (दिल्ली में एक मौत, दिल्ली में एक और मौत), भीष्म साहनी (चीफ की दावत, खून का रिश्ता), रामकुमार (लौ पर रखी हथेली, सेलर), श्रीकांत वर्मा (झाड़ी, शवयात्रा, दूसरे के पैर, ट्यूमर) रमेश बक्षी (आया गीत गा रही थी, थर्मस में कैद कुनकुना पानी, अलग-अलग कोण, किस्सा एक शुतुरमुर्ग का) आदि।

समकालीन कहानी में मानव नियति की विडंबनाओं को उजागर करने का सम्मिलित रूप से प्रयास हुआ है। कहानी के केंद्र में व्यक्ति है और उसके इर्द-गिर्द परिवेशजन्य विसंगतियों का जाल है। इस जाल में वह कैसा अनुभव करता है? क्या वह इस जाल को तोड़ सकता है? कई सारे प्रश्न हैं। इस विसंगतियों के जाल को निर्मित करने वाले कई पहलू हैं, यथा–मानवीय संबंधों में टूटन और अलगाव, परिवेशजन्य त्रासदी, कुंठा, भय, संत्रास, मृत्यु-बोध आदि। समकालीन कहानी में जीवन की विसंगतियों और मानवीय विडंबनाओं के उद्घाटन की ओर विशेष रुझान रहा है। विसंगतियों और विडंबना के अनेक रूप और पहलू विभिन्न शैली माध्यमों में, इधर की कहानियों में आए हैं। इन कहानियों में जहाँ मानव मन की उथल-पुथल और पीड़ा को मनोवैज्ञानिक स्तर पर विश्लेषित करने का प्रयास हुआ है, वहीं व्यवस्था और समाज के संदर्भ में व्यक्ति का अध्ययन कर यथार्थ और व्यंग्य के स्तर पर प्रामाणिक अभिव्यक्ति दी गई है। व्यक्ति महानगर का हो अथवा नगर का, कस्बे का हो अथवा गाँव का, अपने मानसिक धरातल पर किसी-न-किसी पीड़ा से त्रस्त अवश्य है। परिवेशगत भिन्नता के कारण ये विसंगतियाँ भी भिन्न हो सकती हैं किंतु इनके अस्तित्व से नकारा नहीं जा सकता। महानगरीय भीड़-भाड़ में अपने भरे-पूरे परिवार में व्यक्ति अपने को बिल्कुल अकेला पाता है, भरे-पूरे वातावरण में भी वह रिक्तता-बोध से त्रस्त है और प्रियजनों के मध्य भी उसे अजीब निस्संगता का अनुभव होता है। अर्थात् महानगर में आदमी भीड़ में अकेला हो गया है। इस अकेलेपन से उबरने के लिए वह परिचय की तलाश में है। कमलेश्वर की कहानी 'खोई हुई दिशाएँ' अकेलेपन, अजनबीयत और परिचय की तलाश आदि स्थितियों को अपने संपूर्ण रूप में उभारती है। दिल्ली के वातावरण में

 ISSN 0975-735X

कथानायक चंदर अपने को निपट अकेला अनुभव कर रहा है। उसे सब-कुछ अपरिचित, अजनबी लगता है–'और यह राजधानी, जहाँ सब अपना है, अपने देश का है...पर कुछ भी अपना नहीं, अपने देश का नहीं।' यही नहीं उसे लगता है इस परिवेश में शायद पत्नी भी उसके लिए अपरिचित बन गई है। परिवेश में अजनबीपन का आतंक उसकी पत्नी में भी परिचय की तलाश के लिए विवश कर देता है–'फिर निर्मला पर हाथ रखता है, उसके गोल कंधों को छूता है ...वह स्पर्श भी पहचाना हुआ है . ..धीरे-धीरे वह उसके पूरे शरीर को पहचानने के लिए टटोलता है और उसकी साँसों की हल्की आवाज को सुनने और पहचानने की कोशिश करता है।

अपरिचय, अकेलेपन और पराएपन का अहसास कमलेश्वर की 'पराया शहर' प्रयाग शुक्ल की 'शामें, राजेंद्र यादव की 'बिरादरी बाहर', दूधनाथ सिंह की 'रक्तपात', ज्ञानरंजन की 'पिता' और 'जख्म', उषा प्रियंवदा की 'मछलियाँ', निर्मल वर्मा की 'कुत्ते की मौत', 'कमरे' और 'पराए शहर में' आदि कहानियों में भी देखा जा सकता है।

महानगर का जीवन पग-पग पर मृत्युबोध का एहसास कराता है। संत्रास, भय, मृत्युबोध यहाँ व्यक्ति की मानसिकता से किसी-न-किसी स्तर पर अवश्य जुड़े हैं। महानगर की भीड़ में व्यक्ति कभी भी खो सकता है। कुछ भी निश्चित नहीं है। वहाँ उसे हर समय मृत्यु से साक्षात्कार होता जान पड़ता है। यद्यपि यह मृत्युबोध हिंदी कहानी में पाश्चात्य अस्तित्ववादी चिंतक साहित्यकारों–प्लाबेयर, काफ्का, क्रेन, कामू, सार्त्र आदि की रचनाओं के प्रभावस्वरूप आया है, किंतु आज महानगरीय जीवन में व्याप्त संत्रास, भय और मृत्यु-बोध से इंकार नहीं किया जा सकता। संत्रास अथवा भयाक्रांत स्थितियों के मूल में परिवेश, परिस्थितियाँ, यांत्रिकता आदि कई कारण हो सकते हैं। व्यक्ति संत्रास का अनुभव तभी करता है, जबकि उसे परिवेश और व्यवस्था की विडंबनाओं और विसंगतियों को भोगना पड़ता है। संत्रास-बोध की ये स्थितियाँ निश्चित रूप दे ग्राम जीवन की अपेक्षा महानगरीय जीवन में अधिक हैं। यद्यपि परिस्थितियों की भिन्नता के कारण यहाँ के और पश्चिम के संत्रास में प्रक्रिया और प्रकृति की दृष्टि से काफी अंतर है, फिर भी पश्चिम के आरोपित संत्रास को कई कहानीकारों ने अपनी कहानियों का आधार बनाया है जैसे–'खोज' (निर्मल वर्मा), 'उसका बच्चा' (कामतानाथ), 'आवाजें अब भी आ रही थीं' (गंगाप्रसाद विमल), 'परतों के नीचे' (हृदयेश), 'रक्तपात' (दूधनाथ सिंह) आदि। इसके विपरीत कुछ कहानीकारों ने इस दृष्टि से सशक्त कहानियाँ भी लिखी हैं, जिनमें आरोपित संत्रास नहीं, अपितु महानगरीय व्यक्ति का (भारतीय संदर्भ में) कदाचित लेखक अपना भोगा हुआ संत्रास है।

महीपसिंह की कहानी 'पारदर्शक' में महानगरीय जीवन की भयाक्रांत स्थितियों को संपूर्ण रूप में देखा जा सकता है। कहानी का नायक 'वह' और उसकी पत्नी 'भाषी' दोनों तनाव में जीते हैं। दुर्घटना में मौत की खबर सुन भाषी भयभीत हो जाती है और भयाक्रांत मन:स्थिति से उबरने के लिए वह अपने पति से आलिंगनबद्ध हो जाती है–'अपने दोनों हाथों से उसने उसका चेहरा ऐसे पकड़ लिया था जैसे वह उसका पति नहीं, एक मामूली-सा जीव था जो किसी प्रेत के हाथों दबोच लिया गया था।' 'लंदन की एक रात' (निर्मल वर्मा) महानगरीय संत्रास को अभिव्यक्ति देने वाली एक अच्छी कहानी है। यद्यपि यह मूलत: पश्चिम की कहानी है और जिसका क्षेत्र भी लंदन ही है किंतु पात्रों की मन:स्थिति या जिस संत्रास को वे भोगते हैं, वे सामान्य भौगोलिक सीमाओं को पार कर महानगरीय मानव नियति से जुड़ जाते हैं यह संवेदना मात्र लंदन की ही नहीं अपितु हर महानगर की है, वह महानगर चाहे पश्चिम का हो या पूर्व का।

मोहन राकेश की कहानी 'एक ठहरा हुआ चाकू' में व्यक्त भय संपूर्ण समाज का भय है, जो परिवेशगत असुरक्षा का परिणाम है। महानगरीय परिवेश में जीवन बड़ा असुरक्षित है। गुंडों के भय से हर व्यक्ति आतंकित है। कहानी में व्यक्त भय व्यक्ति के बाह्य जीवन में ही नहीं, अपितु आतंरिक पक्षों में भी व्याप्त है क्योंकि वह जानता है कि इन गुंडों से उसे कोई नहीं बचा सकता। 'खुले चाकू की चमक से उसकी जुबान और छाती सहसा जकड़ गई। उसके हाथों से पैसे वहीं गिर गए। और वह वहाँ से भाग खड़ा हुआ...।' महानगर-जीवन में व्यस्तता के कारण व्यक्ति संवेदना-शून्य होता जा रहा है। वेद राही की कहानी 'हररोज' में मुंबई जैसे महानगरों में जीवन ढोने जैसी चेतना-शून्य स्तिथियों की अभिव्यक्ति है। साठे रोज सुबह बोरीवली से चर्चगेट जाता है और शाम को चर्चगेट से पुन: बोरीवली आता है। हर रोज का यह क्रम उसकी संवेदना को सोख रहा है। कथानायक ट्रेन के दरवाजे पर खड़े व्यक्ति को देख रहा है जो गाड़ी की गति के साथ झूल रहा है। वह सोचता है उसे बाँह पकड़कर सीट पर बिठा दें क्योंकि यह कभी भी बाहर गिर सकता है। वह उस व्यक्ति को पकड़ने के लिए आगे बढ़ता है किंतु सोचता है कि यह तो आम बात है। उसके सोचने का रुख ही बदल जाता है। वह आदमी चलती ट्रेन के दरवाजे से गिर पड़ता है और मर जाता है। महानगर में दैनंदिन कितनी ही मौतें इस तरह होती रहती है। व्यक्ति किस-किस के प्रतिप्रति सहृदयता और सहानुभूति दिखाए–इतने विशाल परिवेश में यह संभव भी नहीं है। रामकुमार की कहानी 'क्रॉसिंग के उस पार' में भी संत्रास को इसी प्रकार की अभिव्यक्ति मिली है। महानगर में रोज एक्सीडेंट होते हैं, आदमी का मरना आम बात है। कथानायक जसवंत में मृत्यु भय से उत्पन्न तनाव अभिव्यंजित हुआ है–'कितनी अजीब बात है' जसवंत ने सोचा–'इस शहर में हर चीज रास्ता माँग रही है। इसी तरह चीखकर और कोई किसी को रास्ता नहीं देता।' 'दिल्ली में एक मौत' (कमलेश्वर) में भी यही संवेदनशून्यता उजागर हुई है। इनके अतिरिक्त रामदरश मिश्र की 'माँ', 'सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो', तथा अमरकांत की 'मौत का नगर', संत्रास, मृत्यु-बोध तथा भयाक्रांत स्थिति को उजागर करने वाली उल्लेखनीय कहानियाँ हैं।

निष्कर्षत: कह सकते हैं कि महानगरीय व्यक्ति का निरंतर यंत्रीकरण हो रहा है। वह अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए अधिकाधिक भौतिक सुख-सुविधा जुटाने में व्यस्त है। इसी को लक्ष्य कर एरिक फ्राम ने कहा था कि उनकी सदी में ईश्वर मरा था तो, बीसवीं सदी में मनुष्य मर गया है। यंत्र मनुष्य और मनुष्य के बीच एक तीसरी शक्ति बनकर उभर रहा है। महानगरों के यांत्रिक व शुष्क वातावरण ने मानव की सारी कोमलता एवं संवेदनशीलता को सोख लिया है। उसके भीतर से झरने वाला प्रेम का स्रोत जैसे सूख गया है। हिंदी के समकालीन कहानीकारों ने अपनी कहानियों में महानगरीय बोध का उचित और सटीक चित्रण किया है, इसमें वे पूर्ण रूप से सफल हुए हैं।

संदर्भ

1. डॉ॰ नीलम गोयल, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी लेखिकाओं के अलगाव
2. डॉ॰ अशोक बाचलुकर, हिंदी उपन्यासों में महानगरीय बोध
3. डॉ॰ प्रकाश आतुर, साहित्य में सामाजिक प्रश्न
4. डॉ॰ नित्यानंद तिवारी, आधुनिक साहित्य और इतिहास बोध
5. डॉ॰ रामविनोद सिंह, समकालीन हिंदी उपन्यास
6. देवेंद्र इस्सर, साहित्य और आधुनिक बोध
7. डॉ॰ भैरूंलाल गर्ग, आज की हिंदी कहानी

Mob. 9881679234
sushamanaranje@gmail.com

द्विवेदीयुगीन उपन्यासों में ग्रामीण जनजीवन की अभिव्यक्ति

उपदीप कौर

द्विवेदीयुग कथासाहित्य की दृष्टि से काफी समृद्ध है, परंतु तत्कालिक लेखकों एवं पाठकों की प्रवृत्ति कुतूहल, रहस्य तथा रोमांच के द्वारा मनोविनोद में अधिक रही है सामाजिक जीवन की ज्वलंत समस्याओं पर उपन्यास कम लिखे गए हैं। इस युग के उन्नायक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उपन्यास के प्रारंभ के विषय में कहा है, 'उपन्यास साहित्य के जनन, उन्नयन और प्रवचन का श्रेय पश्चिमी देशों के लेखकों को ही है।'[1] बालकृष्ण भट्ट के मतानुसार, 'हम लोग जैसा और बातों में अँग्रेजी की नकल करते जाते हैं, उपन्यास का लिखना भी उन्हीं के दृष्टांत पर सीख रहे हैं।'[2] उपन्यास के संबंध में किशोरीलाल गोस्वामी के विचार हैं, 'इसमें प्रेम की प्रबलता, प्रणय की उन्मत्तता, चाह की मत्तता, यौवन का पूर्ण विकास, लालसा का प्रबल प्रवाह, कामना का वेग, रस की तरंग, प्रीति की लहर, सभी कुछ रहता है, इसलिए कवियों ने साहित्य श्रेणी में उपन्यास को श्रेष्ठ गद्दी दी है।'

लज्जाराम मेहता की उपन्यास के संबंध में यह धारणा है–'उपन्यास समाज का चित्र है और आज उपन्यास की जो कथा कल्पित कथा मानी जाती है, वही समय पड़ने पर इतिहास बन जाती है।' किरण शशि ने उपन्यासकार के दायित्व के विषय में अपना मंतव्य दिया–'उपन्यासकार भी एक तरह से समाज, देश व भाषा का इतिहास बनाने वाला होता है।'[3] इस तरह उपन्यासकारों ने विभिन्न दिशाओं में लेखनी उठाते हुए व्यक्तिगत दृष्टिकोणों के अनुकूल उपन्यास का स्वरूप बताने का प्रयास किया है। इन दृष्टिकोणों से हिंदी उपन्यास की प्रारंभिक वृतियों का स्पष्टीकरण अवश्य हो जाता है। इन प्रवृत्तियों के आधार पर इस युग के उपन्यासों को पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

1. तिलस्मी ऐयारी उपन्यास
2. जासूसी उपन्यास
3. अद्‌भूत घटना प्रधान उपन्यास
4. ऐतिहासिक उपन्यास
5. सामाजिक उपन्यास

1. **तिलस्मी ऐयारी उपन्यास**–इस प्रकार के उपन्यासों के आरंभ का श्रेय देवकीनंदन खत्री को जाता है जिन्होंने इसे भारतेंदु युग में अंकुरित कर दिया था। द्विवेदीयुग में यह पौधा खूब फला। इन्होंने सन् 1902 ई॰ में 'काजर की कोठरी', सन् 1905 ई॰ में 'अनूठी बेगम', सन् 1906 ई॰ में 'गुप्त गोदना' और 'भूतनाथ' के प्रथम छह भाग आदि की रचना की। इसी परंपरा को आधार बनाकर 'हरिकृष्ण जौहर' ने सन् 1901 ई॰ में 'माया महल', सन् 1902 ई॰ में 'कमल कुमारी', निराला नकाबपोश' सन् 1903 ई॰ में 'भयानक खून' की रचना की। सन् 1905 ई॰ में किशोरीलाल गोस्वामी ने 'शीश महल' उपन्यास लिखा। सन् 1908 ई॰ में रामलाल वर्मा ने 'पुतली महल' की

रचना की। आगे चलकर देवकीनंदन खत्री के सुपुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने 'भूतनाथ' के शेष भागों को रच कर इस परंपरा को बढ़ाने में अपना योगदान दिया।

2. **जासूसी उपन्यास**–इन उपन्यासों के प्रवर्त्तन का श्रेय गोपालराम गहमरी को जाता है। आप अँग्रेजी के प्रसिद्ध जासूसी उपन्यासकार आर्थर कानन डायल से विशेष रूप से प्रभावित थे। आपने उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'ए स्टडी इन स्कार लेट' को सन् 1905 ई॰ में 'गोविंदराम' नाम से हिंदी में रूपांतरित किया था। इसके अलावा आपने सन् 1900 ई॰ में 'सर कटी लाश', सन् 1901 ई॰ में 'चक्करदार चोरी' और 'जासूस की भूल', सन् 1904 ई॰ में 'जासूस पर जासूसी' सन् 1913 ई॰ में गुप्त भेद', सन् 1914 ई॰ में जासूस की ऐयारी' आदि उपन्यास लिखे। इसके अलावा रामलाल वर्मा, जयरामदास गुप्त और किशोरीलाल गोस्वामी की लेखनी भी जासूसी उपन्यासों की ओर उठी, किंतु सर्वाधिक ख्याति आप ही को मिली।

3. **अद्‌भुत घटना प्रधान उपन्यास**–इन उपन्यासों की रचना शैली तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों में से कुछ भिन्न थी। इस प्रकार के उपन्यासों की प्रेरणा रेनाल्ड्स द्वारा रचित 'मिस्ट्रीज आफ द लंदन' के अनुवाद 'लंदन रहस्य' से मिली थी। इस प्रकार के उपन्यासों में सन् 1905 ई॰ में विट्ठलदास नागर कृत 'किस्मत का खेल', सन् 1912 ई॰ में बाँकेलाल चतुर्वेदी कृत 'खौफनाक खून', सन् 1913 ई॰ में निहालचंद वर्मा कृत 'मिस जौहरा', सन् 1915 ई॰ में प्रेमविलास वर्मा कृत 'अनंग कांता' और सन् 1916 ई॰ में दुर्गाप्रसाद खत्री कृत 'अद्‌भुत भूत' उल्लेखनीय है।

4. **ऐतिहासिक उपन्यास**–द्विवेदी युग के ऐतिहासिक उपन्यास यवन युग के इतिहास से संबंधित सामग्री पर आधारित है, परंतु इसमें इतिहास तत्त्व का अभाव लक्षित होता है। इस युग के ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के लिए इतिहास की ऐसी घटनाओं का चयन किया है जो पाठकों एवं श्रोताओं की केवल कुतूहल एवं रहस्य रोमांच की वृत्ति को पुष्ट कर सकें। इस प्रकार के उपन्यासों में सन् 1902 ई॰ में किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा रचित 'तारा', सन् 1904 ई॰ में 'सुल्ताना रजिया बेगम', सन् 1905 ई॰ में मलिका देवी सन् 1917 ई॰ में 'लखनऊ की कब्र', सन् 1902 ई॰ में गंगाप्रसाद गुप्त द्वारा रचित 'नूरजहाँ सन् 1903 ई॰ में 'कुमार सेनापति' और 'हम्मीर', सन् 1907 ई॰ में जयरामदास गुप्त द्वारा रचित 'काश्मीर पतन', सन् 1909 ई॰ में 'वाजिद अलीशाह' और 'मल्का चाँद बीबी', सन् 1905 ई॰ में मथुरा प्रसाद शर्मा द्वारा रचित 'नूरजहाँ बेगम व जहाँगीर' आदि उल्लेखनीय है। इन उपन्यासों में अधिकांशतः ऐतिहासिक कम और रहस्य-सृष्टि करने वाली कल्पना की प्रधानता रही है। वास्तव में इस द्विवेदी युग में श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना संभव ही नहीं थी। उस समय तक हिंदीभाषी लोगों का मानसिक परिष्कार नहीं हो सका था। इस युग के सशक्त उपन्यासकारों में किशोरीलाल गोस्वामी की गणना की जा सकती है। आपने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में कथानकों में प्रेम की विविधता को बनाए रखा है। इनमें इतिहास सम्मत सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थितियों का चित्रांकन नहीं हुआ है और न ही ये कालदीप से बच सके हैं।

5. **विवेच्य उपन्यासों में ग्रामीण जनजीवन**–भारत एक कृषि प्रधान देश है। इसलिए भारत की लगभग 70 प्रतिशत आबादी गाँवों में रहती है तथा उनका जीवन खेती पर निर्भर रहता है। भारतीय गाँव सदियों से पिछड़े हुए हैं। इसलिए गाँवों में रहने वालों का सामाजिक आर्थिक जीवन भी पिछड़ा हुआ है। गाँवों में छूआछात, जात-पात, शिक्षा का अभाव, रूढ़ियाँ, परंपराएँ, अंधविश्वास, जादू-टोना, शोषण, अन्याय, अत्याचार, मूलभूत समस्याएँ बिजली पानी आदि की समस्याएँ आज

भी मौजूद हैं। स्वतंत्रता के बाद सरकार के तरफ से किए गए प्रयास भी ऊँट के मुँह में जीरे के समान ही साबित हुए हैं। अनेक समस्याएँ गाँवों में आज भी मुँहबाएँ खड़ी हैं। गाँव के विकास की रफ्तार बहुत ही धीमी है। भारत के विभिन्न राज्यों में कुछ ऐसे विशिष्ट अंचल है जहाँ के लोग आज भी अभिशप्त जीवन जीने के लिए विवश है। सरकारी योजनाएँ उन तक पहुँचते-पहुँचते भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ जाती हैं। संबंधित क्षेत्र की जनता दयनीय, असहाय व निरीह जीवन जीने को मजबूर है।

'आखिरी छलांग' में अवध का गाँव, 'बचपन भास्कर' का में गोरखपुर, 'देहरी के पार' में गाजीपुर का, 'जहाँ एक जंगल था' पूर्वी उ०प्र० के नेपाल सीमा से सटे गाँव मालेपार, 'बाबा की धरती' भोजपुर के गांगेय अंचल से संबंधित गाँव रंग मोर चुनरिया में प्रतापगढ़ अंचल से संबंधित गाँव, 'शेफाली के फूल' में इलाहाबाद जिले के जगतीपुर तहसील से संबंधित गाँव 'अँधेरा जहाँ उजाला' में सुल्तानपुर जिले का हरिपुर गाँव एवं 'गमके माटी गाँव की' भदोही जिले का ईशपुर गाँव है और मिथलेश्वर का 'पानी बीच मीन पियासी' में बिहार के भोजपुर अंचल से संबंधित गाँव की कथा व्यक्त है। इन उपन्यासों में ग्रामीण परिवेश एवं उनसे संबंधित सारे तत्त्व मौजूद हैं। ग्रामीण परिवेश के कृषक एवं कृषि दो महत्त्वपूर्ण घटक हैं। गाँव की सारी हलचल इन्हीं दोनों के इर्द-गिर्द घूमती रहती है। जहाँ किसान खेती करके सभी लोगों का पेट भरते हैं, वहीं आज भी उनकी हालत जस की तस बनी हुई है। सबका पेट भरने के बावजूद उन्हें भूखें मरना पड़ रहा है। कठिन परिश्रम के बावजूद भी उसे स्वयं अपने लिए जीवन की आवश्यक चीजों को जुटाने में काफी मेहनत करनी पड़ती है। पानी-बिजली, महँगाई, खाद-बीज व कर्ज की अनेकों समस्याओं से जूझना उनके लिए रोज की बात है। भारत के आजाद होने के बाद भी आज गाँवों में सूदखोरी की समस्या मौजूद है जिससे गाँव के किसानों को जूझना पड़ता है। गाँव के किसान अपने बेटे-बेटियों को अच्छी शिक्षा नहीं दे पा रहे हैं। अगर शिक्षा देना भी चाहे तो फीस भरने तक के पैसे नहीं हैं या फिर उधार लो। इसके सिवा कोई चारा नहीं है। 'आखिरी छलांग' में पहलवान का बेटा यद्यपि प्रवेश परीक्षा में उच्च स्थान प्राप्त किया है। परंतु होनहार बालक के इंजीनियरिंग की पढ़ाई के फीस जमा करने के लिए पहलवान की नींद और चैन दोनों उड़ जाते हैं; हालाँकि वह पहले साल की फीस किसी तरह से जमा कर लेता है पर आगे की फीस एकत्र करने के लिए उसे खेत बेचने के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं दिखता। 'यह आवाज सुनकर जहाँ एक मन चिंतित होता है, वहीं दूसरा मन राहत महसूस करता है कि खेत बेचने से अभी कुछ और दिन बचा जा सकेगा लेकिन अगले तीन साल तक लगातार पचास-पचपन हजार रुपए फीस कैसे भरी जाएगी यह सोचकर आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है।' यह हालात केवल पहलवान की नहीं है बल्कि लगभग गाँव के सभी किसानों को हाल ऐसा ही है। किसानों की ईमानदारी का नतीजा यह है कि छोटे से लेकर बड़े तक सभी कर्मचारी उसे कमजोर व असहाय समझते हैं। जिस पहलवान से इलाके का कोई आदमी हाथ मिलाने की हिम्मत नहीं करता था वहीं पहलवान को-आप्रेटिव से कर्ज लेने के बाद समय से चुकता न कर पाने के कारण एक अधेड़ मरियल से चपरासी के सामने दंडवत हो जाता है, 'वही पहलवान जो कभी ताल ठोंककर पूरे इलाके को ललकारते थे और कोई उनसे हाथ मिलाने की हिम्मत नहीं करता था, अपने से एक हाथ छोटे मरियल से अधेड़ चपरासी द्वारा सरे बाजार रास्ते में रोककर पकड़ लिए गए थे। पहलवान के बाएँ पंजे में अपना दाहिना पंजा फँसाए वह उन्हें लेकर लाले बनिया की चक्की की ओर चला। पहलवान उसके साथ ऐसे चल रहे थे जैसे पगहे में बँधा बकरा चिकवे के पीछे-पीछे

घिसटता चला आता है बिना मिमियाए।'[5] यह है किसानों की वास्तविक स्थिति।

गाँव में भू-माफिया भी सक्रिय रहते हैं। वे किसी कमजोर एवं असहाय किसान की जमीनों को बाहुबल के आधार पर कब्जा करने में तनिक भी नहीं हिचकते। 'जहाँ एक जंगल था' नामक उपन्यास में गोरखनंदन एवं इनके जैसे अन्य किसान इसी तरह भू-माफियाओं के शोषण का शिकार है। उनके जमीनों को गाँव के ही कुछ दबंग हड़पने के चक्कर में लगे हुए हैं, 'इसका फायदा उठाया गाँव के चालाक और दबंगों ने। अगल-बगल के खुदगर्ज-बेईमान काश्तकारों ने उनके खेतों में बढ़ाकर अपने खेत के मेढ़ बना लिए। बाग-बगीचों की जमीनों पर कब्जा जमा लिया। फसलें लूट लीं।' गोरखनंदन यद्यपि किसान नहीं हैं परंतु कानपुर में नौकरी करते हुए भी अपनी ग्रामीण पृष्ठभूमि व पुश्तैनी जमीनों को सहेज कर रखने की इच्छा रखता है। वह किसानों की दुर्दशा के लिए सरकारी नीतियों के साथ-साथ महँगाई को भी जिम्मेदारी मानता है, 'गाँव देहात में महँगाई की सबसे अधिक मार किसानों पर पड़ रही थी। खाद, बीज, पानी और मशीनों से जुताई, कटाई, दवाई वगैरह महँगा होने से जहाँ उनकी फसलों के उत्पादन पर असर पड़ रहा था, वहीं उनके उत्पाद को सरकार और महाजनों द्वारा औने-पौने दाम में खरीदकर उसे भिखारी बनाया जा रहा था।'[6]

पहलवान जहाँ को-आप्रेटिव से कर्ज लेकर परेशान था वहीं गाँवों के अन्य किसान भी सूदखोरों के चुंगल में गिरफ्त है। 'गमके माटी गाँव की' में सूदखोरी का आलम यह है कि सूदखोर अशिक्षित किसानों से उधार में लिए गए रुपयों से अधिक रुपयों का कागज तैयार करवाकर अँगूठा लगवा लेते थे। इस तरह सूदखोरों का मूलधन नहीं कभी खत्म नहीं होता था। मुंशी रमानाथ ऐसा ही एक सूदखोर है, 'मुंशी तो ब्याज पर ब्याज लगाता है। ब्याज का ब्याज तो घटता नहीं, फिर मूलधन कैसे पटेगा।' इक्कीसवीं सदी में गाँव अभी भी विकास की धारा से पिछड़े हुए है। भ्रष्टाचार गाँवों में भी अपना पाँव पसार चुका है 'जहाँ एक जंगल था' में विजयी बाबू अपने गाँव के ग्राम प्रधान के भ्रष्टाचार के बारे में गोरखनंदन से बताते हुए कहता है, 'अखबार में आप जितना पढ़ रहे है वह तो बहुत कम है, गोरख भाई! हमारे मालपुर में भी वही सब हो रहा है, जो देशभर के गाँवों में हो रहा है। मानो सिर्फ कागज का घोड़ा दौड़ रहा है और पैसों की लूट हो रही है। अरे, अपने गाँव का प्रधान तो 'भ्रष्टतम प्रधान' का खिताब पाने का हकदार है और यदि उसकी कारगुजारी की बात छोड़ दीजिए तो सरासर गलादोई कर जाता है। माने, चोरी भी और सीनाजोरी भी।'[7] इस तरह सरकारी धन जो कि किसानों एवं गरीबों के लिए आता है भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ जाता है।

गाँवों में किसानों के शोषण का प्रमुख कारण उनका अशिक्षित होना है। यदि उनको शिक्षित करने का प्रयास होता है तो किसानों को बेवकूफ बनाकर उनका शोषण करने वाले गाँव के ही ऐसी मानसिकता रखने वाले लोगों को नागवार गुजरता है। 'अँधेरा जहाँ उजाला' में रंजीत द्वारा गाँव के अशिक्षित लोगों को शिक्षित किए जाने का विरोध करना। इसी मानसिकता का परिणाम है फिर भी रामजीत गाँव के लोगों को शिक्षित करना अपना परम कर्त्तव्य समझता है। उसके अनुसार, 'ताकतवर हाथी को बड़ी हिम्मत व बुद्धिमता से फँसाकर कब्जे में किया जा सकता है।'[8] अर्थात् शिक्षा के द्वारा ही अपने अधिकारों का सही इस्तेमाल कर अन्याय के खिलाफ लड़ा जा सकता है। इसलिए 'अँधेरा जहाँ उजाला' है में लेखक शिक्षा के द्वारा ही गरीबों किसानों के शोषण से मुक्ति का रास्ता बताता है। 'शेफाली के फूल' नामक उपन्यास में भी ठाकुर बजरंगी अपनी बेटी द्वारा गाँव के लोगों को शिक्षित करने के खिलाफ है। उसको इस बात का डर है कि कहीं अनपढ़, अशिक्षित एवं गाँव की भोली-भाली जनता शिक्षा प्राप्त कर उसके चुंगल से निकल न भागे।[9] गाँव में बेमेल

विवाह की समस्या आज भी विद्यमान है। बेमेल विवाह का उदाहरण 'शेफाली के फूल' नामक उपन्यास में देखा जा सकता है। जिसमें तुलसी अपने पति को छोड़कर गाँव के ही एक व्यक्ति के साथ रहने लगती है। अनमेल विवाह का उदाहरण इस उपन्यास में द्रष्टव्य है, 'यह हम महिलाओं के साथ कितना बड़ा अनर्थ है। जिसके साथ हमारा चुटकीभर मन नहीं मिलता, उसके साथ पहाड़-सा जीवन काटना पड़ता है।' बीतता नहीं जीवन, बीतता तो सुखमय है–जीवन काटना तो मजबूरी घोर बेबसी और लाचारी भी है। समाज के झूठे नैतिक मूल्यों, आडंबरों, विचारों व अनेकों अनेक बेबसी में घिरा आदमी कितना लाचार है–एकदम कसाई के समान हाथ पड़े बकरे के समान।'[10] गाँवों में आज भी स्त्रियाँ विभिन्न कारणों से बेमेल विवाह के कारण अभिशप्त जीवन जीने को विवश है। अनमेल विवाह और दहेज प्रथा का कुप्रभाव 'रंग गई मोर चुनरिया' नामक उपन्यास में भी देखा जा सकता है। गाँवों में आज स्वार्थता, लालच, बेईमानी, संकीर्णता का बोलबाला फैला हुआ है।[11] जहाँ एक तरफ दबंग लोग गाँवों में कमजोर लोगों की जमीन पर कब्जा करने में नहीं हिचकते वहीं सार्वजनिक जमीनों एवं सरकार से गाँवों के लिए प्राप्त छूट की सामग्रियों पर भी लोग नजर गड़ाए रहते हैं। 'बाबा की धरती' नामक उपन्यास में इस अवैध लूट को देखा जा सकता है।

निष्कर्ष–उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के माध्यम से गाँव का जो चित्रण किया है उनमें आज भी अनेक समस्याएँ विद्यमान है। आज भी किसानों एवं गरीबों को हर तरफ से शोषण का शिकार होना पड़ रहा है। उनकी बहुएँ-बेटियाँ आज भी सुरक्षित नहीं है। अशिक्षा, अनमेल विवाह, दहेज प्रथा, बेरोजगारी, लूट भ्रष्टाचार व सूदखोरी आदि आज भी गाँवों में फल-फूल रहे हैं। सरकारी योजनाओं से जनता को लाभ न होकर भ्रष्ट अधिकारियों एवं नेताओं का पेट भर रहा है। गाँव में अच्छे और भले कार्य करने वाले लोगों को आज भी दबंगों द्वारा सताया जा रहा है।

संदर्भ

1. उपन्यास रहस्य, सरस्वती, अक्टूबर 1922 पृ॰ 197
2. उपन्यास, हिंदी प्रदीप, जनवरी 1882, पृ॰ 18
3. सुख शर्वरी का निर्देशन, पृ॰ 5
4. लज्जाराम मेहता, आदर्श दंपति, भूमिका से
5. मनोरंजन, अप्रैल, 1913
6. उपन्यास रहस्य, सरस्वती, अक्टूबर, 1922, पृ॰ 197
7. उपन्यास, हिंदी प्रदीप, जनवरी, 1882, पृ॰ 18
8. शिवमूर्ति, आखिरी छलांग, पृ॰ 80
9. मदन मोहन, जहाँ एक जंगल था, पृ॰ 91
10. डॉ॰ सूर्यदीन यादव, अंधेरा जहाँ उजाला, पृ॰॰ 68
11. विद्यावती दुबे, शेफाली के फूल, पृ॰ 96

उपदीप कौर पत्नी श्री मनप्रीत सिंह
गिल फार्म हाऊस
गाँव+पोस्ट वैदवाला,
जिला सिरसा (हरि॰) 125060
Mob. 8685887741
updeep81@gmail.com

विवेकी राय की कहानियों में सामाजिक जीवन

वर्षा रानी, सहायक प्राध्यापक
द आई सी एफ ए आई विश्वविद्यालय, रायपुर
जयनारायण, (शोध छात्र)
महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म०प्र०)

डॉ० विवेकी राय का जन्म उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के भरौली गाँव में हुआ था। यह उनका नानिहाल है। इनके जीवन में जन्म से ही समस्याओं ने घर कर लिया था। बचपन में ही पिता का साया हट जाने से इनकी माँ ने ननिहाल में जाकर इनका पालन-पोषण किया। प्रारंभिक शिक्षा ननिहाल में ही प्राप्त कर अपने गाँव गाजीपुर आ गए। वहीं से आठवीं की परीक्षा भी उत्तीर्ण की। बचपन से ही इनको पढ़ने और पढ़ाने का शौक था। अपनी पढ़ाई पूरी करने के बाद वे कुछ दिनों तक अध्यापन कार्य करने के बाद पुनः कृषि कार्य में लग गए थे। क्योंकि उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। इसके बाद उनके मन में अध्यापक बनने का भाव उत्पन्न हुआ और वह गाँव के ही स्कूल में अध्यापन के कार्य में लिप्त हो गए। बचपन से ही विवेकी राय में लेखन की कला विद्यमान थी। शुरुआत में उन्होंने कविताएँ लिखीं। उनकी कविताएँ अर्गला, रजनीगंधा, यह जो है गायत्री आदि के रूप में प्रकाशित हुईं। कविता लेखन में उनको आनंद और संतुष्टि नहीं मिली। उन्होंने कहानियाँ, उपन्यास, निबंध, रिपोर्ताज आदि का लेखन प्रारंभ किया। इनके प्रमुख कहानी संग्रह हैं–जीवन परिधि, नई कोयल, बेटे की बिक्री, गूँगा जहाज, कालातीत, चित्रकूट के घाट पर, आदि।

विवेकी राय की कहानियों की विषयवस्तु में ग्रामीण जीवन, ग्रामांचलिक संस्कृति, सामंती जीवन मूल्यों का वर्चस्व, शोषित जन का संघर्ष, ग्रामीण कृषि संस्कृति आदि का यथार्थ चित्रण देखा जा सकता है। विवेकी राय ने बड़ी सहजता के साथ ग्रामीण यथार्थ का चित्रण किया है। सामाजिक जीवन की यथार्थता, परिवेश एवं जीवन मूल्यों को चित्रित करने में सिद्धहस्थ रहे है। कहानी लेखन में विवेकी राय जी की भावपूर्णता एवं समर्पण की भावना अतुलनीय रही है। उन्होंने न ही आधुनिकता से लगाव रखा न ही आतंक का भाव। बल्कि उन्होंने आधुनिकता को दिखावा के रूप में अपना दृष्टिकोण रखने का आग्रह किया है। जो यथार्थवादी दृष्टिकोण की ओर संकेत करता है। विवेकी राय के कथासाहित्य की विषयवस्तु पूर्वांचल की धरती की सोंधी खुशबू है। ग्रामीण सादा जीवन कर्मठता की सोच, धरातली मस्तिष्क की कमी में भी खुशहाल जीवन जीते किसान, मजदूर, मध्यमवर्गीय, जमींदार आदि उनकी लेखनी से अछूते नहीं हैं। वहीं प्राकृतिक सौंदर्य के कायल लेखक ने गाँव की हरियाली, लहलहाते खेत, सजे हुए खलिहान, बाग-बगीचे आदि के सौंदर्य को भी बड़ी सजीवता के साथ चित्रित किया है। सामाजिक जीवन के विविध पहलुओं पर वैचारिक लेखनी को चलाया। समाज में विद्यमान अनेक प्रकार की कुरीतियों, पर्दा प्रथा, बाल विवाह, बहुविवाह, अत्याचार शोषण, दहेज प्रथा, जनसंख्या का अत्यधिक घनत्व को अपनी कहानियों के माध्यम से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है।

 ISSN 0975-735X

'जीवन परिधि' (1952) कहानी-संग्रह में कुल 14 कहानियाँ संग्रहीत हैं। जिसमें सामाजिक जीवन को सजीवता के साथ उद्घाटित किया है। कहानीकार ने आर्थिक संकट से उत्पन्न समस्याओं का उद्घाटन करते हुए इस संकट के कारणों को गिनाया है। वर्तमान मशीनी युग में भी भीख माँगने की आदत आदि आर्थिक समस्याओं के कुछ कारण है। जिससे आर्थिक विषमता उपस्थित है–'आखिर हम लोग अपने को ऊँचा बड़ा, शिक्षित और प्रतिष्ठित समझते हैं क्यों? क्या इसके बिना पर कीड़े मकोड़े की तरह लिज्जत की जिंदगी बिताने वाले लोग भी धरती पर हैं? ....ये क्यों ऐसे है?' आपसी अविश्वास, असंतोष, क्रोध, मतभेद आदि को परखते हुए उल्लेखित किया है। वर्तमान शासन व्यवस्था पर कटाक्ष किया है। शोषक और शोषित को ध्यान में रखते हुए समाज में विद्यमान अत्याचार, अन्याय, बेईमानी, दबंगई, ऊँच-नीच आदि समस्याओं पर प्रकाश डाला है। 'भूमिधर' शीर्षक कहानी में तत्कालीन जमींदारी पृथा की नीतियों पर प्रकाश डाला है। मजदूर वर्ग की स्थिति जो कमरतोड़ मेहनत करते हैं फिर भी अभाव की जिंदगी जीते हैं उनका विशद वर्णन किया गया है।

'नई कोयल'(1975) संग्रह में कुल 22 कहानियाँ संग्रहीत हैं। इस संग्रह की कहानियों में ग्राम-जीवन की विकास अवस्था, परिवर्तन, पतन के साथ ही युवा वर्ग के उपद्रव, बेरोजगारी, शोषण, शहरी जीवन की परेशानियों से संबंधित यथार्थवादी दृष्टिकोण की कहानियाँ संग्रहीत हैं। शोषण, तानाशाही, नौकरशाही, दरिद्रता, घूसखोरी, संस्कृति का पतन को विवेकी राय ने बहुत ही नजदीक से देखा है। इस संग्रह में 'रावण' नामक कहानी में ग्रामीण जन की अशिक्षा, शोषण, सांस्कृतिक पतन बेरोजगारी आदि दशानन की भाँति ग्राम की हालत खराब कर दी है। परंपराओं और सांस्कृतिक पतन से युवावर्ग के शरारती व्यवहार से मानवीय मूल्यों का विनाश हो रहा है। इस कहानी-संग्रह में शादी-विवाह में होने वाली फिजूलखर्ची को लेकर कहानियाँ लिखी गई हैं।

'गूंगा जहाज' (1977) कहानी-संग्रह 21 कहानियों का गुच्छ है जो सामाजिक यथार्थता को उद्घाटित करता है। इस संग्रह की कहानियों में चुनावी मुद्दों, निम्न वर्ग का असंतोष, प्राकृतिक आपदाओं, सरकार की लापरवाही, भुखमरी आदि दिखाई देती है। कृषक जीवन का संघर्ष प्रस्फुटित होता है। ग्रामीण जीवन के सामाजिक पहलुओं को लेकर यथार्थता के साथ लेखक कहानी प्रस्तुत करता है।

'बेटे की बिक्री' कहानी-संग्रह में कुल 18 कहानियों का सुंदर संगम है। गाँव में व्याप्त दहेज के लालची पिता के बदलते विचारों को लेकर लेखक बड़ी तन्मयता के साथ सामाजिक बुराई पर कटाक्ष किया है। समाज में व्याप्त तरह-तरह की बुराइयों–बेमेल विवाह, विधवा विवाह, बहुविवाह को लेकर कहानियाँ लिखी गई हैं। दहेज एक भयानक बीमारी की भाँति समाज को ग्रसित करती है। विवेकी राय ने सामाजिक बुराइयों को बड़ी यथार्थता के साथ उद्घाटित किया गया है।

'कालातीत' यह 17 कहानियों का संग्रह है। इस संग्रह की कहानियों में वैवाहिक विडंबनाओं, मुकदमेबाजी, समाजवादी समाज पर कटाक्ष किया है। सामाजिक समस्याओं के जाल में फँसे ग्रामीण जन का उल्लेख किया है। ग्रामीण जीवन की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक समस्याओं का उद्घाटन करने वाली कहानियाँ बहुत ही लोकप्रिय हैं। समाज में व्याप्त छुआछूत, ऊँच-नीच के भेदभाव को यथार्थता के साथ प्रदर्शित किया है। ग्रामीण चुनावी मुद्दों के जाल से भाईचारे की भावना के पतन को इंगित किया है।

'चित्रकूट के घाट पर'(1988) कहानी-संग्रह में ग्राम जीवन की यथार्थता, सामाजिक

साक्षात्कार को लेकर कुल 27 कहानियाँ संग्रहीत हैं। समाज में विद्यमान भेड़ियों (शोषक) के चरित्र को लेकर बड़ी सच्चाई के साथ कड़वा सच विवेकी राय जी ने प्रस्तुत किया है। मेहनती किसान, गरीब, शोषित वर्ग से सामंत वर्ग क्षय रोग की भाँति चिपके रहते हैं–'शिमला नहीं यह डकैतों का अड्डा है। दिन-भर उसमें छिपे रहते हैं और रात को निकलकर कभी इस गाँव पर, कभी उस गाँव पर पड़ जाते है।' जनसंख्या वृद्धि से होने वाली हानियों को उजागर कर समाज में जागरूकता फैलाने का प्रयत्न किया गया है। इस कहानी में किसानों की स्थिति का जीवंतता के साथ वर्णन किया गया है।

इस प्रकार विवेकी राय के कथासाहित्य के अंतर्गत कहानियों में ग्रामीण जीवन की जीवंत झाँकी देखने को मिलती हैं उन्होंने अपनी कहानियों में लोक-जीवन के सभी पहलुओं के साथ सामाजिक जीवन को बड़ी लगन के साथ अपनी लेखनी में पिरोया है। उनको कोई भी समस्या छोटी बड़ी नहीं लगती, सभी पर उनका बराबर ध्यान जाता है। ग्रामीण समाज का कोना-कोना उन्होंने देखा है और उसके महत्त्व को समझा है जिससे उन समस्याओं को पाठकों के समक्ष लाया जा सके। प्रेमचंद के बाद ग्रामीण झाँकी प्रस्तुत करने का गौरव विवेकी राय जी को प्राप्त है। प्रेमचंद की भाँति इनकी भाषा सरल, सुबोध, मनोवैज्ञानिक है। साधारणजन की भावनाओं को अभिव्यक्त करने वाली है। इसीलिए ग्रामीण सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त करने में विवेकी राय सिद्धहस्त हो पाए हैं।

संदर्भ

1. डॉ॰ विवेकी राय, लोकऋण
2. भुवनेश्वर भास्कर, भोजपुरी लोक संस्कृति और परंपराएँ
3. डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय, भोजपुरी लोकसंस्कृति
4. https://hi.m.wikipedia.org
5. डॉ॰ विवेकी राय, जीवन परिधि
6. डॉ॰ विवेकी राय, नई कोयल
7. डॉ॰ विवेकी राय, बेटे की बिक्री
8. डॉ॰ विवेकी राय, गूँगा जहाज
9. डॉ॰ विवेकी राय, कालातीत
10. डॉ॰ विवेकी राय, चित्रकूट के घाट पर

Varsha Rani
The ICFAI University, Raipur
Near Dashmesh Dhaba, Kumhari
DURG 490042 (C.G)
Mob. 9406294936
smtvarsharani@gmail.com

औरत ही औरत की आवाज

डॉ॰ विजय कुमार वर्मा, एसो॰ प्रोफेसर, हिंदी विभाग
जवाहरलाल नेहरू स्मारक स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बाराबंकी (उ॰प्र॰)

मुक्ति के लिए स्त्री कितना संघर्ष करती है लेकिन विडंबना यह है कि हमारा समाज उसे नेह तक सीमित कर देता है जबकि उसकी आकांक्षा मात्र स्वतंत्रता की नहीं होती बल्कि कुछ जीवन मूल्यों को भी वह बचाकर रखना चाहती है। चिंता की बात यह है कि स्त्री के पास 'वैचारिक संस्थान' कमजोर है। समकालीन आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था में उसने लड़-झगड़कर थोड़ी-सी जगह हथियाई है लेकिन बहुत सारी जगह पर मर्दवाद का कहना है। मर्दवादी सामंत तंत्र स्त्री को अवसर तो देता है लेकिन पूरी स्वतंत्रता नहीं देना चाहता। नासिरा शर्मा का विपुल मात्रा में रचा गया स्त्री-लेखन इस बात का प्रमाण है कि आज की नारी बदल रहे समय, समाज और अपनी चुनौतियों के प्रति सजग-सचेत है। जहाँ देह मुक्ति की आवाज जोर पकड़ती है, वहीं स्त्री-पुरुष संबंधों में मैत्री और सौहार्द के लिए संघर्ष भी है। स्त्री शोषण, बलात्कार की समस्या, आतंकवाद से उपजे विस्थापन, रूढ़ियों-बेड़ियों और व्यवस्था की अड़चनों से भिड़ती लेखिका स्व से पर की यात्रा कर रही है।

सांस्कृतिक रूपों की अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में है, स्त्री का लिखना अपने-आपमें प्रतिरोध को व्यक्त करता है। लिखकर वह विभिन्न मसलों पर अपनी राय, अपना पक्ष जाहिर करती है जो अधिकतर सांस्कृतिक विमर्श के दायरे से अनुपस्थित किया गया पक्ष और राय होती है। इसकी संभावना पूरी है कि यह प्रचलित सांस्कृतिक विमर्श के ठहरे और ठिठके हुए रूप को उल्टा-पुल्टा कर दें... स्त्री ने उन्हीं विषयों पर लिखा है जिन पर पुरुष ने भी विचार किया है, पर स्त्री लेखन में समस्या का स्वरूप, ट्रीटमेंट और निष्कर्ष बदल जाता है।[1] हिंदी की प्रसिद्ध नारीवादी लेखिका नासिरा शर्मा 'औरत की आवाज' हिंदुस्तान के अलावा—पाकिस्तान, अफगानिस्तान, सीरिया, टर्की, ईरान, रूस, जापान, इस्रायल, मिश्र, मलेशिया, केन्या, फिलिस्तीन, साइप्रस आदि देशों की औरतों की आवाज को सुनाने का काम करती हैं। तीन खंडों में बँटी इस पुस्तक का पहला खंड जहाँ देशी-विदेशी कई महिलाओं का नासिरा जी द्वारा लिए गए साक्षात्कार से अवगत कराता है वहीं दूसरा खंड लेख के रूप में समय-समय पर लिखे गए नासिरा के विचारों से रूबरू कराता है। तीसरा खंड विभिन्न लेखकों और पत्रकारों के द्वारा नासिरा जी के लिए गए साक्षात्कारों को पढ़ने का अवसर प्रदान करता है। यहाँ यह बात स्पष्ट है कि तीनों खंडों के केंद्र बिंदु में स्त्री ही मुख्य है। भारत की स्त्रियों की दशा और दिशा का सटीक चित्रण तो है ही, विदेशों की स्त्रियों की दशा और दिशा का चित्रण बखूबी किया गया है। जिसमें लेखिका, पत्रकार, समाज-सेवी, गायिका, राजनीतिक सरोकार की महिलाएँ आदि के साक्षात्कार का मौका जब नासिरा जी को मिला तो उन्होंने बड़े ही बेबाक और बेहतरीन तरीके से उन देशों की स्त्रियों की दशा और दुर्दशा का कच्चा-चिट्ठा प्रस्तुत कर दिया। इन साक्षात्कारों में एक बात समान दिखाई देती है कि स्त्रियों की

स्थिति आमतौर पर एक ही है। पाकिस्तान की नारीवादी कवयित्री किश्वर नाहीद आजादी का मतलब मर्दों की कापी करना को नहीं कहती हैं उनका मानना है कि जो चीज मर्दों के लिए बुरी है अगर वह औरत करती है तो वह औरत के लिए भी बुरी ही होगी। नासिरा जी से बात करते हुए उन्होंने कहा है–'आजादी का मतलब यह नहीं होता कि यदि एक मर्द पाँच औरतों के पीछे जाए तो एक औरत भी पाँच मर्दों के पीछे जाए। जो चीज मर्द के लिए बुरी है वो औरत के लिए भी है।'[2]

देश-विदेश की स्त्रियों के इन साक्षात्कारों को पढ़कर यह तो ज्ञात हो ही जाता है कि आमतौर पर हर जगह अमूमन स्थित एक ही है। हालाँकि भारत जैसे देश में आकर ईरानी गायिका शीरिन जैसी आजादी महसूस करती है, उसे देखकर ऐसा लगता है कि भारत में अनेक देशों की अपेक्षा औरतों की आजादी अधिक है। अपने देश और भारत में स्त्रियों की तुलना करते हुए शीरिन कहती हैं–'खुदा लाख कहे कि उसके लिए सारे बंदे बराबर हैं, औरत-मर्द में कोई फर्क नहीं मगर जब बुनियादी खुदा इस बात को समझे तब न! यहाँ (हिंदुस्तान में) जिस आजादी से बालों की चोटी बाँधकर सिर खुला रखती हूँ, टॉप और पैंट पहनकर घूमती हूँ, वहाँ ऐसा नहीं कर सकती हूँ।'[3]

इराक की महिला जमात की पहली अध्यक्ष मनाल यूनुस अब्दुल रज्जाक भी कुछ इसी तरह की बात नासिरा जी से कहती हैं–'हमारा संघर्ष कहीं पर भी मर्द के विरोध में नहीं जाता। न मर्द हमारा शत्रु है बल्कि मर्द को साथ लेकर हमें रूढ़िवादिता से युद्ध करना है।'[4] नासिरा जी द्वारा लिए गए साक्षात्कारों में टर्की की पत्रकार नबीला तुर्क तो इससे भी बढ़कर और आगे की बात करती हैं। उनकी दृष्टि में 'स्त्री अधिकारों' से ज्यादा महत्त्वपूर्ण 'मानवाधिकार' है, क्योंकि समाज का ताना-बाना दोनों से ही बना रह सकता है किसी एक से नहीं। वे 'वीमन राइट्स' से अधिक 'ह्यूमन राइट्स' को महत्त्व देते हुए कहती हैं–'मैं 'वीमन राइट्स' पर विश्वास नहीं रखती हूँ बल्कि मेरे लिए 'ह्यूमन राइट्स' महत्त्वपूर्ण है, उसी में मेरा यकीन है।'[5]

प्रत्येक स्त्री-पुरुष को भ्रष्ट व्यवस्था के खिलाफ डटकर खड़ा रहना होगा। आज एक सोची-समझी साजिश के तहत दुनियाभर में कुछ अराजक तत्त्व वर्तमान के दिग्भ्रमित युवाओं को अपने फायदे के लिए इस्तेमाल कर रहे हैं। इन स्थितियों में 'ह्यूमन राइट्स' की अनदेखी कर उनसे अमानवीय कृत्य कराए जा रहे हैं। इन स्थितियों से हर पल सावधान रहना होगा। हरिशंकर परसाई ने इसी युवा पीढ़ी के विषय में लिखा है–'दिशाहीन, बेकार, हताश, नकारवादी, विध्वंसवादी बेकार युवकों की यह भीड़ खतरनाक विचारधारा वाले व्यक्ति और समूह कर सकते हैं, इस भीड़ का उपयोग नेपोलियन, हिटलर और मुसोलिनी ने किया था। यह भीड़ धार्मिक उन्मादियों के पीछे चलने लगती है। यह भीड़ किसी भी ऐसे संगठन के साथ हो सकती है जो उनमें उन्माद और तनाव पैदा कर दे, फिर इस भीड़ से विध्वंसक काम कराए जा सकते हैं।'[6] इस भीड़ को स्त्री-विमर्श के खिलाफ भी खड़ा किया जाता है। हिंदी के नवें दशक के अंत में जो स्त्री-विमर्श शुरू हुआ, उसमें पुरुषों की सात पीढ़ियों को गरियाने का काम खूब किया गया। नासिरा जी ऐसी स्त्री-विमर्शकार नहीं हैं। उनके लिए स्त्री का स्त्रीत्व बहुत मायने रखता है। बगदाद की स्त्रियों की हालत देखकर उन्होंने लिखा है–'औरत का सुख सिर्फ आजादी में भी नहीं है। औरत रचना का नाम है, खुदा के बाद सृजनात्मक शक्ति उसी के पास है। तोड़-फोड़ करके भी वह संतुष्ट नहीं रह पाती है।'[7] हिंदी ही नहीं, दुनिया के तमाम देशों में स्त्री-विमर्श की दो धाराएँ बहती रही हैं। जिसमें से एक धारा तोड़-फोड़कर संपूर्ण आजादी चाहती है। वह चाहती है कि वे सारे कार्य करे जो पुरुष करता है चाहे वह सही हो या गलत हो, स्त्री भी करे। वह हर हाल में मर्दों के साथ उनके सभी दुर्गुणों को अपनाकर जीना चाहती है तो दूसरी धारा पुरुष के

सहअस्तित्व में अपनी आजादी चाहती है। नासिरा जी इस दूसरी धारा की विमर्शकार हैं। स्त्रियों को आजादी चाहिए, कैसी आजादी चाहिए? कितनी आजादी चाहिए? इस बात पर अलग-अलग लोगों के अलग-अलग मत हैं। आज बाजारवाद के दौर में स्त्रियों के देह की आजादी के नाम पर, उनकी नुमाइश करके अपना फायदा करने के पक्ष में है। इस देह की आजादी के नाम पर मर्दों के वस्तुओं में जहाँ स्त्री की आवश्यकता ही नहीं है उसमें स्त्री-देह की आजादी के नाम पर दिखाकर अर्थ प्राप्त करना है। वहीं कई बुद्धिजीवी स्त्रियाँ इसके खिलाफ पुरजोर विरोध करती हैं। स्वयं नासिरा शर्मा ने 'आँख का पानी मर चुका है' लेख में लिखा है–'पहले ढके-छिपे हुस्न की अहमियत थी मगर अब खुदा के बनाए जिस्म की नुमाइश ही सब कुछ है।'[8]

स्त्रियों को पुरुषों के समकक्ष खड़ा करने के लिए अपने स्त्रियोचित गुणों का त्याग करना कतई उचित नहीं है। वरिष्ठ स्त्रीवादी लेखिका सुधा अरोड़ा ने लिखा है–'स्त्रियाँ अपनी देह पर सिर्फ पोशाक ही नहीं, अपने स्त्रियोचित गुण त्याग कर मरदाना अंदाज में बेखौफ, गाली-गलौज के भाषा इस्तेमाल कर, सिगरेट के छल्ले उड़ाते हुए अपने को पुरुष के पेडस्टल पर खड़ा करने में अपने जीवन की सार्थकता समझ रही हैं, और उन्हें लगता है कि वे इसी तरह इस सामंती वर्ग को सबक सिखा सकती है.... स्त्री प्रेम और संवेदना को दरकिनार कर अगर पुरुष जैसी बर्बर और नृशंस बनती है तो उसकी आजादी या बहादुरी पर फख्र करने का कोई कारण नहीं है।'[9]

अब मध्यकालीन भक्त कवि तुलसीदास की 'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहि नारी' स्वर निरर्थक हो गया है। मीरा की कृष्ण-भक्ति नारी के लिए आत्महत्या जैसा है और राधा-प्रेम आध्यमिकता का धोखा। इंसान के दो रूप हैं–एक रूप स्त्री है और दूसरा रूप पुरुष। दोनों को बराबर का सम्मान मिलना चाहिए। नासिरा जी ने अपने साक्षात्कार में कहा है–'मेरा अपना ख्याल है कि औरत-मर्द के संबंध इसीलिए कड़वे हो जाते हैं कि वे एक-दूसरे को बराबर समझ प्यार और सम्मान नहीं दे पाते हैं। या तो डरते हैं या फिर हुकूमत करते हैं।'[10] एक स्त्रीवादी लेखिका होने से कोसों दूर हैं। वे पुरुषों के सम्मान और उनके शोषण के विरोध में मुखर रही हैं। उन्होंने अपने एक लेख में लिखा है कि 'बुरा सिर्फ मर्द नहीं है, बल्कि मर्द तो खुद कई जगह शोषित है, इसलिए उनसे भिड़ने की तन्हा कोशिश की जगह हमख्याल मर्दों का साथ लेकर समाज के बोसीदा और तंग नजर वालों के साथ लड़ना कहीं बेहतर है। यह बेहतरी आने वाली पीढ़ी के लिए होगी, जो जरूरी है।'[11]

इस तरह औरत की आवाज सही मायने में एक औरत ही उठा सकती है उसके गुण-दोषों पर सार्थक रूप से अपनी बात कह सकती है। दुनिया के अलग-अलग देशों की स्त्रियों के अधिकार, उनकी स्वतंत्रता, बराबरी का दर्जा आदि की हिमायती नासिरा जी जरूर करती हैं लेकिन इसके लिए वे तोड़-फोड़ या कोई भी विध्वंसक रास्ता अख्तियार करना नहीं चाहतीं, बल्कि पुरुषों को साथ लेकर चलना चाहती हैं।

'औरत की आवाज' में नासिरा जी ने स्त्री विमर्श के अतिरिक्त देश-दुनिया की अन्य महत्त्वपूर्ण बातों को भी बड़े ही सफाई के साथ यथार्थ रूप में चित्रित किया है। अलग-अलग देशों की संस्कृति, रहन-सहन, सामयिक-राजनीतिक स्थिति, बात व्यवहार आदि की जानकारी भी बखूबी कराती चलती हैं। अपने द्वारा लिए गए साक्षात्कारों में वे अपने व्यक्तिगत जीवन, अपने साहित्य, रचना-प्रक्रिया अलग-अलग देशों के प्रति अपने विचार आदि की जानकारी भी देते हुए दिखाई पड़ती हैं।

संदर्भ

1. सुधासिंह, ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, ग्रंथ शिल्पी प्रा॰लि॰, दिल्ली, पृ॰ 243
2. नासिरा शर्मा, औरत की आवाज, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 25
3. वही, पृ॰ 67
4. वही, पृ॰ 70
5. वही, पृ॰ 113
6. हरिशंकर परसाई, आवारा भीड़ के खतरे
7. नासिरा शर्मा, औरत की आवाज, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 183
8. वही, पृ॰ 233
9. सुधा अरोड़ा, चौखट पर स्त्री, 'विमर्श से परे : स्त्री और पुरुष' (संपादक-संजीव चंदन) अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 22
10. नासिरा शर्मा, औरत की आवाज, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 292
11. वही, पृ॰ 185

dr.vijaikumarverma@gmail.com

 ISSN 0975-735X

हिंदीभाषा और मीडिया वैश्विक परिदृश्य

डॉ॰ विजय बहादुर त्रिपाठी, एसो॰ प्रोफेसर (हिंदी)
मुलतानीमल मोदी कालेज, मोदीनगर (गाजियाबाद) उ॰प्र॰

हिंदी भाषा आज विश्व भाषा बन चुकी है। वह व्यापार की भाषा, विज्ञापन की भाषा, मनोरंजन की भाषा के माध्यम से पूरे विश्व में अपनी उपस्थिति (मीडिया, समाचार पत्रों, पत्रिकाओं के द्वारा) दर्ज कर रही है जो हिंदी प्रेमी व हिंदी जीवी अँग्रेजी के वर्चस्व का रोना रोते थे और हिंदी को दोयम दर्जे की भाषा मानते थे वे यह जानकर गौरवान्वित होना चाहेंगे कि हिंदी भाषा पिछले कई वर्षों से लगातार बढ़ती, फलती-फूलती जा रही है। उसकी सहयोगी अन्य भारतीय भाषाएँ क्रमशः सिकुड़ती जा रही हैं। कुछ वर्ग जो हिंदी का मजाक उड़ाते थे और उसे गरीब की जोरू समझते आ रहे थे उन्हें भी यह समझना कष्टकारी होगा कि हिंदी उन्हीं दिनों आगे बढ़ी जिन दिनों मीडिया आगे बढ़ी, यह भूमंडलीकरण के प्रभाव का ही परिणाम है। भाषाविदों के लिए यह तथ्य आश्चर्यजनक होगा कि हिंदी का प्रश्न अब अँग्रेजी के होने न होने से तय नहीं होता, न राजभाषा अधिनियम के लागू होने न होने से तय होता है। हिंदी का प्रश्न खुले बाजार में खुली प्रतिस्पर्धा से तय होता है। हिंदी को लगातार पाखंड, पूजा तथा निम्न स्तरीय भाषा का दंभ भरने वाले भी हिंदी पढ़ने, बोलने, समझने वालों की संख्या विश्व में बढ़ रही है। मीडिया के माध्यम से एक नई हिंदी रूप ग्रहण कर रही है। यह हिंदी ग्लोबल हिंदी है। इस नई हिंदी से राजनीतिज्ञ भी परेशान हैं। वे चाहे वामपंथी हों या दक्षिणपंथी। बदली हिंदी से साहित्यकारों में भी खलबली है। वे एक स्वर में चीखते हैं कि यह अँग्रेजीदा हिंदी है, यह हींग्लिश है। 'भूमंडलीकरण बाजार और हिंदी की भूमिका' में सुधीश पचौरी लिखते हैं कि हिंदी भूमंडलीकरण की भाषा बन चली है। उसका स्वभाव तेजी से बदल रहा है। वह विश्वव्यापी संचार की भाषा बनने की दिशा में अग्रसर है। इतिहास में शायद पहली बार हिंदी इतनी बड़ी वाचाल भाषा बनी है।'[1] विश्व में आज लगभग 3000 भाषाएँ बोली जाती हैं जिन्हें उनकी समानता और असमानता के आधार पर 13 भाषा परिवारों में रखा जाता है। जैसे साकी परिवार की भाषा, द्रविड़ परिवार की भाषा अथवा मंदारिन (चीनी परिवार की भाषा) इन्हीं परिवारों में भारोपीय परिवार की भाषा हिंदी है। भारोपी परिवार की भाषा, भाषा संसार में सर्वाधिक बोली व समझी जाती है। यह परिवार ज्ञान, विज्ञान कला, दर्शन आदि में विश्व में सबसे आगे है। इसका भारोपीय नाम इस परिवार के भारत और यूरोप की भाषा परिवार के नाम पर पड़ा है। विश्व की भाषा का अध्ययन करने पर पता चलता है कि विश्व में सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा मंदारिन चीनी है। दूसरे स्थान पर अँग्रेजी व तीसरे स्थान पर हिंदी आती है। भारत में हिंदी के विकास में मीडिया की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है, पर विदेशों में हिंदी अधिकतर हमारे मजदूर भाई-बहनों के साथ गई। हिंदी का जन्म संस्कृत और जनता की आम भाषा से मिलकर बना है। इस भाषा को गैर हिंदी भाषा-भाषियों ने सँवारा व बढ़ाया। इसमें गांधी, बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, बिपिनचंद्र पाल, दयानंद सरस्वती, राजा राममोहन राय आदि के प्रचार-प्रसार से बल मिला। विदेशी विद्वान ग्रियर्सन ने भी इसे

व्यापक बनाया। 'गुरु रविंद्रनाथ ठाकुर ने लिखा है कि भारतीय भाषाएँ नदियाँ और हिंदीभाषा महानदी हिंदी है। यदि महानदी में और नदियों का पानी आना बंद हो जाए तो हिंदी स्वयं सूख जाएगी। अन्य नदियाँ भी भरी-भरी नहीं रह सकती हैं।'[2] इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि भाषा की गतिशीलता कितनी अनिवार्य है। विभिन्न भाषाओं से शब्द ग्रहण कर भाषा प्रांजल बनती है। यही भाषा की शक्ति है। कबीरदास ने भाषा के बारे में विचार करते हुए लिखा है कि 'संस्कृत भाषा जल कूप है भाखा बहता नीर।' जोगी रमता रहे तो बेहतर, पानी बहता रहे तो बेहतर। अर्थात् जो हम अन्य भाषा के शब्दों से गुरेज करते हैं यह भाषा को कूप बना देती है। अन्य भाषाओं के शब्द से भाषा में निरंतर वृद्धि होती है और भाषा के रूप में परिवर्तन भी आता है। कहने का आशय यह है कि एक ही हिंदी के मारीशस, फीजी आदि में प्रयोग न भी होते हों, किंतु शब्द भंडार, उच्चारण और वाक्य रचना में भी सर्वथा एक तरह न हो सकते हों, पर वे सभी हिंदी की बोलियाँ, उपबोलियाँ हैं। यहाँ इसे इसलिए कहा गया है क्योंकि सामान्यत: ऊपर की समानता देखकर लोग यह जानते हैं कि हिंदी तो एक है, चाहे वह कहीं या किसी समाज में बोली जाती हो। संयुक्त राष्ट्र में हिंदी भी एक उपलब्धि है। भाषा की टेक्नोलॉजी तेजी से बदल रही है। अनुवाद के लिए कंप्यूटर आदि का प्रयोग तेजी से बढ़ रहा है। हिंदी में भी लगातार भाषा की की-बोर्ड अनुप्रयोग तथा अन्य को बढ़ावा दिया जा रहा है। सिनेमा और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, प्रिंट मीडिया ने हिंदी के प्रचार-प्रसार में काफी योगदान दिया है। क्या यह आरोप मीडिया पर आ जाता है कि उससे हिंदी को काफी नुकसान पहुँचाया है, पर यह बात भी मीडिया में ही कही जाती है। क्या सचमुच मीडिया हिंदी को नष्ट कर रहा है? यह सही नहीं है। मीडिया लोकभाषा से शब्द चुराकर भाषा को सर्वसुलभ एवं सर्वग्राह्य बनाता है। दैनिक जागरण की एक रिपोर्ट देखी जा सकती है। पाँच अपराधी धरे गए। धरे गए शब्द भोजपुरी का है यह धड़ल्ले से हिंदी में मीडिया द्वारा प्रयुक्त हो रहा है। धरे जाने का अर्थ पकड़े जाने से है। हिंदी में अँग्रेजी, क्षेत्रीय भाषाओं एवं अन्य भाषा के शब्द जोड़ने से उसका रूप संस्कृतनिष्ठ रूप से बदलकर सरलतम हो रहा है। उसमें अरबी, फारसी, बांग्ला तथा अन्य भाषाओं के शब्द जुड़ते जा रहे हैं। यही कारण है कि हिंदी का विद्वत जगत हाय-तौबा मचा रहा है, पर हिंदी है कि रुकने का नाम नहीं ले रही है। 'इतना तो प्रथम दृष्टि में ही दिखता है की हिंदी तेजी से बदल रही है उसका बदलना यह बताता है कि वह नष्ट नहीं हो रही है, बदलकर स्वयं को नई परिस्थितियों के लिए तैयार कर रही है। जो इस बदलाव को देखकर कहते हैं कि वह नष्ट हो रही है वे दरअसल बदलाव के विरोधी हैं। ऐसे लोग भाषा को समझते ही नहीं, बदलाव की ऐतिहासिक अनिवार्यता को भी नहीं समझते। ऐसे लोग शुद्धतावादी, नस्लवादी हैं जो नस्ल की शुद्धता की तरह भाषा, संस्कृति की शुद्धता के कायल होते हैं।'[3] ऐसा दृष्टिकोण रखने वाले विद्वान अँग्रेजी की गरिमा तो समझते हैं और अपने बच्चों को कॉन्वेंट में या अमेरिका यूरोप में पढ़ाते हैं और उनकी भाषा मिश्रित इंग्लिश से अनुरक्त भी होते हैं परंतु जब गरीब द्वारा यह भाषा मीडिया से ग्रहण कर प्रयोग की जाती है तो वह तुरंत शुद्धतावादी एवं हिंदी को बचाने के नाम पर खड़े हो जाते हैं। 'इस दृष्टिकोण में दोष तो उस दृष्टि का है जो बदलाव के लड्डू तो खाना चाहती है पर खुद को बदलते हुए देखना नहीं चाहती।'[4] भाषा का संबंध संप्रेषण से है। भाषा संचार माध्यमों से संप्रेषित होकर भाव एवं मनोविकारों का माध्यम बनती है। भाषा हमेशा समाज में बनती और बिगड़ती है। भाषा की अशुद्धि नई भाषा को जन्म देती है, अर्थात् जब तक भाषा में अशुद्धता नहीं आएगी, जब तक भाषा लोक उन्मुख होकर के परिवर्तन के साथ नया रूप नहीं ग्रहण करेगी, तब तक वह उसी रूप की भाषा

(बंध्याकृत भाषा) बनी रहेगी। इसे हम भाषा विज्ञान के मरण सिद्धांत से भी समझ सकते हैं। यथा–जब कोई भाषा लोक से हटकर साहित्य कार्य हेतु व्याकरणबद्ध होती है तो वह आम जन की भाषा नहीं रह जाती, वह विद्वानों की भाषा बन जाती है। इस कारण लोक में पथभ्रष्ट होकर एक बोली में विकसित होती है। कालांतर में वह नई भाषा कहलाती है और वह मूल भाषा से उत्पन्न अवश्य होती है पर उससे भिन्न होती है। जबकि मूल भाषा का बंध्याकरण हो जाता है। जैसे संस्कृत से पाली, पाली से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश, और अपभ्रंश से हिंदी का विकास इसी भाषा परिवर्तन का परिणाम है। जो शुद्धतावादी दृष्टिकोण का विरोध करता है। 'भाषा विज्ञान जिस ढंग से हिंदी के विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है उसमें इन बात की कोई खबर नहीं मिलती है कि मीडिया भी भाषा के रूप को निर्धारित करता है। भाषाविद और हिंदी के साहित्यकार अपनी अनपढ़ता में मानकर चलते हैं कि भाषा को जनता बनाती है। वे नहीं जानते न मानते हैं कि भाषा मूलत: ठोस सामाजिक आर्थिक संबंधों का नाम है।'[5] इस प्रकार यह समझना आसान हो जाता है कि भाषा स्वयं अपना रास्ता बनाती है। समय के साथ-साथ परिवर्तन के तत्त्वों को रेखांकित करते हुए चलती है। मीडिया एक माध्यम है जो उसको विकसित करने का प्लेटफार्म होता है। भाषा उसके द्वारा पल्लवित पुष्पित होती चली जाती है। संस्कृत की आत्मजा हिंदी उन्हीं संस्कारों को वहन करती है जिन्हें संस्कृत वहन कर चुकी है। यहाँ यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि हिंदी की अपनी शब्द संपदा कोई कमतर नहीं है। जहाँ अन्य भाषाओं के शब्द ग्रहण करने में हिंदी सबसे आगे है वहीं संस्कृत से कितने ही शब्द यह ले सकती है। क्योंकि संस्कृत का प्रत्येक शब्द हिंदी से मेल खाता है। अकेली संस्कृत में 2000 धातुए हैं। एक धातु में दस प्रत्यय, तीन पुरुष, तीन वचन, तीन लिंग, सात विभक्ति और बीस उपसर्ग लगाकर जब हम शब्द निर्माण प्रारंभ करते हैं तो लगभग 11 लाख शब्दों का निर्माण होता है। इस प्रकार एक धातु से 11लाख शब्द तो दो हजार धातुओं से कई करोड़ शब्दों का निर्माण संभव है। हिंदी, संस्कृत के व्याकरण का सहारा लेकर वैश्विक कंप्यूटर ज्ञान पर एकाधिकार भी स्थापित कर सकती है। अपनी सरलता एवं ग्राह्यता के कारण वह विश्व में सतत लोकप्रिय होती जा रही है। अपने विशाल शब्द भंडार, वैज्ञानिकता, विचारधाराओं को आत्मसात करने की प्रवृत्ति के साथ ज्ञान-विज्ञान की भाषा के रूप में अपनी उपयुक्तता एवं विलक्षणता के कारण हिंदी को सर्वत्र विश्व भाषा के रूप में मान्यता मिलती जा रही है। आज विश्व के लगभग 175 विश्वविद्यालयों में हिंदी का पठन-पाठन तेज गति से चल रहा है। 'लगभग 80 करोड़ आम लोगों के द्वारा बोली जाने वाली विश्व के 176 से अधिक विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाने वाली हिंदी अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बना चुकी है। नए आँकड़ों के अनुसार हिंदी के बोलने वाले विश्व में अब प्रथम स्थान पर हो गए हैं।'[6] हिंदी केवल हिंदुस्तान में ही नहीं बोली जाती अपितु यह विश्व के कई देशों में विचारों के आदान-प्रदान की भाषा बन गई है। चीनी और अँग्रेजी भाषा को पछाड़ते हुए यह विश्व की प्रथम भाषा हो गई है। जिसे वैश्वीकरण एवं उदारीकरण ने खासा बल दिया। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री डेविड ग्रोडेल के अनुसार–'हिंदी 2050 में विश्व की नंबर एक भाषा होने जा रही है। इसे किसी भी रूप में रोक पाना असंभव है।' यह उल्लेखनीय तथ्य है कि हिंदी को समृद्ध करने में देश के विद्वानों के साथ-साथ अनेक विदेशी एवं प्रवासी भारतीयों की अहम भूमिका रही है। विदेशी विद्वानों का हिंदी के प्रति अनुराग, एक लंबा इतिहास है। इसी के साथ यह भी जानना आवश्यक है कि भारतवंशियों ने और गिरमिटिया मजदूरों ने लगभग 175 वर्ष पूर्व मारीशस, फीजी, त्रिनिदाद, गुयाना और सुरीनाम में रहकर हिंदी को पल्लवित पुष्पित किया। वे लोग सामान्य लोग थे जो अपने साथ रामायण,

महाभारत, हनुमान चालीसा, आल्हा-ऊदल की कथा और पोथियों को लेकर के गए थे। उन देशों में हिंदी एवं भारतीय लोकभाषाएँ तुलनात्मक रूप से अधिक समृद्ध होती गईं इसका पूरा श्रेय गिरमिटिया मजदूरों को जाता है। फीजी के राष्ट्रकवि पंडित कमलाप्रसाद मिश्र, विवेकानंद शर्मा, बृजेंद्र भगत तथा मारीशस के राष्ट्रकवि सोमदत्त बखाउरी, मुनेश्वरलाल चिंतामणि सहित अनेक लेखक ऐसे हैं जिन्होंने विश्व हिंदी को समृद्ध बनाया। यह सिलसिला ईस्ट इंडिया कंपनी के 1600 ईसवी में भारत पर अपने विस्तार के साथ ही प्रारंभ हो गया। अनेक विदेशी विद्वानों ने हिंदी को अपने-अपने ढंग से समृद्ध करने की कोशिश की, जिसमें सबसे पहला नाम 'गार्सा द तासी' को जाता है, जिन्होंने भारत की कभी भी यात्रा नहीं की परंतु उस समय भी फ्रांस में बैठकर हिंदी साहित्य का इतिहास लेखन के साथ-साथ सूर, कबीर, तुलसी और जायसी जैसे 700 कवियों का विवरण अपने इतिहास ग्रंथ में किया। जान गिलक्रिस्ट ने जो एक अँग्रेज विद्वान थे, देशी भाषाओं के समन्वय के साथ अँग्रेजों के लिए सुलभ ग्रंथ का सृजन किया। उन्होंने डिक्शनरी ऑफ इंग्लिश एंड हिंदुस्तानी की रचना की। इस कोश में तत्कालीन प्रचलित अरबी-फारसी भाषा के अनेक शब्दों को स्थान दिया गया। 1796 में हिंदुस्तानी भाषा के व्याकरण पर भी एक पुस्तक प्रकाशित की। जान गिलक्रिस्ट का यह ग्रंथ तत्कालीन अँग्रेजों को हिंदी सिखाने के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुआ। अँग्रेज अधिकारी जॉर्ज ग्रियर्सन ने हिंदी जगत का बहुत भला किया। उन्होंने हिंदी पर काफी शोध किया। इसी क्रम में तत्कालीन अँग्रेजी सरकार ने उन्हें 'फादर ऑफ लैंग्वेज ऑफ अवर टाइम' की उपाधि से सम्मानित किया। जापानी विद्वान प्रोफेसर तोशियो तनाका, तोमियो मीजोकामी और रूस के वारानीकोव, डॉक्टर लिउदमिला एवं पोलैंड के प्रोफेसर ब्रिस्की कि हिंदी को विश्व में स्थापित करने में अहम भूमिका रही। आज सिंगापुर आस्ट्रेलिया सऊदी अरब, बहरीन देशों में अनेक विद्वान लगातार हिंदी के कार्य को आगे बढ़ा रहे हैं। 'आज हम हिंदी को विश्व भाषा के रूप में स्थापित करने का सपना देख रहे हैं तो विदेशी हिंदी विद्वानों और प्रवासी भारतीयों के बल पर ही आज अनेक विश्वविद्यालयों में प्रवासी साहित्य को पाठ्यक्रम के रूप में सम्मानित कर लिया गया है। प्रवासी हिंदी साहित्य करुणा और संघर्ष का साहित्य है। भारत के विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जा रहे प्रवासी हिंदी साहित्य के नाम पर सब-कुछ अच्छा है! ऐसा नहीं है। प्रवासी साहित्य के पाठ्यक्रमों में पढ़ाई जा रही कई कहानियों के कथानक बच्चों को पढ़ाए जाने के लिए उपयुक्त नहीं है। अभी तक उनका कोई मानदंड स्थापित नहीं है न ही इस प्रकार की कोई व्यवस्था है जो इसकी निष्पक्ष समीक्षा कर सकें।'[7] कुल मिलाकर भाषाओं की समृद्धि के लिए अपने परिवार में अपने घरों के बच्चों को मातृभाषा और राष्ट्र की भाषा का प्रयोग करने की शिक्षा देना आवश्यक है। यदि ऐसा सभी भारतीय करने लगे तो आने वाली पीढ़ी अपनी मातृभाषा पर गर्व करेंगी। हिंदी विश्व में नया आकार ले रही है। आने वाले समय में हिंदी तकनीकी के साथ-साथ व्यापार वाणिज्य और विज्ञापन की भाषा के रूप में कदमताल करती हुई दिखेगी। इसके साथ ही साथ भारतीय संस्कार की भाषा होने का गौरव भी प्राप्त करेगी। किसी भी समाज को तब तक गुलाम नहीं बनाया जा सकता जब तक उसकी संस्कृत और भाषा को गुलाम न बनाया जाए। इस तरह से हम अपनी भाषा को संस्कार की भाषा के रूप में अपने आने वाली भावी पीढ़ी को प्रदान कर सकते हैं और अपनी संस्कृति को बचा सकते हैं।

संदर्भ

1. सुधीश पचौरी, भूमंडलीकरण बाजार और हिंदी, अनुराग प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ॰ 8

2. डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, हिंदी भाषा का अंतरराष्ट्रीय संदर्भ, पांडुलिपि प्रकाशन, पृ॰ 30
3. सुधीश पचौरी, भूमंडलीकरण बाजार और हिंदी, पृ॰ 52
4. वही, पृ॰ 53
5. वही, पृ॰ 53
6. मीना कॉल (संपादक), हिंदी का वैश्विक परिदृश्य, पृ॰ 307
7. दैनिक जागरण संपादकीय 10 जनवरी 2023

2-Professors' Lodge,
Multanimal Modi College
Modi Nagar (Ghaziabad) 201204 U.P.
Mob. 7017043539
tripathi88.vijay@gmail.com

क्रांतिकारी कवि और विद्रोही संत : महात्मा कबीर

डॉ॰ सुधाकर शेंडगे, प्रोफेसर, हिंदी विभाग
डॉ॰ बाबासाहब आंबेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद

भारतीय संत साहित्य परंपरा में सबसे पहले व्यवस्था की धज्जियाँ उड़ाने वाले प्रथम क्रांतिकारी कवि, फक्कड़ संत, महान विचारक के रूप में म॰ कबीर हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। केवल अध्यात्मिक साधना कबीर का उद्देश्य नहीं था बल्कि वे सामाजिक क्रांति की अपेक्षा रखते हैं। यही कारण है कि कबीर की कविता में न केवल व्यवस्था विरोध है बल्कि जितना विद्रोह है उतनी ही नकार की भावना भी है। कबीर ने अपने समकालीन राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था का स्पष्ट शब्दों में विरोध किया है। इस कारण कबीर को अनेक षड्यंत्रों का शिकार भी होना पड़ा लेकिन वे टस-से-मस नहीं हुए। आजीवन उन्होंने अपनी कथनी एवं करनी में अंतर नहीं आने दिया। यही कारण है कि पंद्रहवीं शती में जन्में इस महान संत की विचारधारा का न केवल भारतीय साहित्य पर बल्कि विश्व साहित्य पर भी प्रभाव देखा जा सकता है। कबीर की कविता आज भी प्रासंगिक है। कबीर ने एक क्रांतिकारी विचार भारतीय जन-मानस को दिया। समताधिष्ठित विचारों के जो बीज महात्मा गौतम बुध्द ने बोये थे कबीर ने उस दिशा में पहल की है।

महात्मा कबीर की ईश्वर-संबंधी धारणा–महात्मा कबीर निर्गुणपंथी भक्त हैं। इसलिए उनके ईश्वर का रूप निर्गुण है, निराकार है। निराकार और निर्गुण की प्राप्ति केवल ज्ञान से संभव है। उनकी मान्यता है कि ईश्वर घट-घट में बसता है, उसे बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं है। इस संबंध में वे लिखते हैं–

मोको कहाँ ढूँढै बंदे, मैं तो तेरे पास में
ना मैं देवल ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में
खोजित होय तो तुरत मिलै पलभर की तलास में
कहत कबीर सुन भाई साधौ, मैं साँसों की साँस में

कबीर का कहना है कि सृष्टि के कण-कण में भगवान हैं। उसे किसी मंदिर-मस्जिद या गुरुद्वारे में ढूँढने की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर हरेक के अंतर्मन में विराजमान होते हैं। साँस की आवन-जावन में भी वे विद्यमान है।

कबीर की भक्ति अनन्य भाव की भक्ति है। उसमें कर्मकांड और बाह्याचार के लिए कोई स्थान नहीं है। कबीर की भक्ति निष्काम भक्ति है। कबीर ने भक्ति और प्रेम के सहारे ब्रह्म से तादात्म्य करना चाहा है। कबीर की भक्ति एक ऐसा राजमार्ग है जिस पर सभी सुगमता से चल सकते हैं, उनमें उँच-नीच, ब्राह्मण-शूद्र, स्पृश्य-अस्पृश्य ऐसा कोई भेद नहीं है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में–'उनका 'अल्लाह' निरंजन देव है जो सेवा से परे है; उनका 'विष्णु' वह है जो संसार रूप में विस्तृत है; उनका 'गोविंद' वह है जिसने ब्रह्मांड को धारण किया है; उनका 'राम' वह है जो सनातन तत्त्व है; 'खुदा' वह है जो दस दरवाजों को खोल देता है, 'रब' वह है जो चौरासी लाख योनियों का परवरदिगार है; 'करीम' वह है जो इतना सब कर रहा है, 'गौरव' वह है जो ज्ञान

 ISSN 0975-735X

से गम्य है; 'महादेव' वह है जो मन की जानता है। अनंत हैं इसके नाम, अपरंपार है उसका स्वरूप।'[1] स्पष्ट है कबीर ने अपने ब्रह्म को भले ही अनेक नाम दिए हों वे सारे निर्गुण और निराकार ब्रह्म के ही रूप हैं। कबीर एकेश्वरवादी थे और एक ही ईश्वर को मानते थे।

कबीर का मानवतवादी दृष्टिकोण–महात्मा कबीर की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वे मानवतावाद को ही सर्वोपरि मानते हैं। यही कारण है कि कबीर की संपूर्ण कविता मानव मुक्ति का ही गीत गाती है। कबीर की कविता केवल भक्ति की कविता नहीं बल्कि प्रेम और भाईचारे की भी कविता है। तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक व्यवस्था के चंगुल में फँसे आम आदमी की मुक्ति की कविता है, मनुष्य-मनुष्य के बीच मनुष्यता का रिश्ता कायम करने की कविता है।

कबीर का जन्म ही ऐसी स्थितियों में हुआ है जब भारतीय संस्कृति और साहित्य संकट के घेरों में साँसे ले रहा था। निराशा के तिमिर में जनता अपना रास्ता भटक गई थी। राजनीतिक-सामाजिक अध:पतन जारी था आम आदमी के सुख-दु:खों का किसी को ध्यान नहीं था। परिस्थितियाँ और आम जनता ऐसे ही किसी विद्रोही व्यक्तित्व की प्रतीक्षा कर रही थी, तभी एक फक्कड़ संत के रूप में कबीर का अविर्भाव हुआ है।

सत्ताधारी मुसलमान शासकों की ओर से और तथाकथित धर्म के ठेकेदारों की ओर से जनता पर ज्यादतीपूर्ण व्यवहार किए जाते थे, जिससे जनता तंग आ चुकी थी। 'हिंदू समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के अतिरिक्त भी अनेक उपवर्ण थे। ब्राह्मण सर्वोच्च जाति थी और शूद्रों को तिरस्कृत, पददलित और अछूत समझा जाता था। ब्राह्मणों के अत्याचारों और निषेधों ने शूद्र जाति की अवस्था विशेष रूप से विपन्न बना दी थी। ऐसे तिरस्कृत लोग अपनी नई जाति का निर्माण कर समाज में जातियों की संख्या में वृद्धि कर रहे थे।'[2]

कबीर का मानवतावाद निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है–

जाति-पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।।

कबीर की यह धारणा थी कि अगर हम एक ही ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं, तो फिर कोई ऊँचा और कोई निम्न कैसे? ईश्वर के दरबार में सभी जन एक हैं। वर्ण व्यवस्था के नाम पर तथाकथित धर्म के पंडों ने मानव-मानव के बीच जो दीवार खड़ी की थी, कबीर उसको तोड़ देना चाहते हैं। तत्कालीन समाज व्यवस्था में शूद्रों को मंदिर में प्रवेश की अनुमति नहीं थी। कबीर का मानना था कि भगवान अपने भक्त को उसकी जाति नहीं पूछते, भक्त की पहचान जाति नहीं बल्कि भक्ति है।

कबीर की दृष्टि सबको स्वीकार ने की दृष्टि थी। उन्हें मालूम था कि विविधता में एकता ही इस देश की मूल संस्कृति है। इस संबंध में डॉ॰ पारसनाथ तिवारी लिखते हैं, 'कबीर मानव एकता का प्रतिपादन इसलिए नहीं करते कि उसके द्वारा उन्हें किसी दूसरे उद्देश्य की पूर्ति करनी है। वे एकता का प्रतिपादन इसलिए करते हैं कि वही ठीक रास्ता है।'[3]

कबीर की यह मान्यता थी कि मानव ने मानव के साथ मानव जैसा ही व्यवहार करना चाहिए। वे जनकल्याण को ही सबसे बड़ा धर्म मानते थे। सच्चा मानवधर्म वही है। नैतिकता और मानवधर्म की लीक पर वे समाज को ले जाना चाहते हैं। इसलिए ही कबीर को पहला क्रांतिकारी कवि कहा जाता है। उनके संपूर्ण साहित्य के केंद्र में मानव जाति के कल्याण की कामना है। कबीर ने जिन अनुभवों को हृदयगंम किया वे सब यथार्थ और वास्तविक हैं। कबीर दया, बंधुत्व और प्रेम के बलबूते पर आपसी भाईचारा निर्माण करना चाहते हैं।

यही कारण है कि कबीर भाषा को अनन्य साधारण महत्त्व देते हैं, क्योंकि प्रेम की भाषा ही

अलग होती है। प्रेम के बलबूते पर ही मानव-मानव के बीच की खाई को मिटाया जा सकता है। इसलिए कबीर लिखते हैं-

ऐसी वाणी बोलिए, मन का आपा खोय।
अपना मन शीतल करे, औरन को सुख देय।

वाणी का महत्त्व बड़ा शक्तिशाली है। मीठी और सरलवाणी से ही मैत्री संभव है। भाषा का हम दुरुपयोग करेंगे तो शत्रुता ही पैदा होती है। कबीर का कहना है कि 'प्रत्येक मानव प्राणी को ऐसी वाणी का प्रयोग करना चाहिए ताकि आपस में कटुता का भाव बढ़ने के बजाय आपसी प्रेम और भाईचारा बढ़े। उनके मतानुसार मधुरवाणी एक ऐसी संजीवनी बूटी है जिसके बलबूते पर आपसी कटुता और वैमनस्य मिटाने में मदद मिलती है।

सामाजिक समता स्थापित करना कबीर का मूल उत्स है। इसलिए उनका दृष्टिकोण पूरी तरह मानवतावादी है। उनका मत है कि प्रेम के बलबूते पर ही कोई रिश्ता कायम हो सकता है। इसलिए जहाँ हमारी वाणी संतुलित होनी चाहिए वहाँ हमारा व्यवहार भी सदाचार का ही होना चाहिए। उन्हीं के शब्दों में–

जो तोकों काटा बुवै, ताहि बोय तू फूल।
तो हि फूल के फूल हैं, बाकी है तिरसूल।।

कबीर बड़प्पन सीखाते हुए कहते हैं, 'जो तुम्हारी बुराई करे, उसकी तुम भलाई करो। निश्चित रूप से अच्छाई के फल अच्छे मिलेंगे और बुराई के बुरे ही। अत: जो दूसरे के अच्छाई की कामना करेगा उसका भला होगा और बुराई करनेवाले की हानि होगी। हिंसा का सूत्रपात बदले की भावना से होता है। अपने प्रति बुराई करनेवालों के प्रति क्षमाशील होना, साधु-सज्जन का लक्षण है। हम दूसरों के रास्ते पर फूल बिछाएँगे तो वह हमारे रास्ते पर काँटे क्यों बोयेगा? दूसरों की ओर देखने का दृष्टिकोण ही इतना विशाल होना चाहिए–

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजे आपना, मुझ सा बुरा ना कोय।

मानव हृदय की दुर्बलता है कि हमें दूसरों में तो अवगुण दिखाई पड़ते हैं लेकिन अपना दोष हमें दृष्टिगोचर नहीं होता। कबीर कहते हैं कि हमारी दृष्टि इतनी विशाल होनी चाहिए कि दूसरों में बुराई ढूँढने पर भी उसमें अच्छाई ही नजर आएँ और अपने भीतर की बुराई को हम समझ पाएँ।

कबीर समाज में फैले जाति और धर्म के भेदभाव को मिटाना चाहते हैं। जब तक वर्णवादी व्यवस्था को मिटाया नहीं जा सकता तब तक आपसी भाईचारा नहीं उत्पन्न हो सकता। भगवान ने अगर सभी को एक ही स्थिति में उत्पन्न किया है फिर एक ऊँचे कुल का और दूसरा शूद्र क्यों है? कबीर लिखते हैं–

एक बूँद एके मलमूतर, एक चाँम एक गुदा।
एक जाति से सब उतपना, कौन बाभन कौन सूदा।।

कबीर की दृष्टि में न कोई बड़ा है न छोटा, न कोई ऊँचा है न निम्न। एक ही ईश्वर ने सबको जन्म दिया है अत: सभी समान हैं। अगर हमारे शरीर में एक जैसा खून है, एक जैसा मलमूत्र है, सभी अवयव एक जैसे हैं, हम सभी एक ही जाति से उत्पन्न है तो फिर एक ब्राह्मण और दूसरा शूद्र कैसे हो सकता है। कबीर यह अच्छी तरह से जानते थे कि ईश्वर ने हमें एक जैसा बनाया है किंतु यहाँ की धार्मिक व्यवस्था ने ही हमें एक-दूसरे से अलगाया है। इसलिए वे इस व्यवस्था को ही नकारते हैं। धर्म

के उन ठेकेदारों से वे प्रश्न करते हैं कि 'सभी एक ही ब्रह्म की कृतियाँ हैं। सभी एक ही कुम्हार की रचनाएँ हैं। फिर ब्राह्मण और शूद्र इस प्रकार भेद-भाव तो मन-मैल मात्र है और कुछ नहीं।

समता का सूत्र संविधान में बहुत बाद में आया है, उसके पहले उसे बुद्ध और कबीर की विचारधारा में देखा जा सकता है। प्रगतिशीलता का विशाल दृष्टिकोण कबीर के पास था इसलिए ही उन्होंने वर्ग व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था का डटकर विरोध किया है। मानवतावाद की स्थापना के लिए कबीर संघर्षरत दिखाई देते हैं।

कबीर ज्ञानमार्गी कवि हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान का अनन्य साधारण महत्त्व है। व्यक्ति के व्यक्तित्व की सही परख ज्ञान से ही संभव है। साधु का महत्त्व कपड़ों से या बाहरी चीजों से नहीं पहचाना जाता बल्कि उसके अनमोल विचारों से ही पहचाना जाता है। इसलिए कबीर लिखते हैं–

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।।

साधु जाति से नहीं ज्ञान से पूजनीय बनता है। जिस किसी के पास ज्ञान है, अच्छे विचार हैं वह यदि शूद्र भी है तो श्रेष्ठ है और कोई ऊँचे कुल में जन्म लेने के बावजूद ज्ञानी नहीं है, तो वह कबीर की दृष्टि में कनिष्ठ है। इस प्रकार वर्णाश्रम की अन्यायपूर्ण व्यवस्था पर उन्होंने प्रहार किया है।

इस प्रकार समताधिष्ठित मूल्यों की स्थापना के लिए कबीर निरंतर प्रयत्नरत दिखाई देते हैं। कबीर समताधिष्ठित विचारधारा के हिमायती थे और आजीवन इसी दिशा में कार्यरत रहे, 'कबीर के मानवतावाद को पाश्चात्य विद्वान हिगेल, मार्क्स, प्लेटो और नुर के साम्यवाद से भिन्न माना जाता है। कबीर का मानवतावाद उनके साम्यवाद से कई गुना व्यापक और महान है।'[4] इस संबंध में डॉ॰ गोविंद त्रिगुणायत लिखते हैं, 'उनका साम्यवाद इस्लामिक साम्यवाद की व्यावहारिकता, भारतीय अद्वैतवाद की ज्ञानात्मकता के सुंदर समन्वय से बना है। इस दृष्टि से उनका साम्यवाद अपनी अलग विशेषताओं से विशिष्ट होने के कारण पूर्णत: मौलिक है।'[5]

कबीर की यह मान्यता है कि मन के निर्मल होने पर ही सामाजिक सुधार संभव है। समाज सेवा की सच्ची लगन कबीर में है। किसी भी कीमत पर वे समाज में व्याप्त कुरीतियों को दूर करना चाहते हैं। उन्हें यह मान्य नहीं है कि भेदभाव की नीति के कारण जनता शोषण का शिकार बने। इसलिए वे अभिजनों को चेतावनी देते हैं–

माटी कहे कुम्हार से, तू क्या रौंदे मोहे।
एक दिन ऐसा आएगा, मैं रौदूँगी तोहे।।

ऊँची जाति के द्वारा निम्न जातियों पर, सबल द्वारा निर्बल पर निरंतर अत्याचार चले आ रहे हैं। कबीर काल की स्थिति भी इससे अलग नहीं है। कबीर उन शोषकों को, अत्याचारियों को सचेत करते हुए कहते हैं कि 'कुम्हार माटी को जब रौंदता है तो माटी कुम्हार से कहती है, कि आज तुम मुझे रौंद रहे हो लेकिन यह मत भूलो कि अंत में तुम्हें मेरी शरण में ही आना है।' जिस दिन कुम्हार की मृत्यु हो जाएगी उस दिन उसे मिट्टी में मिल जाना है।

कबीर अक्सर सामान्य आदमी की बात करते हैं। आम आदमी का सुख-दु:ख ही उनके चिंतन का विषय है। वे गरीबों के हिमायती हैं इसलिए उनकी वकालत करते हैं ताकि न्याय कायम हो। इसी संदर्भ में कबीर आगे लिखते हैं–

निर्बल को न सताईए, जिनकी मोटी हाय।
बिन जीव के स्वास से, लौह भस्म हो जाय।।

कबीर कहते हैं, गरीब लोगों पर कभी अन्याय और अत्याचार नहीं करना चाहिए। तत्कालीन स्थिति में भी गरीबों को तरह-तरह से उत्पीड़ित किया जाता था। कबीर कहते हैं, निर्बल को कभी नहीं सताना चाहिए क्योंकि उनकी आह से नुकसान हो सकता है। जिस प्रकार मरे जीव की खाल से बने यंत्र से अगर लोहा भस्म हो सकता है, उसी प्रकार गरीबों की आह बद्दुआ बनकर शोषणकर्ता को जलाकर भस्म कर सकती है।

यह प्रेम ही सब कुछ है जिसे पाकर कबीर धन्य हो गए हैं। इस बादल रूपी प्रेम की वर्षा में स्नान कर कबीर की आत्मा तृप्त हो गई और उनका मन आनंद विभोर हो उठा है, 'कबीर की दृष्टि में प्रेम ही सर्वस्व है। उसी के आधार पर व्यक्ति एक दूसरे के साथ बंधुत्व की भावना को जाग्रत कर सकता है।'[6]

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि 'कबीर सच्चे मानवतावादी थे, जिनका एकमात्र लक्ष्य मानव मात्र का कल्याण साधना था। वे उसी ज्ञान को स्तुत्य मानने के पक्षधर थे, जिससे मानव की पीड़ा का शमन होता है।'[7] उनका विरोध किसी जाति या संप्रदाय से नहीं था। उनका विरोध समाज में व्याप्त दुर्गुणों से था, जिनका निर्मूलन करना उनका मुख्य उद्देश्य था। कबीर का समूचा साहित्य सहिष्णुता उत्पन्न करनेवाला साहित्य है मानवतावादी बनानेवाला साहित्य है।

कबीर की दृष्टि में, 'हिंदू-मुस्लिम दोनों एक ही कमल के दो दल हैं। एक ही देश की दो आँखें हैं। एक ही सागर की दो लहरें हैं। अत: उन्होंने एक ऐसे समाज की सरंचना की कल्पना की जिसमें दोनों धर्म के लोग प्रेम, सहयोग और आदर के साथ, एक ही परिवार के सदस्यों की भाँति रह सकें। इसलिए जो लोग हिंदू-मुस्लिम एकता के व्रत में दीक्षित हैं, वे कबीर साहब को अपना मार्गदर्शक मानते थे क्योंकि कबीर से अधिक जोरदार शब्दों में इस एकता का प्रतिपादन किसी ने नहीं किया।'[8]

कबीर के मतानुसार धर्म एक है और वह धर्म है मानवता का, प्रेम का। प्रेम की महिमा पर कबीर ने इसलिए जोर दिया है कि प्रेम करने के लिए मनुष्य स्वाधीन है, पराधीन नहीं और मनुष्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मांग प्रेम की है। इसे आत्मसात कर हम स्वयं को और समाज को सुखी बना सकते हैं। कबीर प्रेम, सद्भावना, भाईचारे के माध्यम से नया समाज निर्माण करना चाहते हैं।

कबीर का ज्ञान एवं सत्य संबंधी दृष्टिकोण–महात्मा कबीर एक नया समाज निर्माण करना चाहते थे। वे जानते थे कि जब तक ज्ञान का प्रकाश लोकजीवन तक नहीं पहुँचेगा, तब तक समाज का चित्र बदल नहीं सकता। जहाँ तक शिक्षा का संबंध है, कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे। वे स्वयं कहते हैं–

मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।
चारिउ जुग को महातम, मुखहि जनाई बात।।

इसका अर्थ यह है कि कबीर पढ़े लिखे नहीं थे, लेकिन उनके पास अनन्य साधारण प्रतिभा शक्ति थी, एक पुख्ता विचार था, जिसके माध्यम से वे परिवर्तन की लड़ाई लड़ते रहे। जैसे कहा गया है कि 'अनुभव गावै सो रागी है' वाली बात कबीर पर पूर्णत: लागू होती है। कबीर ने जिन बातों को अपनी आँखों से देखा, सहा वही अनुभव अंतर्मन से फूट पड़ा। उनके पास वाणी की आँख थी जिससे हर बात को परखकर देखते थे। इस कारण तर्क में कबीर से कोई जीत नहीं सकता। इसी 'आत्मज्ञान' का परिचय देते हुए कबीर कहते हैं–

मैं कहता आँखिन देखी, तू कहता कागज लेखी।
आतम ज्ञान बिन जग झूठा, क्या मथुरा क्या काशी।।

मानव का मानव से नाता है, उसको समझने के लिए जो सहृदयता चाहिए वह कबीर के पास थी। कबीर ऐसी बातों पर विश्वास नहीं करते थे जो बातें बुद्धि की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। वे यह भी जानते थे कि लिखने वाले तथाकथित बुद्धिमानी लोग अपने अनुकूल लेखन किया करते थे, उनके लेखन पर कैसे विश्वास किया जाए? धर्मग्रंथों के माध्यम से लोगों को गुमराह करना कुछ लोगों की नीति थी, किसी विशिष्ट वर्ग को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए इतिहास और धर्मग्रंथों के पन्ने खर्च किए गए थे। इस बात को कबीर ने अपने आत्मज्ञान से समझ लिया था। यही कारण है कि किसी भी प्रकार की 'कागज लेखी' पर उनका विश्वास नहीं था।

कबीर को इस बात का बुरा लगता था कि आत्मज्ञान की बातें भूलकर लोग पत्थर की पूजा किया करते थे। लोगों को ज्ञान का गुमान था लेकिन वास्तव में लोग अज्ञानी थे। माला धारण कर आसन पर विराजमान होकर टोपी पहनकर छापा और तिलक लगाकर समझ लेते थे कि 'हम बहुत ज्ञानी और परम संत हैं जबकि यह सब सिर्फ ढकोसला था, सच्चा धर्म कोई नहीं समझता था। धर्ममार्तंड अपने अहं के कारण सच्चे धर्म से बहुत दूर गए थे। सच्चे धर्म का आधार है–प्रेम। यही प्रेम ही सब-कुछ है। इसी प्रेम के बलबूते पर आत्मोन्नति ही नहीं समाजोन्नति भी संभव है, प्रेम एक अद्‌भुत शक्ति है, एक ऐसी ऊर्जा है जो मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने का काम करती है। कबीर का मानना है कि प्रेम के अभाव में मनुष्य का जीवन असफल हो जाता है, नारकीय बन जाता है। कबीर ने प्रेम रस का पान किया था, इसलिए वे समाज को प्रेम बाँटते रहे। वे बादलरूपी प्रेम में ऐसे भीग जाते हैं कि उनकी आत्मा तृप्त होती है, आनंद विभोर हो उठती है। कबीर की दृष्टि में प्रेम ही सर्वस्व है। उसी के आधार पर व्यक्ति एक दूसरे के साथ बंधुत्व की भावना जाग्रत कर सकता है।"[9]

कबीर का मानना है कि इस प्रेम के अभाव में पांडित्य भी निरर्थक है। उनकी दृष्टि में वह पंडित श्रेष्ठ नहीं है, जो केवल अपने पांडित्य का प्रदर्शन करता है, उनकी नजर में वह श्रेष्ठ साधु है जो सबको प्रेम से गले लगाता है, प्रेम का अर्थ स्वयं समझता है और दूसरों को समझाता है। उन्हीं के शब्दों में–

पोथि पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े से पंडित होय।।

यदि प्रेम का महत्त्व नहीं समझा और जीवन में उसे नहीं अपनाया तो सारा ज्ञान व्यर्थ है। यह बात सर्वमान्य है कि प्रेम बाँटने से घटता नहीं है, बल्कि उसका भंडार और व्यापक हो जाता है।

स्पष्ट है कबीर पाखंड का खुले शब्दों में विरोध करते हैं। इसलिए पंडित के पास ज्ञान अवश्य हो लेकिन वह केवल पांडित्य प्रदर्शन न हो, अपने ज्ञान का उपयोग स्वार्थ के लिए ही करता हो और समाज से छलकपट करता हो, ऐसा साधु किस काम का?

'ज्ञान' से ही व्यक्ति अच्छे-बुरे का विचार समझ सकता है। 'ज्ञान' के बल पर व्यक्ति सामाजिक विसंगति को, अपने और अपनी जातिगत अवस्था को समझ सकता है। अपने अधिकार को समझ सकता है। दूसरे अर्थ में जब तक व्यक्ति की वैचारिक उन्नति नहीं होगी तब तक सामाजिक स्थिति में कोई परिवर्तन होने की संभावना नहीं है। अगर हम परिवर्तन चाहते हैं तो पहले हमें जाग्रत होना चाहिए। कबीर जिस आदर्श समाज का निर्माण करना चाहते हैं, उस समाज में श्ज्ञानीश संयमी के साथ 'शीलवान' की आवश्यकता प्रतिपादित करते हैं–

ज्ञानी, ध्यानी, संयमी, दाता, सुर अनेक।
जपिया, तपिया बहुत है, शीलवंत कोई एक।।

कबीर की अपेक्षा है कि व्यक्ति ज्ञानी और संयमी है किंतु वह शीलवंत नहीं है तो उसके ज्ञान का क्या फायदा? उसका जप-तप भी ज्ञान और शील के अभाव में निरर्थक है। ऐसे ज्ञानी तो बहुत मिल जाएँगे जिन्हें अपने जप-तप पर घमंड हो परंतु जो स्वयं 'शीलवान' नहीं है, वह दूसरों को क्या उपदेश दे सकता है। यही कारण है कि, जो केवल ज्ञानी होने का दिखावा करते हैं, ढोंग करते हैं, कबीर उनका पर्दाफाश करते हैं, 'कबीर समान रूप से उन सभी के विरोध में खड़े हुए थे, जो समाज को गुमराह करके जड़ता की ओर ले जा रहे थे।'

हिंदी साहित्य के इतिहास में कबीर 'ज्ञानमार्गी शाखा' के कवि के रूप में ही जाने जाते हैं। कबीर किसी भी स्कूल में नहीं गए थे लेकिन वे परमज्ञानी थे।

महात्मा कबीर का वैज्ञानिक दृष्टिकोण–कबीरदास ने अपनी कविता के माध्यम से जो अमूल्य विचारधन समाज को दिया है वह थोथी बातें नहीं हैं, बल्कि ऐसी पुख्ता बातें हैं जो उनके विशालतम व्यक्तित्त्व का परिचय देती हैं। उनकी कविता द्वारा जो भी विचार अभिव्यक्त हुआ है, उसको जब हम सत्य की कसौटी पर, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परखकर देखते हैं तो कबीर इस कसौटी पर शत-प्रतिशत खरे उतरते हैं। कबीर कहते हैं, 'पानी से बर्फ बनती है और बर्फ गलकर फिर पानी बन जाता है, उसी प्रकार मूल प्रकृति से यह शरीर बनता है और पुनश्च मूल प्रकृति में ही विलीन हो जाता है। यह सृष्टि चक्र है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कबीर के पास शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण था। इसलिए ही उनका कागज की लेखी पर विश्वास नहीं है। आँखिन देखी पर ही विश्वास है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि कबीर हर बात को सत्य की कसौटी पर परखकर देखते हैं। पुराण ग्रंथों पर उनका विश्वास नहीं है। मूलत: ईश्वर के इतने रूप ही उनको मान्य नहीं है। उनका तर्क है कि समाज के अनुसार ईश्वर का रूप केसे बदल सकता है। ईश्वर तो एक ही है जो सारी सृष्टि का संचालन करता है और सृष्टि के कण-कण में यह तत्त्व विद्यमान है। उसे किसी मंदिर या मस्जिद में ढूँढने की क्या आवश्यकता है। कबीर का यह वैज्ञानिक सत्य देखिए–

पाहन पूजे हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहार।
ताते ये चाकी भली, पीस खाए संसार।।

यहाँ कबीर की सद्विवेक बुद्धि पत्थर की पूजा करने से ही इंकार करती है। पत्थर हमें क्या दे सकता है? अगर वह कुछ दे सकता था तो मैं तो पहाड़ की ही पूजा करता लेकिन ऐसा नहीं है। उससे तो वह चक्की भली है जिसका पीसा हुआ हम सब खाते हैं। यह कबीर का बहुत बड़ा वैज्ञानिक दृष्टिकोण है।

यही कारण है कि कबीर बाह्याडंबर का स्पष्ट शब्दों में विरोध करते हैं। यह विरोध यूँ ही नहीं है बल्कि उसके पीछे एक तर्क है, एक दृष्टि है जो उनको सत्य बखान करने पर मजबूर कर देती है। वे भी बेहिचक अपनी बात कहते हैं। ढोंगी भक्तों को फटकारते हुए कबीर सवाल उठाते हैं–

दिन भर रोजा रखत हो, रात हनत हो गाय।
ये खून वह बंदगी, कैसे खुशी खुदाय।।

कबीर कहते हैं, भले ही तुम दिनभर रोजा रखते हो लेकिन रात को गाय की हत्या करते हो, तो रोजे की पवित्रता कहाँ शेष रह जाती है। एक तरफ खून और दूसरी तरफ बंदगी, क्या इससे आपका खुदा खुश हो सकता है? सहज व्यावहारिक बात समझाकर कबीर लोगों की आँखों पर बँधी पट्टी को हटाना चाहते हैं। समाज को नई दिशा और विशाल दृष्टि देना ही कबीर का उद्देश्य था।

कबीर स्वयं अनपढ़ थे परंतु वे ज्ञान का महत्त्व जानते थे। अपने आत्मप्रकाश से मनुष्य

 ISSN 0975-735X

जीवन एवं समाज के व्यवहार को समझ चुके थे। यहाँ वे ज्ञान का महत्त्व समझते हैं, वहाँ विज्ञान का भी, जहाँ सत्य का मूल्य समझते हैं, वहाँ समय का भी मूल्य समझते हैं। उन्हीं के शब्दों में–

कल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में परलय होयेगा, बहुरि करेगा कब।।

यही है कबीर की विज्ञानवादी दृष्टि। कबीर के समय यह बिल्कुल विपरीत बात थी, क्योंकि लोग या तो ईश्वर के भरोसे होते या नसीब पर निर्भर होते। लोग यह मानकर चलते कि नसीब में होगा तो अपने आप मिलेगा। कबीर यह अच्छी तरह से जानते हैं कि हाथ-पर-हाथ धरकर बैठने से कुछ नहीं होता, क्योंकि मनुष्य का भविष्य हाथों की लकीरों में नहीं होता लेकिन हाथों में जरूर होता है। इसे समझना और समय पर जागना आवश्यक है। इसलिए कबीर कहते हैं–कल कभी नहीं आता।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि कबीर ने तत्कालीन परिस्थितियों में जो विचार अभिव्यक्त किए हैं वे वैज्ञानिक हैं, सद्विवेक की कसौटी पर शत-प्रतिशत खरे उतरते हैं। पूर्वग्रह एवं अंधश्रद्धा के विरोध में उन्होंने जो विचार अभिव्यक्त किए हैं, वे आज के एक वैज्ञानिक युग में प्रगतिशील है, तर्कसंगत लगते हैं। कबीरदास ने अपने समय में भूत, वर्तमान और भविष्य में अद्भुत समन्वय स्थापित कर अपनी आधुनिक और प्रगतिशील होने का परिचय दिया है। इस कारण कबीर को आज कालजयी पुरुष माना जाता है और हिंदी साहित्य की विकासधारा में प्रगतिशील चेतना के जनक के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित किया जाता है। प्रगतिशील होना ही दूसरे अर्थ में वैज्ञानिक होना है। कबीर की कविता का अध्ययन करने के उपरांत यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर की दृष्टि शुद्ध वैज्ञानिक थी। कबीर कल प्रासंगिक थे, आज हैं और कल भी रहेंगे। कबीर और उनके विचार दोनों कालजयी हैं। युग का बंधन उन्हें किसी सीमा में नहीं बाँध सकता।

संदर्भ

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ॰ 126-127
2. डॉ॰ मनोरमा शर्मा, आधुनिक हिंदी कविता पर कबीर का प्रभाव, पृ॰ 32
3. डॉ॰ पारसनाथ तिवारी, कबीर वाणी सुधा, पृ॰ 92
4. डॉ॰ सुनिल कुलकर्णी, कबीर और तुकाराम के काव्य में प्रतिशील चेतना, पृ॰ 108
5. डॉ॰ गोविंद त्रिगुणायत, कबीर की विचारधारा, पृ॰ 342
6. डॉ॰ रेणुका सिंह, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ॰ 205
7. डॉ॰ त्रिभुवन सिंह, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ॰141
8. वही, पृ॰ 197
9. श्रीमती सुशीला सिन्हा, लौहपुरुष कबीर, पृ॰ 20

Mob. 9421335509
dr.sudhakarshendge@gmail.com

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 : उच्च शिक्षा के क्षेत्र में नई पहल

ज्ञानेश कुमार वर्मा, असि॰ प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग
जे॰एस॰ हिंदू पी॰जी॰ कॉलेज, अमरोहा (उ॰प्र॰)

'हमें ऐसी शिक्षा चाहिए, जिससे चरित्र बने, मानसिक विकास हो, बुद्धि का विकास हो और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सके।' स्वामी विवेकानंद जी का यह कथन मनुष्य के जीवन में शिक्षा के महत्त्व को ही नहीं दर्शाता वरन् मनुष्य के सर्वांगीण विकास में शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण स्तंभ है, इस ओर भी इंगित करता है। विवेकानंद जी ने यह भी कहा था कि 'विद्यार्थी की आवश्यकता के अनुसार शिक्षा में परिवर्तन होना चाहिए।' राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में शिक्षा के उन्नयन के लिए तय किए गए नए मानकों और निर्धारित किए गए लक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति स्वामी विवेकानंद जी के विचारों को एक दिशा प्रदान करती है।

वर्तमान सरकार द्वारा व्यक्ति के जीवन में शिक्षा के महत्त्व को देखते हुए एवं उसे गुणवत्तापूर्ण और रोजगारपरक शिक्षा उपलब्ध कराने के उद्देश्य से शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक बदलाव और नए आयामों को निर्धारित करते हुए नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 को मंजूरी दी गई है, जो कि अंतरिक्ष वैज्ञानिक के॰कस्तूरीरंगन की अध्यक्षता वाली समिति की सिफारिशों पर आधारित है। शिक्षा तक सबकी आसान पहुँच, समता, गुणवत्ता, वहनीयता और जवाबदेही के लक्ष्य पर आधारित यह शिक्षा नीति सतत विकास के लिए एजेंडा 2030 के उद्देश्यों को भी सम्मिलित करती है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति का एक उद्देश्य उच्च शिक्षा के क्षेत्र में गुणवत्ता हासिल करने के साथ-साथ उत्कृष्ट स्तर के शोध को भी बढ़ावा देना है। जिससे हमारे उच्च शिक्षण संस्थान अच्छी रैंकिंग प्राप्त कर विश्वस्तरीय उच्च शिक्षण संस्थानों के समकक्ष आ सकें। यह शोध पत्र भारत सरकार द्वारा जारी की गई नई 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020' के तहत उच्च शिक्षा में किए गए प्रावधानों के सकारात्मक एवं नकारात्मक पहलुओं को उजागर करने का एक विनम्र प्रयास है।

निरंतर बदलते वैश्विक परिदृश्य में ज्ञान और कौशल आधारित आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पूर्व में चली आ रही शिक्षा नीतियों एवं प्रणालियों में परिवर्तन की नितांत आवश्यकता थी। शिक्षा के क्षेत्र में गुणवत्ता बढ़ाने के लिए, नवाचार के साथ-साथ अनुसंधान को बढ़ावा देने के लिए तथा उच्च शिक्षण संस्थानों में नामांकन दर में बढ़ोत्तरी करने के लिए शिक्षा को रोजगारपरक बनाने की दिशा देने के लिए नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति में नए बदलावों के शामिल करने आवश्यकता थी। भारतीय शिक्षण संस्थानों की वैश्विक स्तर पर पहुँच सुनिश्चित करने के लिए उच्च शिक्षा को वैश्विक स्तर के मानकों के अनुरूप लाने के लिए भी शिक्षा नीति में परिवर्तन की आवश्यकता थी।

स्वामी विवेकानंद जी ने कहा था कि 'शिक्षा मनुष्य के अंदर अंतर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करने का सशक्त माध्यम है।' राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 लाने का उद्देश्य पूर्व में लागू शिक्षा नीतियों में निहित कमियों को दूर कर उन्हें उन शिक्षाविदों एवं महापुरुषों के विचारों से

जोड़ना था, जिन्होंने भारत को शिक्षा के माध्यम से एक सशक्त राष्ट्र बनाने का स्वप्न देखा था। इस नीति का एक उद्देश्य शिक्षा के क्षेत्र में नए सुधारों के साथ भारत को नई ऊँचाइयों तक एक नई उड़ान देना भी है। साथ ही उन शिक्षाविदों के शिक्षा को लेकर जो भी दृष्टिकोण हैं उन्हें राष्ट्रीय शिक्षा नीति के माध्यम से लागू कर देश की स्कूली शिक्षा के साथ-साथ उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी नीति का क्रियान्वयन कर शिक्षा क्षेत्र में आमूलचूल परिवर्तन कर उसे सफल बनाना है।

भारत में उच्च शिक्षा व्यवस्था विश्व की तीसरी सबसे बड़ी शिक्षा व्यवस्था है। उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार देश की स्वतंत्रता के 75 वर्षों में देश के उच्च शिक्षण संस्थानों में छात्र-छात्राओं की संख्या में करीब 60% की बढ़ोत्तरी दर्ज हुई है, वहीं विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और शिक्षकों की संख्या में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। आज से 34 वर्ष पूर्व 1986 में लागू राष्ट्रीय शिक्षा नीति के समय देश में 150 विश्वविद्यालय तथा 500 महाविद्यालय थे, वहीं वर्तमान में आज उच्च शिक्षा व्यवस्था में 3.74 करोड़ छात्र, 993 विश्वविद्यालय, 39,931 महाविद्यालय एवं 10,725 स्ववित्तपोषित शिक्षण संस्थाएँ शामिल हैं। परंतु इसके बावजूद आज भी लाखों युवा उच्च शिक्षा ग्रहण करने से वंचित हैं और इंटरमीडिएट कॉलेज से परीक्षा पास करने के बाद लगभग 9 छात्रों में से 1 छात्र ही महाविद्यालय पहुँच पाता हैं। मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा जारी उच्च शिक्षा के लिए अखिल भारतीय सर्वेक्षण रिपोर्ट 2018-19 के अनुसार, भारत में उच्च शिक्षा में सकल नामांकन अनुपात (GER) 18-23 आयु वर्ग में महज 26.3% है। इस तरह देश में 18-23 आयु वर्ग के युवाओं की जनसंख्या का केवल 26.3 प्रतिशत हिस्सा ही विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में उच्च शिक्षा ले रहे हैं। रोचक बात यह है कि 18-23 वर्ग में महिलाओं का नामांकन अनुपात पुरुषों से ज्यादा है। उच्च शिक्षा पर अखिल भारतीय सर्वेक्षण (AISHE) रिपोर्ट 2019-20 के अनुसार, भारत में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में सकल नामांकन अनुपात (GER) मात्र 27.1% है जो विकसित देशों के साथ ही अन्य विकासशील देशों की तुलना में बहुत कम है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 के तहत इस बार उच्च शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत उच्च शिक्षण संस्थानों में 'सकल नामांकन अनुपात' (Gross Enrolment Ratio) को 2035 तक 50% करने का लक्ष्य रखा गया है जो पूर्व के 26.3 % का लगभग 2 गुना है। देश में प्रवेश के लिए वर्तमान सीटों की संख्या में बढ़ोतरी करते हुए 3.5 करोड़ सीटों को अतिरिक्त जोड़े जाने का भी प्रावधान है। नई शिक्षा नीति में मल्टीपल एंट्री एंड एक्जिट व्यवस्था के तहत छात्र 3 या 4 वर्ष के स्नातक कार्यक्रम में किसी भी स्तर पर पाठ्यक्रम को बीच में छोड़ सकेंगे और उन्हें उसी स्तर के अनुरूप डिग्री या प्रमाण-पत्र प्रदान किया जाएगा। जैसे– 1 वर्ष के स्तर तक अध्ययन के पश्चात प्रमाण पत्र, 2 वर्ष के स्तर तक अध्ययन के पश्चात एडवांस डिप्लोमा, 3 वर्ष के स्तर को पूरा करने डिग्री तथा 4 वर्ष के अध्ययन के स्तर को पूर्ण करने पर शोध के साथ स्नातक डिग्री मिल सकेगी।

एक नई व्यवस्था के तहत 'एकेडमिक बैंक ऑफ क्रेडिट' (Academic Bank of Credit) के माध्यम से छात्र अध्ययन के उपरांत शिक्षण संस्थानों द्वारा प्राप्त अंकों या क्रेडिट को डिजिटल तरीके से सुरक्षित रख सकेंगे। ताकि उन्हें उनके द्वारा अर्जित अंक और क्रेडिट के अनुसार डिग्री प्रदान की जा सके। इस राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में एम॰फिल॰ (M.Phil) कोर्स को पूर्णतया समाप्त कर दिया गया है, अब इस कोर्स में नए प्रवेश नहीं हो सकेंगे। परंतु इस नीति के आने से पूर्व एम॰फिल॰ कोर्स में अध्ययनरत छात्र कोर्स पूरा कर सकेंगे।

नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति में नए प्रावधान के अंतर्गत भारतीय उच्च शिक्षा आयोग नामक एक

एकल नियामक अर्थात् भारतीय उच्च शिक्षा परिषद (Higher Education Commision of India-HECI) की स्थापना पर विचार किया गया है। जो पूरे देश भर के उच्च शिक्षा संस्थानों के लिये एक एकल नियामक होगा। जिसका कार्य उच्च शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न भूमिकाओं का निर्वहन करना होगा। भारतीय उच्च शिक्षा आयोग चिकित्सा एवं कानूनी शिक्षा के अलावा देश में उच्च शिक्षा क्षेत्र के लिए एक एकल निकाय (Single Umbrella Body) के रूप में कार्य करेगा। भारतीय उच्च शिक्षा संस्थान '3Is' (Interdisciplinary research, Industry connect and Internationalisation) पर ध्यान केंद्रित करेंगे जो हमारे संस्थानों को वैश्विक मानकों तक ले जाने के तीन आवश्यक स्तंभ हैं।

भारतीय उच्च शिक्षा परिषद (HECI) के कार्यों के प्रभावी क्रियान्वयन के लिए अन्य चार निकाय भी होंगे–

1. **राष्ट्रीय उच्चतर शिक्षा नियामक परिषद** (National Higher Education Regulatroy Council - NHERC)–यह टीचर एजुकेशन सहित उच्च शिक्षा क्षेत्र के लिए एक नियामक का कार्य करेगा।

2. **सामान्य शिक्षा परिषद** (General Education Council - GEC)–यह उच्च शिक्षा से जुड़े प्रशिक्षण कार्यक्रमों के लिए अनिवार्य सीखने के परिणामों का मॉडल तैयार करेगा अर्थात् उनके मानकों का निर्धारण करने का कार्य करेगा।

3. **राष्ट्रीय प्रत्यायन परिषद** (National Accreditation Council - NAC)–यह परिषद संस्थानों के प्रत्यायन का कार्य करेगी, जो मुख्यत: बुनियादी आधारिक मानदंडों, सार्वजनिक स्व-प्रकटीकरण, सुशासन और परिणामों पर आधारित होगा।

4. **उच्चतर शिक्षा अनुदान परिषद** (Higher Education Grants Council - HGFC)–यह निकाय कॉलेजों एवं विश्वविद्यालयों के लिए वित्तपोषण का कार्य करेगा।

राष्ट्रीय अनुसंधान फाउंडेशन (National Research Foundation-NRF)–राष्ट्रीय शिक्षा नीति का एक महत्त्वपूर्ण कदम राष्ट्रीय अनुसंधान फाउंडेशन (एनआरएफ) की स्थापना करना है। यह फाउंडेशन देश के उच्च शिक्षण संस्थानों में अनुसंधान और नवाचार को बढ़ावा देने का कार्य करेगी। यह देश के विभिन्न मंत्रालयों द्वारा एक-दूसरे से स्वतंत्र रूप से किए जा रहे अनुसंधान अनुदान को आत्मसात करते हुए यह सुनिश्चित करेगा कि देश में समग्र अनुसंधान पारिस्थितिकी तंत्र को कैसे मजबूत किया जाए कि राष्ट्रीय प्राथमिकताओं और बुनियादी विज्ञान की दिशा में प्रासंगिक पहचान वाले क्षेत्रों पर अधिकाधिक ध्यान केंद्रित किया जा सके। वित्त मंत्री श्रीमती निर्मला सीतारमण ने भी अपने बजटीय भाषण में यह घोषणा की थी कि सभी मंत्रालयों के पास उपलब्ध धन को राष्ट्रीय अनुसंधान फाउंडेशन में एकीकृत किया जाएगा।

वर्तमान में उच्च शिक्षा निकायों का विनियमन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी), अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद (एआईसीटीई) और राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद (एनसीटीई) जैसे निकायों के माध्यम से किया जाता है। उच्च शिक्षा को व्यावसायिक और गुणवत्तापूर्ण बनाने के साथ ही इसके अंतर्राष्ट्रीयकरण पर भी जोर दिया जाएगा, ताकि दूसरे देशों के छात्र भी यहाँ आकर शिक्षा ग्रहण कर सकें। इसके अलावा विश्व के प्रतिष्ठित और उच्च रैंकिंग रखने वाले उच्च शिक्षा से जुड़े शिक्षण संस्थानों एवं विश्वविद्यालयों को प्रवेश करने की अनुमति प्रदान की जाएगी, इसके लिए इस राष्ट्रीय शिक्षा नीति में एक वैधानिक फ्रेमवर्क तैयार किया

जाएगा। भारत में अपनी ब्रांच या अपने परिसर को खोल सके। जिससे विदेश जाकर उच्च शिक्षा ग्रहण न कर पाने वाले छात्र भी अपने देश में विदेशी शिक्षा पा सके। इसके लिए शीर्ष विश्व रैंकिंग रखने वाले विश्वविद्यालयों के प्रवेश करने की अनुमति प्रदान की जाएगी। इसके लिए एक वैधानिक फ्रेमवर्क तैयार किया जाएगा।

देश में आईआईटी (IIT) और आईआईएम (IIM) के समकक्ष वैश्विक मानकों के 'बहुविषयक शिक्षा एवं अनुसंधान विश्वविद्यालय' (Multidisciplinary Education and Reserach Universities - MERU) की स्थापना की जाएगी।

सरकार द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में सार्वजनिक व्यय के रूप में कुल जीडीपी के देश के 6% खर्च करने का विचार प्रस्ताव सरकार की सशक्त प्रतिबद्धता को दर्शाता हैं। साथ ही वंचित वर्गों के छात्रों के लिए वित्तीय सहायता का प्रावधान भी इस शिक्षा नीति में किया गया है। उच्च शिक्षा को समाज के हर वर्ग तक पहुँचाने एवं उसे समग्र बनाने की दिशा में राष्ट्रीय शिक्षा नीति में अनुसूचित जाति एवं जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग और अन्य श्रेणियों के छात्रों की शैक्षिक योग्यता को बढ़ावा देने के लिए राष्ट्रीय छात्रवृत्ति पोर्टल के विस्तार का भी प्रस्ताव है। इसके साथ ही निजी उच्च शिक्षण संस्थानों को जरूरतमंद छात्रों के लिए मुफ्त शिक्षा और छात्रवृत्तियों के लिए प्रोत्साहित किया जाएगा।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति को क्रियान्वित करने में सर्वप्रमुख बाधा देश के सभी राज्यों का केंद्र सरकार को सहयोग है। भाषायी विचारधारा भी इनमें सबसे बड़ी बाधा बन सकती है। भाषायी आधार पर गठित राज्य राष्ट्रीय शिक्षा नीति का 'त्रि-भाषा' सूत्र के आधार पर विरोध कर रहे हैं। इसे अपनी भाषायी पहचान और स्वायत्तता हमले के रूप में देख रहे हैं। उनका आरोप है कि सरकार एक साजिश के तहत शिक्षा का संस्कृतिकरण करने का प्रयास कर रही है। वर्ष दर वर्ष महँगी होती शिक्षा के कारण सरकार द्वारा राष्ट्रीय शिक्षा नीति के निर्धारित लक्ष्य के माध्यम से समाज के सभी वर्गों तक शिक्षा पहुँचाने का कार्य पूर्ण होने फलस्वरूप निम्न वर्ग के छात्रों के लिए उच्च शिक्षा प्राप्त करना चुनौतीपूर्ण हो सकता है। सरकार द्वारा शिक्षा के अनुदान के रूप में राज्यों की दिया जाने वाले फंड का समुचित और योजनाबद्ध तरीके से इतेमाल नहीं हो रहा है इसकी जाँच के लिए कोई पारदर्शी और तकनीकी तंत्र विकसित न होने की वजह से फंडिंग-संबंधी जाँच सुचारू रूप से नहीं हो पा रही है, जिससे सरकारी अनुदान का बड़े स्तर पर दुरुपयोग हो रहा है। विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में शिक्षकों की नियुक्ति की धीमी दर तथा शिक्षकों की भारी कमी भी इस नीति के लिए एक बड़ी चुनौती है।

निष्कर्ष–भारत सरकार ने 21 वीं सदी की रोजगारपरक आवश्यकताओं तथा शिक्षा और अनुसंधान के क्षेत्र में वैश्विक स्तर पर भारत को मिल रही चुनौतियों को देखते भारतीय शिक्षा प्रणाली में व्यापक बदलाव लाने के लिए काफी प्रयास किए है। इसी कड़ी में भारतीय शिक्षा के उन्नयन और संवर्द्धन के लिए भारत सरकार ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 को मंजूरी दी है, यदि इसका अक्षरशः नीतिगत और संफल तरीके से क्रियान्वयन होता है तो यह राष्ट्रीय शिक्षा नीति भारत को विश्व के अग्रणी देशों के समकक्ष ले आएगी। जिससे भारत देश के एक बौद्धिक स्तर की महाशक्ति और विश्वगुरु बनने की राह आसान होगी। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 के माध्यम से उच्च शिक्षा के क्षेत्र में मौजूद दशकों पुरानी विसंगतियों का निराकरण हो जाने से देश के शैक्षिक और बौद्धिक विकास के क्रम में एक ऐतिहासिक और क्रांतिकारी परिवर्तन होगा। इस शिक्षा नीति में

व्यावसायिक, तकनीकी और कौशल विकास पर भी फोकस किया गया है, जिससे देश का युवा उच्च शिक्षा और तकनीकी दोनों स्तरों पर कार्यकुशलता से लैस हो जाएगा। जिससे उसकी बेरोजगारी का भी निराकरण हो सकेगा। स्नातक शिक्षा में कृत्रिम बौद्धिकता (आर्टिफिशियल इंटेलीजेंस), थ्री-डी मशीन, डेटा-विश्लेषण, जैवप्रौद्योगिकी आदि क्षेत्रों के समावेशन से अत्याधुनिक क्षेत्रों में भी कुशल पेशेवर तैयार होंगे और नए रोजगार का सृजन होगा। जिससे बेरोजगार युवाओं की रोजगार क्षमता में भी वृद्धि होगी। जिससे वह शिक्षा का समुचित लाभ उठाकर अपनी आजीविका कमा सकेंगे और देश की प्रगति और विकास में भागीदार भी बनेंगे। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के संदर्भ में माननीय प्रधानमंत्री जी ने इसे 130 करोड़ से ज्यादा भारतीयों की सोच, उनकी जरूरतों, उम्मीदों और आकांक्षाओं का प्रतिबिंब बताया है, निश्चित ही यह शिक्षा नीति आने वाले समय में भारत को व्यावहारिक रूप से बदलकर 'नव भारत' का निर्माण करेगी।

संदर्भ

1. https://www.education.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/NEP_final_HINDI_0.pdf
2. https://www.hindustantimes.com/opinion/how-nep-can-transform-higher-education-in-india-101627470511761.html
3. https://www.drishtiias.com/hindi/daily-news-editorials/national-education-policy-and-higher-education
4. https://pib.gov.in/PressReleseDetailm.aspx?PRID=1642109
5. https://www.himantar.com/national-education-policy-2020-6/
6. सौरभ आनंद (अगस्त 14, 2020), उच्चतर शिक्षा में देश में नई उड़ान देने वाली राष्ट्रीय शिक्षा नीति ख़ 2020
7. सुधांशु कुमार पांडेय (2021), शिक्षा नीति : 2020, प्रथम संस्करण नेशनल प्रेस
8. पंकज अरोड़ा एवं उषा शर्मा (2021), राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 : रचनात्मक सुधारों की ओर, प्रथम संस्करण, शिप्रा पब्लिकेशन
9. अतुल कोठारी (2021), राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 : भारतीयता का पुनरुत्थान, प्रथम संस्करण, प्रभात प्रकाशन

Mob. 9455732088
gyaneshvarma123@gmail.com

जीवन कौशल शिक्षा तथा इसका महत्त्व

सत्य प्रकाश परमार, सहायक आचार्य शिक्षाशास्त्र
जे०एस० हिंदू (पी०जी०) कॉलेज, अमरोहा (उ०प्र०)

जीवन कौशल क्षमताओं, उपागमों, मनोसामाजिक दक्षताओं का एक समूह है जो युवाओं को जीवन की वास्तविकताओं का सामना करने के लिए सक्षम बनाते हैं। इन कौशलों को युवा अपने समुदाय का सक्रिय सदस्य बनने के साथ-साथ शिक्षा में लैंगिक समानता, शांति शिक्षा, पर्यावरण शिक्षा, आजीविका एवं आय सृजन आदि क्षेत्रों में भी उपयोग कर सकता है।

यूनीसेफ के अनुसार–'जीवन कौशल एक व्यावहारिक परिवर्तन तथा विकासात्मक व्यवहार की वह प्रक्रिया है जिससे जीवन के तीनों क्षेत्रों–ज्ञान, अभिवृत्ति एवं कौशल में संतुलन बना रहता है तथा मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता है।'

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार–'जीवन कौशल अनुकूली तथा सकारात्मक व्यवहार की वे योग्यताएँ हैं जो व्यक्तियों को दैनिक जीवन की माँगों और चुनौतियों से प्रभावी तरीके से निपटने के लिए सक्षम बनाती हैं।'

यू०जी०सी० के अनुसार–'जीवन कौशल व्यक्तिगत, पेशेवर और सामाजिक जीवन में, चुनौतीपूर्ण स्थितियों में युवा लोगों के मानस को सशक्त करने के साधन हैं। जीवन कौशलों को अपनाया जाना उत्कृष्टता की ओर बढ़ने की कुंजी है।'

यूनीसेफ द्वारा वर्ष 2019 में जारी एक रिपोर्ट में यह कहा गया है कि वर्ष 2020 तक दक्षिण एशिया के आधे से अधिक युवाओं के पास न तो ऐसी शिक्षा होगी और न ही कौशल कि वे रोजगार पा सकें। अत: हमें शिक्षा को महज शैक्षणिक परिणामों तक सीमित नहीं रखना चाहिए अपितु शिक्षा और रोजगार के बीच की खाई को पाटने का प्रयास करना चाहिए। भारत विश्व की सबसे अधिक युवा आबादी वाला देश है। अत: केवल पुस्तकीय शिक्षा से या तो हम बेरोजगारी की संख्या में तीव्र वृद्धि कर सकते हैं या शिक्षा में जीवन कौशल को समायोजित करके इसे सतत अवसर में परिवर्तित कर सकते हैं। इन्हीं सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में जीवन कौशल को पाठ्यक्रम के अंग के रूप में शामिल करने की अनुशंसा की गई है ताकि विद्यार्थियों का समग्र विकास हो सके और वे भविष्य की चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना कर सकें।

लाइफ स्किल्स उन कौशलों को इंगित करते हैं जिनकी सहायता से आप अपने जीवन में अधिकतम लाभ उठाकर अपने जीवन को सफल बना सकते हैं। जीवन कौशलों को निश्चित संख्या में नहीं बाँधा जा सकता है। जीवन की परिस्थितियों, भौगोलिक स्थिति, आपकी आयु, विश्वास तथा संस्कृति आदि के आधार पर कुछ कौशल आपके लिए कम या अधिक प्रासंगिक हो सकते हैं। आत्म जागरूकता, समय प्रबंधन आदि कौशलों के विकास से छात्रों को परिस्थितियों से अनुकूलित होने में मदद मिलती है। रचनात्मक सोच के परिणामस्वरूप चीजों को नए तरीके से किया जाता है। समस्या समाधान के द्वारा छात्र उपलब्ध जानकारी और तथ्यों के आधार पर स्थिति को बेहतर ढंग से समझकर हल कर सकते हैं।

जीवन कौशल कार्यक्रम के उद्देश्य

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अनुसार–'जीवन कौशल कार्यक्रम का उद्देश्य विद्यार्थियों में स्वयं को और दूसरों को समझने, अंतर्वैयक्तिक कौशल, उच्च निष्पादन दलों, नेतृत्व क्षमता, संप्रेषण और प्रस्तुतीकरण कौशल, समस्या समाधान की तकनीकों, निर्णय लेने की प्रक्रिया, व्यक्तिगत और पेशेवर उत्कृष्टता हेतु सृजनात्मकता और नव प्रवर्तन को बढ़ावा देने, तनाव प्रबंधन, समय प्रबंधन विवाद प्रबंधन और मानव मूल्यों को मन में बैठाने के क्षेत्र में व्यक्तिगत एवं पेशेवर दोनों तरह के कौशलों को आत्मसात करना है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार बुनियादी जीवन कौशल

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 10 कौशलों को बुनियादी जीवन कौशलों की श्रेणी में रखा है जिनका वर्णन इस प्रकार है–

(1) **आत्म जागरूकता**–आत्म जागरूकता से हमारा अभिप्राय स्वयं को जानने व समझने से है। इसके द्वारा हम अपनी पसंद, नापसंद तथा कमजोरियों के बारे में सजग रहते हैं। इसके द्वारा हम अन्य लोगों से अच्छे संबंध स्थापित कर सकते हैं।

(2) **समानुभूति**–समानुभूति का अर्थ है अन्य व्यक्तियों की अनुभूतियों और परेशानियों को समझना। इसमें हम स्वयं को दूसरों की स्थिति में रखकर उनकी परेशानियों को अच्छे ढंग समझ सकते हैं।

(3) **भावनाओं पर नियंत्रण**–मन की अनेक स्थितियों जैसे–खुशी, उदासी, क्रोध, भय तथा घृणा आदि को भावना कहते हैं। सकारात्मक सोच के द्वारा हम भावनाओं को नियंत्रित कर सकते हैं।

(4) **तनाव का सामना**–व्यक्ति द्वारा किसी अप्रिय स्थिति के लिए प्रतिक्रिया तनाव कहलाती है। यह सोचने और निर्णय लेने की प्रक्रिया को प्रभावित करता है। शारीरिक व्यायाम, सकारात्मक सोच, कम बोलने तथा मधुर संगीत सुनकर हम तनाव को दूर कर सकते हैं।

(5) **अंतर्वैयक्तिक संबंध**–विभिन्न लोगों और समूहों के बीच में संबंध को अंतर्वैयक्तिक संबंध कहते हैं। अच्छे पारस्परिक संबंधों द्वारा हमें रोजमर्रा की स्थितियों से निपटने में सहायता मिलती है।

(6) **प्रभावी संप्रेषण**–संप्रेषण केवल बोल-सुनकर ही नहीं होता अपितु संकेतों, भावों और शारीरिक भाषा से भी किया जा सकता है। जीवन में सफलता बहुत हद तक व्यक्ति के प्रभावी संप्रेषण पर निर्भर करती है। यह किसी भी संगठन या संस्था की रीढ़ होता है।

(7) **निर्णयन**–निर्णय लेना हमारे जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसमें समस्या के बारे में सोचना और उपलब्ध विकल्पों के द्वारा समाधान निकालना शामिल है। हमें शांत मन से सोच-समझ कर निर्णय लेना चाहिए।

(8) **रचनात्मक सोच**–रचनात्मक सोच का अर्थ है अलग ढंग से सोचना तथा कार्य करना। इन लोगों के विचार अन्य लोगों से पृथक होते हैं तथा काम करने का तरीका अलग होता है। अत: ऐसे लोग नए एवं भिन्न तरीके से कार्य करके समाज में अपनी अलग पहचान बनाने में कामयाब होते हैं।

(9) **आलोचनात्मक सोच**–आलोचनात्मक सोच का अर्थ है समस्या को सही तरीके से समझकर उसकी अच्छाइयों तथा बुराइयों का संतुलित विश्लेषण करना। इसके द्वारा क्या सही है

और क्या गलत इसका निर्णय लेने में मदद मिलती है।

(10) **समस्या समाधान**–प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कोई न कोई समस्या अवश्य होती है। अत: उसे सही ढंग से सुलझाना समस्या समाधान कहलाता है। किसी भी समस्या के समाधान की वैज्ञानिक प्रक्रिया के प्रमुख चरण निम्नलिखित हैं। प्रथम–समस्या की पूरी जानकारी, द्वितीय–मौजूदा विकल्पों का विश्लेषण, तृतीय–आँकड़ों का एकत्रीकरण, चतुर्थ–उपयुक्त विकल्प का चयन, पंचम–क्रियान्वयन एवं निष्कर्ष।

अधिगमकर्ता के जीवन-कौशल उन्नयन की विधियाँ

छात्र-छात्राओं में जीवन कौशल के उन्नयन हेतु अनेक तकनीक/विधियों का प्रयोग किया जाता है। कुछ प्रमुख विधियाँ निम्नलिखित हैं–

(1) **कक्षा चर्चा**–कक्षा चर्चा एक अभ्यास है जहाँ शिक्षक और छात्र किसी विशेष विषय पर अपने विचार साझा करते हैं। एक कक्षा चर्चा के दौरान शिक्षक आमतौर पर पहले व्याख्यान देता है तत्पश्चात् छात्रों से व्याख्यान से संबंधित प्रश्न पूछता है, जिसका छात्रों द्वारा आपस में चर्चा करके उत्तर दिया जाता है। इसके माध्यम से वह छात्रों में रुचि पैदा करता है, तैयारी की आदत को बढ़ावा देता है, कक्षा के वातावरण को नियंत्रित करता है, छात्रों के संप्रेषण कौशल को बढ़ावा देता है, छात्रों की उपलब्धि एवं स्वयं का भी आकलन करता है।

(2) **रोल प्ले**–छात्र-छात्राओं द्वारा किसी व्यक्ति के चरित्र तथा व्यवहार के अनुकरण करने की क्रिया रोल प्ले कहलाती है। विभिन्न कौशलों के अभ्यास के लिए यह बहुत अच्छी विधि है। इससे संप्रेषण कौशल, समानुभूति तथा समस्या समाधान जैसे आधारभूत कौशलों के विकास में सहायता मिलती है।

(3) **समूह परिचर्चा**–यह किसी टॉपिक पर प्रभावी बातचीत का परिवर्तित रूप है जिसमें कक्षा को 5 या 6 लोगों के समूहों में बाँट दिया जाता है। इसके माध्यम से व्यक्ति के अंदर छिपी योग्यता, नेतृत्व क्षमता और उसके व्यावहारिक गुणों का आकलन किया जाता है। इस विधि द्वारा संप्रेषण कौशल, समानुभूति, आलोचनात्मक चिंतन, रचनात्मक सोच और समस्या समाधान आदि कौशलों के विकास में सहायता मिलती है।

(4) **वाद-विवाद या बहस**–वाद-विवाद एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें किसी विशेष विषय पर औपचारिक विमर्श शामिल होता है। वाद-विवाद शैक्षिक और मनोरंजक उद्देश्यों के लिए आयोजित किए जाते हैं। इसमें दिए गए विषय के पक्ष या विपक्ष में उत्तर दिया जाता है तथा इसकी पुष्टि रचनात्मक सोच, आलोचनात्मक चिंतन द्वारा की जाती है।

(5) **स्टोरी टेलिंग**–स्टोरी टेलिंग एक ऐसी कला है जिसके माध्यम से आप अपने भाव और भाव-भंगिमाओं के माध्यम से दर्शकों को कहानी बता पाने में सक्षम होते हैं। इसमें चित्र, फोटो या स्लाइड आदि प्रयोग में लाई जा सकती है। इसके माध्यम से छात्र-छात्राओं की रचनात्मक तथा आलोचनात्मक सोच तथा स्वानुभूति जैसे कौशलों के विकास में सहायता मिलती है।

(6) **ब्रैन-स्टार्मिंग**–मस्तिष्क उद्देलन विधि में शिक्षक बालकों को ऐसी समस्या प्रस्तुत करता है जिसके द्वारा बालक मानसिक रूप से तर्क-वितर्क हेतु प्रेरित होते हैं। इस विधि में बालकों के मस्तिष्क को सक्रिय करने और समस्या समाधान हेतु उकसाया जाता है। बालक समाधान को लेकर चिंतन करता है और नए विचार की ओर प्रेरित होता है। इस विधि के प्रतिपादक ओसबोर्न को माना जाता है।

(7) **खेल/पजल्स**–खेल एक ऐसी गतिविधि है जिसमें आमतौर पर कौशल, ज्ञान या मौका शामिल होता है जिसमें आप निश्चित नियमों का पालन करते हैं और एक प्रतिद्वंदी के खिलाफ जीतने का प्रयास करते हैं जबकि पजल्स एक प्रश्न या खिलौना होता है जिसके बारे में आपको सही उत्तर देने या इसके ठीक करने के लिए रचनात्मक सोच, समस्या समाधान तथा निर्णयन कौशलों का ज्ञान आवश्यक है।

जीवन कौशल में सुधार करने के उपाय

जीवन कौशल को बेहतर बनाने में निम्नलिखित उपाय कारगर साबित हो सकते हैं–

1. **आत्म जागरूकता में सुधार**–आत्म जागरूकता में सुधार करने से व्यक्ति को अपनी कमजोरियों को ठीक करने और काम में सफल होने में मदद मिल सकती है। अपने सबल तथा दुर्बल पक्षों को समझकर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकते हैं। आत्म जागरूकता में सुधार करने के लिए अपने प्रदर्शन का ईमानदारीपूर्वक मूल्यांकन करना आवश्यक है। रचनात्मक आलोचना को स्वीकार करें और अपने दुर्बल पक्षों या उन क्षेत्रों को इंगित करें जिसमें सुधार की अत्यधिक आवश्यकता है, तत्पश्चात इन क्षेत्रों पर फोकस करें और जीवन में सकारात्मक बदलाव को महसूस कर सकते हैं।

2. **सीखने की इच्छा**–जीवन कौशलों में सुधार करने के लिए व्यक्ति के सीखने की इच्छा अत्यधिक आवश्यक है। इसके द्वारा व्यक्ति चुनौतियों को आसानी से संभाल सकेंगे तथा समस्याओं को कम समय में हल कर सकेंगे। किताबें तथा मैगजीन पढ़कर, आनलाइन कक्षाओं द्वारा, अपने सहकर्मियों के साथ बातचीत के द्वारा नए कौशलों को सीख सकते हैं। सीखने की प्रबल इच्छा से आपके व्यक्तित्व तथा पेशेवर जीवन दोनों में निखार आता है तथा समय के साथ व्यक्ति अच्छे से अच्छे परिणाम देने में सक्षम हो जाते हैं।

3. **लक्ष्य निर्धारण**–छात्र पुस्तकों, सेमिनारों आनलाइन क्लासेज सहित विभिन्न स्रोतों से उन कौशलों को मजबूत करने के लिए जानकारी प्राप्त कर सकते हैं जिन पर ध्यान केंद्रित करना चाहते हैं। उचित लक्ष्य के निर्धारण से उनका कार्य आसान हो सकेगा। अपने कार्य का स्वमूल्यांकन करके, विश्वसनीय लोगों से उपयोगी सलाह लेकर आप सटीक लक्ष्य निर्धारित करें, फिर उन लक्ष्यों को प्राप्त करने की तकनीकों का पता लगाएँ और अंत में अपनी रुचि के अनुसार उपयुक्त तकनीक का चयन करके लक्ष्य को भेदें, सफलता आपके कदम अवश्य चूमेगी।

4. **समय प्रबंधन**–समय प्रबंधन जीवन में सफलता प्राप्त करने का मूल मंत्र है। दैनिक कार्यों को समय पर पूरा करने, महत्त्वपूर्ण बैठकों के लिए उचित समय का निर्धारण करने और अपनी परियोजनाओं के लिए एजेंडा का उपयोग करने से आप अपनी जिम्मेदारियों को आसानी से सँभाल सकते हैं। समय के उचित प्रबंधन से आपके पास समय की कमी नहीं पड़ेगी और आप अपने जीवन कौशलों में सकारात्मक सुधार कर सकेंगे।

जीवन कौशल के लाभ

(1) **वैयक्तिक लाभ**–जीवन कौशल के वैयक्तिक लाभ निम्नलिखित हैं–

(क) **सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास**–जीवन कौशलों के अभ्यास द्वारा व्यक्ति असफलताओं को सीखने के अवसरों के रूप में देखते हैं। इससे आप अपने पथ से विचलित नहीं होते तथा निरंतर प्रयास द्वारा सफलता प्राप्त करते हैं। अतः जीवन कौशलों से व्यक्ति का दृष्टिकोण

सकारात्मक हो जाता है जो उसके सर्वांगीण विकास में सहायक होते हैं।

(ख) **जवाबदेह बनाना**–नेतृत्व जैसे जीवन कौशल के अभ्यास से व्यक्ति निर्णय लेने की जिम्मेदारी उठाने के लिए तैयार हो जाता है। इससे उसके आत्मविश्वास में सुधार होता है जिसके परिणामस्वरूप सफलता प्राप्त करना आसान हो जाता है।

(2) **समाज के लिए लाभ**–जीवन कौशल शिक्षा से छात्र-छात्राओं में प्रेम, करुणा, सत्य, अहिंसा जैसे मानवीय मूल्यों का विकास होता है जिससे अधिक सहिष्णु समाज का निर्माण होता है तथा 'वसुधैव कुटुंबकम्' का भाव चरितार्थ होता है। सांस्कृतिक जागरूकता एवं नागरिकता को मान्यता देने से समाज सहयोग आसान हो जाता है।

(3) **राष्ट्र के लिए लाभ**–जीवन कौशल शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति में समय प्रबंधन, प्रभावी संप्रेषण तथा नेतृत्व क्षमता, आलोचनात्मक तथा रचनात्मक सोच का विकास होता है जिससे वे समस्याओं को आसानी से हल करने के लिए योग्य हो जाते हैं। फलतः उन्हें आसानी से रोजगार मिल जाता है जिसेस राष्ट्र की उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

जीवन कौशलों के विकास में शिक्षक की भूमिका

जीवन कौशल शिक्षा में शिक्षक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिक्षक व्यक्तिगत अनुभव साझा करके जीवन कौशल की शिक्षा देते हैं। वे छात्रों की रुचि एवं योग्यताओं को ध्यान में रखकर उनके लिए उपयुक्त जीवन कौशल का चुनाव करने की सलाह देते हैं। वे छात्रों को समस्याओं से परिचय कराते हैं तथा रचनात्मक सोच तथा आलोचनात्मक चिंतन का विकास करके समस्या को वैज्ञानिक ढंग से समाधान कराना सिखाते हैं। शिक्षक कक्षा में कक्षा चर्चा, रोल प्ले, समूह परिचर्चा, वाद-विवाद, स्टोरी टेलिंग, ब्रैन स्टोर्मिंग, खेल एवं पजल्स आदि के माध्यम से छात्रों को समानुभूति, आत्म जागरूकता, भावनाओं तथा तनाव पर नियंत्रण, प्रभावी संप्रेषण, रचनात्मक एवं आलोचनात्मक सोच, समस्या समाधान तथा निर्णयन जैसे जीवन कौशलों की शिक्षा देते हैं तथा इन जीवन कौशलों के विकास में उनका पथ-प्रदर्शन करते हैं। विभिन्न जीवन कौशल हमारे जीवन में भिन्न-भिन्न भूमिका निभाते हैं। छात्र को सही समय पर सही कौशलों के चुनाव की जानकारी शिक्षक बेहतर ढंग से प्रदान कर सकता है जिसे अपनाकर छात्र अपने सर्वांगीण विकास की ओर अग्रसर होता है जिससे उसको जीवन में सफलता आसानी से प्राप्त हो जाती है। शिक्षक जीवन कौशलों के विकास द्वारा व्यक्ति को एक बेहतर छात्र, बेहतर माता-पिता, एक बेहतर मित्र, एक बेहतर श्रोता बनाते हैं और वे आपके समग्र स्वास्थ्य, धन और खुशी में अतुलनीय योगदान देते हैं। जीवन कौशल ऐसी क्षमताएँ हैं जिन्हें लगातार विकसित करने की आवश्यकता होती है। एक योग्य शिक्षक के सान्निध्य में छात्र इन्हें सुगमतापूर्वक विकसित कर लेते हैं। इस प्रकार वे स्वयं, समाज तथा राष्ट्र की उन्नति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

निष्कर्ष–निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि आधुनिक युग में जीवन कौशल शिक्षा समय की माँग के अनुकूल हैं। जीवन कौशल शिक्षा से छात्र-छात्राओं में प्रेम, करुणा, सत्य अहिंसा, शांति, सेवा तथा त्याग जैसे सार्वभौमिक मानव मूल्यों का बीजारोपण एवं पोषण होता है। श्रवण, वाचन, पठन, लेखन आदि संप्रेषण कौशलों का विकास होता है। विश्वास एवं सहयोग, विचार मंथन, सामाजिक और सांस्कृतिक शिष्टाचार जैसे टीम कौशलों के विकास में सहायता मिलती है। साक्षात्कार, समूह परिचर्चा समस्या समाधान जैसे कैरियर कौशलों को समझने तथा उपयोग में लाने में सुगमता होती है। समय प्रबंधन, नेतृत्व, उद्यमिता जैसे प्रबंधकीय कौशलों की निपुणता हासिल

होती है। इन कौशलों द्वारा शिक्षार्थी आत्म सक्षमता, विश्वास एवं बौद्धिक क्षमता अर्जित करने, भावनात्मक क्षमता का व्यावहारिक उपयोग करने, सामाजिक क्षमता के उच्च बोध को प्राप्त करने, पेशेवर क्षमता के माध्यम से अतिरिक्त योग्यता अर्जित करने तथा एक परिपूर्ण मानव बनने में सक्षम हो सकेंगे। जीवन कौशल शिक्षा को विद्यालय तथा महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने से शिक्षार्थियों का सर्वांगीण विकास हो सकेगा तथा ये कौशल शिक्षा तथा रोजगार के बीच की खाई को पाटकर युवाओं को रोजगार के अवसर प्रदान करेंगे जिससे व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र की उन्नति का मार्ग प्रशस्त होगा तथा चहुँओर खुशी की लहर दिखाई देगी। जीवन कौशल शिक्षा के समुचित प्रबंधन तथा कार्यान्वयन से भारत एक बार पुनः विश्वगुरु बनकर उभरेगा तथा उसकी विजय पताका सभी दिशाओं में फहराएगी।

संदर्भ

1. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020
2. जीवन कौशल हेतु पाठ्यक्रम 2019, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग
3. जीवन कौशल, अल्पसंख्यक कार्यों का मंत्रालय, भारत सरकार
4. आर॰ प्रजापति, बी॰ शर्मा एवं डी॰शर्मा (2017), सिग्नीफिकेन्स आफ लाइफ स्किल्स एजुकेशन, कंटेंपरेरी इश्यूज इन एजुकेशन रिसच, फर्स्ट क्वार्टर
5. लाईफ स्किल्स एजुकेशन एंड सी॰सी॰सी॰ सेंट्रल बोर्ड आफ सेकेंडरी एजुकेशन, शिक्षा केंद्र, 2, कम्यूनिटी सेंटर प्रीति बिहार, दिल्ली
6. माडयूल-7: लाईफ स्किल्स
   www.unodc.org/pdf/youthnet/action.message/escape=peers-07.pdf
7. जी॰ गोयल एंड डी॰ श्रीराम, लाईफ स्किल्स: द मिसिंग लिंक बिटवीन एजुकेशन एंड एंप्लायमेंट, http://hindustantimes.com/opinion/life-skills-the-missing-link-between-education-and-employment-101662028340164-amp.html.

Mob. 9458038338
sprakash6978@gmail.com

'रेत समाधि' उपन्यास का कथानक, भाषा शिल्प एवं रचना-शैली का साहित्यिक विवेचन

डॉ॰ पंकजबाला श्रीवास्तव, एसो॰ प्रोफेसर, अँग्रेजी विभाग
महिला विद्यालय डिग्री कालेज, लखनऊ (उ॰प्र॰)

'माई', 'हमारा शहर उस बरस', 'तिरोहित' तथा 'खाली जगह' जैसे उपन्यासों की प्रतिष्ठित लेखिका गीतांजलिश्री हिंदी साहित्य के श्रेष्ठ कथाकारों की श्रेणी में मानी जाती हैं। उनके उपन्यास 'रेत समाधि' के अँग्रेजी अनुवाद Tomb of Sand, जिसका अनुवाद डेजी रॉकवेल ने किया है, को वर्ष 2022 का अंतर्राष्ट्रीय 'बुकर' पुरस्कार प्राप्त हुआ है। निश्चित रूप से यह सम्मान भारतीय साहित्य का सम्मान है। कथ्य, भाषा और अभिकथन की दृष्टि से गीतांजलिश्री विशिष्ट रचनाकार हैं। साथ ही उनकी कई कहानियाँ अलग होकर भी एक-दूसरे से जुड़ी प्रतीत होती हैं। 'रेत समाधि' में गीतांजलि के पूर्व के उपन्यासों की परछाई दिखाई पड़ती है। इस अर्थ में वह विकासशील कथाकार हैं और उनकी कथाएँ निरंतर विकास का परिणाम हैं।

योग के आठ अंगों में उच्चतम अवस्था होती है समाधि, किंतु समाधि का साधारण भाषा में अन्य तरीके से भी प्रयोग किया जाता है जैसे कि अमुक महात्मा ने वहाँ समाधि ली या उसकी समाधि वहाँ बनी हुई है। इस उपन्यास में भी समाधि का यही अर्थ लिया गया है। 'रेत समाधि' उपन्यास में समाधि शब्द का अभिनव प्रयोग हुआ है क्योंकि कोई साधु-संत या महात्मा रेत में समाधि नहीं लेते हैं। इस उपन्यास में देश विभाजन के दौरान थार मरुस्थल में आने वाली आँधी, रेतीले तूफान, घूर्णावृत आदि की वजह से पाकिस्तान से ट्रक भर-भरकर लाई गई अपहृत हिंदू लड़कियों को थार के असीम रेत समुंदर में दफन होने की दास्तान का सजीव वर्णन है। इसलिए उपन्यासकार ने 'रेत समाधि' शीर्षक हेतु शब्द चयनित किया है।

'रेत समाधि' प्रथमतः एक पारिवारिक उपन्यास है। उपन्यास में ही लेखिका कहती है कि एक परिवार के भीतर वह सब-कुछ होता है जो सारी दुनिया में होता है और जो परिवार में नहीं होता, वह दुनिया में नहीं होता। रिश्तों के बेहद करीब यह उपन्यास कई मुद्दों पर कटाक्ष करता है। प्रेम, रिश्ते से भटकने पर उपजने वाला टकराव, राजनीति, पितृसत्ता, समाज में महिलाओं की हालत, माँ-बेटी, स्त्री-युग्म के रिश्ते, ट्रांसजेंडर, पाकिस्तान, बँटवारा, हद-सरहद, सांप्रदायिकता, मुल्क के बँटवारे से होनेवाली गंभीर दुश्वारियाँ, बिछुड़न और अपनों से अलग होने का गम, रिश्तों में नोक-झोंक, लगाव, अतीत के न भुलाए जानेवाले आत्मीय संबंध, उम्मीदें, प्रकृति, पर्यावरण सब-कुछ है। दिल्ली की गलीनुमा आम घर से निकली कहानी बॉर्डर के पार पाकिस्तान तक कैसे पहुँचती है, यह रोमांचक है। पूरी कहानी एक फिल्म की तरह चलती है। कथा के केंद्र में दो औरतें हैं एक बड़ी हो रही है और दूसरी छोटी। दोनों रिश्ते में माँ-बेटी हैं। बड़ी हो रही स्त्री यानी बेटी हर सीमा को लाँघ जाना चाहती है पर हर सरहद से डरती है और छोटी हो रही स्त्री यानी माँ उम्र भर सीमाओं में बँधी रहती है पर अंत में कोई सरहद उसे रोक नहीं पाती। यह छोटी सी कथा इतनी

विराट एवं वृहत है कि कई परतों के साथ खुलती है और पाठक उसमें बिना दिशा भान के बहता चलता है कि जैसे रेत का कोई समुद्र हो, जिसमें नहीं पता कि कब, कहाँ, कौन सा टीला बन जाएगा और दर्द, जीवन, नजर और अनुभव का एक नया शिखर सम्मुख खड़ा हो जाएगा। छोटी हो रही स्त्री जब देह, मन, वर्जनाओं की सब सीमाएँ लाँघ रही होती है वहाँ एक तीसरा पात्र भी है, रोजी बुआ का। बिना किसी लेन-देन या स्वार्थ के केवल स्नेह की डोर से बँधी यह बेहद खूबसूरत प्रेम कथा है जिसमें सरहदें लाँघने का विराट प्रयास भी है।

उपन्यास के तीन अध्याय हैं, जिनमें पहला अध्याय 'पीठ' है। पति की मृत्यु के बाद कैसे एक गृहस्थ स्त्री सब तरफ से पीठ होती जाती है, इस अध्याय में बहुत सूक्ष्मता और तीक्ष्णता से प्रस्तुत किया गया है। वह इस कदर सबसे पीठ मोड़ चुकी है कि दीवार में जा चिपकी है और ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे दीवार की भी पीठ ही उग आई है।

दूसरे अध्यातय 'धूप' में पीठ हो चुकी स्त्री के अरमानों के फिर से खिल उठने की कथा है। जीने का वह बोहेमियन अंदाज जिसे लिए बेटी संयुक्त परिवार से अलग हो गई थी उसी अंदाज में माँ ऐसे ढलती और खिल उठती है कि बेटी को खुद के गृहस्थ होने का एहसास होने लगता है। यहीं माँ और रोजी बुआ के बीच के खूबसूरत प्रेम को देखने और महसूस करने का अवसर मिलता है। किसी किन्नर और एक स्त्री के प्रेम का इससे खूबसूरत रिश्ता साहित्य में अप्रतिम है। इस प्रेम की स्वीकार्यता इतनी उन्मुक्त है कि रोजी बुआ रजा टेलर मास्टर हो जाएँ, तो भी कथा और स्नेह में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती।

उसी रोजी बुआ के निर्मम अंत के बाद शुरू होता है उपन्यास का तीसरा और महत्त्वपूर्ण हिस्सा 'हद-सरहद'। जब माँ रोजी बुआ की आखिरी ख्वाहिश पूरी करने के लिए पाकिस्तान जाने का निश्चय करती हैं, क्योंकि रोजी को उनके किसी रिश्तेदार को चिरौंजी पहुँचानी थीं, जो वे नहीं पहुँचा सकीं। चिरौंजी की वही पोटली और एक पुरानी खंडित मूर्ति लिए छोटी हो रही स्त्री सरहद पार पहुँच जाती है। वहाँ, जिसकी गलियाँ, चौक, चौराहे, बाजार, खंडहर और पेड़-पौधे गली-नालियाँ तक उसकी खास दोस्त रोजी ने उसे दिखाए हैं। जिन रास्तों पर आँखें बंद किए वे आगे बढ़ती हैं, क्योंकि आँखे खोल देने से स्मृतियों के 'बैंक' को वर्तमान दृश्य बाधित करते हैं। बाधाएँ आती हैं और निरंतर बनी रहती हैं, अब भी बनी हुई हैं। यही बाधाएँ प्रेम को असामयिक मौत मरने पर मजबूर कर देते हैं।

गीतांजलिश्री आसान लेखिका नहीं हैं। उनको पढ़ने के लिए बहुत सारे स्तरों को खुला छोड़ना पड़ता है ताकि भाषा के नए स्तरों से गुजरा जा सके, महसूस किया जा सके। कई आलोचकों का मानना है कि उपन्यास की भाषाशैली नीरस एवं उबाऊ है जिसे रागदरबारी की तरह अत्यंत सहजता के साथ नहीं पढ़ा जा सकता है। लीक से अलग लेखन साहित्य के लिए लाभदायक अवश्य है अगर उसमें पठनीयता हो।

उपन्यास की माँ के बेटे विदेशों में रहते हैं, पाश्चात्य संस्कृति में रचे-बसे; भारत और भारतीयता उन्हें रास नहीं आती है। हर चीज में बुराई नजर आने लगती है। उनकी भाषा में भी अनर्गल शब्दों की बाढ़ है। भाषा की शुद्धता और शुचिता बची नहीं रह गई। हिंदी अँग्रेजी और देशज बाहुल्य शब्दों वाली मिश्रित भाषा में 'फक यू', 'स्क्रू यू', 'वाऊ', 'ओ शिट' 'रेनबो चमकोड हियर', 'ए रेनबो चमकोइंग दियर', 'लंच टंर्ड डिनर', 'आरा हिले छपरा हिले', 'अरे ओ सांभा कितने आदमी थे!', 'माइक पर भाषण पेलते', 'भकोस गया', 'कुछ पैसा आ जाएगा तो कोनो हर्ज

नहीं', 'हाथ तेज चलेब ही करबे', 'चिल्ल ग्रेनी बुगीवुगी', 'मैलिआ दे', 'लिंगेमरमर', 'अटकलपच्चू', 'गेंदतड़ी' जैसे अनेक वर्तमान की बोलचाल की भाषा के शब्दों का भरपूर प्रयोग हुआ है।

डेजी रॉकवेल ने 'टॉम्ब ऑफ सैंड' के अंतिम पृष्ठों में दिए 'ट्रांसलेटर' नोट में लिखा है कि मूल उपन्यास कृत्रिम रूप से हिंदी उन्मुखी है, इसमें हिंदी, उर्दू, पंजाबी, बांग्ला, संस्कृत और भोजपुरी आदि अन्य देशज भाषाओं के शब्दों का भरपूर समावेश है। यही वजह है कि इसका अनुवाद कृत्रिम रूप से अँग्रेजी उन्मुखी है। मूल और अनूदित उपन्यास में भाषाओं की मिलावट है, साधारणतया यह वर्ण-संकर भाषा फिल्मों में प्रयोग में ली जाती है। 'रेत समाधि' की भाषा को मानक हिंदी मानना तो बहुत बड़ी गलती होगी। पूरे उपन्यास में कहीं पर भी योजक रेखा का प्रयोग नहीं है उदाहरण के तौर पर बात बात, बड़ी बड़ी, ताल तलैया, काली पीली, टपक टपक, धीरे-धीरे, दाएँ-दाएँ, जरा सी आदि शब्द ज्यों-के-त्यों लिखे गए हैं। कहीं जगह विभक्तियाँ भी मानक भाषा से पृथक लगती है जैसे माँ पे बरसे, जिलाने के उनके स्वर, सड़क पे निकल आए, कुछेक महीनों आदि।

उपन्यास में रचना-शैली के कई उदाहरण देखने में मिलते हैं, जो निम्न है–

(1) **सहयात्री-शैली**–'रेत समाधि' में कौवा, तीतर, चिड़िया, छड़ी, पेड़, फूल, पत्ती आदि को सहयात्री के रूप में अपने साथ लेकर चलते हुए कहानी कही गई है। कौवा अनेक बार कहानी का मुख्य पात्र बन गया है। इससे कथा में जहाँ आकर्षण बढ़ जाता है, वहीं उपन्यासकार को बहुत सी अभिव्यक्तियाँ सहयात्री के माध्यम से व्यक्त करने में सुविधा हुई है।

(2) **काव्यमय रचना शैली**–ऐसा अक्सर होता है कि उपन्यास में ही कुछ कविताएँ शामिल कर दी जाती हैं। इनसे उपन्यास का सौंदर्य बढ़ता है। रेत समाधि में ऐसी कविता इस प्रकार है–

इक बार मुकाबला प्यार हुआ
एक सुक्खड़ एक व्यभिचार हुआ
एक ओट हुआ एक डटा हुआ
ये भेड़ बना वो चरवाहा
ये पाव रहा वो सर-निकला –(रेत समाधि, पृ॰ 22)

(3) **गद्य-काव्य शैली**–गद्य में पद्य का संगीत उत्पन्न करना 'रेत समाधि' की मुख्य विशेषता है। इस गुण से उपन्यास के पृष्ठ भरे हुए हैं। उपन्यासकार की यह मुख्य शैली है कि वह काव्यात्मकता से ओतप्रोत होकर गद्य की प्रस्तुति करती है। उदाहरण–

'किसी फ्लैट में कामवाली ने बाल्टी टनकाई। किसी ने ताजा मसाला कूटा। सुगंध गायी। किसी ने खरल में इलायची पीसी, दिल को भायी। माँने लंबी चुस्की ली जैसे चिड़िया की धुन निकालती हो।' (रेत समाधि, पृ॰ 136)

गद्य-काव्य का ही एक अन्य उदाहरण–

'सुबह सुबह जब माँ बालकनी पर चाय पीती है काली चिड़िया लंबी सीटी मारती है। चढ़ती उतरती लय।' (रेत समाधि, पृ॰ 142)

(4) **वर्णनात्मक शैली**–परिदृश्य का सजीव चित्रण करने में 'रेत समाधि' का कोई मुकाबला नहीं। ऐसा चित्र मानो दृश्य स्वयं कागज पर उतर आया हो। घटनाओं को इस प्रकार प्रस्तुत करना कि पढ़ते समय पाठक भी उस घटना का स्वयं को एक अंग समझने लगें। उदाहरण–

'दावत क्या थी सरकारी फाइलों में चिरकाल के लिए दर्ज हो गई। बड़े ने क्या लास्ट लंच

दिया। नामी-गिरामी पहुँचे। सरकारी मुलाजिम, नए पुराने तो थे ही मगर खानदानी रियासतों के बड़े जैसे ममदोत के नवाब बहादुर, जैसे ध्रांगध्रा के महाराज और मिलों कंपनियों के मालिक जैसे बघेलूराम और पेट्रोल पंप वाला और फिल्मी हस्तियाँ (रेत समाधि, पृ॰ 54)

(5) **हास्य व्यंग्य शैली**–हास्य-व्यंग्य शैली का बखूबी उपयोग इस उपन्यास में स्थान-स्थान पर हुआ है। प्राय: परिवारों में कुछ लोगों को जोर-जोर से चिल्लाकर बोलने की आदत होती है। उपन्यासकार ने इस चीज को मनोरंजन के लिए प्रस्तुत कर दिया।

'चिल्लाना परंपरा है। बड़े बेटों का चिल्लाने का पुराना रिवाज है। कहा जाता है कि बड़े के पिता दिल से चिल्लाते थे जबकि बड़े का दिल ज्यादा खौलन नहीं मारता। पर जबान दोनों की एक सी है। रिटायरमेंट तक पिता चिल्लाते थे, फिर चिल्लाना बेटे को सौंप कुछ शांत हो चले। बड़े ने और जोरों से चिल्लाने की शान ओढ़ी और चमकने दमकने लगे।' (रेत समाधि, पृ॰ 24-25)

इसी तरह पर्यावरण के प्रति जागरूकता के लिए उन्होंने व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग किया है–

'ऐ, काँव काँव, अपने घरों को मैला करो, हमारे में क्यों घुसे हो, गंदगी बजबजाने? हमारा घर तो ब्रह्मांड है और प्रकृति, जिसके नाश पे ये बेपंख कौम अपने घर खड़ी कर रही है। खुदकुशी का शौक चर्राया है तो करें पर हमें क्यों उसमें घसीटते हैं? हम कहाँ जाएँगे जब हमारा आसमान और हमारे दरख्त धराशायी कर डालेंगे ये। हमें मल मूत्र पे ऐतराज नहीं था जब तक वो आर्गेनिक थे। हमारे दरख्तों को आता था दूध पानी अलग करना और खिलना।' (रेत समाधि, पृ॰ 183)

'पेड़ आसमान नदी पक्षी सबकी इज्जत सीमेंट में मिल चुकी है। पानी है बदबू का नाला, आसमान धुएँ का पटल, पक्षी गर कौवा तो चोरने आया या मल मूत छींटने। (रेत समाधि, पृ॰ 193)

हिंदुस्तान की जनता को भी 'स्वच्छ भारत अभियान' का मखौल उड़ाने के लिए लताड़ा है–'बाजी ये हिंदुस्तान है। जहाँ हगने वाले जंजीर में बँधा तामलोट रेलगाड़ी से उड़ा लेते हैं। ये तो अस्पताल है जहाँ सबको नंगा दूँगा कर देते हैं।' (रेत समाधि, पृ॰ 221)

(6) **ध्वन्यात्मक शैली**–यह सत्य है किसी भी भाषा में जैसे बोला जाता है वैसे लिखा कभी-कभी ही गया है, और जब लिखा गया तो वह कालजयी ही हुआ; चाहे प्रेमचंद की रचना हो या रेणु का 'मैला आँचल'। 'रेत समाधि' में ऐसे ध्वन्यात्मक अनगिनत प्रयोग हैं–

'नहीं नहीं मैं नहीं उठूँगी। अब तो मैं नहीं उठूँगी। अब्ब तो मैं नइ उठूँगी। अब्ब तो मैं नइई उठूँगी। अब मैं नयी उठूँगी। अब तो मैं नयी ही उठूँगी।' (रेत समाधि, पृ॰13)

'चिल्ला जाड़ा दिन चालीस, पूस माघ पचीस। च्च चिल्ला ज्ज्जाड़ा दिन चयालीस, पूस के पपंद्रह म्माघ पच्चीस।' (रेत समाधि, पृ॰15)

'उसे तरह तरह से बजाने में लगे, यों माँ अपनी साँस के संग करने लगी है। लंबी लंबी श्वास नि:श्वास। गहराती और ध्वनियाँ उनमें 'अआ आअहा अहा अआआहो। जम्हाई में मुँह फाड़ते हुए। ऊऊ ऊऊ ईईईईइमा उईउम्मा। कमर झुलाते हुए।' (रेत समाधि, पृ॰ 135)

'हर जुम्बिश पर आह कराह ऊह, को। ओओह, आहहहो खर्राटे। इन नए स्वरों के बीच में माँ जाने पहचाने शब्द भी कभी डाल देती हैं। अआह अच्छा हिस्सए को नहीं फंरर्राए मुँहेव्हीए ऊऊओह्कनटोप इईपलस्टरऊई।' (रेत समाधि, पृ॰ 135)

भारत की भाषा ई विकलांगता को जोरदार धक्का देते हुए लेखिका लिखती हैं, 'जिस भी रांडू पांडू से पूछो, जिस भी हिंदुस्तानी जबान में, जवाब वो अँग्रेजी में देता है, वो भी गलत अँग्रेजी

में, साइनबोर्ड पर हिंदी की भी वर्तनी गलत है, अँग्रेजी की तो माशाअल्लाह।' अँग्रेजी की बीमारी से ग्रसित समाज और सत्ता में अपनी-अपनी भाषा और बोलियों को लेकर जो हीन ग्रंथि है उस पर लेखिका की यह पंक्ति उन्हें औपनिवेशिक गुलामी से मुक्त करने की कोशिश है, न कि अँग्रेजी की आलोचना करना या फिर इसकी जरूरत को नकारना। जिस भाषा में पले-बढ़े, जिसमें सपने देखे, जिसमें प्रेम किया, जिसमें रोया, जिसमें हँसा तो उस भाषा को बोलने में यह संकोच, मानसिक गुलामी नहीं तो और क्या है! मुक्त मस्तिष्क के लिए मूल भाषा का कोई विकल्प नहीं होता। मुक्त मस्तिष्क में विशेषणों की भरमार उठती है जैसे–

'रक्तलाल, अंबरीन, हल्दिया, सुरमई, धानी, फिरोजी, बैंगनी, काली, सुगापंखी, सफेद, सभी, सभी। उनके पंखों में छींटे। धारी। छड़ी की मूठ एक चोंच। उसमें मुस्कान, उड़ान, बतियान।' (रेत समाधि, पृ॰ 48)

(7) **संवाद अदायगी की भाषा-शैली**–वैसे तो उपन्यास में स्थान-स्थान पर उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग बहुत सहजता के साथ उपन्यासकार ने किया है लेकिन कुछ स्थानों पर तो उर्दू के वाक्यों में संवाद के प्रस्तुतीकरण ने मानो दृश्य में जान ही डाल दी है। पाकिस्तानी संदर्भ में ऐसा ही एक संवाद उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत है–

'आपका हमारे मुल्क में इस्तकबाल है, जनाब कहिए एंबेसडर ने कहा। आपने हमारी दुख्तर को सिखाया है।' (रेत समाधि, पृ॰ 263)

(8) **विचार प्रधान शैली**–इस शैली का उपयोग भी उपन्यास में कम नहीं हुआ है। अनेक स्थानों पर उपन्यासकार को विचारों के रूप में अपनी बात कहने की आवश्यकता महसूस हुई है और उसने उसे कथा का एक अंग बना लिया। विचारों को उपन्यास में प्रस्तुत करना गलत नहीं माना जाता। 'रेत समाधि' के कुछ पृष्ठों से इस विचारधारा-भरे वाक्यों को उद्धृत करना अच्छा रहेगा। भारत-पाकिस्तान एकता के बारे में ही उपन्यास के विचार हैं–

'पर हिंदुस्तान-पाकिस्तान की दोस्तियों की किसे पड़ी? जमाना तो होड़ और दुश्मनियों का डंका बजाने का हो चला। जब नफरत उठान पर हो तो प्रेम की बातें गिजगिजी और पिचपिची लगती हैं। खबर को लैला मजनू शीरी फरहाद चंदा अनवर से कौन जोड़ता है?' (रेत समाधि, पृ॰ 361)

एक अन्य स्थान पर जहाँ चंदा और अनवर की मुलाकात होती है, उपन्यासकार ने दो प्रेमी हृदयों के मिलन को इन विचारों के साथ परिभाषित किया है–

'दो सादे दिलों का कभी कोई मुकाबला नहीं। सादापन-सा क्षणभंगुर कोई एहसास नहीं। इसीलिए वही सदियों को जोड़ पाता है। वही दूरी को पाट देता है। वही खाई को लाँघ जाता है।' (रेत समाधि, पृ॰ 354)

'रेत समाधि' के पात्रों से गुजरते हुए लगता है कि हमारा खुद का जीवन उपन्यास जैसा ही है। जितने अच्छे-बुरे हम हैं, उनके उपन्यास के पात्र भी उतने ही अच्छे-बुरे, खूबसूरत-बदसूरत और अपरिभाषित हैं। उपन्यास 'रेत समाधि' में एक पात्र है बड़े अर्थात् मैन ऑफ दि हाऊस जिसे संक्षेप में मोत (MOTH) कहा गया है, जिसका उच्चारण मौत की तरह जान पड़ता है। इस तरह की भाषाई ध्वनि प्रतीकों से 'रेत समाधि' (टॉम्ब ऑफ सैंड) में अर्थ संगुंफन की बाढ़ सी आई हुई है। बड़े का अपना परिवार है। उसकी पत्नी और और दो बच्चे भी हैं। पति-पत्नी एक दूसरे को 'डी' से संबोधित करते हैं। 'डी' डॉर्लिंग का संक्षिप्त रूप हो सकता है। बड़े और उसकी पत्नी के बीच का यह संबोधन विवाह के कुछ साल तक डार्लिंग का ही द्योतक लगता है, किंतु कुछ सालों बाद

यह संक्षिप्ताक्षर डार्लिंग के विपरीत भाव का अर्थात् डफर का रूपक हो जाता है। 'रेत समाधि' अर्थात् डोम ऑफ सैंड में भाषा और भाषाई रूपकों का यह खिलंदड़ापन बहुत रोचक बन पड़ा है। उपन्यास में माँ की एक बेटी भी है। बेटी बोहेमियन किस्म की कलावंत है, जो परिवार की परंपरा के लिए चुनौती है। इन सबके अतिरिक्त एक और पात्र रोजी बुआ है, जिसका लिंग अपरिभाषित है। रोजी बुआ माँ को जिंदगी और पागलपन से जोड़ती/जोड़ता है। गीतांजलिश्री ने इन सारे पात्रों को समाज से उठाकर उन्हें भाषा और भाव के वैभव से जोड़कर उनमें जादू डालकर दीप्तिमान कर दिया है। इतना ही नहीं, इन पात्रों के संघर्ष और सोच के द्वारा जाति और वर्ग के बीच की खाई का भी बेदाग चित्रण हुआ है।

कहीं-कहीं तो पात्रों की भाषा पूरी तरह इतर हिंदी हो गई है जैसे–'मैं भइया के पाँउ दबाइ रहौ हो लेकिन बिनने ध्यान नाएँ हो। बिनकी आँखें मुंदी हीं और म्हों में जैसें कछु फँसो भऔ है, निकारि रये हैं। तभई चिंपू अखबार लैकें दरबज्जे पै। भय्या जी उछले और बाई म्हों से बाके सामने। बू तौ दैया रे, अखबार फँकि कँ भागौ। बू कहतु है कि भइयाजी रोज जइ कत्तें। उनैं कछु है गऔ है।' (रेत समाधि, पृ॰ 46)

उपन्यास अनुवाद के बारे में एक जगह लेखिका स्वयं लिखती है, 'अनुवाद बलाओं में बला जहाँ मुस्कान माने चक्कू और खाओ का खिलाओ और आ गए का जाते क्यों नहीं और जरूर का बुरे फँसे और आदि का अनंत और अम्मा का बचपना और बेटी का सयाना और इससे भी ज्यादा डरावना, तो कैसे भाषा गढ़े?' (रेत समाधि, पृ॰ 214) गीतांजलिश्री के अनुसार, 'रेत समाधि' (टॉम्ब ऑफ सैंड) एक शोकगीत है, उस दुनिया का जिसमें हम रहते हैं। यह एक ऐसी ऊर्जा है, जो आशंकाओं के बीच उम्मीद की किरण जगाती है।

यह उपन्यास सहज भाषिक संरचना के बावजूद शिल्प विधान में अत्यंत जटिल है। एक भाषा से दूसरी भाषा में महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का अनुवाद कभी भी पूरी तरह से सजीव या पूरी तरह से सच और मूल के प्रति वफादार नहीं हो सकता है। भाषा और संस्कृति के दृष्टिकोण से अगर देखा जाए समाधि विशिष्ट संस्कृति का परिचायक है, जो अननुवाद्य शब्द है, अतः इसका अनुवाद Tomb न होकर समाधि रहना ज्यादा उपयुक्त प्रतीत होता है। Tomb किसी दरगाह, कब्रिस्तान या मकबरे की याद दिलाता है, जहाँ मुस्लिम संप्रदाय के मुर्दों को गाढ़ा जाता है और उनकी याद में यथाशक्ति कब्र, मीनार या महल बनाया जाता है। यद्यपि अनुवादिका ने अनुवाद प्रक्रिया के दौरान अपनी तरफ से भीकुछ अतिरिक्त जोड़ने का प्रयास किया है, परंतु उन्होंने इस कृति की आत्मा को अक्षुण्ण रखने का भरसक प्रयास किया है।

संदर्भ

1. गीतांजलिश्री, रेत समाधि, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2022

SS - 37, Sector - E, L.D.A.
Colony, Kanpur road Scheme,
LUCKNOW 226 012 U.P.
Mob. 9415414494, 9454412394
drpankajbsrivastava@yahoo.com

 ISSN 0975-735X

गोदान का महत्त्व

डॉ॰ विशेष कुमार राय, असि॰ प्रोफेसर, हिंदी विभाग
जे॰एस॰ हिंदू (पी॰जी॰) कॉलेज, अमरोहा (उ॰प्र॰)

कविता के युग में प्रेमचंद ने लेखन में कथासाहित्य को जरिया बनाया। हिंदी साहित्य पर गौर करने से जो तस्वीर सबसे पहले सामने आती है वह यह कि प्रगति युग से पहले तक कविता का आम जनता से कोई खास सरोकार नहीं रहा और बहुत बाद में आकर वह जनवादी रुख अख्तियार करती है। कविता, जटिल होती मानवीय संवेदनाओं को व्यक्त नहीं कर पा रही थी। पहले महाकाव्यों में जीवन की जटिलता समा सकती थी, लेकिन अब जीवन का प्रत्येक क्षण महत्त्वपूर्ण हो गया तो, इसका जिम्मा गद्य सँभालता है। इसीलिए महाकवि निराला ने गद्य को जीवन संग्राम की भाषा कहा था। इस तरह अपने संपूर्ण चयन लेखन में 'प्रेमचंद' क्रांतिकारी नजर आते हैं। चाहे वह विधा का चयन हो, भाषा, पात्र या फिर मुद्दों का, अपने पूरे कैनवास में प्रेमचंद बतौर एक क्रांतिकारी के रूप में हमारे सामने आते हैं। बकौल डॉ॰ नामवर सिंह, 'प्रेमचंद ने धरती के लिए आकाश का त्याग किया, यथार्थ के लिए कल्पना से परहेज किया और रोमैंटिक युग में यथार्थवाद की राह चलने का जोखिम उठाया।'[1] अपने साहित्य में वे उन तबकों की बात करते हैं जिनका शोषण शोषणकारी व्यवस्था कर रही थी। वो तबके थे–किसान, मजदूर, दलित, स्त्री और अल्पसंख्यक। 'गोदान' के अध्ययन से पूर्व हमें यह जान लेना भी आवश्यक है कि साहित्य के बारे में खुद 'प्रेमचंद' के विचार क्या थे? 'साहित्य का उद्देश्य' नामक निबंध में वे कहते हैं–'साहित्य की बहुत सी परिभाषाएँ की गई हैं पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है। ...उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।'[2] आगे वह कहते हैं–'....यों कहिए कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है जो दलित हैं, पीड़ित हैं, वंचित हैं, चाहे वह व्यक्ति हों या समूह उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है।'[3] और अंतिम में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'जो हममें गति और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।'[4]

इस 'बैचेनी' और 'ना सोने' की इच्छा से क्या 'कबीर' याद नहीं आते–

सुखिया सब संसार है, खावै अरू सोवै
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै।।

'कबीर' किसके लिए रात-भर जागते और रोते थे, 'प्रेमचंद' किसके लिए बेचैन होना चाहते हैं, सोना नहीं चाहते? इस तरह हम देखते हैं कि 'प्रेमचंद' का साहित्य उत्पीड़ितों का साहित्य है।

'गोदान' तक आते-आते 'प्रेमचंद' ऐसी जगह खड़े हैं जहाँ उन्हें न तो, कोई आशा धर्म से है और न ही व्यवस्था से। वह समझ चुके थे कि वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक व्यवस्था किस तरह से किसान को मजदूर बनाकर मौत के मुँह में धकेल रही है। 'गांधी' और काँग्रेस से उनका मोह भंग हो चुका था। 'गोदान' में 'होरी' जैसे किसानों की दयनीय हालत को दर्शाने के साथ-साथ वे अपने समय के पार भी देखते हैं। 'गोदान' में 'प्रेमचंद' एक ऐसा सपना देख रहे थे जिसे यदि आज भी ईमानदारी से लागू किया जाए तो, कितने 'होरी' उस यंत्रणा से बच

जाएँगे, जिससे उबरने की कोशिश में 'होरी' मजदूर बनकर दम तोड़ देता है। वह सपना था– 'गाँव-गाय-खेत-किसानी' का। 'होरी' की यही चाह तो थी जो पूरी न हो सकी। ऋण लगान, धर्म व मरजाद के व्यूह में फँसा होरी 'गाँव-गाय-खेत-किसानी' के लिए क्या नहीं करता?

कुछ लोगों को 'गोदान' में अँधेरा ही अँधेरा नजर जाता है, इसलिए वह इसकी तीखी आलोचना करते हैं। ये वही लोग हैं जो 'मुक्तिबोध' के साहित्य में चित्रित 'अँधेरे' को नहीं समझ सके, 'काफ्का' के साहित्य में विद्यमान निराशा और अँधेरे को नहीं समझ सके हैं। दरअसल, जो विद्वान 'प्रेमचंद' के यथार्थ को आर्दशोन्मुख यथार्थवाद कहते हैं, वह गलत हैं। 'गोदान' तक आते-आते 'प्रेमचंद' का यथार्थवाद साफतौर पर आलोचनात्मक यथार्थवाद का रूप ले लेता है। 'गोदान' समूची व्यवस्था की तीव्र आलोचना प्रस्तुत करता है। 'प्रेमचंद' के आखिरी दौर का साहित्य यही तीखी आलोचना प्रस्तुत करता है। जिन्हें 'घीसू-माधव' या 'होरी' पर यकीन नहीं होता, उन्हें 'कबीर' पर भी यकीन नहीं होता, 'मुक्तिबोध' और 'काफ्का' जैसे साहित्यकारों को भी वह शक की निगाह से देखते हैं, क्योंकि ये तमाम रचनाकार 'आँखिन देखी' का बयान करते हैं।

'प्रेमचंद' इस उपन्यास में समाज को यथावत् रखते हैं। 'गोदान' में 'प्रेमचंद' सामंतवादी 'रायसाहब' व पूँजीवादी 'खन्ना' के गठजोड़ के सहारे उन चेहरों को बेनकाब करते हैं जो एकाध बार जेल जाकर देशभक्त बने घूम रहे हैं और जिनका एकमात्र लक्ष्य 'होरी' का शोषण था। पूरे उपन्यास में 'होरी' कहीं भी विरोध नहीं करता। वह भाग्यवादी है। अपनी स्थिति को उसने अपनी नियति मान लिया है। विरोध करता है 'होरी' का बेटा 'गोबर' जो नई पीढ़ी का विद्रोही चेतना से लैस युवक है। देखने वाली बात यह है कि 'होरी' व 'गोबर' में एक पीढ़ी व एक व्यवस्था का अंतर है। जहाँ 'होरी' टूटते सामंती युग का किसान है, वहीं 'गोबर' उभरते पूँजीवाद का मजदूर। शोषण चक्र एवं परिस्थितियों के चलते गोबर को शहर जाकर मजदूरी करनी पड़ती है। वहाँ भाषण इत्यादि सुनकर उसमें जागरूकता आती है। किंतु शहर जाकर 'गोबर' एकबारगी 'महाजनी' करने लगता है क्योंकि वह भी किसान ही था। वर्ग चेतना उसमें धीरे-धीरे आ रही थी। 'गोबर' गाँव-शहर दोनों में विरोध करता है। होरी 'विरोध' नहीं करता। 'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि' में 'ए॰आर॰ देसाई' कहते हैं–'सर्वहारा संपत्तिहीन होने के कारण किसान से अधिक लड़ाकू होता है। किसान के पास थोड़ी ही सही जमीन तो होती है, जिससे उसका लगाव हो जाता है और विद्रोह से हिचकता है।'[5]

'गोदान' की कथा में 'प्रेमचंद' हमें बताते हैं कि गाँव से एक सड़क शहर जाती है। हम सामंतवाद और पूँजीवाद के मिलन बिंदु की तरफ बढ़ रहे हैं। गाँव व शहर में संवाद नहीं है। किसान-मजदूर स्वाधीनता आंदोलन की मुख्यधारा में शामिल नहीं थे या यूँ कहें कि किए नहीं गए थे। काँग्रेस हमेशा स्वतंत्रता आंदोलन में मुख्य मुद्दे (किसान-मजदूर-दलित स्त्री आदि) को गौण व गौण मुद्दे (पूँजीपति-कारखाने) को मुख्य बनाए रही। 'गोदान' में शहर की कथा को पेश करने के बहाने 'प्रेमचंद' हमारे सामने 'राय साहब' व 'खन्ना' को पेश करते हैं। इस उपन्यास में 'प्रेमचंद' शोषकों की पूरी जमात के चेहरों से नकाब उतारते हैं। सामंती चरित्र के 'राय साहब', पूँजीवादी 'खन्ना', 'झिंगुरी सिंह', 'पटेश्वरी लाल' सब मिलकर शोषण का ऐसा जाल बुनते हैं, जिसमें 'होरी' जिंदा मक्खी की तरह फँस जाता है। 'होरी' छटपटाकर बाहर निकलने की कोशिश करता है, लेकिन शोषण के उस मकड़जाल में और उलझता जाता है। 'धनिया' जो कि एक विद्रोही स्त्री है, इन मकड़ों को अच्छी तरह पहचानती है। वह समय-समय पर विरोध भी करती है।

'गोदान' में स्त्री विरोध करती है, दलित विरोध करते हैं और मजदूर भी। ये अलग बात है

कि ये विरोध सफल नहीं हो पाते। किंतु गौर से देखा जाए तो 'प्रेमचंद' उनकी असफलता में उनकी कमजोरी की नस को दर्शाते हैं और वह नस है–एकता का अभाव। 'प्रेमचंद' जान रहे थे कि जब तक इनमें एकता का अभाव है, तब तक इन्हें सफलता नहीं मिलेगी। वह बताते हैं कि किसान मजदूर में एकता जरूरी है, उसमें मध्यवर्ग को भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी। 'गोदान' में प्रेमचंद दलितों का जबरदस्त विरोध दिखाते हैं। चमार संगठित होकर 'मातादीन' के मुँह में हड्डी डाल देते हैं। साठ साल का बूढ़ा 'हरखू' कहता है–'झगड़ा कुछ नहीं है ठाकुर, हम आज या तो मातादीन को चमार बनाके छोड़ेंगे या उनका और अपना रक्त एक कर देंगे। ...तुम हमें ब्राह्मन नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमें ब्राह्मण बना दो, हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। ...हमारी इज्जत लेते हो, अपना धरम हमें दो।'[6]

यह कितनी बड़ी और क्रांतिकारी बात है 1936 ई॰ में, किंतु 'प्रेमचंद' यह क्रांति हवा में नहीं करते, 1936 ई॰ तक डॉ॰ अंबेडकर 'अपनी दमदार आमद दर्ज करा चुके थे। 1927 में डॉ॰ अंबेडकर ने 'मनुस्मृति' को जला दिया था। 1933 ई॰ प्रेमचंद ने 'हंस' के मुख्य पृष्ठ पर 'डॉ॰ अंबेडकर' का चित्र प्रकाशित किया था। होरी, हरखू का विरोध करता है, प्रेमचंद बताते हैं कि जातिवाद वर्ग निर्माण निर्माण की राह में रोड़ा है। होरी-हरखू वर्गगत दृष्टि से समान हैं। 'होरी' की कथा के जरिए 'प्रेमचंद' संयुक्त परिवार के टूटने एवं गाँव से शहर में पलायन को भी दिखाते हैं। एक नई आर्थिक व्यवस्था किस प्रकार एक नई सामाजिक व्यवस्था को जन्म दे रही थी। यहीं से व्यक्ति का श्रम से अलगाव शुरू होता है। 'प्रेमचंद' इतने सचेत कलाकार थे कि वह हमारे सामने शोषण की पूरी मशीनरी को पेश करते हैं। 'हीरा' अगर गाय को जहर न देता तो भी 'होरी' के पास गाय नहीं बच पाती। यह किसी-न-किसी शोषक के द्वारा हड़प ली जाती। 'प्रेमचंद' हमारा ध्यान उस व्यवस्था की ओर ले जाते हैं जो 'होरी' के 'गाँव-गाय-खेत-किसानी' पर नजर जमाए हैं। यह अच्छी बात है कि गाँव में सामंतवादी-ब्राह्मणवादी सुपर स्ट्रक्चर टूट रहा था, किंतु उसके बदले में गाँव को जो सुपर स्ट्रक्चर मिल रहा था, 'प्रेमचंद' उसे भी ठीक-ठीक समझ रहे थे। पूँजीवाद की अनिवार्य जरूरत है मजदूर। किसानों को मजदूर बनाओ अंत में पूँजीवाद मनुष्य के मनुष्यत्व पर हमला करता है। 'प्रेमचंद' जान रहे थे कि भविष्य में किसानी को घाटे का सौदा बनाकर 'होरी' को मौत की गर्त में धकेल दिया जाएगा। 'होरी' अपनी बेटी 'रूपा' की शादी वृद्ध से करके, उसे बेच देता है, और सोचता है–'मानो उसको नगर के द्वार पर खड़ा कर दिया गया, और जो भी आता है, उसके मुँह पर थूक देता है।'[7] यह मैटाफर कितना बड़ा और कितना कष्टदायी है। 'होरी' हर हमला सहन करता है, लेकिन अपनी मनुष्यता पर हमला सहन नहीं कर पाता। वह लगातार गिरता है और मर जाता है। 'होरी' लगातार लड़ता है और मर जाता है। 'प्रेमचंद', 'गोदान' में प्रेम विवाह, विधवा विवाह, अंतर्जातीय विवाह, तलाक इत्यादि सभी कुछ पेश करते हैं और हवा में ही पेश नहीं करते। समाज में धीरे-धीरे ही सही यह चीजें शुरू हो चुकी थीं।

'प्रेमचंद', 'मेहता-मालती' के जरिए तत्कालीन मध्य वर्ग की मानसिकता को दर्शाते हैं। 'मालती' का चरित्र उन्होंने जानबूझकर ऐसा गढ़ा है। आधुनिकता ने एक अच्छा काम यह किया कि स्त्रियों को आजादी प्रदान की। किंतु उस आजादी से हुआ क्या? 'मालती' जैसी स्त्रियाँ पुरुषवादी समाज में उपभोग की वस्तु बन गईं। 'खन्ना' उससे विवाह नहीं करना चाहता। 'मेहता' भी 'मालती; को तब स्वीकार करता है तब वह 'प्रेमचंद' के स्त्री विचारों संबंधी खाँचे में आ जाती है। अंतत: 'मेहता-मालती' गाँव की ओर लौटते हैं। उपन्यास में मिल मजदूर हड़ताल करते हैं जो अंतत:

असफल होती है, क्योंकि मजदूरों में एकता एवं नेतृत्व का अभाव था। यह समस्या समस्त किसान-मजदूर आंदोलनों के साथ थी। आंदोलन में नेतृत्व के लिए बड़े-बड़े नेता बुलाए जाते थे जो आंदोलन का रुख अपने फायदे के लिए दूसरी दिशा में मोड़ देते थे। 'किसान राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद-संबंधी अपने अध्ययन' में 'डॉ॰ वीर भारत तलवार' लिखते हैं–नवंबर में किसान आंदोलन का उभार इस हद तक पहुँच गया था कि गाँधी, शौकत अली और मोहम्मद अली जैसे राष्ट्रीय नेताओं को अवध मे आना पड़ा। उन्होंने किसान आंदोलन के सामंत विरोधी चरित्र को दबाकर उसे काँग्रेस के राष्ट्रीय आंदोलन की ओर मोड़ने की कोशिश की।'[8]

'मिर्जा खुर्शेद' व 'मेहता' मजदूरों को नेतृत्व प्रदान कर सकते थे लेकिन ऐसा न करके वे शिक्षित मध्यवर्गीय मानसिकता को उजागर करते हैं, जो किसान-मजदूर से सहानुभूति रखते हैं, उनकी मौजूदा हालत में बदलाव चाहते हैं, लेकिन अपनी सुविधाओं में कटौती के बल पर नहीं। उनका रिश्ता 'राय साहब' व 'खन्ना' से भी है। बिजली के संपादक के माध्यम से कलम की अवसरवादिता को पेश किया गया है, दरअसल पूँजीवादी मीडिया को अपने अनुसार इस्तेमाल करते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि 'गोदान' में 'प्रेमचंद' ने हर जगह व्यवस्था को निशाना बनाया है। 'होरी' की इस दशा की जिम्मेदार यह व्यवस्था है। किसान मन एवं उसके दुख को 'प्रेमचंद' कितनी सहजता से समझते हैं। 'प्रेमचंद' के सामने यह स्पष्ट हो चुका था कि भले ही आर्थिक व्यवस्था बदल जाए तो भी यह परंपराएँ न टूटेंगी, जिनमें 'होरी' का परिवार अंत तक धँसा है। 'दातादीन', 'झिंगुरी सिंह' से कहता है–जमींदारी मिट जाए, बंकघर टूट जाए, लेकिन जजमानी अंत तक बनी रहेगी। जब तक हिंदू जाति रहेगी, तब तक ब्राह्मण भी रहेंगे और जजमानी भी रहेगी।'[9]

इस तरह हम देखते हैं कि 'प्रेमचद', 'होरी' की हालत की जिम्मेदार व्यवस्था की नब्ज को पकड़ते हैं। इज्जत, मरजाद, धर्म, परंपरा, बिरादरी, 'होरी' की हालत में इन सब का भी उतना ही योगदान है, जितना गरीबी का, 'प्रेमचंद', 'होरी' की उसी इज्जत की अवधारणा पर चोट करते हैं। 'होरी' इज्जत की खातिर भाई के घर की तलाशी नहीं होने देना चाहता, वह दरोगा को उधार लेकर रिश्वत देने का प्रयास करता है, इतने में 'धनिया' बीच में आकर कहती है–'घर के परानी रात-दिन मरें और दाने-दाने को तरसें, लत्ता भी पहनने को मयस्सर न हो और अँजुली भर रुपए लेकर चला है। इज्जत बचाने! ऐसी बड़ी है तेरी इज्जत! जिसके घर में चूहें लोटे, वह भी इज्जतवाला है!'[10] इस तरह 'प्रेमचंद', 'गोदान' में शोषण की पूरी मशीनरी को पकड़ते हैं। हम कह सकते हैं कि 'गोदान' शोषणकारी संस्कृति व समाज की सांस्कृतिक आलोचना है। गौर से देखें तो 'गोदान' में ही हमें भविष्य के दो विमर्शों के संकेत भी मिलते हैं–स्त्री विमर्श और दलित विमर्श।

'प्रेमचंद' ने अपने समय के समाज एवं उसके अंतर्विरोधों को बखूबी पकड़ा है। गाँव, शहर, सामंतवाद, पूँजीवाद, दलाल, धर्म, परंपरा, मरजाद, स्त्री, किसान, मजदूर, दलित, मध्यवर्ग इत्यादि सबको हमारे सामने जीवंत रूप में पेश कर दिया है। आज भी 'प्रेमचंद' के पात्र हमें कमोबेश उसी स्थिति में मिल जाएँगे। अंततः 'गोदान' शोषण करने वाली सभ्यता एवं संस्कृति की तीव्र आलोचना है।

निष्कर्षस्वरूप हम कह सकते हैं कि प्रेमचंद 'गोदान' के जरिए भारतीय समाज एवं उसमें किसान, मजदूर, स्त्री, दलित की दशा, उसमें धर्म एवं व्यवस्था के योगदान को उजागर करने में पूरी तरह सफल रहे हैं। इस पूरे उपन्यास में वह लगातार व्यवस्था को अपनी कलम के निशाने पर रखते हैं। 'प्रेमचंद' का यथार्थवाद, आलोचनात्मक यथार्थवाद है न कि आदर्शोन्मुख यथार्थवाद। वह यहाँ

सभ्यता, संस्कृति की तीव्र आलोचना करते चलते हैं। इस उपन्यास में वह कोई विकल्प प्रस्तुत नहीं करते। पूरे उपन्यास में 'होरी' की हताशा का अँधेरा छाया रहता है डॉ॰ नामवर सिंह के अनुसार–'गोदान भारतीय किसान की निष्क्रियता की महान ट्रेजेडी है।'[11] जब हम इस अँधेरे को अच्छी तरह पहचान लेंगे तभी उजाले के बारे में सोच पाएँगे। इसलिए इस उपन्यास में 'प्रेमचंद' समस्याओं को उनकी जड़ में जाकर पकड़ा है। न तो यहाँ 'प्रेमाश्रम' की तरह हृदय परिवर्तन दिखाया गया है और न ही 'सेवा सदन' की भाँति समाज सुधार की कोई सामाजिक संस्था की स्थापना की गई। 'होरी', अंततः मर जाता है, 'धनिया' पछाड़ खाकर गिर पड़ती है और 'गोबर' कुछ नहीं कर पाता। 'प्रेमचंद' को हमने जहाँ तक समझा है, वह हमें वहाँ से बहुत आगे ले जाना चाहते हैं। 'कफन' कहानी में हमें वह एक महत्त्वपूर्ण बात यह बताते हैं कि भूख से लड़कर ही मुक्ति का रास्ता पैदा होगा, कफन से नहीं। 'प्रेमचंद' व्यवस्था की पोल खोलते हैं। सवाल है कि अगर 'घीसू-माधव' के जरिए 'प्रेमचंद', 'बुधिया' को 'कफन' दिला भी देते तो क्या उनकी हालत में कुछ बदलाव आ जाता? 'गोदान' में अगर 'हीरा' गाय को जहर न देता तो भी क्या 'होरी' के पास गाय बच पाती? अगर 'होरी' का गोदान हो जाता तो क्या धनिया की जिंदगी में कुछ बदलाव होता? जवाब साफ है–नहीं। इस तरह 'प्रेमचंद' शोषण की व्यवस्था को पकड़ते हैं।

इस प्रकार प्रेमचंद 'गोदान' में अपने समाज को सही-सही प्रस्तुत करने में सफल रहे हैं। वह व्यवस्था की सुंदर आलोचना प्रस्तुत करते हैं। वह अपने समय के पार भी देखते हैं। इसलिए प्रेमचंद आज भी प्रासंगिक बने हुए हैं। काश, प्रेमचंद अप्रासांगिक हो जाते। 'प्रेमचंद' और 'होरी' का 'गाँव-गाय-खेत-किसानी' का सपना जिस दिन पूरा होगा, जिस दिन प्रेमचंद अप्रासंगिक हो जाएँगे, उस दिन उनकी सबसे बड़ी जीत होगी। प्रेमचंद की महानता इस बात से कम नहीं हो जाती कि उन्होंने समस्याओं का समाधान प्रस्तुत नहीं किया अपितु उनकी महानता इसमें है कि उन्होंने समस्याओं को सही-सही पकड़ा। यही उनकी सबसे बड़ी सफलता है।

संदर्भ

1. आशीष त्रिपाठी (सं॰), प्रेमचंद और भारतीय समाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ॰ 20
2. सत्यप्रकाश मिश्र (सं॰), प्रेमचंद के श्रेष्ठ निबंध, ज्योति प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2003, पृ॰ 87
3. वही, पृ॰ 89
4. वही, पृ॰ 98
5. ए॰आर॰ देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन इंडिया लि॰, दिल्ली, संस्करण 1999, पृ॰ 166
6. प्रेमचंद, गोदान, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2008, पृ॰ 257
7. वही, पृ॰ 365
8. वीर भारत तलवार, किसान, राष्ट्र आंदोलन और प्रेमचंद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2008, पृ॰ 105
9. गोदान, पृ॰ 254
10. वही, पृ॰ 117
11. आशीष त्रिपाठी (सं॰), प्रेमचंद और भारतीय समाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ॰ 21

Mob. 9013743215
visheshrai074@gmail.com

रामनरेश त्रिपाठी की हिंदी कविता में गांधी का प्रभाव : एक अवलोकन

राजीव कुमार दास, शोधार्थी, हिंदी विभाग
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग (झारखंड)

महात्मा गांधी मात्र राजनीतिक आंदोलन के ही प्रेरणास्रोत नहीं रहे हैं बल्कि गांधीवादी विचारधारा का प्रकाश साहित्य के विभिन्न रचनात्मक पहलुओं पर भी पड़ा है। इसीलिए तो प्रो॰ सिद्धेश्वर प्रसाद कहते हैं, 'गांधी जी आकाश-लता नहीं, इसी भारत-भूमि की उपज थे। गांधीजी की विशिष्टता भारतीय परंपरा से जुड़ी हुई है और इससे अलग-थलग रखकर उन्हें नहीं समझा-समझाया जा सकता। भारतीय इतिहास के चार युगों के चार प्रतीक पुरुष हैं—सतयुग के शिव, त्रेता के राम, द्वापर के कृष्ण तथा कलियुग के गांधी। इस महान भारतीय परंपरा के इस रूप में महात्मा गांधी अंतिम पुरुष हैं, जिनमें पूरी परंपरा अपनी विविधता, उदात्तता एवं जिजीविषा के साथ अपने विराट रूप में अभिव्यक्त हुई है। अतः इस महान परंपरा की सारी विशिष्टताएँ, विसंगतियाँ, शक्तियाँ, दुर्बलताएँ, आकांक्षाएँ और आत्मविश्वास उनके सत्य-प्रयोगी व्यक्तित्व में समाहित है, जीवंत अवयव के रूप में यथास्थान सन्यस्त हैं।'[1] सवाल उठता है कि क्या जनसामान्य मानव की वेदना, जुल्म, शोषण-दमन आदि से मुक्ति की आगाज कविताओं में स्थान बनाने लगी? क्या गांधीवादी विचारधारा के व्यापक प्रभाव और सर्वोदय-दृष्टि के कारण ही साहित्य में गाँव, खेत-खलिहान, कृषक, दबे-कुचले लोगों के जीवन को ऊपर उठाने का आह्वान, छुआछूत की जगह भाईचारा, सामाजिक समानता, प्रेम और न्याय की माँग पैदा हुई? इसका उत्तर होगा हाँ। इसीलिए तो महात्मा गांधी कहते हैं—'मेरे पास सब एक हैं, मेरे पास ऐसा नहीं है कि यह गाँधी हिंदू है, इसलिए हिंदुओं को ही देखेगा मुसलमानों को नहीं। मैं कहता हूँ कि मैं हिंदू हूँ, सच्चा हिंदू हूँ और सनातनी हिंदू हूँ। इसलिए मुसलमान भी भी हूँ, पारसी भी हूँ, क्रिस्टी भी हूँ, यहूदी भी हूँ। मेरे सामने तो सब एक वृक्ष है, मैं किसको छोड़ हूँ। किसकी पत्तियाँ मैं ले लूँ और किसकी पत्तियाँ मैं छोड़ दूँ? सब एक हैं। ऐसा मैं बना हूँ। उसका मैं क्या करूँ। सब लोग अगर मेरे जैसा समझने लगे तो पूरी शांति हो जाए।'[2] यह तो सर्वज्ञात है कि महात्मा गांधी बँटवारा के कभी भी पक्षधर नहीं रहे हैं। गाँधी की आत्मा हिंदुस्तान और पाकिस्तान में फैलती हिंसा से तड़पती थी। करुणा हमेशा वाणी में भरी होती थी। जब सभी नेता सत्ता और ऐश्वर्य के बंदरबाँट में उलझे थे, पूरा देश विभाजन की अग्नि में जल रहा था। अकेले गांधी उस अग्नि को बुझाने के लिए दौरे कर रहे थे। आजादी के संघर्ष के रथ को चिरकाल तक खींचते हुए जो विजयी द्वार तक लाकर खड़ा कर दिया वही गांधी एक समय सभी से अकेला हो गया। उनका सपना धाराशायी हो गया। सामाजिक एकता, राष्ट्रीय एकता के प्रहरी के रूप में हमेशा जाने जाते रहे हैं।

हिंदी साहित्य भी गांधीवादी चेतना से अछूता नहीं रहा। हिंदी साहित्य के अनेक कवियों की तरह रामनरेश त्रिपाठी भी गांधीवादी मूल्यों को आत्मसात् किया। त्रिपाठी ने गांधीवादी चेतना को

 ISSN 0975-735X

गहराई तक महसूस किया और इसकी भावाभिव्यक्ति को कविताओं में अंकित किया। यहाँ प्रो॰ सिद्धेश्वर प्रसाद कहते हैं, 'सर्जनात्मकता की दृष्टि से गांधी-चिंतन की सबसे बड़ी विशेषता उसके प्रयोग की स्वानुभूति पर विशेष बल देना है। अपनी प्रयोगधर्मिता के कारण एक ओर गांधी-चिंतन आधुनिक विज्ञान के समकक्ष हैं तो दूसरी ओर स्वानुभूति पर बल देने के कारण आध्यात्म के समकक्ष हैं। गांधीजी जीवन की चुनौतियों से घबराकर घर-परिवार को छोड़कर, न तो महावीर और गौतम की तरह भिक्षु बने, न कार्लमार्क्स की तरह किसी पुस्तकालय और वचनालय में जा बैठे और न राष्ट्र की मुक्ति साधना के बदले अपनी मुक्ति की कामना के लिए हिमालय की गुफा में जा बैठे। जीवन के यथार्थ को उन्होंने अपने चिंतन की परिधि और अनुभूति की पकड़ में लाने की निरंतर कोशिश की, जैसे वाल्मीकि और व्यास जैसे महान कवियों ने किया था और जीवन की हर चुनौतियों का सामना किया था तथा हर संकट का समाधान ढूँढने की कोशिश की।'[3] यदि आधुनिक हिंदी कविता में गांधीवादी मूल्यों की तलाश की जाए तो आसानी से मिल जाती है, खासकर रामनरेश त्रिपाठी की हिंदी कविता में। इसका सबसे बड़ा कारण यह भी है कि लगभग तीन दशक तक भारतीय और विश्व राजनीतिक पटल पर गांधीवादी विचारधारा का प्रभाव छाया रहा। आधुनिक हिंदी कवियों ने महात्मा गांधी की चेतना को गहराई तक महसूस करके रचनाओं में भावाभिव्यक्ति को रेखांकित किया। गांधीवादी विचारधारा के मूल्य सत्य, अहिंसा और प्रेम को बहुत ही सूक्ष्मता से समझा और अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त किया है। गांधीवादी जीवन मूल्यों का दर्शन सर्वप्रथम 'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न' जैसी कृति में होता है। हिंदी में स्वच्छंदतावादी चेतना को इन्होंने आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। खंडकाव्य 'पथिक' और 'स्वप्न' में स्वदेश भक्ति और राष्ट्र की पीड़ित जनता के प्रति स्वानुभूति का भाव है। गांधीजी के व्यक्तित्व से प्रभावित प्राकृतिक सौंदर्य, मानवीय प्रेम और राष्ट्र की मुक्ति के लिए संघर्ष की कविता साथ-साथ चलती हुई दिखती है। यायावरी जीवन का भी लेखक को समय-समय पर अनुभव मिला है। नौकरी के समय भ्रमण का अवसर मिलता रहा।

'पथिक' काव्य-संग्रह में भारत के दक्षिण यात्रा के समय श्री रामेश्वरम् क्षेत्र के प्राकृतिक मनोरम दृश्य को दिखलाया गया है। समुद्र तट, वन, विहग, पर्वत, शीतल वायु आदि का मनोहर चित्रण है। यहाँ तक कह दिया गया है कि गृह त्यागी पथिक प्राकृतिक सौंदर्य में इतना रम जाता है कि समीप में बैठी पत्नी का भी ख्याल नही रख पाता है। पथिक जनता के दु:ख, दैन्य से पीड़ित होता है। देश का विचरण करता है। साधु मानवता का पाठ पढ़ाता है। मानव जीवन उसका उद्देश्य और कर्म का महत्त्व बतलाता है। साधु के द्वारा पथिक को, एकांत सेवन की सोच को मानव जगत में कर्म करने के लिए मोड़ा जाता है। मानव के पास पौरुष, साहस, सत्य, न्याय, करुणा, उदारता, सुशीलता, सज्जनता, धर्म, क्षमा आदि उदात्त गुणों को ईश्वर का धरोहर बताया है। लेकिन ऐसी प्रेरणा महात्मा गांधी के जीवन-दर्शन से मिली है। पथिक का साधु गांधी का प्रतीक है। जिस तरह महात्मा गांधी के द्वारा मानव सेवा, देश-सेवा, दीन-दुखियों की सेवा करने के लिए प्रेरित किया जाता था उसी तरह पथिक का साधु भी यह कार्य करता है–

जनता के विश्वास, कर्म, मन, ध्यान, श्रवण, भाषण में।
वास करो, आदर्श बनो, विजयी हो जीवन-रण में।
अति अशांत पूर्ण वि शृंखल क्रांति-उपासक जग में।
रखना अपना आत्म-शक्ति पर दृढ़, निश्चय प्रति पग में।[4]

जनता को जाग्रत करते हैं उनके मन में विश्वास, कर्म, मन, ध्यान, श्रवण, भाषण आदि की विशेषता का वास करने को कहते हैं। जीवन के रण में आदर्श बनने को कहते हैं। अपनी आत्म-शक्ति पर दृढ़ निश्चय होकर प्रत्येक पग पर चलने को कहते हैं। देशसेवा और गरीब जनता की पीड़ा के आगे दांपत्य जीवन को न्योछावर कर देते हैं। राष्ट्रबोध का स्पष्ट प्रमाण झलकता है। आज जहाँ शारीरिक-वासना के लिए वास्तविक प्रेम को लोग भूल रहे हैं। आज सत्य का स्थान चातुर्य और हृदय में हिंसा, स्वार्थ हिलोर लेता दिख रहा है। यहाँ पथिक 'स्व' के स्थान पर 'पर' की सेवा करने के लिए आतुर हो जाता है और अपनी पत्नी के आग्रह को ठुकरा देता है। महात्मा गांधी के आंदोलन में ऐसे ही उनके आह्वान पर देश के लिए तैयार हो जाते थे। एक नई नवेली पत्नी के प्यार को देश-प्रेम में इस प्रकार रूपांतरित किया गया है–

शारीरिक वासना-तृप्ति का साधन जहाँ प्रणय है।
जहाँ शब्द-चातुर्य सत्य है, भ्रमोत्पति निर्णय है।
चलता है तूफान जहाँ हिंसा का हृदय-हृदय में।
मैत्री में विश्वासघात है, हल है छिपा विनय में।[5]

वैवाहिक बंधन को शारीरिक-वासना की तृप्ति मात्र माना जाता है। शब्दों की चतुरता से ही आकर्षण बना रहता है। इसी से भ्रम की स्थिति भी बनी रहती है। हृदय में हिंसा का तूफान भरा होता है। मित्रता भी यदि है तो विश्वासघात की समस्या बनी हुई है। निवेदन भी यदि प्रणय में है तब भी उसमें छल छिपा हुआ है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि स्वार्थ की सिद्धि या स्वार्थ की पूर्ति मात्र प्रणय में है। जबकि राष्ट्र-प्रेम में ऐसी कोई भी स्वार्थ की पूर्ति नहीं है। पाँच खंडों में लिखा खंडकाव्य पथिक है। इसका प्रत्येक सर्ग प्रेम, प्रकृति और देशोद्धार की चेतना से प्रेरित है। इसका मुख्य नायक 'पथिक' है। जिस क्रूर सत्ता से संघर्ष करते-करते सपरिवार 'पथिक' कुर्बान हो जाता है वह अत्याचारी ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रतीक है। महात्मा गांधी का कुर्बान होना भी इसी का परिणाम है। लेकिन पथिक की मृत्यु के बाद पूरी जनता राजा की दमन नीति का विरोध करती है। पथिक राजा के आदमी को राजा के आदेश के पालन के कारण क्षमा कर देता है। यही स्थिति गांधीजी के साथ हुई थी। महात्मा गांधी ने अपने हत्यारों को क्षमा की थी। उनका कहना था कि हिंसा का जन्म स्वार्थ, लोभ, क्रोध और अपने ही सुख-साधना पर अधिक चिंतन करने से उत्पन्न होता है। इसी कारण तो महात्मा गांधी ने पाश्विक शक्तियों से बचने को कहते हैं। पूरी आजादी की लड़ाई का आंदोलन मानव-मूल्यों के आधार पर ही लड़ी गई थी। उनकी वास्तविक शक्ति उनका आत्मबल को माना गया है। तब ही तो कहा गया है–

क्रोध तुम्हारा प्रबल शत्रु है, बसा तुम्हारे घर में
हो सकते हो उसे जीतकर विजयी तुम जग भर में
बचो क्रोध, कादर्य, अनय, दु:स्साहस, आलस छल से
बनो समर्थ अजेयया से, रक्षित आत्मिक बल से।[6]

महात्मा गांधी ने जीवनभर सत्य, करुणा, दया, अहिंसा आदि मानव मूल्यों को जिस सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवों में रूपायित करना चाहा 'पथिक' उन्हीं मूल्यों का वाहक है। यही कारण है कि 'पथिक' आम जनता के बीच 'पूज्य देश के पिता' के नाम से प्रसिद्ध हुए। महात्मा गांधी 'बापू' कहलाए। यह उद्‌बोधन आजाद भारत की जनता के स्नेह, प्रेम, भक्ति, श्रद्धा और आनंद का प्रतिफल है।

पूज्य देश के पिता नाम से प्रिय संबोधन करके।
सब यात्री आनंद, भक्ति, श्रद्धा उर भीतर भर के।
चरणों पर स्वर्गीय पथिक के थे निज शीश नवाते।
आँखों में भर बूँद, प्रेम से देख, परम सुख पाते।[7]

महात्मा गांधी का प्रभाव रामनरेश त्रिपाठी की रचनाओं में स्पष्ट झलकता है। त्रिपाठी अपने साहित्यिक जीवन में कश्मीर यात्रा के दौरान 'स्वप्न' खंडकाव्य की रचना की। कश्मीर की अनुपम छटा, विस्मयकारिणी अद्‌भुत अतुलित अमीर प्राकृतिक सौंदर्य से कवि रामनरेश त्रिपाठी अत्यंत भाव-विह्वल हो गए। समय निकालकर हमेशा कश्मीर के सौंदर्य पर लिखा करते थे। यह काव्य-संग्रह 1929 में प्रकाशित हुआ था। महात्मा गांधी के आंदोलन का यह दौर चल रहा था। इस आंदोलन का प्रभाव गाँव तक पड़ा। युवा, युवती, स्त्री-पुरुष, बूढ़े सभी के हृदय में राष्ट्र सेवा की लहरें उठने लगी। अपने बच्चों यहाँ तक कि युवतियों को भी उनके माता-पिता अभिभावक राष्ट्र के लिए न्योछावर होने को प्रेरित करते थे। इनका इतना प्रभाव पड़ने लगा कि लोग अपने सुख-सुविधाओं का त्याग, प्रेम का त्याग, गृह का त्याग करने में जरा भी समय नहीं लगाते थे। 'स्वप्न' खंडकाव्य भी पाँच सर्गों में बँधा हुआ काव्य है। इस काव्य में एक के अंतर्द्वंद्व को मानवीय तरीके से उभारने का पूरा प्रयास किया गया है। युवक प्रकृति की मनोरम छटा, अपार सौंदर्य और प्रेम के वशीभूत है। तरू की हरियाली, कलकल करती नदियाँ, मनमोहक पुष्प, एकांत सुख के आनंद में डूबे पर्वत नायक को अपने आकर्षण के पाश में बाँध ले रहा है। इसी तरह देश में गरीबी, दुख, शोषण, अन्याय, अनीति, हिंसा, दमन, पीड़ा, दरिद्रता में जीवन जीने वालों के प्रति संवेदित होते हैं। उसका सौंदर्यबोध और उससे जो आनंद प्राप्त होता है वह आनंद पानी का बुलबुला उस समय बन जाता है जब देश की पीड़ित आम जनता के चेहरे को देखता है। एक समय ऐसा होता है जब अपने उद्देश्य को स्पष्ट करने में युवा दिग्भ्रमित हो जाता है, ऐसी स्थिति में उसकी प्रेमिका एक दिन सैनिक के वेश में आती है और मातृभूमि की रक्षा करने के लिए साथ चलने को कहती है। युवक उसे पहचान नहीं पाता है लेकिन अंतिम में जब विजय हो जाती है तब अपना राज खोलती है। देश को स्वतंत्र करने का स्वप्न पूरा हो जाता है।

गजानन माधव मुक्तिबोध कहते हैं, 'महात्मा गाँधी ने देश की स्वाधीनता, विश्व की शांति और मैत्री तथा अन्याय के विरुद्ध अहिंसात्मक प्रतिरोध और मानव हृदय को नैतिक बल प्रदान किया। उन्होंने देश और विश्व के बड़े-बड़े मनीषियों के विचारों को अपने रंग में रँग दिया, भारतीय जनता को नए आध्यात्मिक संस्कार प्रदान किए। देश की महत्तम विभूतियों में महात्मा गांधी का नाम है।'[8] गांधीजी का व्यक्तित्व हजारों घात-प्रतिघात, उतार-चढ़ाव आदि के अनुभवों एवं जीवन में नए-नए प्रयोगों से बना है। कहा जाता है कि समाज में जब भी युगपुरुष का जन्म होता है तब वह अपनी चेतना से समस्त मानव जगत को आलोकित करता है। भारतीय जनता ने ऐसे अद्‌भुत एवं चमत्कारिक क्षमता गाँधीजी में देखा था। इतना ही नहीं इनकी क्षमता को तो विश्व ने स्वीकार किया था।

हालाँकि 'स्वप्न' रामनरेश त्रिपाठी का कल्पना प्रसूत एक खंडकाव्य है। इसके पात्र वसंत और सुमना काल्पनिक है लेकिन कथावस्तु में जो सत्य, प्रेम, अहिंसा, करुणा, मातृभूमि के प्रति प्रेम, शहीद होने की प्रेरणा आदि स्वतंत्रता आंदोलन के प्रभाव से आया है। गांधी के जीवन-मूल्य की अभिव्यक्ति यहाँ स्पष्ट झलकती है। युवक का उद्देश्य न केवल देश के युवाओं को अपितु

जन-जन को आंदोलित करता है। इस तरह आधुनिक हिंदी कविता में गांधीवादी चेतना का स्वर विविध रूपों में प्रतिध्वनित होता है। जहाँ अपनी नायिका के प्रति एक तरफ असीम प्रेम का वसंत है वहीं दूसरी ओर कहता है–

किंतु उसी क्षण कह उठता है, कर समाज-सेवा व्रत धारण
मैंने किया जगत् में इतने, आर्तजनों का कष्ट निवारण
इतनों के तमसावृतमन में, मैंने किया ज्ञान अरुणोदय
सोचूँगा क्या कभी अहो! कब होगा इस सुख का चंद्रोदय?[9]

प्रेम वंसत के क्षण में ही अचानक समाज सेवा का व्रत धारण करने को कहा जाता है। जगत के कितनों के कष्ट का निवारण करते हैं। अँधेरों के बीच में ज्ञान का प्रकाश फैलाते हैं वह इस उम्मीद से कि कभी तो सुख का चाँद निकलेगा सुख का चंद्रोदय होगा। यह अभिलाषा राष्ट्र और समाज निर्माण के लिए कुछ करने और उससे प्राप्त होने वाले सुख का अनुभव करने, स्वतंत्रता आंदोलन के लिए प्राण त्यागने वाले युवाओं का स्वप्न था। कवि कहते हैं–

जिनकी नस-नस में विद्युत थी/ आँखों में था क्रोध प्रज्जवलित
छाती में उत्साह भरा था/ वाणी में था प्राण प्रवाहित
मातृभूमि के लिए हृदय में/ जिनके भारी भक्ति थी अविरल
ग्राम-ग्राम से निकल-निकलकर/ युवक चले दल के दल।[10]

देशसेवा के लिए नस में बिजली प्रवाहित होती थी, आँखों में क्रोध की ज्वाला, छाती में कर्त्तव्य-पथ पर चलने का उत्साह भरा था। वाणी में प्राण प्रवाहित होता था। देशसेवा की भक्ति अविरल गति से बहती रहती थी। इस भक्ति को देख-देखकर युवक गाँवों से निकल-निकलकर चलने को तैयार होते थे। कवि कहते हैं कि क्या राष्ट्रोत्थान हेतु, राष्ट्रसेवा हेतु आगे आनेवाले व्यक्ति के लिए कोई मानदंड का निर्धारण करना संभव है? वह नायक कैसा होना चाहिए जो राष्ट्र के नेतृत्व के लिए आगे बढ़ सके? उस नायक का व्यक्तित्व किन-किन मानव मूल्यों और चिंतन भावों से निर्मित होना चाहिए? यह एक कठिन सवाल है क्योंकि मानव का जीवन एक अनंत प्रवाह की तरह है। समय के साथ-साथ उसमें परिवर्तन होना स्वाभाविक है। फिर भी राष्ट्रकवि रामनरेश त्रिपाठी नायक के माध्यम से एक रेखाचित्र खींचने का सफल प्रयास किया है। इसमें गंभीरता, स्वदेश-प्रेम कल्याण, गौरव, तेज, हास्य, आनंद, सरलता, मैत्री, करुणा, उच्च-विचार, व्यापक अंतर्दृष्टि और समस्त भूमंडल की चेतना आदि को आत्मसात करने का आत्मबल मानव मूल्य में समाहित है। ऐसे सभी मानदंड महात्मा गांधी के जीवन और सत्य, अहिंसा, प्रेम का विस्तार में मिलते हैं। महात्मा गांधी कहते हैं राष्ट्र के युवकों को ऐसे गुणों को अपने चरित्र में ढालकर स्वदेश-कल्याण के लिए आगे आना चाहिए। वसंत गांधीवादी मानव मूल्यों का वाहक बनता है और राष्ट्र को सुमना के साथ मिलकर शत्रुओं से आजाद कराता है। कवि कहते हैं–

सागर-सा गंभीर हृदय हो/ गिरि-सा हो जिसका मन
ध्रुव-सा जिसका लक्ष्य अटल हो/ दिनकर-सा हो नियमित जीवन
जिसका आँखों में स्वदेश का/ अति उज्ज्वल भविष्य हो चित्रित
इच्छा में कल्याण बसा हो/ चिंता में गौरव हो रक्षित।[11]

कवि एक राष्ट्र-भक्त की परिभाषा गढ़ते और कहते हैं जिसका हृदय सागर की तरह गंभीर हो, मन पर्वत की तरह हो, ध्रुव की तरह उसका लक्ष्य हो, सूर्य की तरह उसका नियमित जीवन हो

आँखों में देश का उज्ज्वल भविष्य हो, कल्याण करने की इच्छा मन में बसा हो। इतना ही नहीं राष्ट्र की रक्षा करने की चिंता भी हो और राष्ट्र के प्रति गौरव भी हो। ऐसी राष्ट्र-भक्ति से मानवता को भी बल मिलता है। यही कारण है कि महात्मा गांधी अपने सनातन जीवन मूल्यों के बल पर समस्त भारतीयों के लिए एक नई संस्कृति, समाज और राष्ट्र-निर्माण का स्वप्न देखा करते थे। कवि रामनरेश त्रिपाठी 'स्वप्न' में कहते हैं–

सच्चा प्रेम वही है जिसकी/ तृप्ति आत्म-बल पर हो निर्भर
त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है/ करो प्रेम पर प्राण न्यौछावर
देश-प्रेम वह पुण्य-क्षेत्र है/ अमल असीम त्याग से विलसित
आत्मा के विकास से जिसमें/ मनुष्यता होती है विकसित।[12]

अर्थात् आत्म-बल की वृद्धि पर ही सच्चा प्रेम निर्भर करता है। यदि आत्मा तृप्त है तब ही सच्चा-प्रेम संभव है। जब तक प्रेम में त्याग नहीं है तब तक वह निष्प्राण है। इसलिए प्रेम पर प्राण न्योछावर करने की आवश्यकता है। संसार में सबसे पुण्य-क्षेत्र देश-प्रेम है। जिस आत्मा के विकास से मानवता विकसित होती है वही असीम त्याग से देश-प्रेम संभव है। इस तरह देखा जाता है कि रामनरेश त्रिपाठी 'पथिक' और 'स्वप्न' के माध्यक से गांधीवादी विचारधारा का आभास कराते हैं। महात्मा गांधी के संबंध में श्री भगवान सिंह ने ठीक ही कहा है, 'गांधी के चिंतन में जितना महत्त्व मनुष्य एवं समाज के बाह्य परिवर्तन का है, उससे कही ज्यादा महत्त्व मनुष्य के अंत:करण के परिवर्तन का है। वैसे मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं एवं उसके विषमता, शोषण के जुए तले पिसते जाने की चिंता गांधी को भी थी। इसके समाधान स्वरूप उन्होंने मशीनों पर निर्भरता के बजाय मानवीय श्रम आधारित उद्योगों को प्रमुखता दी। किंतु भौतिक खुशहाली के उन्माद में आदमी उच्छृंखल न बन जाए, इसके लिए उन्होंने इसके आंतरिक, नैतिक, आध्यात्मिक गुणों के विकास पर बल दिया।'[13] महात्मा गांधी का हृदय परिवर्तन हमेशा प्रचलित रहा है। यह उनके विराट हृदय का परिचायक है। यही कारण है कि जब तक आंतरिक परिवर्तन संभव नहीं है तब तक सफल परिवर्तन नहीं माना जा सकता है। आज जिस भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अंधी दौड़ में शामिल है उसकी चिंता गांधी बहुत पहले करते थे। यही कारण है कि मशीनों से अधिक महत्त्व श्रम को दिया। चरखे को भी इतना महत्त्व देने का यही कारण रहा है। यही कारण है कि कवि रामनरेश त्रिपाठी की रचनाओं में भी विदेशी विचारधारा का प्रभाव नहीं दिखता है।

कवि गांधीवादी चेतना को बहुत ही व्यापक एवं गहराई से समझते हैं। कहा जा सकता है कि महात्मा गांधी का भारत की जनता के बीच आना किसी सूर्योदय के प्रकाश से कम नहीं था। उनके साथ समस्त भारतीय जनता को देशसेवा का एक नया अवसर मिला था। इस सत्य का प्रतिनिधित्व बसंत नायक अपनी कविता के माध्यम से करता है–

बहुत दिनों पर मिला देश को/ ऐसे अनुपम सुख का अवसर
स्वागत की अनेक किरणों से/ उदित हुआ आनंद प्रभाकर
नीलम की परात-सी पहली/ रात-दीप-हीरों से सजकर
राजा रंकमयी जनता ने/ की अर्पित बसंत को सादर।'[14]

कवि उल्लासपूर्वक कहते हैं कि बहुत दिनों के बाद देश को अनुपम अवसर मिला है। सूर्य अपनी किरणों से स्वागत करने को तत्पर है। रात आकाश में हीरों के दीप जलाकर जैसे खुशियाँ मना रही है। इस तरह राजा और प्रजा आपस में मिलकर बसंत का रूप ले आए हैं। यहाँ बसंत

स्वतंत्रता के प्रतीक के रूप में आया है। इस तरह रामनरेश त्रिपाठी की आधुनिक हिंदी कविता में जिस गांधीवादी जीवन-दर्शन और मानव-मूल्यों की स्थापना हुई है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि ईमानदारी, लोकहित, विवेक, आदर्श आदि श्रेष्ठ तत्त्वों से श्रेष्ठ मानव का निर्माण होता है और एक महान राष्ट्र अपनी अस्मिता के बल पर जाना जाता है। इस विषय पर गांधीवादी चिंतक प्रो॰ सिद्धेश्वर प्रसाद कहते हैं, 'गांधी चिंतन की सर्जनात्मकता के लिए एक ओर यह आवश्यक है कि कोई वाल्मीकि या व्यास जैसे समर्थ कवि इस ऐतिहासिक दायित्व को निभाए और दूसरी ओर यह कि भारत अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा के समग्र स्वस्थ विकास के लिए अपनी परंपरा की दृष्टि से संसार को देखने समझने की शक्ति विकसित करे। इसका विस्मरण नहीं किया जाना चाहिए कि अब तक दर्शन के इतिहास का अर्थ पाश्चात्य दर्शन का इतिहास होता आया है।'[15] गांधीजी हमेशा आगाह करते हैं कि ऐसा कोई कवि नहीं है जो व्यास और वाल्मीकि की जिम्मेदारी को निभाए। यह जिम्मेदारी निभाना इतना सरल नहीं है। इतिहास की ओर भी ले चलते हैं। परंपरा का निर्वहन के लिए इतिहास का स्मरण तो आवश्यक है लेकिन उस इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं हो जिसमें पाश्चात्य दर्शन का प्रभाव हो। यही उज्ज्वल भविष्य की योजना होनी चाहिए।

निष्कर्ष–रामनरेश त्रिपाठी जिस सामाजिक परंपरा के साहित्यकार माने जाते हैं उसका आधार सांस्कृतिक और राजनीतिक मूल्य हैं और ये मूल्य भारतीय नवजागरण से उत्पन्न हुए हैं। जिस समय और समाज ने कवि की रचनात्मक दृष्टि का निर्माण किया है और उसे सामाजिक प्रतिबद्धता से जोड़ने का काम किया है वह समय और समाज भारत में सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन की चरम अवस्था थी जिसका नेतृत्व महात्मा गांधी कर रहे थे। कवि सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक सुधारों को राजनीतिक चेतना से जोड़कर ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध एक सामाजिक आंदोलन का सूत्रपात करते हैं। शासनतंत्र की अराजकता, भ्रष्टाचार, दुराचार, अनैतिकता, अधार्मिकता, कर्त्तव्यविमुखता आदि के प्रति विरोध का स्वर और प्रतिरोध की संस्कृति इनकी रचनाओं में मुखरित होते हैं। कवि महात्मा गांधी की विचारधारा के समर्थक हैं या कहा जा सकता है कि कवि गांधीवाद से प्रभावित है। उनकी समस्त रचनाओं में महात्मा गांधी के प्रति निष्ठा व्यक्त हुई है। निराश, दु:खी, हारे, टूटे मनुष्य के अंतस में दबी एक चिंगारी देखते हैं। उन्हें भरोसा है कि मानव कभी-न-कभी उसी आशा, प्रेम और विश्वास से पुन: लबालब हो जाएगा। समस्त राष्ट्र की जनता फिर से एकमन, एकप्राण हो जाएँगी। फिर देश में कहीं द्वेष और अलगाव नहीं होगा। जाति, भाषा, धर्म, अर्थ आदि से प्रभावित परिस्थितियों में जो समाज व शोषित वर्ग पिसता जा रहा था उसे देखकर कवि की कलम उग्र हो उठती है। परंपरा और रूढ़ियों के कारण जड़ता को नष्ट करते हुए जो विचार अथवा बुद्धि मानव को नए मार्ग, नए उपाय और नई उपलब्धियों की ओर ले जाए तथा जिसके प्रभाव से व्यक्ति या समाज एक नया जागरण अनुभव करने लगे वही चेतना गांधीजी का है। लेखक की रचनाओं में पड़ा है। सामाजिक चेतना और राष्ट्रीय अनुभूति को बिंबों के माध्यम से बहुत ही कुशलतापूर्वक दिखलाते हैं।

इस तरह हिंदी नवजागरण काव्य के प्रस्थान बिंदु पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने जीवन की विविध अनुभूतियों को बहुत ही सरल, सहज एवं संवेदनशील रूप में प्रस्तुत किया है। समसामयिक जीवन में व्याप्त घोर सामाजिक-आर्थिक विषमताओं, असमानताओं और निरर्थकता को काव्य-संवेदना के स्तर पर अनुभूति के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। यह कहना सही होगा कि जिस हिंदी नवजागरण काव्य में राष्ट्रीयता, देश-प्रेम, समाज सुधार, आदर्शवाद, जीवन मूल्य और नैतिकता का

भाव भरा हुआ है, राष्ट्र की गंभीर एवं दयनीय स्थिति का चित्रण करने के साथ-साथ नवजागरणकालीन कवियों ने देशवासियों को आत्म बलिदान के लिए अभिप्रेरित किया है उसके प्रेरणास्रोत महात्मा गांधी और रामनरेश त्रिपाठी उनके हस्ताक्षर हैं। जीवन, समाज और संस्कृति के प्रति गहरी आस्था होने के कारण साहित्य की सभी विधाओं पर इनका प्रभाव है। कवि का भाव है कि व्यक्तिगत जीवन पद्धति जब समष्टि की संवेदना के साथ हो जाती है तब अनुभव की सामाजिक परंपरा जन्म लेने लगती है। इस समग्रता में सत्य, अहिंसा, नैतिकता, अध्यात्म, प्रार्थना और ईश्वर समाहित है। गांधीजी इसी से चिंतित होते रहे हैं। दूसरी तरफ त्रिपाठी जी की रचनाएँ उनके निश्छल मन एवं मार्मिक संवेदना का परिचय देती है। गांधीजी जीवन जगत को समग्रता में देखने के आकांक्षी है। तभी तो व्यक्तिगत संवेदना का रूपांतरण सामाजिक रूप में करते हुए अपनी रचनाओं में मनोहारी चित्रण करते हैं। बढ़ती हुई अराजकता के बीच समाज विकास की तरफ जाने के बजाय एक विचित्र आपाधापी की दुव्यवस्था में जा रहा है। जिस तरह गांधीजी के चिंतन को पुष्ट करने और आंदोलन को गति देने में साहित्य की अहम भूमिका रही है उसी तरह कवि रामनरेश त्रिपाठी के चिंतन को पुष्ट करने में गांधीवाद की अहम भूमिका रही है।

संदर्भ

1. डॉ॰ सुशीला गुप्ता (संपा॰), हिंदी साहित्य और गांधीवादी चेतना, हिंदुस्तानी प्रचार सभा, महात्मा गाँधी मेमोरियल बिल्डिंग, 7 नेताजी सुभाष रोड, मुंबई, प्रथम संस्करण-2000, पृ॰ 14-15
2. सुधीरचंद्र, गांधी एक असंभव संभावना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, पृ॰ 117
3. डॉ॰ सुशीला गुप्ता (संपा॰), हिंदी साहित्य और गांधीवादी चेतना, पृ॰ 17
4. रामनरेश त्रिपाठी, पथिक, राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, संस्करण-1953, पृ॰ 32
5. वही, पृ॰ 24
6. वही, पृ॰ 57
7. वही, पृ॰ 66
8. नेमिचंद जैन (संपा॰), मुक्तिबोध रचना, भाग-06, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 569
9. रामनरेश त्रिपाठी, स्वप्न, हिंदी मंदिर, प्रयाग, तीसरा संस्करण-1940, पृ॰ 20
10. वही, पृ॰ 53
11. वही, पृ॰ 84-85
12. वही, पृ॰ 94
13. श्रीभगवान सिंह, गांधी : एक खोज, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला संस्करण-2012, पृ॰ 83
14. रामनरेश त्रिपाठी, स्वप्न, हिंदी मंदिर, प्रयाग, तीसरा संस्करण-1940, पृ॰ 95
15. अशोक वाजपेयी (संपा॰), प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1987, पृ॰ 21

2 Ganga Smarak High School,
Gidhour Chatra 825408 Jharkhand
Mob. 9308827661
rajeevgo999@gmail.com

आदिवासी जीवन संघर्ष का कड़वा सच : बस्तर-बस्तर

डॉ॰ कुलदीप सिंह मीना
एसोसिएट प्रोफेसर

'बस्तर-बस्तर' उपन्यास का केंद्र छत्तीसगढ़ का बस्तर है, जो आदिवासी-बहुल क्षेत्र है। यहाँ निवासरत आदिवासी तथाकथित सभ्य कहे जाने वाले शहरी जीवन से दूर अपने जीवनमूल्यों, संस्कृति, परंपरा और रीति-रिवाजों के साथ प्रकृति की गोद में अपना जीवन-यापन करते रहे हैं। ये लोग जल, जंगल, जमीन को अपना सर्वस्व समझते हैं और अपनी रोजमर्रा की जरूरत को इनसे पूरा कर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इन्हीं बस्तर के आदिवासियों के जीवन और वर्तमान विकासवादी दौर में उत्पन्न विकट परिस्थितियों को केंद्र में रखकर लोकबाबू द्वारा 'बस्तर-बस्तर' उपन्यास वर्ष 2021 में साहित्य जगत में दस्तक देता है। यह उपन्यास बस्तर के आदिवासियों के जीवन के ताने बाने के साथ कथा बुनता है। यह आदिवासियों की संस्कृति, जीवन-दर्शन, प्रकृति-प्रेम, उनकी धार्मिक आस्था को तो अभिव्यक्त करता ही है साथ ही विकास के नाम पर इस आदिवासी क्षेत्र में गैर-आदिवासी लोगों के प्रवेश ने इनके निश्चल जीवन के साथ इनके जीवनमूल्य, संस्कृति परम्पराओं और धार्मिक मान्यताओं को तहस-नहस कर दिया, जिसकी यथार्थ अभिव्यक्ति इस उपन्यास में है। परिणामस्वरूप ये आदिवासी आज अपने अस्तित्व और अस्मिता को लेकर संघर्षरत है। यूँ कहें कि आज इनका समूचा जीवन विकास की पहेलियों में उलझकर संघर्ष की गाथा बन गया है।

आदिवासी समाज की अपनी संस्कृति और परम्परा रही है, जिसके आधार पर वह अपना जीवन जीता रहा है। बकौल स्नहेलता नेगी–'आदिवासी समाज संस्कृति सिर्फ इतना भर नहीं है। उनकी सामूहिकता, सहजीविता, रचाव और बचाव का जीवन दर्शन और स्त्री के प्रति सम्मान और बराबरी का दर्जा आदि समृद्ध सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्थाओं वाला समाज है। आदिवासी समाज अन्य समाजों की तुलना में अधिक समतामूलक और लोकतांत्रिक समाज रहा है। संसाधनों की लूट की बजाय अपने सीमित जरूरतों के अनुकूल समान वितरण की संस्कृति में विश्वास करता है।'[1] आज विकास के नाम पर तथाकथित सभ्य कहे जाने वाले विकासवादी लोगों ने आदिवासियों की इन्हीं जड़ों पर सर्वप्रथम हमला किया है। जबसे गैर-आदिवासी लोगों की घुसपैठ इनके बीच हुई तबसे ही आदिवासी संस्कृति को विकृत करने की कोशिशें प्रारंभ हुई हैं। आदिवासी महिलाओं पर कुदृष्टि डाली गई। परिणामस्वरूप 'घोटुल' जैसी स्वस्थ संस्कृति को भी बंद करना पड़ा। 'बस्तर-बस्तर' उपन्यास में आदिवासी संस्कृति पर हुए हमले का यथार्थ चित्रण किया गया है। 'हिड़मा जबसे वनरक्षक के चक्कर में आयी थी। गोटुल में उसके चार प्रेमी थे, जिन्होंने उसे पड़िया भेंट कर प्रेम निवेदन किया था। मगर अब तक उसने किसी को डगरपोल या गीकी या तम्बाकू देकर उनके निवेदन को स्वीकार नहीं किया था। अब लगा कि उसे इस दिशा में आगे बढ़ना होगा। दो-एक बार उसकी साइगुती घर पर उसे गोटुल ले चलने आयी भी थी, मगर उसने मना कर दिया था। साइगुती

 ISSN 0975-735X

और कुछ गाँव वालों को भी धीरे-धीरे हिड़मा के वनरक्षक से मेलजोल की खबरों का पता चल गया था।'[2] इतना ही नहीं आदिवासी अब तक अपना स्वच्छंद जीवन जी रहे थे। इनके बीच ठेकेदारों और दलालों का प्रवेश हो चुका है। जो भयंकर रूप से इनके श्रम का शोषण कर रहे थे। इसके बाद विकास के नाम पर कॉरपोरेट घराने का प्रवेश हुआ। इनके प्रवेश तो पूरा का पूरा जंगल बाहरी लोगों की घुसपैठ से आबाद था। अब विकास के नाम पर नया खेल शुरू हो चुका था जो आदिवासियों के विनाश के लिए पर्याप्त था। "विकास के नाम पर जंगल काटे गए, आदिवासियों को बेदखल और विस्थापित किया गया। बड़ी-बड़ी मल्टीनेशनल कम्पनियाँ स्थापित की गयी। औने-पौने में जंगल की जमीन बेची गई। जल-जंगल-जमीन बचाने के लिए आदिवासियों के हूल (क्रांतियाँ) हुई। अपने हक-हकूक संघर्षरत आदिवासियों को जेल में डाल दिया गया। उनकी हत्याएँ की गईं। वृद्ध-बच्चों तक को नहीं छोड़ा गया। औरतें-युवतियाँ बलात्कार का शिकार हुईं।'[3] यहीं से शुरू होता है स्वच्छंद जीवन जीने वाले प्रकृति के पुजारी आदिवासियों के जीवन में अपने अस्तित्व और अस्मिता को लेकर संघर्ष। इस जीवन-संघर्ष के दलदल में आदिवासी समुदाय फँसते चले गये और आज उस चौराहे पर खड़े हुए हैं, जहाँ से उन्हें अपने जीने की राह दिखाई नहीं पड़ रही है। ऐसी विषम परिस्थितियों में अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए तथाकथित चालाक एवं षड्यंत्रकारी लोग आदिवासियों के हितैषी बनकर इनके बीच आते हैं। आदिवासी हमेशा से ही प्रकृति पूजक रहे हैं, जो सरना धर्म को मानते हैं। जबसे गैर-आदिवासी (दिकू) इनके बीच पैठ कर गये तो अपने स्वार्थों के लिए कोई इन्हे हिंदू बनाना चाहता है, तो कोई ईसाई बनाना चाहता है, जिससे इनमें धार्मिक उन्माद पैदा कर बरगलाया जा सके। इनके बीच ये लोग आकर धर्मांतरण करने के लिए दबाव डालते हैं। उन्हें बताया जाता है कि इन सभी कष्टों को ईश्वर ही दूर कर सकता है। बस्तर-बस्तर उपन्यास में धर्मांतरण की इसी प्रक्रिया का यथार्थ चित्रण किया गया है। 'हमारे गाँव में भी एक मास्टर हेमला जी आते रहते हैं। घर-घर में उन्होंने फोकट में कलेन्डर भी बाँटे, जिसमें सलीब पर टँगे ईसा मसीह की फोटो है। वे कहते हैं, प्रभु ईसा मसीह की प्रार्थना ही सबको दुख से बचा सकती है। मतलब प्रभु ईसा मसीह ही सबसे बड़े हैं। हमारे गाँव में तो दो-तीन महारा आदिवासी भी हैं। वो तो हमारे देवताओं के साथ बुद्ध भगवान को भी मानते हैं, और उन्हीं को सबसे बड़ा भी!'[4] आदिवासी इन तथाकथित लोगों के षड्यंत्र को समझ नहीं पाते हैं। इससे पहले ही हिंदू धर्मावलंबी भी इनके बीच आकर अपने धर्म को श्रेष्ठ बताकर इन निरीह भोले-भाले लोगों को भ्रमजाल में लेकर अपनी और आकर्षित करते हैं। 'रग्घू, हम आदिवासियों को देवी माता तो दंतेश्वरी है, मावली माता है। इनके सामने ही हनुमानजी की मूर्ति को जो माता से सौ गुना बड़ी है, क्यों खड़ा किया गया है? इससे हमारी देवीमाता बहुत छोटी लगने लगी है? कौन करता होगा ये सब खेल? बस्तर में क्या जगह की कमी है, जो हमारे देवस्थानों में ही चुनौती की तरह हमारे देवों को छोटा दिखाया जा रहा है? लगता है, हमारे देवी-देवता भी हम आदिवासियों की तरह भोले, गरीब और असहाय रह गये हैं।'[5] इस प्रकार गैर-आदिवासी लोगों के प्रवेश ने सबसे पहले इन आदिवासियों के ऊपर सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक हमला किया, जिससे इनकी आदिवासियत की विचारधारा को खत्म कर तथाकथित कुसंस्कृति की ओर आकर्षित कर इन्हें विखंडित कर कमजोर किया जा सके, जिसमें ये पूरी तरह सफल होकर इनके बीच घुसपैठ कर गए।

ऐसे सुनियोजित षड्यंत्र के साथ विकास का नारा देकर अब आदिवासी इलाकों पर कब्जे करना प्रारंभ कर दिया। आज तक आदिवासी जल, जंगल, जमीन निर्भर होकर इन्हें बिना नुकसान

पहुँचाये अपने रोजमर्रा की जरूरतों को पूरा कर आजीविका चला रहे थे। इन तथाकथित दिकू लोगों ने दूसरा हमला विकास के नाम पर इनकी इसी आजीविका पर किया। अब जंगल की रक्षा के नाम पर जंगल के ठेकेदार इनके बीच पहुँच चुके थे। जो आदिवासी आज तक जंगल को बिना नुकसान पहुँचाए अपनी जरूरतों को पूरा कर रहे थे, उन्हें अब जंगल में सूखी लकड़ी बटोरने, खाने के फल बटोरने के लिए ही वन नियमों का हवाला देकर परेशान किया जाने लगा था। इसी बीच जंगल के ठेकेदारों का प्रवेश हो चुका था, जिनकी निगाहें इनके सस्ते श्रम पर तो थीं ही, साथ ही उनकी औरतों और लड़कियों पर थीं, जो लगातार इनके साथ बदसलूकी करने लगे थे। 'वह वनरक्षक (जो मानवरक्षक नहीं था) नहीं माना। उसकी नजर हिड़मा की उघड़ी छातियों से होते हुई, समूचे तन पर तनी हुई थी। एक साँवली-सुडौल, जवान हिरनी उसके सामने कुलाँचे भरकर भागने को तैयार, मगर अभी मजबूर! उसे भारी पड़ रहा था अपने बुजुर्गों की चेत को बिसारना-हिरना, समझबूझि वन चरना। वनरक्षक ने एक हाथ से हिड़मा की कलाई पकड़ी और दूसरे हाथ से उसके बालों में खोंसे गये चार पड़ियाओं को निकाल फेंका। फिर वही किया जो उसकी मर्जी थी।'[6] इतना सब कुछ होने के बावजूद आदिवासी सहन करने के लिए विवश हो गया। इनके आजीविका के स्रोतों पर गैर-आदिवासी लोगों ने सरकार एवं प्रशासन की मिलीभगत से कब्जा कर लिया है। आखिर ऐसी स्थिति में थे ये भोले-भाले आदिवासी जाएँ तो कहाँ जाएँ। यह सवाल आज तक भी अनुत्तरित है।

आदिवासी बहुल इलाकों में ऐसे अनगिनत सवाल सुलग रहे हैं, जिनको लेकर आदिवासी आज भी उलझन में हैं। ऐसे में आदिवासी जब अपने अधिकारों की बात करता है तो विकास के ये तथाकथित ठेकेदार सरकार और प्रशासन के साथ षड्यंत्र रचकर इन आदिवासियों को विकास विरोधी, देशविरोधी और यहाँ तक कि आतंकवादी घोषित कर इन्हें समाप्त करने के लिए खड़े हो जाते हैं। एक तरफ अपनी आजीविका के लिए उपजे संकट से त्रस्त हैं, वहीं दूसरी तरफ अपने अस्तित्व एवं अस्मिता को लेकर चिंतित है। ऐसे हालात में नक्सलवादी भी इस षड्यंत्र में शामिल होकर आदिवासी हितैषी होने का दावा कर इनके बीच खड़े हो जाते हैं। अब यहीं से शुरू हो जाता है आदिवासी जीवन का संघर्ष। सरकारें और प्रशासन इन्हें आतंकवादी घोषित कर ऑपरेशन ग्रीन हंट और सलवा जुडूम जैसे जुमले खड़े करते हैं, जो सही मायने में आदिवासियों को समाप्त करने की एक साजिश है। 'बस्तर-बस्तर' उपन्यास में ऐसे ही षड्यंत्र का पर्दाफाश किया जाता है। जब आदिवासी इलाकों में नक्सलवाद की गतिविधियाँ बढ़ जाती हैं तो प्रशासन उन्हें समाप्त करने के लिए सुरक्षा बलों और पुलिस प्रशासन का पुख्ता इंतजाम करता है। 'बस्तर के जंगलों में आदिवासियों से ज्यादा तो पुलिस के फौजी जवान दिखाई देते हैं। इनको यहाँ रखने पर जितना खर्च होता होगा उतने से तो आदिवासियों का चार गुना विकास हो जाता है और होता ऐसा तो नक्सल समस्या खत्म हो जाती।'[7] सरकार ने अपने इस सरकारी तंत्र से नक्सलवाद की समस्या जब खत्म होती नजर नहीं आती है तो वे 'सलवा जुडूम' जैसे संगठन को खड़ा करती है, जिसमें नक्सलवादियों से लड़ने के लिए स्थानीय आदिवासी नौजवानों को भर्ती कर दिया जाता है। ये आदिवासी नौजवान अपने ही आदिवासी भाई-बहिनों को नक्सलवादियों की मदद करने के बहाने मारते हैं। ये सरकार का दूसरा षड्यंत्र है जो नक्सलवाद की समस्या को कितना हल कर पायेगा ये तो नहीं कहा जी सकता। हाँ, ये जरूर है कि आदिवासियों को जरूर आमने-सामने कर मरने को छोड़ दिया गया। 'जब पुलिस फेल हो जाती है और नक्सलवादियों का विद्रोह रोका न जा सका, तो सरकार और प्रशासन ने आदिवासियों को ही अंततः एक-दूसरे के खिलाफ 'सलवा जुडूम' के माध्यम से खड़ा कर दिया।'[8]

ये सरकार और नक्सलवादियों की लड़ाई के बीच में अंततः मरना आदिवासी को ही पड़ता है। नक्सलवाद के नाम पर सरकार और प्रशासन से आदिवासियों को उनकी जमीन से बेदखल कर कैंपों मे ले जाना चाहता है। वहीं नक्सली सरकारी ठिकानों को निशाना बनाते हैं। नक्सलवाद 'सलवा जुडूम' को सरकारी दलाल मानते हैं, सरकार नक्सलियों को आतंकवादी, राष्ट्रविरोधी करार देती है। परंतु इन दोनों के बीच में पिस तो आदिवासी ही रहे हैं। आलोच्य उपन्यास में ऐसे ही कड़वे सच का यथार्थ चित्रण किया गया है। 'इसे (सलवा जुडूम) को स्वस्फूर्त अभियान कहा जा रहा है, मगर यह सरकार द्वारा प्रायोजित है। 'सलवा जुडूम' के बहाने सरकार उद्योगपति और व्यापारी आदिवासियों के जल, जंगल और जमीन पर कब्जा जमाना चाहते हैं। लोगों को गाँव घरों से निकालकर सड़क के किनारे कैंपों में मवेशियों की तरह भर रखा है।....सत्ता पूँजीपतियों की दलाल हो गई है।'[9] दूसरी तरफ सरकार नक्सवादियों से रक्षा के लिए पुलिस और सलवा जुडूम के माध्यम से आदिवासी इलाकों को खाली करवाने का ऐलान किया जाता है। ऐसा नहीं करने वालों को सजा मिलेगी, वही नक्लवादियों का आदेश है कोई गाँव नहीं छोड़ेगा। परिणामस्वरूप, दोनों तरफ से तानाशाही फरमान जारी कर दिये जाते हैं। जबरदस्ती दोनों तरफ से होती है। नक्सली सलवा जुडूम के अध्यक्ष मासा कोर्राम और सलवा जुडूम के लोग दूसरे लोगों के घरों में आग लगा देते हैं। जान बचाने के लिए घर से बाहर निकलने पर गोली मार दी जाती है। ऐसी स्थिति में गाँव वालों के साथ कई लोग जलकर भस्म हो जाते हैं। उपन्यास के पुरुष पात्र हूंगा को गोली मार दी जाती है। नक्सली लिबास पहनाकर उसके पास बंदूक रखकर नक्सलियों का एरिया कमांडर घोषित किया जाता है। पुलिस के अनुसार अशिक्षित आदिवासी हूंगा के पास प्रचुर मात्रा में नक्सली साहित्य मिलता है। उसके छोटे से बालक के पास खिलौने वाली बंदूक को असली बताकर उसे भी गोली मार दी जाती है। उधर हूंगा के बेटी इरमा के साथ बलात्कार किया जाता है। 'सुरक्षाबल के जवानों ने इरमा के शरीर को खूब नोच-कचोट डाला था। उसके साथ बहुत से जवानों ने दुष्कर्म किया था, कि वह लगभग मर चुकी थी। अब दुष्कर्म में उसके छोटे भाई को अवरोधक समझ, उसे गोली से उड़ा दिया था।'[10] शोषण की ऐसी मार झेलने के बाद अंततः इरमा नक्सली बन जाती है। अब इरमा से कामरेड सीता होकर अपने साथ हुए अन्याय से बदला लेने के लिए आतुर हो जाती है। 'अब तो वह सलवा जुडूम और इसको चलाने वाले, संरक्षण देने वाले सभी के प्रति रणचंडी बनी फिरती है।'[11] ऐसी अकेली इरमा ही नहीं न जाने कितनी आदिवासी युवक युवतियाँ हैं। जिनकी जिंदगी, सरकार व नक्सलियों के इस लुका छिपी के खेल में नारकीय बन जाती है।

उपन्यासकार ऐसे सच को अभिव्यक्त करता है, जिसका किसी से कोई लेना-देना नहीं है। सिर्फ आदिवासी ही इनके बीच में पिसता है। आदिवासी एक तरफ सरकार, प्रशासन व ठेकेदार के गठजोड़ से परेशान है, वहीं दूसरी तरफ नक्सलीवाद की समस्या से त्रस्त है। इनकी स्थिति इधर गिरे को कुँआ उधर गिरे तो खाई जैसी हो गई है। इन सबके बीच भोले-भाले निरीह आदिवासीजन पिसते जा रहे हैं। वे विस्थापित होने के लिए अभिशिप्त हैं साथ ही मरने के लिए विवश भी। 'दण्डकारण्य छत्तीसगढ़ किसी का घर स्थायी नहीं होता। लोग यहाँ बसते हैं उजड़ने के लिए।'[12] दूसरी तरफ 'इन दो पाटन के बीच में पिसता बस्तरिया मानुष उलझन में किधर जाए।'[13] आज कमोवेश पूरे छत्तीसगढ़ के आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र बस्तर की यही स्थिति है।

अंततः कहा जा सकता है कि आदिवासी बाहुल इलाकों में प्रशासन और सरकार के सहयोग से गैर-आदिवासी (दिकू) लोगों के प्रवेश से इनके स्वच्छंद जीवन और संस्कृति एवं

परंपराओं पर हमला हुआ है, परिणामस्वरूप आदिवासियों का मजबूत पक्ष अब चरमराने लगा है। वहीं दूसरी ओर प्रशासन एवं सरकार तथा ठेकेदारों के गठजोड़ ने विकास के नाम पर इनके जीवन का आधार जल, जंगल, जमीन पर अधिकार कर मूलनिवासी बाशिंदों को विस्थापित होने को मजबूर कर दिया है। शेष काम सत्ता और प्रशासन के भ्रष्टाचारी दृष्टिकोण व पुनर्वास-संबंधी नीतियों को लागू करने में पूरा कर दिया है, जिससे इनका जीवन समाप्त होने के कगार पर है। ऐसी विषम परिस्थितियों में नक्सली इनके हितैषी होने का दावा कर इनके बीच घुसपैठ कर गये तथा इन भोले-भाले लोगों को बरगलाकर सत्ता, प्रशासन और वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था के खिलाफ खड़ा कर देते हैं। यदि इनके आदेश को नहीं माना जाता है तो आदिवासियों के साथ अत्याचार करते हैं। यदि साथ दिया तो प्रशासन नक्सलियों का साथ देने के आरोप में मारते हैं। दोनों ही स्थितियों में मरना आदिवासियों को ही पड़ता है। 'बस्तर-बस्तर' उपन्यास के आदिवासी जीवन के ऐसे ही कटु यथार्थ को अभिव्यक्त किया गया है, जिसे आज आदिवासियों का इन परिस्थितियों में जीना दुष्कर हो गया है।

संदर्भ

1. आदिवासी समाज और साहित्य, सं॰ स्नेहलता नेगी, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, वर्ष-2021, पृ॰ 98
2. बस्तर-बस्तर (उपन्यास), लोकबाबू, राज्यपाल एंड सन्स, दिल्ली, वर्ष 2021, पृ॰ 15
3. छत्तीस का खेल और बस्तर के आदिवासी (आलेख), डॉ॰ शिवचंद प्रसाद, वाड्मय अंक पृ॰ 17
4. बस्तर-बस्तर (उपन्यास), लोकबाबू, राज्यपाल एंड संस, दिल्ली, वर्ष 2021, पृ॰ 147
5. वही, पृ॰ 146
6. वही, पृ॰ 11
7. वही, पृ॰ 211
8. वही, पृ॰ 163
9. वही, पृ॰ 284
10. वही, पृ॰ 280
11. वही, पृ॰ 280
12. वही, पृ॰ 100
13. वही, पृ॰ 263

जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज॰)
kuldeepjnvu@gmail.com
Mob. 9414991400

ISSN 0975-735X

दलित-विमर्श की अवधारणा

राजमणि सरोज
असि॰ प्रोफेसर, हिंदी विभाग
धर्मसमाज महाविद्यालय अलीगढ़

ओमप्रकाश वाल्मीकि के अनुसार, 'दलित शब्द का अर्थ है, जिसका दलन और दमन हुआ है, दबाया गया है, उत्पीड़ित, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित, घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनिष्ठ, मर्दित, पस्त हिम्मत, हतोत्साहित, वंचित आदि।'[1]

कंवल भारती का मत है कि 'दलित वह है जिस पर अश्पृश्यता का नियम लागू किया गया है, जिसे कठोर और गंदे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है, जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया है और जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और वही दलित है, और इसके अंतर्गत वही जातियाँ आती है, जिन्हें, अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है।'[2]

डॉ॰ श्योराज सिंह बेचैन दलित शब्द की परिभाषा देते हुए कहते हैं, 'दलित वह है जिसे भारतीय संविधान ने अनुसूचित जाति का दर्जा दिया है।' मोहनदास नैमिशराय दलित शब्द को और अधिक विस्तार देते हुए कहते हैं कि 'दलित शब्द मार्क्स प्रणीत सर्वहारा शब्द के लिए समानार्थी लगता है लेकिन इन दोनों शब्दों में पर्याप्त भेद भी है। दलित की व्याप्ति अधिक है, तो सर्वहारा वर्ग की सीमित। दलित के अंतर्गत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक शोषण का अंतर्भाव होता है तो सर्वहारा केवल आर्थिक शोषण तक ही सीमित है।'[3]

दलित साहित्य का आशय : यह एक ऐसी साहित्यिक धारा है, जिसमें मानवीय सरोकारों तथा संवेदनाओं की यथार्थवादी अभिव्यक्ति होती है। सदियों से जिन्हें सामाजिक, मानसिक, शारीरिक, आर्थिक सभी दृष्टियों से शोषण का शिकार बनाया गया है, उनकी संवेदना, पीड़ा की अभिव्यक्ति दलित साहित्य में होती है।

दलित साहित्य की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कंवल भारती कहते हैं, 'दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है, जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को रूपायित किया है। अपने जीवन-संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उनकी उसी अभिव्यक्ति का साहित्य है। यह कला के लिए कला नहीं, बल्कि जीवन का और जीवन की जिजीविषा का साहित्य है। इसलिए कहना न होगा कि वास्तव में दलित द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की कोटि में आता है।'[4]

अर्जुन डांगले के अनुसार, 'सामाजिक व्यवस्था और विषमता के विरुद्ध आंदोलन खड़ा करके एक नये समाज का निर्माण करना, यह दलित साहित्य का प्रमुख उद्देश्य है।'[5]

बाबूराव बागूल के शब्दों में, 'मनुष्य की मुक्ति को स्वीकार करने वाला, मनुष्य को महान बनाने वाला, वंश, वर्ण और श्रेष्ठत्व का प्रबल विरोध करने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है।'[6]

दलित साहित्य के संदर्भ में ओमप्रकाश वाल्मीकि का विचार है, 'दलित रचनाकार अपने परिवेश एवं समाज के गहरे सरोकारों से जुड़ा है। वह अपने निजी दुखों से ज्यादा समाज की पीड़ा को महत्त्व देता है। जब वह मैं शब्द का प्रयोग कर रहा होता है तो उसका अर्थ हम ही होता है, सामाजिक चेतना उसके लिए सर्वोपरि है, अपने समाज के दुख-दर्द उसे ज्यादा पीड़ा देते हैं, उनके उन्मूलन के लिए उसने लेखन का रास्ता चुना है। अपनी अभिव्यक्ति में वह समाज की पीड़ा उकेर रहा है, इसलिए वह ज्यादा प्रामाणिक है।'[7]

राजेंद्र यादव दलित शब्द को काफी व्यापक दायरे में देखते हैं। वे स्त्रियों को भी दलित मानते हैं। पिछड़ी जातियों को भी दलितों में शामिल करते हैं लेकिन डॉ॰ श्यौराज सिंह बेचैन उनके इस तर्क से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि इससे साहित्य में सही स्थिति सामने नहीं आती। दलित साहित्य उन अछूतों का साहित्य है, जिन्हें सामाजिक स्तर पर सम्मान नहीं मिला। सामाजिक स्तर पर जातिभेद के जो लोग शिकार हुए हैं, उनकी छटपटाहट ही शब्दबद्ध होकर दलित साहित्य बन रही है।'

दलित साहित्य से तात्पर्य दलित जीवन और उसकी समस्याओं को केंद्र में रखकर किये गये साहित्यिक आंदोलन से है, जिसकी शुरुआत दलित पैंथर से मानी जाती है। दलित जातियों को सामाजिक व्यवस्था के सबसे निचले पायदान पर होने के कारण उसे न्याय, शिक्षा, समानता, स्वतंत्रता आदि मानवीय, मौलिक अधिकार से वंचित रखा गया और उन्हें हिंदूधर्म में अछूत स्वीकार किया गया। इन समस्याओं को दलित साहित्यकारों ने अपनी रचना के माध्यम से जनसाधारण के बीच इस आवाज को मुखरित करने का प्रयास किया है।

आज की स्थिति में दलित साहित्य एक मजबूत परिवर्तनकारी धारा के रूप में अपनी अलग पहचान स्थापित कर चुका है। कई दलित साहित्यकारों ने अन्य परिवर्तनकारी धारा के साथ मजबूत एकता बनाकर इसे एक आंदोलन के रूप में स्थापित करने की वकालत की है। इस समय दलित साहित्य बेहतर व्याख्या, विश्लेषण एवं आत्मालोचन की स्थिति में है। दलित साहित्य के अब तक के विकासक्रम को देखते हुए यह उम्मीद की जा सकती है कि जल्द ही यह संघर्ष के नये क्षेत्र में प्रवेश करेगा।

आत्मकथा 'जूठन' के माध्यम से दलित जीवन की सच्ची संवेदना की जो अभिव्यक्ति हुई है और इस कृति को जो प्रसिद्धि मिली है, उससे यह प्रश्न उभरा कि क्या दलित साहित्य पर लिखने के लिए दलित होना जरूरी है? कई आलोचकों का मत है कि दलितों पर लिखने के लिए दलित होना जरूरी नहीं है। उनका तर्क है कि घोड़े पर लिखने के लिए घोड़ा होना जरूरी नहीं है। साहित्य आलोचक नामवर सिंह का मानना है कि 'कोई लेखक दलित कुल में जन्म लेने से ही दलित चेतना का संवाहक नहीं हो जाता है। जन्मना दलित ही दलित चेतना का प्रतिनिधि होगा, दूसरा कोई नहीं, गलत है।'[7]

दलित चिंतक व लेखक, साहित्यकार इस तर्क से सहमत नहीं हैं। उनका तर्क है कि घोड़े की पीड़ा को समझे बगैर उसका बाह्य चित्रण उसकी भावनाओं का काल्पनिक रेखांकन भर ही होगा। थका-माँदा, भूखा-प्यासा, कोड़े की चोट से पीड़ित घोड़ा अपने मालिक के प्रति क्या भाव रखता है, इसे सिर्फ घोड़ा ही बता सकता है। इसी प्रकार दलितों ने हजारों वर्षों की सामजिक यातना में जो भोगा है, उनके द्वारा जो अनुभव किया गया है, उन्हे गैरदलित जान ही नहीं पाता है; इसीलिए उसकी पीड़ा के साक्षात्कार की उनकी कल्पना अधूरी होती है। रवीन्द्र त्रिपाठी का विचार है कि जो

लोग यह मानते हैं कि दलितों के बारे लिखने के लिए दलित होना कतई जरूरी नहीं है और हर लेखक अपनी सहज संवेदनाशीलता की वजह से किसी दलित लेखक की तरह दलित साहित्य लिख सकता है, यह निष्कर्ष सही नहीं है।

आलोचक मैनेजर पांडेय का यह कथन इस बात की पुष्टि करता है कि 'राख ही जानती है जलने का दर्द, दलित होने की पीड़ा सिर्फ दलित जानता है।'[8]

दलित लेखक एवं चिंतक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दलितों की पीड़ा, उनकी संवेदनात्मक अनुभूति को दलित ही समझ सकता है, वही उस पीड़ा का प्रामाणिक प्रवक्ता भी है। जिस दु:खद सच्चाई को वहन करते हुए दलित अपना जीवन गुजार देता है, उसे समझने के लिए सिर्फ सहानुभूति ही काफी नहीं है बल्कि उन स्थितियों में बदलाव के लिए छटपटाहट चाहिए जिसे सिर्फ दलित जानता है। दूर खड़ा व्यक्ति सिर्फ आँसू टपकाकर अपनी संवेदना प्रकट कर सकता है।

दलित चेतना का आशय : अपनी अस्मिता की पहचान करके, अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए, मानवीय हक के लिए जातिवादी व्यवस्था के खिलाफ, अपने प्रति हो रहे शोषण, अन्याय, अत्याचार के खिलाफ प्रतिरोध एवं संघर्ष की तीव्र भावना को दलित चेतना कहते हैं। इस प्रकार दलित जातियों के अंदर अपनी अस्मिता की खोज, अपने प्रति भेदभाव, जातीय अपमान आदि के प्रति उत्पन्न जागरूकता दलित चेतना है। यह दलित चेतना साहित्य के माध्यम से समाज के सामने अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज कराने में समर्थ हुई है। दलित चेतना के सरोकारों में दलित साहित्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इस चेतना के अभाव में दलित साहित्य केवल कल्पना की उड़ान ही समझा जा सकता है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि के अनुसार, 'दलित की व्यथा, दु:ख, शोषण का विवरण देना या बखान करना ही दलित चेतना नहीं है या दलित पीड़ा का भावुक या अश्रुविगलित वर्णन, जो मौलिक चेतना से विहीन हो, चेतना का सीधा संबंध दृष्टि से होता है जो दलितों की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक भूमिका की छवि के तिलिस्म को तोड़ती है। वह है दलित चेतना। दलित मतलब मानवीय अधिकारों से वंचित, सामाजिक तौर पर जिसे नकारा गया हो उसकी चेतना यानि दलित चेतना।'[9]

बाबूराम बागूल की धारणा है कि 'स्वतंत्रता समता और बंधुता की मूल भावना दलित साहित्य की मूल गर्भ चेतना है। दलित साहित्य की अनुभूति परंपरागत साहित्य में बिल्कुल अलग है, क्योंकि दलित चेतना मनुष्य की मुक्ति की बात करती है।'[10]

दलित चेतना के विषय पर विचार-विमर्श करने से पूर्व भारतीय सामाजिक व्यवस्था को समझना नितांत आवश्यक है। इसको समझे बगैर दलित चेतना की तीव्रता का एहसास करना कठिन है। सदियों की प्रताड़ना, अत्याचार, शोषण, भेदभाव, उपेक्षा, अपमान से दबा हुआ दलित अपने अस्मिता, आत्मसम्मान की खोज के लिए सजग दिखाई पड़ता है। ऐतिहासिक परिदृश्य में उसे अपनी पहचान कहीं दिखाई नहीं पड़ती है। अतीत उसके लिए नर्क से भी भयावह है। दलित चेतना वास्तव में वर्षों से दलितों के प्रति हो रहे सामाजिक असमानता, भेदभाव आदि की भावना के खिलाफ प्रतिरोध एवं अधिकार के लिए संघर्ष है। यह अधिकांशत: शिक्षित वर्ग में मुखरित होती है जिन्होंने स्वयं इस पीड़ा को भोगा है और उसे महसूस किया है। अपने समाज के साथ हो रहे अत्याचार, अन्याय, शोषण के प्रतिरोध में दलित साहित्य आवाज बनकर खड़ा हुआ है। दलित चिंतकों के द्वारा साहित्य के माध्यम से दलित जाति के लोगों में एक नई सोच पैदा हो रही है, जो

सामाजिक बदलाव देखने के लिए प्रतिबद्ध है।

दलित का सीधा संबंध अंबेडकर दर्शन से है। यह दर्शन ही दलितों का प्रेरणा स्रोत भी है। सामाजिक उत्पीड़न, सामन्ती सोच, वर्ण व्यवस्था से उत्पन्न ऊँच-नीच, भेदभाव की भावना ने दलित जातियों को सदियों से मानसिक गुलामी की जंजीरों में जकड़कर रखा है। उनकी मुक्ति के तमाम रास्ते बंद थे। इस गुलामी से स्वतंत्र होने की छटपटाहट ही दलित चेतना को आधार प्रदान किया है।

दलित-विमर्श का आशय : विमर्श का अभिप्राय विचार अथवा विवेचन से है। किसी तथ्य या विषय पर विवेचना करना, उसकी वास्तविक स्थिति के बारे में चिंतन करना विमर्श कहलाता है। हिंदी में विमर्श शब्द अँग्रेजी के Discouse का हिंदी का पर्याय है। यह लेटिन शब्द Discurus से निर्मित है जिसका अर्थ, बहस, संवाद, वार्तालाप और विचारों का आदान-प्रदान है।

डॉ॰ रोहिणी अग्रवाल के अनुसार, 'विमर्श यानि वाद विवाद संवाद यानि किसी भी समस्या को एक कोण से न देखकर भिन्न मानसिकताओं, दृष्टियों, संस्कारों और वैचारिक प्रतिबद्धताओं का समाहार करते हुए उलट-पलटकर देखना, इसे समग्रता से समझने की कोशिश करना और फिर मानवीय सन्दर्भों में निष्कर्ष प्राप्ति की चेष्टा करना।'

दलितों की स्थिति, समस्याओं एवं उनके अधिकारों के संबंध में किया जाने वाला विचार विमर्श दलित-विमर्श कहा जाता है। समकालीन दलित साहित्यकारों की कृतियों, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा आदि में दलित-विमर्श की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। यहीं नहीं तमाम साहित्यिक सेमिनारों तथा गोष्ठियों में तीव्र गति से दलित-विमर्श पर चर्चा हो रही है। दलित-विमर्श अपने समय और समाज के जीवन की वास्तविकताओं, समस्याओं, संभावनाओं आदि को तलाशने वाली दृष्टि है।

दलित-विमर्श का सरोकार जीवन और साहित्य में परम्परागत रूप में शोषित, उपेक्षित चले आ रहे दलित जातियों की मुक्ति के प्रयासों से है। दलित-विमर्श सामाजिक समस्याओं की जांच पड़ताल करके दलित के संघर्ष एवं उसकी पीड़ा की अभिव्यक्ति करता है। आज भी दलित का मूल प्रश्न उसे मनुष्य के रूप में स्वीकार किये जाने की बुनियादी संघर्ष है।

संदर्भ

1. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ॰ 13, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2019
2. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ॰ 14
3. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ॰ 14
4. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ॰ 14
5. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ॰ 24
6. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ॰ 16
7. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ॰ 38
8. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ॰ 44
9. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ॰ 29
10. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ॰ 30

औद्योगिक मजदूरों का चित्रण करने वाली शेखर जोशी की कहानियाँ

डॉ॰ विजय सिंह

कोई भी साहित्यकार अपने युग और परिवेश से प्रभावित होकर ही उसके प्रति अपनी चेतना को व्यक्त करता है। वह युगीन सामाजिक परिवेश की विभिन्न घटनाओं एवं परिस्थितियों से प्रभावित होकर उसे अपनी लेखनी के माध्यम से लिपिबद्ध करके समाज के सामने परोसता है। इसी क्रम में कहानीकार शेखर जोशी ने भी अपने युगीन परिवेश की विभिन्न परिस्थितियों से जूझते हुए उन्हें अपनी लेखनी के माध्यम से व्यक्त किया है। शेखर जोशी ने सुदूर पर्वतीय क्षेत्रों में निवास करने वाले कृषक मजदूरों की स्थिति से लेकर मौदानी जनजीवन के अंतर्गत निवास करने वाले औद्योगिक मजदूरों तक की जीवनगाथा का चित्रण अपने कथासाहित्य के अंतर्गत समाहित किया है, जहाँ एक ओर पर्वतीय ष्क्षेत्रों में निर्वासित कृषक मजदूरों की स्थिति अत्यन्त कष्टमयी रही है, वहीं दूसरी ओर शहरी क्षेत्रों में कार्यरत मजदूरों का जीवन-संघर्ष भी गम्भीर कठिनाइयों से भरा पड़ा है। मिलों एवं कारखानों में कार्य करने वाले मजदूरों को केंद्र में रखकर कहानीकार ने उनकी स्थितियों को यथार्थता के साथ उजागर किया है।

समाज में व्याप्त मजदूरों की जिन समस्याओं को शेखर जोशी ने अपनी कहानियों में चित्रित किया है उसके सन्दर्भ में प्रेमकुमार मणिक का यह विचार दृष्टिगत होता है–'परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों में औद्योगिक संस्थाओं की जो भूमिका रहेगी वह आज के बिखरते ग्रामीण जीवन से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी कथाकारों और आलोचकों का ग्रामकथा के प्रति जो आग्रह है उसे शेखर जोशी गलत नहीं बताते बल्कि वह यह मानते हैं कि औद्योगिक जीवन के प्रति संबद्धता साहित्यिक मूल्यों को और ऊँचा उठाएगी, अधिक महत्त्वपूर्ण बनाएगी। ग्रामजीवन में एक बिखराव बस रहा है, कुंठा, हताशा की भावना फैल रही है। जोड़-जोड़ कर वह हमें जीवन से नफरत करना सिखाती है किंतु औद्योगिक जीवन में एक नया जोश एक नई तमन्ना है मिलकर लड़ने जूझने की संभावना बन सकती है, कठिनाई और कुंठा वहाँ भी है, किंतु वहाँ जीवन के प्रति कहीं नफरत की भावना नहीं पनपती।'[1] शेखर जोशी ने न केवल पहाड़ी जनजीवन से संबंधित कहानियाँ लिखी हैं, बल्कि उनकी कहानी लेखन का एक महत्त्वपूर्ण भाग ऐसा भी है जिस पर हिंदी में बहुत ही कम कहानियां लिखी गई हैं, वह भाग है कल-कारखानों से जुड़े मजदूरों के जीवन का जहाँ उनके शोषण, अपने अधिकारों के लिए लड़ाई, उनकी हार-जीत, उनकी बेईमानियों आदि का चित्रण उन्होंने अपने औद्योगिक परिवेश से जुड़ी हुई कहानियों में किया है। इस क्षेत्र में कथाकार का लेखन प्रत्यक्ष और सहज जीवन का लेखन रहा है, जो उन्होंने खुद भी भोगा और जिया है तथा उसी का अंकन यथार्थता के साथ अपनी कहानी-कला में किया है। इन्होंने मजदूरों के इस जीवन-संघर्ष को प्रत्यक्ष रूप में आत्मसात करते हुए उजागर किया है।

इस संबंध में कथाकार जोशी का यह कथन दृष्टिगोचर होता है, 'मेरे जीवन का एक

महत्त्वपूर्ण भाग कारखानों में बीता है। जहाँ तेल और खालिक से सने कपड़ों में ऐसी विभूतियां छिपी थी जिन्होंने मेरी जिन्दगी को एक नया ही अर्थ दे दिया। यह मेरा एक आत्मीय संसार बन गया। हमारी रचनात्मकता, हमारे संघर्ष, हमारी खुशी और हमारा दर्द सब साझा था। यहीं मुझे 'उस्ताद' मिले जो न चाहते हुए भी अन्तिम क्षणों में अपने शार्गिद को काम का गुर सिखाने को मजबूर थे, यहीं हाथों की 'बदबू' में मैंने जिजीविषा की तलाश की, यही ईमानदार लेकिन मेंण्टल करार दिए गए लोग थे, यही विरोध की आखिरी चिंगारी लिए 'जी हजूरिया' किस्म के लोग भी, यहीं 'नौरंगी' मिस्त्री था और यहीं मैंने श्यामलाल का 'आशीर्वचन सुना और इन सबको मैं अपनी कहानियों में अंकित कर पाया।'[2] प्राय: शेखर जोशी का कार्यक्षेत्र औद्योगिक क्षेत्र से जुड़ा हुआ था यहीं करण है, कि इनके जीवन का एक महत्त्वपूर्ण भाग इन्हीं कारखानों से गुजरा है। इनकी औद्योगिक परिवेश से जुड़ी हुई कहानियों में चित्रित श्रमिकों की जीवन-गाथा से कथाकार एक आत्मिक भाव से प्रत्यक्षत: जुड़े हुए थे। शेखर जोशी की कहानियों में वर्णित श्रमिकों के संदर्भ में अपने एक लेख 'उन जीतों के बारे में जिन्हें जीतना आसान नहीं था 'शेखर जोशी की कहानियां' नामक लेख में चन्द्रकला त्रिपाठी जी लिखती हैं, 'कारखानों के जीवन की यातना और संघर्ष को शेखर जोशी ने कम करके नहीं देखा है, किंतु यहाँ श्रम की एक अनोखी जीवटता भी मौजूद है जिसके भीतर मजदूरों के सुख-दु:ख की परस्पर हिस्सेदारी से आत्मीयता की मजबूती निखर आती है।'[3]

इसी प्रकार शेखर जोशी के कथा साहित्य में चित्रित श्रमिकों की जीवन-गाथा के संबंध मधुरेश ने लिखा है, 'मजदूरों के जीवनानुभवों से कहानी को जोड़ने का उनका आग्रह इसराइल आदि की कहानियों में दिखाई देता है श्रम का महत्त्व और वर्गचेतना का आग्रह इस दौर के अनेक लेखकों की कहानियों में व्यक्त हुआ है।'[4] हिंदी कथा-साहित्य के अंतर्गत मजदूरों के जीवन प्रसंग में लिखी गई शेखर जोशी की कहानियां एक विशिष्ट महत्त्व रखती है। वस्तुत: कहानीकार शेखर जोशी ने मजदूरों के जीवन के महत्पूर्ण अनछुए पहलुओं का वर्णन अपनी कहानियों के माध्यम से किया है। इस संबंध में अशोक वाजपेयी जी का यह कथन है कि 'कलपुर्जों के साथ खेलने वाले मजदूरों और औजारों से भिड़े हुए कारीगरों की अंदरूनी दुनियां की इतनी विश्वसनीय जानकारी यह है कि वे कहानियां कहानियों से अधिक जिए जा रहे जीवन का हिस्सा अधिक लगती हैं।'[5]

औद्योगिक परिवेश से जुड़ी हुई शेखर जोशी की एक महत्पूर्ण कहानी 'बदबू' है, यह 'बदबू' मुख्यत: कारखानों के अन्दर फैले हुए भ्रष्टाचार की बदबू है। यह बदबू इसी भ्रष्टाचार की ओर संकेत करती है इस कहानी में आया हुआ वह पात्र पहली बार जब कारखाने के अन्दर प्रवेश करता है, तो वह अफसर और मजदूर वर्ग के बीच की दूरी को कम करने का प्रयत्न करता है, जो कि इन दोनों को मान्य नहीं था अफसरों के शोषकपूर्ण रवैये के प्रति यदि कोई मजदूर आवाज उठाने की कोशिश करता तो अन्य मजदूर उसे अपने लिए संकट सा महसूस करते हैं। कारखाने के अन्दर प्रवेश करते ही वह नया कारीगर अपने मजदूर वर्ग की हक की लड़ाई लड़ने लगता है, लेकिन वह भी धीरे-धीरे समाप्त होकर उसी व्यवस्था के अनुरूप ढल जाता है, जो कि वहाँ प्रचलित है, क्योंकि उसने भी वहाँ की व्यवस्था से सामंजस्य करना सीख लिया है। यहाँ मौजूद हर मजदूर की स्थिति यही रही है, कि अंतत: वह इस शोषण, भ्रष्टाचार युक्त व्यवस्था का आदी हो जाता है। इस संबंध में कहानी का यह अंश दिखाई देता है–'ये भाई भी अभी हाथ नाक पे ले जा-जा के सूँघ रहे थे तभी किस्सा याद आया पहले पहल हम भी ऐसे ही सूँघा करें थे। पर अब तो सुसरा पता ही नहीं लगता, कितनी बार तो साबुन नहीं मिलता, ऐसे ही पोंछ-पांछकर रोटी खाने बैठ जाते हैं।'[6] इसके

साथ ही शेखर जोशी की कहानियों में व्यक्ति न केवल घृणा और शोषण के जाल को ही भली भांति समझता है, बल्कि उससे संघर्ष करते हुए जूझता रहता है तब वह चाहे उस व्यवस्था के विरुद्ध ही क्यों न हो यही कारण रहा है कि अन्य कारीगर इस विरोध को सदैव ही अपने लिए एक खतरा महसूस करते हैं।

इस प्रकार औद्योगिक जनजीवन से संबंधित कहानियों के अंतर्गत प्रतिरोध के विभिन्न स्वरूप देखे जा सकते हैं। 'बदबू' कहानी में बुद्धन द्वारा कारखाने के अंदर बीड़ी पीने पर उसका साहब (बॉस) कहता है, 'कारखाने में इतनी कीमती चीजें पड़ी रहती हैं कि किसी भी वक्त आग लग सकती है, एक आदमी की वजह से लाखों रूपये का नुकसान हो सकता है। हम ऐसी गलतियों पर कड़ी-से कड़ी सजा दे सकते हैं, तभी भीड़ से किसी ने ऊँचे स्वर में कहा साहब आग तो सभी की बीड़ी-सिगरेट से लग सकती है। सौकड़ों बिस्मित आँखें उस ओर उठ गई जिधर से आवाज आई थी। साहब कुछ कहे इससे पहले वही व्यक्ति फिर बोला अफसर साहब तो सारे कारखाने में मुंह में सिगरेट दाबे घूमते रहते हैं।'[7] इन सभी बातों से यह आभास होता है, कि कारखानों में यह नियम केवल वहाँ कार्यरत मजदूरों के लिए ही बने होते हैं, तथा बड़े-बड़े अधिकारियों और कर्मचारियों के ऊपर ये नियम-कानून लागू नहीं होते हैं। कथाकार जोशी जी ने औद्योगिक जनजीवन से संबंधित कहानियों में वहाँ कार्यरत मजदूरों का जीवन अत्यन्त कठिन एवं संघर्षमय रूप में चित्रित किया है। मजदूरों के जीवन की इस दुर्दशा को बनाने के कार्य को कारखाने के मालिक और उच्च अधिकारी अपना अधिकार सा समझ बैठते हैं। यहाँ कार्यरत मजदूरों की तलासी लेना यह भी सोचने को मजबूर करता है कि इनकी दृष्टि में यहाँ कार्य करने वाला हर मजदूर चोर है, इसके अतरिक्त इन मजदूरों का अन्य कई प्रकार से शोषण होता रहता है जैसे उत्पादन की क्षमता को बढ़ाने के उद्देश्य से कारखाना मालिक इन मजदूरों से निरन्तर कार्य करवाते रहते हैं, इसके साथ ही कारखाने में समय से उपस्थित न होने उनका पैसा काट दिया जाता है साथ ही इनके लिए यहाँ अवकाश, चिकित्सा आदि का कोई प्रबन्ध उपलब्ध नहीं होता है।

इस प्रकार मजदूरों के प्रति अन्याय एवं अत्याचारपूर्ण व्यवहार किया जाता है। 'बदबू' कहानी का नायक यहीं से अपने मजदूर वर्ग के अधिकारों की मांग को उठाता है और इन मांगों को गलत शाबित करने वालों के खिलाफ विरोध भी प्रकट करता है। वह इन कारखानों में पड़े हुए पुराने मजदूरों को जो यहाँ हर प्रकार के अत्याचारों को वर्षों से चुपचाप सहते जा रहे थे उसने इस प्रकार की इन परम्पराओं को तोड़ने का कार्य किया, तथा इन मजदूरों को उनकी स्थितियों से परिचित कराकर अपने अधिकारों के प्रति सचेत भी किया है। 'कठघरे से निकलकर एक नौजवान बुदबुदाया शालों को सक रहता है, कि हम टागों के साथ कुछ बाँधे ले जा रहे हैं। इसलिए अब यह उछल-कूद का खेल कराने लगे हैं। इनका बस चले तो ये गेट तक हमारी नागा साधुओं की-सी बरात बनाकर भेजा करें। 'खीर खाए बामणी फाँसी चड़े शेख' नहीं देखा तो यहाँ आकर देख छोटे साहब की गाड़ी के पिस्टन अन्दर ही बदले जा रहे हैं। मैंने अपनी आंखों से देखा है। पहले वाले व्यक्ति ने आवेश में आकर कहा।'[8]

अब ये मजदूर धीरे-धीरे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होते जा रहे हैं, और अफसरों के सामने अपनी समस्याओं को रखने का हौंसला भी रखने लगे हैं जिसका अंकन कहानीकार ने इस प्रकार किया है, 'साहब लोगों को मकान की परेशानी है। छुट्टियों का कोई हिसाब नहीं है। छोटी-छोटी बातों पर जुर्माना हो जाता है यही बातें आपसे अर्ज करनी थी यही वहाँ भी सोच रहे थे।

स्वर में दीनता थी, परंतु साहब के चेहरे पर टिकी हुई उनकी तीखी दृष्टि अनजाने में ही जैसे इस अभिनय को झुठला रही थी। मैं कौन होता हूं जो तुम लोग मुझसे यह कहने के लिए आते हो? मैं भी तो भाई तुम्ही लोगों की तरह एक छोटा-मोटा नौकर हूं।'[9] इन पंक्तियों में साहब की बातों से यही आभास होता कि कारखानों के अन्दर इन मजदूरों की समस्या को सुनने के लिए कोई भी अधिकारी राजी नहीं होता है वे इनकी दीनता को भी नहीं समझते हैं, और अनजान बन जाते हैं, फिर भी इससे यह ज्ञात होता है कि ये मजदूर लोग अब अपने अधिकरों की रक्षा के लिए आगे बढ़ने लगे हैं इसी प्रकार इन कारखानों की चाहारदीवारी के अंतर्गत कार्य करने वाले ग्रसित मजदूरों की मानसिकता का चित्रण जोशी जी ने इस प्रकार किया है–'अन्य मजदूरों की भाँति वह भी आड़ी गिरी हुई लकड़ी को लांघकर बाहर चला गया। पीछे मुड़कर उसने फिर एक बार कटघरे की ओर देखा लोग अब भी एक-एक कर कूदते हुए चले आ रहे थे इस उछलकूद का प्रयोजन वह नहीं समझ पाया। गेट से बाहर निकलकर उसने अनुभव किया जैसे वह बंद कोठरी से निकलकर खुली हवा में चला आया हो।'[10] हिंदी कथा-साहित्य के अंतर्गत 'नई कहानी' कहानी आंदोलन के समय हिंदी कहानी जब साहित्यिक पटल पर विभिन्न नए-नए क्षेत्रों को अपनाकर अपनी एक अलग पहचान बना रही थी, तो उसी दौरान शेखर जोशी ने व्यापक फलक पर कारखाना जीवन को अपनी कहानियों का विषय चुना है।

वस्तुत: उनकी ये कहानियां इस औद्योगिक जीवन में उनके व्यक्तिगत परिचय का ही परिणाम थी जिसके माध्यम से उन्होंने कारखानों के अंदर की ऊब और नीरसता भरे जीवन के साथ ही वहाँ विभिन्न स्तरों पर चलने वाले जीवन-संघर्ष का वर्णन प्रामाणिकता के साथ किया है। इनकी औद्योगिक परिवेश की समस्याओं को उधेड़ने वाली कहानियों में 'नौरंगी बीमार है', 'आशीर्वचन', 'बदबू' और उस्ताद इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, कि ये कहानियां श्रमिकों के जीवन की एक-एक पर्तों को यथार्थता के साथ समाज के समक्ष प्रस्तुत करती हैं। इस संबंध में पंकज पराशर का यह कथन दृष्टिगत होता है–'शेखर जोशी सिग्नेचर टूयून की तरह फैक्ट्री में काम करने वाले श्रमिकों और कामगारों के जीवन से जुड़ी हुई कहानियां हैं। जिनमें श्रमिकों के जीवन की एक-एक पर्तों को वे जिस संवेदना, कुशलता और प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करते हैं, वे बेजोड़ हैं। 'नौरंगी बीमार है', 'आशीर्वचन', 'बदबू' और उस्ताद इत्यादि उनकी चर्चित कहानियों में से एक हैं। अपने समय में इन कहानियों की चर्चा थी और शेखर जोशी को जब भी याद किया जाता है, तो इन कहानियों की चर्चा जरूर होती है, लेकिन आम मजदूरों की सहजता, निश्छलता और ईमानदारी पर बेवजह शक करते हुए जब उनकी निष्ठा पर सवाल खड़े किए जाते हैं, तब वह आप से बाहर हो जाता है। फिर उसके बाद वह आगा-पीछा की चिंता किए बगैर पूरी ताकत से विरोध प्रकट करता है। इन मनोभावों को शेखर जोशी ने बेहद संजीदगी के साथ चित्रित किया है।'[11]

निष्कर्षत: यह स्पष्ट होता है, कि साहित्य की आत्मा के रूप में सदैव मध्य एवं निम्न वर्ग का आश्रय रहा है कथाकार शेखर जोशी के संपूर्ण साहित्य में पहाड़ की जटिल भौगोलिक परिस्थितियों से गुजरने वाले कृषक और मजदूरों से लेकर मौदानी इलाकों में रहने वाले मजदूरों की दशा का चित्रण मिलता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उनके समग्र साहित्य के अंतर्गत श्रम एवं श्रमजीवियों की जिजीविशा को प्रमुखता से स्थान प्राप्त हुआ है। अगर शेखर जोशी की औद्योगिक परिवेश की कहानियों पर एक दृष्टि डालें तो ऐसा मालूम होता है, कि ये कहानियां एक प्रकार से कामगार मजदूरों के समग्र जीवन का सार प्रस्तुत करती हैं। इसके साथ ही वह चक्र भी

पूरा होता है, जो 'उस्ताद' और 'बदबू' जैसी कहानियों से आरम्भ हुआ था। उनकी औद्योगिक जन-जीवन पर रचित कहानियों के अध्ययन से ऐसा एहसास होता है, जैसे ये एक ही श्रृंखला की कडिघ्यां हों। इस प्रकार कह सकते हैं, कि हर रचनाकार का अपना एक निजि जीवनानुभव होता है जिसकी परिधि के इर्द-गिर्द ही उसका रचनाक्रम चलता रहता है।

संदर्भ

1. शेखर जोशी: समय की सच्चाई के कहानीकार, प्रेमकुमार मणि, मार्च 1985, पृ॰ 148
2. स्मृति में रहें वे, शेखर जोशी, पृ॰ 194,95, संभावना प्रकाशन, हापुड़, प्रथम संस्करण: 2010
3. अनहद पत्रिका, संतोष चतुर्वेदी, पृ॰ 95, अंक: 4 जनवरी 2014, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद
4. हिदी कहानी का विकास, मधुरेश, पृ॰ 165, सुमित पकाशन, इलाहाबाद, छठवां संस्करण: 2011
5. ज्योत्सना 'मलन', जिजीविषा का सौंदर्य, अशोक वाजपेयी, पृ॰ 37, अंक 37, मार्च, अप्रैल 1980
6. 'डांगरी वाले' 'बदबू' कहानी, शेखर जोशी, पृ॰ 44, आधार प्रकाशन, पंचकुला, हरियाणा, तृतीय संस्करण: 1998
7. वही, पृ॰ 48
8. वही, पृ॰ 48,49
9. वही, पृ॰ 50
10. वही, पृ॰ 46
11. अनहद पत्रिका, संतोष चतुर्वेदी, पृ॰ 223, अंक: 4 जनवरी 2014, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद

डॉ॰ विजय सिंह द्वारा भुवनेश्वर प्रसाद पुरी,
निकट श्री गुरुरामराय पब्लिक स्कूल, कमलेश्वर,
श्रीनगर गढ़वाल, जिला पौड़ी गढ़वाल 246174**, उत्तराखंड**
मो॰ 7895353639
vijaysinghrawat3639@gmail.com

भक्तिसंगीत का बदलता स्वरूप

नेहा सहगल, शोधार्थी, संगीत विभाग,
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)
प्रो॰ विमल, शोध निर्देशिका, संगीत विभाग
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)

भक्ति संगीत–जब कोई व्यक्ति संगीत (गायन, वादन, नृत्य) के द्वारा अपनी भावनाएँ, अपने आराध्य के समक्ष व्यक्त करता है, वह संगीत भक्ति संगीत कहलाता है। ऐसा संगीत जिसमें स्वर माधुर्य, भक्ति भावना, उच्चकोटि के शब्द एवं संपूर्ण समर्पण विद्यमान हो, भक्ति संगीत कहलाता है। इसमें लय, स्वर, ताल के द्वारा अपने सात्त्विक मन की भावनाएँ अपने इष्ट या आराध्य को समर्पित की जाती हैं। आराध्य कोई देव अथवा साक्षात परब्रह्म, गुरुदेव या निराकार आदि भी हो सकते हैं, जिनके लिए हृदय में सत्यता धारण करके संगीत द्वारा गुणगान किया जाता है। यही संगीत भक्ति संगीत कहलाता है।

जब व्यक्ति सच्चे मन से अपने आराध्य की संगीतमय स्तुति करता है, तब ईश्वर भी स्वयं वहाँ आने पर विवश हो जाते हैं। ऐसा स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवतगीता के इस श्लोक में कहा है–

नाहं वसामि बैकुण्ठे योगिनां हृदय न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।[1]

अर्थात् हे नारद! न मैं बैकुंठ में निवास करता हूँ, न ही योगियों के हृदय में, जहाँ मेरे भक्त कीर्तन (भक्तिसंगीत) द्वारा मेरा गुणगान करते हैं, वहीं पर मेरा वास होता है।

भक्तिसंगीत से संबंधित अनेक रचनाएँ अथवा भजन प्रचार-प्रसार में हैं। उदाहरण: गुरु भक्ति के संदर्भ में कुछ पंक्तियाँ–

गुरु गोबिंद दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय
बलिहारी गुरु आपने, गोबिंद दियो बताय।[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में शिष्य का गुरु के प्रति प्रेम व समर्पणभाव प्रदर्शित हुआ है। इसी प्रकार नवधा भक्ति के भक्तिसंगीत की अनेक रचनाएँ संगीतज्ञों द्वारा गाई एवं बजाई जाती रही हैं। ये समस्त रचनाएँ भक्तिसंगीत की अवधारणाओं को जन्म देती हैं। ऐसी ही अन्य रचनाएँ भी संसार में उपलब्ध हैं जिनमें भक्ति संपूर्ण रूप से विद्यमान है परंतु उनके संगीत की धुनों व प्रस्तुतिकरण में समयानुसार अनेक बदलाव आ चुके हैं। उदाहरण के लिए–

ऐसी लागी लगन, मीरा हो गई मगन।

तथा–

आली री मोहे लागे वृंदावन नीको।

मध्यकाल को ही भक्तिकाल माना गया है। भक्तिकाल में श्री कृष्णभक्ति का विशेष प्रचार-

 ISSN 0975-735X

प्रसार हुआ। इस काल में ध्रुपद, धमार, ख्याल आदि के रूप में अनेकों रचनाएँ प्रचलित हुईं व अष्टपदी का विशेष महत्त्व रहा। इनमें मुख्य रूप से पखावज, मंजीरा, एकतारा, तानपुरा आदि वाद्यों की संगत की जाती थी।

भक्तिसंगीत का उदय–भक्ति शब्द की उत्पत्ति भज् धातु से हुई है, जिसका अर्थ है भजना या सेवा करना। स्वच्छ हृदय से, श्रद्धा एवं प्रेम के साथ अपने आराध्य के प्रति निःस्वार्थ सेवा अथवा लगन ही भक्ति कहलाता है। वेदों में भक्ति के अनेक रूप वर्णित किए गए हैं। इसी भक्ति भावना को संगीत के सप्त स्वरों में पिरोकर भक्तिसंगीत का उदय हुआ।

भक्तिकाल को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे स्वर्णयुग तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे लोक जागरण की संज्ञा प्रदान की है।[3] भक्ति के सगुण व निर्गुण दो केंद्र बिंदु माने गए हैं, जो भक्तिकाल में मुख्य रूप से भक्ति की चार काव्यधाराओं में प्रवाहित हुए। ये धाराएँ भक्तिसंगीत से ओत-प्रोत थीं। इन चारों शाखाओं का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है–

1. **रामाश्रयी शाखा**–इस शाखा का आधार रामकाव्य रहा। रामाश्रयी शाखा में सेवक-सेव्य भावपूर्ण रूप से विद्यमान है तथा इसमें मर्यादावाद का पालन किया गया है। स्वामी तुलसीदास इस शाखा के प्रमुख कवि रहे। इन्होंने रामकथा को 'रामचरितमानस' द्वारा प्रचारित किया तथा अपनी माधुर्यपूर्ण वाणी द्वारा रामभक्ति का गुणगान किया। इनकी भक्ति का स्वरूप वैधी (वेदशास्त्र की मर्यादा के अनुसार) रहा है। स्वामी तुलसीदास के पश्चात वैष्णव संप्रदाय के स्वामी रामानंद एवं रामानुजाचार्य को प्रमुख माना गया है। ये विष्णु के अवतार दशरथ पुत्र राम के भक्त एवं उपासक कहे गए हैं। इस परंपरा के उपासक अथवा अनुयायी अवतारवाद के विश्वासी हैं और इनका पारब्रह्म स्वरूप 'राम' है। इसमें सौंदर्यता की अधिकता तथा मर्यादा पुरुषोत्तम व लोकरक्षक प्रभु श्री रामचंद्र के गुणों की प्रशंसा होती है। तुलसीदास जी लिखते हैं–सेवक-सेव्य भाव बिन भव न तरिय उरगारि।

वे अपने इष्ट 'राम' को महान तथा स्वयं को क्षुद्रातिक्षुद्र दास बताते हैं। इस शाखा में भगवान श्रीराम के प्रत्येक आदर्श संबंध का गुणगान किया गया है–आदर्श पुत्र राम, आदर्श पत्नी सीता आदर्श माता कौशल्या, आदर्श भाई भरत व लक्ष्मण, आदर्श सेवक हनुमान। इनका मुख्य उद्देश्य जनसाधारण को सद्मार्ग तथा इन आदर्शों को अपने गृहस्थ एवं सामाजिक जीवन में अपनाने की प्रेरणा देना था। इस काव्य में नवरसों का समन्वय है। अवधी भाषा का मुख्य रूप से प्रयोग तथा शृंगार व शांतरस की प्रधानता इस शाखा में देखने को मिलती है। इससे संबंधित स्वामी तुलसीदास रचित एक सुप्रसिद्ध रचना की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है–

ठुमक चलत रामचंद्र बाजत पैंजनियाँ
किलकि किलकि उठत धाय गिरत भूमि लटपटाय।[5]

श्रीराम के बाल्यकाल से संबंधित यह रचना अनेक प्रसिद्ध कलाकारों द्वारा चलचित्रों में गायी व प्रदर्शित की गई है।

2. **कृष्णाश्रयी शाखा**–इस शाखा का आधार कृष्ण भक्ति रहा है। मध्यकाल में कृष्ण भक्ति का विशेष महत्त्व था। मध्यकाल को भक्तिकाल की संज्ञा प्रदान की गई है। इस काल में कृष्ण भक्ति को समर्पित अनेक संप्रदायों का उद्भव हुआ, ये पुष्टीमार्गीय, राधा वल्लभ संप्रदाय, निंबार्क व हरिदासी संप्रदाय आदि थे। इस शाखा के सबसे लोकप्रिय व मुख्य प्रवर्तक स्वामी श्री सूरदास जी रहे। ये स्वामी वल्लभाचार्य द्वारा 1565 ई॰ में स्थापित किए गए अष्टछाप के कवियों के पुष्टीमार्गीय संप्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक हुए। इन्हें अष्टछाप का जहाज की संज्ञा दी गई। इनके अतिरिक्त महान

कृष्णभक्तों, जैसे स्वामी जयदेव, मीराबाई, रसखान आदि का भी कृष्णभक्ति का प्रचार-प्रसार करने में बहुमूल्य योगदान रहा। इस शाखा की काव्यधारा में माधुर्य भाव एवं वात्सल्य की प्रधानता है जिसमें कृष्ण की बाल लीलाओं, यशोदा मइया के हृदय की भावनाएँ, राधा-कृष्ण रास एवं गोपियों के साथ लीला आदि लीलाओं का वर्णन प्राप्त होता है। इसमें गीतिकाव्य की छटाएँ हैं जो कृष्णकाव्य की संगीतात्मक लहरियों पर आधारित है, जिन्हें राग-रागनियों के सुंदर संयोग से प्रयोग किया गया है। इसमें प्रेमकाव्य की प्रधानता है। इसमें ज्ञान और कर्म के स्थान पर भक्ति और समर्पण की भावना निहित है। इससे संबंधित अनेक रचनाएँ और पद गाए-बजाए जाते हैं। कुछ पद रचना निम्न प्रकार से हैं–

कन्हैया कन्हैया पुकारा करेंगे
लताओं में बृज की निहारा करेंगे।[6]

स्वामी जयदेव द्वारा रचित–

विहरतिहरिरिह सरस वसंते
नृत्यति युक्ति जनेन समंसखि विरहिजनस्य दुरंते।।[7]

सूरदास जी द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति माता-पिता का स्नेहभाव प्रदर्शित पद–

जो रस नंद जसोदा बिलसत, सो नहिं तिहू भुवनियाँ।
भोजन करि नंद अचमन लीन्हों, माँगत सूर जुठनियाँ।।[8]

3. **ज्ञानाश्रयी शाखा**–इस शाखा के समस्त भक्त एवं कवि निर्गुणवादी कहलाए। इन्होंने गुरु एवं राम को अपना आराध्य स्वीकार किया। इस शाखा के प्रवर्तक तथा अनुयायी संत मत के आचार्य अथवा गुरु कहलाए, जो अधिकतर अनपढ़ होते हुए भी अपने अनुभव की दृष्टि से भरपूर थे, प्राय: सत्संगी कहलाए थे। इस शाखा के प्रमुख प्रवर्तक के रूप में संत कबीर का नाम सर्वोपरि आता है। उनके पश्चात अन्य संत कवि गुरु नानकदेव, गुरु रविदास, दादूदयाल, मलूकदास, अलूकदास आदि रहे हैं। साधारणजन पर इन संतों की वाणी का अधिक प्रभाव पड़ा। इनकी भाषा सधुक्कड़ी' थी, जिसमें अनेक भाषाओं का मिश्रण पाया जाता था। इसे जनसाधारण लोकजीवन से संबंधित व्यक्ति आसानी से समझ सकते थे। इसमें मानवहित के लिए अनेक पद रचनाओं को गाया-बजाया जाता है, जिसमें मनुष्य के दुष्कर्मों को छोड़ने व सार्थक जीवन जीने की प्रेरणा दी जाती है तथा बुरे कर्म, धन-दौलत, दूसरों का अपमान, गुरु के प्रति प्रेम, मानवसेवा आदि बिंदुओं पर प्रकाश डाला जाता है। इससे संबंधित प्रसिद्ध रचनाओं की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

मन नेकी कर ले दो दिन का मेहमान
कौन है तेरा सच्चा साईं, झूठी है ये जग अशनाई
कौन ठिकाना तेरा भाई, कहाँ बस्ती कहाँ गाँव। [9]

अन्य रचना संत कबीर द्वारा रचित–

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में परलय होयेगी, बहुरि करेगा कब।।[10]

4. **प्रेमाश्रयी शाखा**–इस शाखा की काव्यधारा को प्रेममार्गीय धारा के नाम से जाना जाता है। इस शाखा के अनुयायियों का मानना है कि ईश्वर अथवा खुदा प्रेम से ही प्राप्त होते हैं। क्योंकि प्रेम सर्वव्यापी है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के साथ प्रेम किया जाए। इसमें प्रेम गाथाएँ गाई जाती हैं जो फारसी शैली पर आधारित होती हैं। इस शाखा में फकीर कवियों ने खंडन-मंडन को न मानकर

भौतिक प्रेम के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम का वर्णन किया है। इनकी अधिकतर रचनाओं में ईश्वर को ही माशूक कहा गया है। इस शाखा के प्रवर्तकों में मलिक मुहम्मद, जायसी, मिर्जा गालिब, मंझन, कुतुबन, उस्मान खाँ, अमीर खुसरो, नुसरत फतेह अली खाँ आदि हैं।

इसकी प्रमुख रचनाओं के उदाहरण कुछ इस प्रकार हैं–

साँसों की माला पे सिमरूँ मैं पी का नाम
अपने मन की मैं जानूँ और पी के मन की राम।[11]

अन्य रचना–

अब तो बदल गया है जमाना
कृष्ण बनके मत आना मुरारी, कृष्ण बनके मत आना।[12]

गायक-वादकों के अनुसार भक्तिसंगीत का बदलता स्वरूप

भक्ति संगीत से संबंधित अनेक ऐसे कलाकार हैं जिन्होंने भक्ति मार्ग पर अपना अहम योगदान देकर संपूर्ण मानव-जगत पर उपकार किया है। इसमें अनेक गायकों, वादकों, नर्तकों व कवियों का अनूठा योगदान रहा है। इनका मुख्य उद्देश्य जनसाधारण को अपने मन के भावप्राकट्य द्वारा सही दिशा प्रदान करना तथा अपनी मनोव्यथा को सहज भाव से प्रस्तुत करना रहा। इन प्राचीन एवं आधुनिक कलाकारों के द्वारा ईश्वरीय आस्था को प्रत्येक मानव हृदय तक पहुँचाने के लिए संगीतमय धुनों का सहारा लिया गया। भक्तिसंगीत को उजागर करने में इनका स्वर्णिम योगदान रहा, जिसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। इन कलाकारों ने ऐसी कठिन रचनाएँ (पद, स्तोत्र, स्तुति आदि) जो वेद-शास्त्रों में वर्णित थीं, जिन्हें समझना साधारण मनुष्य के लिए कठिन था, उन रचनाओं को अपने विस्तृत ज्ञान तथा स्वर माधुर्य द्वारा अलंकृत कर सरल रूप प्रदान किया तथा उनका प्रचार-प्रसार किया। उदाहरणत: शिवतांडव स्तोत्र, विष्णु सहस्त्र पाठ, ठेठ ब्रज व शुद्ध संस्कृत भाषा के कृष्ण पद, विभिन्न अन्य स्तोत्र, ईश्वरीय स्तुति, मंगला आरती इत्यादि।

भक्तिसंगीत की इस दिशा में जिन प्राचीन व आधुनिक गुणवान कलाकारों का योगदान रहा, वे इस प्रकार से हैं–जयदेव, सूरदास, स्वामी श्री हरिदास, मीराबाई, चतुर्भुजदास, गोस्वामी, तुलसीदास, वल्लभाचार्य, हजरत, निजामुद्दीन चिश्ती। पं॰ कुमार गंधर्व, पं॰ विष्णु दिगंबर पलुस्कर, डी॰वी॰ पलुस्कर, पं॰ धनुलाल मिश्रा, नुसरत फतेह अली खाँ, चित्र-विचित्र आदि।

समयानुसार भक्तिसंगीत के स्वरूप में अनेक परिवर्तन हुए हैं। ये परिवर्तन विभिन्न क्षेत्रों में किए गए हैं जैसे राग एवं ताल पक्ष में, स्वरों के लगाव में, गायन की कठिन बंदिशों को सरल रूप देकर, राग बंधन से मुक्त करके, रचनाओं को मिश्रित रागों के स्वरों में पिरोकर व ठेठ ब्रज, शुद्ध संस्कृत व अन्य भाषाओं के कठिन शब्दों को सरल रूप देकर आदि।

प्राचीन से आधुनिक भक्ति संगीत में विभिन्न पक्षों में हुए परिवर्तन निम्नलिखित हैं–

स्वरों के आधार पर भक्तिसंगीत का बदलता स्वरूप–प्राचीन समय में मुख्य रूप से स्वर के तीन लगाव प्रयोग किए जाते थे उद्घात, अनुद्दात एवं स्वरित। इन स्वरों को प्रस्तुत करने से पहले हुंकार, हिंकार आदि ध्वनि का उच्चारण किया जाता था जिसे मुख्य रूप से तीन गायक उद्गाता, प्रस्तोता व प्रतीहर्ता के द्वारा उच्चारित किया जाता था। इनके स्वरों का क्रम आरोह की अपेक्षा अवरोही क्रम में था जिनके नाम थे–कुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मंद्र व अति स्वार्य। परंतु वर्तमान में भक्तिसंगीत की रचनाओं में आधुनिक स्वरों का प्रयोग किया जाता है जिनका क्रम आरोही होता है–षड्ज, रिषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत व निषाद। आधुनिक समय में भक्ति

संगीत की रचनाओं में राग के शुद्ध रूप पर ध्यान न देकर मिश्रित रागों के स्वरों का प्रयोग भी कर लिया जाता है। उदाहरणत: राग भैरवी में गाए-बजाए जाने वाले पदों को अधिक मधुर बनाने के लिए मिश्र भैरवी के स्वरों का प्रयोग कर लिया जाता है।

शब्दों के आधार पर भक्ति संगीत का बदलता स्वरूप–प्राचीन समय में भक्ति संगीत की रचनाओं के शब्द मौलिक एवं उच्चकोटि की संस्कृत भाषा के होते थे जिन्हें ज्ञानवान व्यक्ति ही समझ पाते थे जैसे–

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बंधु च सखा त्वमेव
त्वमेव विद्या द्रविणम् त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम् देव देव।[13]
या कुंदेंदुतुषारहार धवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावर दंडमण्डितकरा, या श्वेतपद्मासना।[14]

परंतु आधुनिक समय में रचनाओं की भाषा सुगम एवं सरल हो गई है, जो वक्ता के मुख से निकलते ही, श्रोता के कान में पड़ते ही तुरंत समझ आ जाती है। जैसे–

मन तरपत हरि दर्शन को आज।[15]
ऐसी लागी लगन, मीरा हो गई मगन।[16]
ब्रज जन प्रीयतम, बाल मुकुंदम्
राधा रमणम् हरे हरे।[17]

वाद्यों के आधार पर भक्तिसंगीत का बदलता स्वरूप–प्राचीनकाल में वाद्यों के चारों प्रकार प्रचलित तो थे परंतु उनका स्वरूप आधुनिक की अपेक्षा भिन्न था। जैसे भूमि दुंदुभि, एकतारा, वीणा, बाँसुरी, रावणहथ्या, मृदंग आदि वाद्यों का स्थान आधुनिक वाद्यों तबला, पखावज, ढोलक, सितार, गिटार, हारमोनियम, झांझ, मंजीरा एवं इलैक्ट्रोनिक वाद्यों ने ले लिया है जिससे भक्तिसंगीत की रचनाएँ पहले की अपेक्षा में अधिक प्रचलित हो गई हैं। प्राचीन समय में भक्तिभाव व शब्दों को अधिक महत्त्व दिया जाता था, परंतु आधुनिक समय में संगीत की आकर्षक धुनों पर अधिक ध्यान दिया जाता है व भक्तिसंगीत केवल शोरगुल में दबकर रह गया है। परंतु इस शोरगुल के अतिरिक्त कुछ चुनिंदा कलाकार (अनूप जलोटा, इंद्रेश उपाध्याय, कुमार विषु, चित्र-विचित्र, साध्वी पूर्णिमा आदि) जो आज भी भक्तिसंगीत की पवित्रता को बनाए हुए हैं और इसका प्रचार-प्रसार कर रहे हैं।

कलाकारों की मनोस्थिति अथवा भक्तिभाव के आधार पर भक्तिसंगीत का बदलता स्वरूप–प्राचीनकाल में भक्तिसंगीत को मन की तन्मयता से समझा एवं प्रस्तुत किया जाता था जिसमें ईश्वर के प्रति सच्ची आस्था होती थी। परंतु आधुनिक समय में भक्तिसंगीत को अपनी आजीविका चलाने के लिए, श्रोताओं को प्रसन्न करने के लिए व मान प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए प्रयोग किया जाता है जिसमें भक्ति कम आडंबर अधिक होता है। प्राचीन समय में कलाकारों में आपसी प्रेमभावना एवं एक-दूसरे के प्रति सम्मान था, परंतु आधुनिक समय में एक कलाकार का दूसरे कलाकार के प्रति द्वंद्व भाव, घृणा, द्वेष एवं छोटा-बड़ा कलाकार का भेदभाव देखा जाता है।

संसाधनों के आधार पर भक्ति संगीत का बदलता स्वरूप–प्राचीन समय में संसाधन अधिक न होने के कारण भक्ति संगीत की रचनाएँ अधिक प्रचार-प्रसार में नहीं थीं। ये रचनाएँ गुरु शिष्य परंपरा के आधार पर कुछ परिवारों तक ही सीमित थीं, जिन्हें गुरुमुख से ही श्रवण किया जा सकता था। परंतु आधुनिककाल में प्राचीनतम रचनाओं को भी विभिन्न संसाधनों जैसे टी॰वी॰,

रेडियो, आकाशवाणी, इंटरनेट, संगीत के विभिन्न सम्मेलन (स्वामी हरिदास संगीत सम्मेलन) आदि से प्रचारित-प्रसारित किया जा रहा है। गायक-वादकों को प्राचीन समय में एक सीमित क्षेत्र तक सुना जा सकता था परंतु आधुनिक समय में ध्वनियांतरण (Sound system) टेक्नॉलाजी की सहायता से दूर तक व स्पष्ट रूप से श्रोता संगीत का आनंद प्राप्त कर सकते हैं।

अतः भक्तिसंगीत के प्राचीन एवं आधुनिक स्वरूप में विभिन्न परिवर्तन हुए हैं, जिसके फलस्वरूप भक्तिसंगीत के प्रचार-प्रसार में अत्यधिक वृद्धि हुई है।

संदर्भ

1. Shloka-Vishnu 18, Sanskrit today
2. Bhaktimal.com
3. अमलदास शर्मा, भक्ति संगीत, पृ॰ 63
4. भक्तिकाल, विकिपीडिया hi.m.wikipedia.org
5. ठुमक चलत रामचंद्र lyricspandits.blogspot.com, 17 Aug. 2022
6. lyrics bhajantimes.com, 18 Aug. 2020
7. अष्टपदी, जयदेव/पुष्टीमार्गीय pushtimarg. Wordpress.com
8. सूरदास के पद ecitutorial.com
9. प्रसिद्ध भजन गायक, प्रकाश गांधी द्वारा गाई रचना के आधार पर संकलित 18-08-2022
10. काल करे सो आज कर http://www.hindigatha.com
11. उ॰ नुसरत फतेह अली द्वारा गाई गई प्रसिद्ध रचना
12. ओसमान मीर द्वारा गाई गई रचना
    http://www.youtube.com/cosman Mir, 18-08-2022
13. Tfi-store.com (Lyrics)
14. https://roagshastra.blogspot.com
15. hindisprouts.com (lyrics)
16. Lyric find.com
17. http://www.youtube.com/bhaktipath

nehabhagat2918@gmail.com

हरियाणा के लोकसंगीतज्ञ पं॰ निहालचंद के सांगों का भाव पक्ष

उषा, शोधार्थी, पीएच॰डी॰
संगीत एवं नृत्य विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
डॉ॰ आरती श्योकंद, शोध निर्देशिका
संगीत एवं नृत्य विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

लोकसाहित्य किसी भी प्रदेश अथवा भाषा का हो, उसमें मानव एवं मानवता का सर्वथा अकृत्रिम, आंडबरहीन एवं स्वाभाविक रूप विद्यमान होता है। सदियों से पल-पल परिवर्तित हो रही मानव-सभ्यता से मानव का असली रूप तो कहीं पीछे छूट चुका है और आज का तथाकथित सभ्य मानव असंख्य आवरणों से ढका हुआ, मानव अनुकृति मात्र बनकर रह गया है। उस पुराने असली मानव के किंचित अवशेष अगर आज भी कहीं देखने को मिल सकते हैं, तो केवल लोक साहित्य में। हरियाणा के लोकसाहित्य में भी यहाँ के लोकजीवन का समग्र प्रतिबिंब अनायास देखा जा सकता है। गहन कंटकिल विपिन में पगडंडी बनने का कार्य दुरूह होता है। पगडंडी को राजमार्ग बनाने का कार्य बनाने का कार्य अपेक्षाकृत सरल होता है। पं॰ लख्मीचंद से पूर्व हरियाणवी सांगों के प्रारंभिक स्वरूप का पल्लवित, पुष्पित एवं प्रतिष्ठित करने वाले अग्रणी लोककवियों में श्री निहालचंद जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्हें सांग-विधा का पुरोधा कहना अतिशयोक्ति न होगा।

सांग के क्षेत्र में इनका ऐतिहासिक बहुमुल्य योगदान सदैव स्मरणीय रहेगा। इन्होंने हरिशचंद्र, राजा उत्तानपात, नल-दमयंती, सत्यवान-सावित्री, भगत-पूर्णमल चाप सिंह, रामलीला, कृष्णलीला, महाभारत, राजाभोग-शरणदे, सरवर-नीर, चंदकिरण, ज्यानी चोर, जमाल-गबरू, गोपीचंद तथा वीर शिरोमणि महाराणा प्रताप आदि सांगों तथा अनेक मुक्तक भजनों की रचना की। अधिकतर रचनाएँ मौखिक होने के कारण इनके तथा इनके शिष्यों के साथ ही काल के गाल में समा गईं। इनके सुपौत्र रामबीर सिंह के प्रयास से इनके दो किस्से, विविध मुक्तक तथा भजनों का संग्रह प्रकाश में आ सके हैं।

भावपक्ष का अर्थ–साहित्यिक रचना का वह पक्ष जिसमें उसकी निष्पति रस का सांगोपांग वर्णन या विवेचन होता हैं जिसमें विशेष रूप से काव्यगत, भावनाओं, कल्पनाओं तथा विचारों की प्रधानता होती है। काव्य के भावपक्ष व शिल्पक्ष की दृष्टि से इनका काव्य बेजोड़ है। भारतीय संस्कृति के उदात जीवनमूल्य अध्यात्म, गुरुभक्ति, समाज-सुधार, नीति, नारी-समान, देशभक्ति, युगबोध का चित्रण पग-पग पर अवलोकनीय है।

दार्शनिक चिंतन–दर्शन शब्द की उत्पति 'दृश' (देखना) धातु से हुई है। यह अवलोकन बाहरी एवं आंतरिक हो सकता है, तत्त्वों का निरीक्षण अथवा अन्वेषण हो सकता है अथवा आत्मा की आंतरिकता के संबंध में तार्किक अनुसंधान हो सकता है। दार्शनिक तौर पर स्वयं के आंतरिक

 ISSN 0975-735X

अनुभव को प्रमाणित करना तथा उसे तर्कसगंत ढँग से प्रचारित करना दर्शन कहलाता है। भारतीय संस्कृति का शोध षड्दर्शन पर आधारित है। ये छः दर्शन हैं–न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा एवं वेदांत। ये वेदों को प्रमाण मानते हैं। पं॰ निहालचंद जी के सांगों में न्यूनाधिक मात्रा में सभी दर्शनों का उल्लेख हुआ है। साक्ष्यार्थ उनकी एक रचना प्रस्तुत है। जिसमें सत्, रज, तम की त्रिगुणी माया, पंचभूत, दस इंद्रियों पच्चीस प्रकृति आदि का रोमांचकारी वर्णन है–

टेकः ओम-ओम-ओम हरी श्याम-श्याम-श्याम।
मानज्या भजै ने मन राम राम राम।।

1. उस निराकार परब्रह्मन की छाया मिल गई।
पाँच तत्त्व जिनमैं त्रिगुणी माया मिल गई।
शहँशाह बणया तू रय्यत राया मिल गई।
राजधानी सुंदर नगरी काया मिल गई।
हाड माँस मज्जा रकत और चाम-चाम-चाम।।
मानज्या भजै नै मन राम-राम-राम।।
2. तेरे भोगणे की खातिर तनै दस हूर मिल गई।
जो रंग रूप जोबन मैं भरपूर मिल गई।
खडी रहै जो हरदम हुक्म हजूर मिल गई।
संग में पच्चीस ठगणी भी जरूर मिल गई।
तनै पांच चोर लूटै सरे आम-आम-आम।।
मानज्या भजै ने मन राम-राम-राम।।[1]

शास्त्र-मंथन–हमारी संस्कृति प्राचीन शास्त्र-ग्रंथों पर आधारित है। अतः पं॰ निहालचंद जी ने अपने सांगों में वेद, पुराण, श्रुति, स्मृति, उपनिषद, गीता रामायण, एवं महाभारत के प्रसंगों को प्रशंसनीय रूप में पिरोया है। शास्त्रीय ज्ञान को लोकभाषा में घोलकर जनमानस को ऐसा अद्भुत आसव पिलाया कि जिसका आचमन करके लोग धन्य हो गए है। उनकी रागनियों एवं भजनों में वेद-शास्त्रों के प्रसंग सर्वत्र अनुस्यूत है। उनके काव्य में यथाशक्य वैदिक संस्कृति का प्रतिपादन हुआ है उनकी दृढ़ धारणा थी कि वेद-विहित मार्ग पर चलकर ही सांसारिक गोरखधंधे से त्राण पाया जा सकता है। मनुस्मृति में वर्णाश्रम व्यवस्था का पूर्ण उल्लेख हुआ है। पं॰ निहालचंद ने अपने एक भजन के माध्यम से हमारी प्राचीन सामाजिक व्यवस्था को इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

टेकः सतयुग त्रेता द्वापर बीते कलयुग पहरेदार हुए।
अपणै-अपणै कर्म छोड़ के चारों वर्ण ख्वार हुए।।

1. ब्राह्मण के छः कर्म वेद का पढ़णा और पढ़ाणा था।
वेदशास्त्र मनु स्मृति गीता ज्ञान सुनाणा था।
दान का देणा खुद भी लेणा यज्ञ करणा, करवाणा था।
थी ब्रह्म की पहचान शील संतोष दयालु बाणा था।
इब उनकी संतान कहवावैं बिन विद्या लाचार हुए।
अपणै-अपणै कर्म छोड़ के चारों वर्ण ख्वार हुए।
2. क्षत्री कर्म पाँच बतलाए, अन्न-धन लक्ष्मी दान करै।
विधा पढ़णा यज्ञ रचाणा गुरु का आदर मान करै।

डाकू चोर लुटेरे इनको दण्ड देने का ध्यान करै।
दुखिया दीन देश की रक्षा शूरवीर बलवान करै।
वे क्षत्री रहे ना क्षत्राणी गए तुखुम पलट बेकार हुए।।
अपणै-अपणै कर्म छोड़ के चारों वर्ण ख्वार हुए।।[2]

वेद-उपनिषदों की भाँति ही भारत के पुराण भी भारतीय संस्कृति का अभिन्नांग रहे हैं। इन पुराणों में हमारा प्राचीन इतिहास अनुस्यूत है। देवी-देवताओं और ऋषि-मुनियों की रोचक कथाएँ हमारी संस्कृति में धर्म, दया, दान, सत्य, शील आदि गुणों का आदान करती रही है। पौराणिक अंतरकथाओं के संयोजन से हमारे सांगों में नवजीवन का संचार हुआ है। इनमें समाहित नैतिक मूल्यों ने भारतीय जनमानस की आस्था को सुदृढ़ किया है। पुराणों में नारी के मोहजाल से बचकर रहने की चेतावनी पदे-पदे प्रतिपादित की गई है। पं॰ निहालचंद जी के सांग 'विराट-पर्व' से ऐसा ही एक दृष्टांत यहाँ दिया जा रहा है–

तये जैमिनी रिसी जिनै गई दीख उर्वशी मन मोहे।
ध्यान डिग्या विश्वामित्र का आई मेनका बिख बोए।
दुर्वासा की कथा सुणी हो नार विषय रस नै खोए।
टोहे शृँगी ऋषि बनवास मैं जिने दूती छल के ल्याई।।
चित्रलेखा ल्याई उठाके कँवर महल मैं ल्या तारा।
खबर पटी थी बाणासुर नै आण महल धेर्या सारा।
कूद पड्या या लड़का रण मैं जब जूझे कोन्या हारा।
बन्धया प्यारा अनिरूद्ध ब्रह्मपाश मैं जिनै ऊखा गौरी ब्याही।।[3]

पं॰ निहालचंद जी ने ऋषिकाओं का गुणगान करने की अतिरिक्त हमारे देवी-देवताओं का भी स्तवन किया है। द्रौपदी के सौंदर्य को रेखांकित करने के लिए उसे सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती, शची, स्वाह, दुर्गा या किसी स्वर्ग की अप्सरा के सदृश बताया गया है। द्रौपदी की रूपराशि का वर्णन करते हुए सुदेशना कहती है–

सखी सहेली सारी तेरा रूप देख शरमाई।
इस दुनिया मैं इतनी सुथरी कोन्या और लुगाई।।
के विष्णु की महामाया लक्ष्मी, के ब्रह्मा की ब्रह्माणी।
के शिव की प्यारी पार्वती, के इंद्र की इंद्राणी।
अग्निदेव की स्वाहा पत्नी, के वरुण देव की राणी।
के नौ दुर्गा उनमै ते कोए सी, तूँ करती सैर भवाणी।
के किसी ऋषि का श्राप अप्सरा तू मृत लोक मैं आई।।[4]

नारी विमर्श–पं॰ निहालचंद भली-भाँति जानते थे कि नर और नारी एक-दूसरे पूरक हैं। नर के बिना नारी और नारी के बिना नर अधूरा है। जैसे पुरुष और प्रकृति के संयोग से सृष्टि की रचना हुई है, वैसे ही नर और नारी के संयोग एवं सहयोग से इस ससांर का सर्जन एवं संचालन हुआ है और हो रहा है। इनके काव्य में नारी के विविध रूप भास्वर हुए है। माँ, बहन, बेटी, पत्नी, सहेली आदि नारी के सभी रूप इनके सांगों में दर्शाए गए हैं। नारी के जीवन से जुड़े सभी श्याम-खेत तथ्य इनकी रचनाओं में सहज ही अनुस्यूत हो गए हैं। हमारे पौराणिक ग्रंथ नारी-महिमा के दृष्टांतों से भरे पड़े हैं। सावित्री, सीता, दमयंती, दुर्गा, अनुसूइया, पार्वती, सरस्वती आदि अनेक भारतीय नारियों की

चर्चा इनके काव्य में हुई है।

पतिव्रत धर्म नारी की उत्कृष्टता का सर्वश्रेष्ठ प्रतिमान है। हमारे शास्त्रों में इस बात का बड़ा रोचक उल्लेख है कि अत्रि मुनि की पत्नी अनुसूइया ने अपने पतिव्रत धर्म के बल पर ब्रह्मा, विष्णु और शिवजी तक का माजना मार दिया था। पं॰ निहालचंद ने भारतीय संस्कृति के इस जाज्वल्यमान पक्ष को पतिव्रता द्रौपदी के माध्यम से उजागर किया है। सुदेशना अपने भाई कीचक को अपनी नई दासी सैरंध्री (द्रौपदी) में पतिव्रता स्त्री के लक्षणों का संधान करते हुए बताती है–

टेक दस महिने भाई नै हो लिए राख लई नई दासी।
पतिभ्रता के लक्षण इसमैं भज्या करै अविनाशी।।

1. मीं-आंधी टलज्या पर या नित उठ अस्नान करै से।
संध्या-तिरपण-पूजा इष्ट देव का ध्यान करै सै।
सवा पहर दिन चढ़ले ज्यब सूक्ष्म जलपान करै सै।
साधू-ब्राह्मण, अभ्यागत सबका सम्मान करै सै।
दोनों बख्ता माला फैरे बैठ के एकड़वासी।।
2. पढ़ी-लिखी बड़ी चातुर हँस ज्यूँ दूध और पाणी छाणै।
अपनी ना करै बड़ाई और के औगुण नहीं बखाणै।
छोट्टे-बड्डे उँच्चे-नीच्चे सारे कायदे जाणै।
जन कोए पुरूष आवँता दीखै फट-उठ घूँघट ताणै।
सब तरीयाँ आजमाई ना पाई मीन और मेख जरा सी।।[5]

लोकादर्श एवं नैतिकता– 'सादा जीवन उच्च विचार' तथा 'सच्ची कहणा सुखी रहणा' जैसी कहावतें हमारे लोकादशों की उद्घोषक है। अपने उदात्त जीवन मूल्यों के कारण इस प्रदेश का परंपरित आचार समस्त आर्यवर्त के लिए अनुकरणीय रहा है। हमारे लोकजीवन में आचरणीय और माचरणीय बातों की एक लंबी शृंखला है। सज्जन लोग सदाचार की राह पर चलते हैं। अत: हमारी रीति नीति को पं॰ निहालचंद जी ने इस प्रकार विवेचित किया है–

टेक: बुरे भले जो वचन कहे, उनकी माफी मँगवाऊँगी।
आ ल्यण दे उस मूर्ख नै समझाऊँगी धमकाऊँगी।।

1. बेमतलब बेकाम जीत और हार नहीं करणी चहिय।
सुण कायदे से बाहर नार की सार नहीं करणी चहिय।
धाय वैद्य रसोइया मित्र से तकरार नहीं करणी चहिय।
दस पाँच आदमी मना करै वा कार नहीं करणी चहिय।
तेरे मूधा पड़के पाँ पकडै और नाक त लीर कढाऊँगी।।
2. निहालचंद कहै शर्मदार घणा बदनामी तै डर्या करै।
नाता रिश्ता नैग ढूंढ के हांस्सी ठट्ठा कडया करै।
अकलमंद होशियार आदमी बात के ऊपर मर्या करै।
मूर्ख ठा गन्दी मोरी की ईट चौबारे घर्या करै।
वो सबके दुख हर्या करै उस ईश्वर के गुण गाऊँगी।।[6]

लोकविश्वासों का चित्रण–हमारी लोकसंस्कृति में लोकविश्वासों के अपने रंग हैं, जो लोकमानस में अंतस्तल तक समाए हुए हैं। इन लोकविश्वासों के विश्लेषण एवं विवेचन के आधार

पर किसी भी देश की प्राचीन संस्कृति, सभ्यता और आचार-विचार को भली-भाँति जाना जा सकता है। प्रकृति के जिन अंगों से आदिमानव का संपर्क रहा है, उनके संबंध में नाना प्रकार की कल्पनाएँ की गई है और उन्होंने लोक विश्वासों को उत्पन्न किया है। वस्तुतः मानव जीवन की विविधताएँ आज भी इन लोकविश्वासों में विद्यमान हैं, अक्षुण्ण हैं।

हरियाणा के लोकजीवन में लोकविश्वासों की अद्‌भुत बिसात बिछी हुई है। भाग्य, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक, शाप-वरदान, पाप-पुण्य, मुहुर्त-विचार, शकुन-अपशकुन आदि से संबद्ध लोकविश्वास हरियाणा के जनमानस को संचालित करते है। पं॰ निहालचंद के सांगों में इन लोक विश्वासों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। उनके सांग 'विशाल पर्व' में लोकविश्वासों का अनुपम चित्रण हुआ है देखिए अग्रदत्त पंक्तियाँ–

हाथ जोड़ थारी कामण कह रही खतरे का सुपना आया हो आज
घोड़ा जोड़ा पहरे जाम्मां पजाम्मा सस्तर वस्तर पटका और ताज
सज धज के तू चला दक्षिण दिशा मैं सन्मुख तीतर झपटै था बाज
काले बुलंधा की एक गाड़ी मिली थी उसमैं भर्या था धान्ना का नाज
सिर खोले एक मिली थी लुगाई सिर पै मौत पिया लिन्ही सै गाज
आधी रात पिया मतना तू जाइए दीख रहे तेरे मन्दे हो काज
हाथ जाडे मांगू गलती की माफी जितना यो सुण रह्या धर्म समाज
ठाकरान नांगल गाम हमारा निहालचंद कहैं भारद्वाज।।[7]

राष्ट्रीय एकता–पं॰ निहालचंद जी के लिए स्वतंत्रता-प्राप्ति का समय बड़े सघंर्ष का समय था। देश गुलाम था और सब अपने-अपने तरीके से स्वतंत्रता-प्राप्ति हेतु प्रयास कर रहे थे। पं॰ निहालचंद जी अपने सांगों के माध्यम से जनता को देश की लड़ाई में सम्मिलित होने का आह्वान करते रहते थे और लोगों पर इनका गहरा प्रभाव पड़ता था। अँग्रेजी सरकार की तरफ से इनको ऐसा न करो की कई बार चेतावनी भी दी गई। इनकी राष्ट्रप्रेम से संबंधित रागनियाँ प्रतिबंधित कर दी गईं, देशभक्ति से सराबोर इनका एक गीत यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है–

भाइयों हो जाओ सब त्यार, देश माँगता कुर्बानी।। टेक।।
सिर पै कफन बाँधल्यो सारे
इंकलाब के लाओ नारे
गोर्या नै घणे जुल्म गुजारे
मारे बहुत घणे नर नार, होगे अमर बलिदानी।।1।।
देश आजाद यो प्यारा होगा।
जमी आसमाँ म्हारा होगा।
अपणा ध्वज लहराया होगा।
सारा होगा 'निहाल' संसार, चौधर हटज्या बेगानी।।2।।[8]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हरियाणवी सांग-क्षेत्र में निहालचंद का योगदान 'मील का पत्थर' सिद्ध हुआ है। निहालचंद हरियाणवी सांग के अग्रदूत रहे, इसमें कोई संदेह नहीं। बिहारी कालिदास और अन्य महान कवियों की तरह ही पं॰ निहालचंद जी ने भी सुंदर भाव, भाषा शैली में प्रेम के विविध रूप में एक माला की तरह गूँथा है, वह बेहद प्रशंसनीय है।

संदर्भ

1. डॉ॰ पूर्णचंद शर्मा, सांगकला-सिरमौर (निहालचंद-शिवचरण), पृ॰ 88-89
2. रामबीर सिंह 'राम', लोककला-सिरमौर (निहालचंद-शिवचरण), पृ॰ 129
3. श्री रामबीर सिंह (निहालचंद के पौत्र), 12 फरवरी 2022, (सुबह 11:00 बजे), ब्रह्मशक्ति स्कूल में शोधार्थी के द्वारा साक्षात्कार से प्राप्त सूचना के आधार पर सकंलित
4. डॉ॰ पूर्णचंद शर्मा, 24 दिसंबर 2021, (सुबह 9:30 बजे) उनके निवास स्थान पर शोधार्थी के द्वारा साक्षात्कार से प्राप्त सूचना के आधार पर संकलित
5. श्री रामबीर सिंह (निहालचंद के पौत्र), 12 फरवरी 2022 (सुबह 12:00 बजे), ब्रह्मशक्ति स्कूल में शोधार्थी के द्वारा साक्षात्कार से प्राप्त सूचना के आधार पर संकलित
6. डॉ॰ पूर्णचंद शर्मा, सांगकला सिरमौर (निहालचंद-शिवचरण), पृ॰ 98-99
7. श्री रामबीर सिंह, सांगकला सिरमौर (निहालचंद-शिवचरण), पृ॰ 136
8. श्री रामबीर सिंह (निहालचंद के पौत्र), 12 फरवरी 2022 (सुबह 12:00 बजे), ब्रह्मशक्ति स्कूल में शोधार्थी के द्वारा साक्षात्कार से प्राप्त सूचना के आधार पर संकलित

विजेंद्र के काव्य में विचारात्मक औदात्य

मीना देवी, शोधार्थी, हिंदी विभाग
बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, अस्थल बोहर, रोहतक (हरियाणा)
डॉ॰ कमला कौशिक, सहा॰ प्रोफेसर, हिंदी विभाग
बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, अस्थल बोहर, रोहतक (हरियाणा)

प्रत्येक रचनाधर्मी प्रबुद्ध कलाकार एवं साहित्यकार अपनी कलाकृति एवं साहित्यिक कृति के माध्यम से एक ओर अपने हृदयगत भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है तो दूसरी ओर वर्तमान परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में समाज को उचित दिशा की ओर अग्रसर करने के लिए वैचारिक आधार भी प्रदान करता है। सफल एवं सार्थक काव्य-कृति में भावों के उत्कर्ष के साथ-साथ विचारों का सुदृढ़ आधार होना भी आवश्यक है। विजेंद्र की कविता के गहरे सामाजिक सरोकारों के बोध का वर्णन करते हुए कल्याणमल लोढ़ा का कथन दृष्ट्व्य है, 'उनकी कविता में कृत्रिम कुंठाग्रस्त अहंवाद नहीं है, अपितु जीवन के प्रति आशा, आत्मविश्वास और मानवीय क्षमता के प्रति जागरूकता है और मूल्यबोध में व्यक्तित्व की सापेक्षता एवं सामाजिक दायित्व की लोकोन्मुखी विश्वसनीयता है।'[1] जीवन की रागाकुलता में विजेंद्र का गहन विश्वास है। जीवन की विद्रूपताओं, विसंगतियों एवं विडंबनाओं ने भले ही इनके हृदय को व्यथित किया हो पर इनमें जीवन के सुंदर पक्ष के प्रति आकर्षण अधिक हैं। जीवन की गहरी सकारात्मकता के प्रति इनके विचारों को प्रस्तुत करता जीवनसिंह का कथन प्रस्तुत है–'अभी तक प्रचलित अनेक सिद्धांतों में बार-बार इस बात का भय दिखलाया गया कि जीवन पानी के बुद्बुदे की तरह नाशवान है। यह सिद्धांत सही नहीं है। इसका पक्ष जीवन के प्रति नकारात्मक है। इसलिए यह विनिष्ट होते जीवन की प्रतिक्रिया में बनाया गया दर्शन है। यह हमारे जैसे नियतिप्रधान देशों में आज भी सर्वत्र व्याप्त है। विजेंद्र यद्यपि इस दर्शन का सीधा विरोध नहीं करते तथापि वे जीवन-सौंदर्य के प्रति गहरी आस्था जाग्रत कर एक नए सकारात्मक दर्शन की प्रतिष्ठा करते हैं।'[2] व्यक्तिगत विशेषताओं के आधार पर प्रत्येक मनुष्य की सोचने एवं महसूस करने की शक्ति अलग-अलग होती है। कवि का वैचारिक अनुभूति का अपना एक अलग संसार होता है। उस संसार में कवि किसी भी मनुष्य से कुछ भी अर्जित नहीं करता है उसमें जो कुछ भी होता है वह कवि की स्वयं की सोच का ही परिणाम होता है जहाँ तक कवि की दृष्टि जा सकती है वहाँ तक कोई भी साधारण व्यक्ति बड़ी मुश्किल तक पहुँच पाता है। यथा–

जो धरती बचाने को/ परेशान लगते हैं
वे आदमी बचाने को/ पस्त हिम्मत क्यों हैं।
यह आसान है कहना धरती बचाओ
लेकिन यह कहना कठिन है
कि जो बचाए हैं धरती को
वह इतनी बुरी हालत में

 ISSN 0975-735X

क्यों हैं?[3]

संघर्षशील मनुष्य के अस्तित्व को वास्तव में बचाए रखने के लिए, उसके लिए मूल भूत सुविधाओं को जुटाने के प्रयास कौन करता है? इस प्रश्न का उत्तर तलाशती ये पंक्तियाँ विजेन्द्र के वैचारिक औदात्य को सहज ही स्पष्ट कर देती हैं। उनके वैचारिक औदात्य को निम्नलिखित उपशीर्षकों के अंतर्गत अंर अधिक विस्तार के साथ स्पष्ट किया जा रहा है–

1. **आध्यात्मिकता**–भारतीय दर्शन का मूल सिद्धांत आध्यात्किता है महान भारतीय चिंतकों ने अपनी गूढ़ भाषा में अध्यात्म के गूढ़ सिद्धांतों को प्रतिपादन किया तो भारत के महान कवियों ने उन नीरस आध्यात्मिक सिद्धांतों को सरस एवं सरल बनाकर जन-जन में उनका प्रचार-प्रसार किया जिसके फलस्वरूप आध्यात्म भारतीय जन-मन में रच-बस गया है। 'भारतीय चिंतन परंपरा में आरंभ से ही आस्तिकता का अंश अधिक होने के कारण सौंदर्य की अनुभूति का भी आध्यात्मिक परिवेश में ही विवेचन हुआ हैं।'[4] बदलते हुए सामाजिक एवं वैश्विक परिदृश्य में कविता के मूल भूत मूल्यों में विघटन एवं परिवर्तन हुआ है। विजेंद्र भी इस प्रकार की असंगतियों एवं विसंगतियों से अधूते भले ही न रहें हों पर उनकी कविता आज के विघटनकारी दोर में भी पौराणिक मूल्यों की ओर ही उन्मुख दिखाई देती है। वह सनातन सत्य की ही पक्षधर जान पड़ती है–

मैं तुमसे/ फिर कहूँगा
मुझे इन स्वर्ण द्वारों की ओर/ आकृष्ट मत करो
मैंने जो रास्ता चुना है/ उसका कोई विकल्प नहीं
ओ पापात्मा-तेरी तृप्ति के लिए/ मैं कभी
प्रकृति के उन/ महान वरदानों को
कैसे त्यागूँ
जो मुझे/ मनुष्य की मुक्ति के लिए
आंदोलित करते रहे हैं।[5]

यहाँ यह बिल्कुल स्पष्ट है कि अति आधुनिकता, बौद्धिकता, एवं अस्तित्ववाद जैसे पाश्चात्य सिद्धांतों की अपेक्षा विजेंद्र भारतीय दार्शनिक मूल्यों के अधिक निकट दिखाई पड़ते हैं जब वे व्यक्तिगत उन्नति को तुच्छ मानते हुए सामूहिक कल्याण को अधिक महत्त्व देते हैं।

2. **मुक्ति**–प्राचीन भारतीय मनीषियों एवं चिंतकों ने जीवन के बंधनों से छुटकारा प्राप्त करने के लिए निष्काम रहकर जीवन जीने का संदेश दिया और परमात्मा तक पहुँचने के लिए दो मार्ग सुझाए हैं–एक ज्ञानमार्ग और दूसरा भक्तिमार्ग। ज्ञान एवं भक्तिमार्ग को अंतिम अवस्था में अभिन्न सिद्ध करते हुए अद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य शंकर के अनुसार इस सिद्धांत के दो सूत्र हैं–'ऋठते ज्ञानात् न मुक्ति!' तथा 'अनुभव अवसानत्वात् ब्रह्मज्ञानस्य' अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती और ब्रह्मज्ञान जब तक अनुभव व अनुभूति में पर्यवसित नहीं हो जाता, तब तक उसकी सार्थकता नहीं हैं।'[6] इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों सिद्धांतों में केवल पद्धति का ही भेद है। ज्ञान अथवा शक्ति अपनी चरम अवस्था में एक-दूसरे से अभिन्न हैं।

भारतीय साहित्य के इतिहास का अवलोकन करने से ज्ञात हो जाता है कि आदिकाल से लेकर आधुनिककाल तक कवियों एवं साहित्यकारों ने मुक्ति जैसे गूढ़ विषय पर अपने विचार प्रकट किए हैं। प्रयोगवाद के प्रभावस्वरूप जन्मी नई कविता एवं समकालीन कविता में आधुनिकतावादी एवं अस्तित्ववादी दर्शन के प्रति अत्यधिक लगाव के फलस्वरूप जीवन के यथार्थ चित्रण पर इतना

अधिक बल दिया गया कि इसके प्रवाह में ज्ञान एवं भक्ति के सारे चिंतन लुप्तप्राय हो गए। बाजारवाद एवं उपयोगितावाद के सिद्धांतों के परिणामस्वरूप उपजी भौतिकतावादी मानसिकता ने जीवन की संवेदनशीलता पर तीखा प्रहार किया। एक संवेदनशील कवि होने के कारण विजेंद्र भी इन विकट परिस्थितियों के प्रभाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे हैं। मार्क्सवाद से कुछ अधिक प्रभावित विजेंद्र के लिए मुक्ति का महत्त्व भले ही संसार के बंधनों से मुक्ति की चाह में न हो परंतु वह भक्तिमार्गी कवियों की भाँति प्रेम को जीवन में अधिक महत्त्व देते हुए प्यार को जीवन के संघर्षों एवं संकटों से भरे डरावने बीहड़ की रोशनी कहते हैं–

युद्ध एक डरावना बीहड़ है/ लेकिन
मुक्ति के लिए/ तुम्हें उसे पार करना होगा
तुम डरो मत/ प्यार इस बीहड़ की रोशनी है।[7]

भारत अध्यात्मवाद की भूमि है। यहाँ पर प्राचीन विद्वान चिंतकों मे जहाँ आत्मशुद्धि एवं निष्काम कर्मयोग आदि सिद्धांतों के द्वारा मुक्ति का मार्ग खोला है वहीं विजेंद्र ने जीवन के संघर्षों, संकटों एवं अवरोधों के डरावने बीहड़ को पार करने के लिए प्रेम की रोशनी को पर्याप्त माना है।

3. **युगबोध**–प्रत्येक प्रबुद्ध कवि अथवा साहित्यकार अपने युग से अवश्य प्रभावित होता है एक समर्थ, स्वाभाविक कवि होने के कारण विजेंद्र भी युगीन परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे हैं। सांप्रदायिक दंगों, सूखा, बाढ़ आदि प्राकृतिक एवं मानवीय आपदाओं से होने वाली जीवन की विश्वव्यापी क्षति से उनका संवेदनशील मन अत्यधिक प्रभावित हुआ है। आधुनिक समाज की लगभग सभी ज्वलंत समस्याओं का चित्रण उन्होंने बिना किसी लाग-लपेट के किया है। समाज में ज्ञान का आलोक फैलाने वाले अध्यापक की दयनीय दशा का यथार्थ चित्रण करते हुए कवि भारतीय समाज में लंबे समय से व्याप्त देहज के अभिशाप को उजागर करता है–

मास्टर है/ क्या होगा फटीचर पर लगाने को
क्या हुआ बना दी लड़की आलिम-फाजिल
कर ली डिग्रियाँ हासिल/ उससे हमें क्या
चाहिए घर में बहु अच्छी सेवा करे बूढ़ी सास की
केस हो चाहे दो लाख ही।[8]

हमारे समाज की सबसे बड़ी बिडंबना समाज द्वारा कवियों एवं कलाकारों को उचित सम्मान देने की बजाय उनकी परीक्षा लेना है। कवि के अनुसार समाज कवियों और कलाकारों के संघर्षों को समझना नहीं चाहता है, इस प्रकार की त्रासद परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करती निम्न पंक्तियाँ दृष्टत्य हैं–

नहीं कोई पत्रिका लेखकों की अपनी
सरकारी दफ्तरों में बैठकर
अफसर कर रहे तय साहित्य पथ
गा रहे यश श्रीमंत का
छोड़कर जो गए हमें राजधानी में संसद भवन
बने दल के प्रवक्ता महामंत्री
राजनेताओं के बहाने हो रहा सम्मान लेखकों का।[9]

कविता में मनुष्य तथा पर्यावरण के लिए एक भयानक एवं क्रूरतम समय की सूचना देने के

साथ ही विजेंद्र कवि के उचित कर्त्तव्य का संधान करते हुए कहते हैं कि कवि को अंतर्मुखी नहीं होना चाहिए। 'कवि का अंतर्मुखी होना कविता के लिए अभिशाप है।'[10] भले ही जीवन के संघर्षों से मुकाबला करना पड़े, पर कवि को अंतर्मुखी नहीं होना चाहिए। उसे बुलंद आवाज में सामाजिक सत्य को प्रस्तुत करना चाहिए। अत: हम कह सकते हैं कि विजेंद्र वर्तमान युग की विसंगतियों एवं विषसमताओं से भली-भाँति परिचित है, फिर भी उनमें जीवन की ललक अधिक है। वे अदम्य जिजीविषा के सच्चे साधक हैं। 'इसमें संदेह नहीं कि पुराने और नए दौर में प्रगतिशील कवियों के बीच जो एक चमकदार आधुनिकतावादी रिक्तता पाई जाती है, विजेंद्र उसे अपने काव्य प्रयत्नों से भरने का प्रयास करते हैं और सच पूछें तो आधुनिकतावाद का जैसा शक्तिशाली प्रतिरोध आधुनिकतावाद की विसंगतियों और विशेषताओं से सुपरिचित विजेंद्र सरीखे कवि ने किया है, वैसा अन्य ने नहीं।'[11] विजेंद्र जीवन के वास्तविक सत्य से परिचित होने के लिए शब्दाडंबर को आवश्यक नहीं मानते बल्कि इसके लिए वे दृढ़ इच्छाशक्ति को आवश्यक समझते हैं, इसीलिए वे कहते हैं–

भाषा की दरिद्रता शब्दों से नहीं
विश्वास की कमी से
पहचानी जाएगी।[12]

गहन लोकसंपृक्ति और यथार्थ सामाजिक युगबोध को अत्यंत बारीकी से जानने-बूझने वाले कवि विजेंद्र की कविताओं में वैचारिक औदात्य का अध्ययन विश्लेषण करने के उपरांत निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि वे अपने-आपमें अप्रतिम कवि हैं। इसका कारण उनकी गहन लोकानुभूति ही है। अपनी जड़ों से जुड़े होने के कारण ही वे कविकर्म की असीम ऊँचाइयों को छू सके हैं। उनकी कविताओं ने अपने पाठकों के लिए एक गंभीर ज्ञानानुशासन को संभव किया है क्योंकि उन्होंने गहरी रागात्मकता और जीवन को प्रतिरूपित करने के दायित्वपूर्ण तनाव को झेलकर संतुलन स्थापित किया है।

संदर्भ

1. कल्याणमल लोढ़ा रेवतीरमण, जीवनसिंह, ऋतु का पहला फूल का कृतिपरक समग्र मूल्यांकन, पंचशील प्रकाशन, फिल्म कालौनी, चौड़ा रास्ता, जयपुर पृ॰ 5
2. वही, पृ॰ 25
3. विजेंद्र, कवि की अंतर्यात्रा, किताबघर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ॰ 124
4. डॉ॰ राजकुमारी, सुमित्रानंदन पंत की सौंदर्य चेतना का विकास, जीवन-ज्योति प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 15
5. विजेंद्र, कवि की अंतर्यात्रा, पृ॰ 220
6. डॉ॰ शिवकुमार शर्मा, हिंदी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, पृ॰ 136
7. विजेंद्र, कवि ने कहा, शिल्पायन, शाहदरा दिल्ली, पृ॰ 56
8. कल्यालमल लोढ़ा, रेवतीरमण, जीवनसिंह, ऋतु का पहला फूल का कृतिपरक समग्र मूल्यांकन, पृ॰ 18
9. वही, पृ॰ 20-21
10. वही, पृ॰ 19
11. प्रो॰ रेवतीरमण, कविता में समकाल, रामकृष्ण प्रकाशन, विदिशा, पृ॰ 135-136
12. विजेंद्र, कवि ने कहा, पृ॰ 127

meenadevi149@gmail.com

मधु काँकरिया के उपन्यासों में नारी-जीवन का यथार्थ

नीतु कुमारी झारोटिया, शोधार्थी
महर्षि दयानंद सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर

मधु काँकरिया के साहित्य में नारी के विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व को देखना एवं विश्लेषण करके आधुनिक जगत में स्त्री के चरित्र को आधार बनाकर लिखना महत्त्वपूर्ण रूप से शामिल है। वर्तमान हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श, आदिवासी विमर्श आदि का प्रचलन अधिकाधिक हो रहा है इसका मुख्य कारण यह रहा है कि स्त्री शक्तिस्वरूपा होकर भी उसका जीवन मर्यादा के बंधनों के नाम पर सदैव घर तक ही सीमित रहा है। स्त्री सदैव त्याग एवं समर्पण की प्रतिमूर्ति रही है। फिर भी उसे एक प्रेरक के रूप में समझने के बजाय घर की चारदीवारी में कैद रखकर घुट-घुटकर जीवन व्यतीत करने हेतु मजबूर किया जाता है। नारी-जीवन के इसी यथार्थ को मधु काँकरिया ने समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है।

प्रस्तावना–मधु काँकरिया के उपन्यासों में स्त्री विमर्श भरपूर दिखाई देता है। 'सेज पर संस्कृत' और 'सलाम आखिरी' इसके महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। इन उपन्यासों में समाज द्वारा तिरस्कृत नारियों की जीवन गाथा है।

मधु काँकरिया का उपन्यास 'सेज पर संस्कृत' समाज और व्यवस्था पर कठोर प्रहार करता है। प्रस्तुत उपन्यास में बेधक, जुझारू, धैर्यवान और अंतत: विद्रोही नारी की आंतरिक वेदनाओं और पीड़ाओं का मार्मिक चित्रण किया गया है। हमारी भारतीय संस्कृति में धार्मिक चिंतन और व्यवहार इन दोनों के बीच स्त्री का जीवन इतना कठोर, क्रूर और भयावह हो सकता है इसकी कल्पना शायद ही कभी की होगी।

'सेज पर संस्कृत' उपन्यास में स्त्री पर होने वाली यातनाओं का काफी गहराई से चित्रण किया गया है। प्रस्तुत उपन्यास में आर्थिक समस्याओं में जकड़ी हुई एक ऐसी माँ का मार्मिक चित्रण है जो अध्यात्म को मुक्ति का मार्ग मानकर अपना जीवन सुरक्षित व्यतीत करना चाहती है। साथ ही साथ वह अपनी बेटियों को भी इसी मार्ग पर ले जाने हेतु प्रस्तुत होती है ताकि अध्यात्म की आढ़ में वह स्वयं एवं अपनी बेटियों को सुरक्षित रख सकें। साध्वियों के जीवन संघर्ष को मार्मिक शब्दों में पिरोने वाले इस उपन्यास में सामाजिक और आर्थिक विषमता, धार्मिक शोषण एवं शारीरिक शोषण को गहराई से व्यक्त किया गया है।

प्रस्तुत उपन्यास में वर्णित परिवार के मुख्य पात्र ऋषि की मृत्यु के उपरांत परिवार की समस्त जिम्मेदारियाँ अकेली माँ पर आ जाती हैं। माँ अपनी दोनों बेटियों संघमित्रा और छुटकी के साथ रहती है। परिवार में पुरुष के न होने के कारण समाज की मानसिक स्थिति का उसे कटु अनुभव होता है। घर पर पुरुष की अनुपस्थिति के कारण शिकारी कुत्तों की तरह लोगों की नजर सदैव उसके घर पर पड़ी रहती थी। इसी बेचैनी एवं मजबूरी के कारण वह मजबूर माँ साध्वी बनने को ही अपने सुरक्षित जीवन जीने का एक मात्र विकल्प मानती है।

 ISSN 0975-735X

अपने साथ वह अपनी बेटियों को भी दीक्षा लेने के लिए प्रेरित करती है। वह अपनी दोनों बेटियों को शिखर जी ले जाती है ताकि वे वहाँ जाकर दुख, दैन्य, दरिद्र और जीवन की वास्तविकता को अपनी आँखों से देख सकें और यह सब देखने के पश्चात वे स्वयं तय कर सकें कि सांसारिकता से अलग हुए साधुओं और साध्वियों का जीवन किस प्रकार आनंदमयी है। माँ अपनी बेटियों को दीक्षा दिलवाकर स्वयं की जिम्मेदारी से और सांसारिक बंधनों से मुक्ति चाहती है । उस माँ ने स्वयं जो दुख सहा उसी से उसे कटु अनुभव होता है फलस्वरूप वह अपनी बेटियों को सांसारिक जीवन के जाल में फँसने से रोकना चाहती है।

वह घर में पुरुष न होने के कारण एवं आर्थिक विषमता के कारण ही अपनी बेटियों को दीक्षा दिलवाना चाहती है परंतु संघमित्रा दीक्षा लेने का घोर विरोध करती है। वह दीक्षा का मार्ग ठीक नहीं मानती और अपनी माँ को बार-बार यही समझाने का प्रयास करती रहती है। संघमित्रा अपनी बहन छुटकी के दीक्षा के आखिरी समय तक अपनी सहेली मालविका की मदद से दीक्षा पाने के लिए विरोध करती रहती है। इस दीक्षा को रुकवाने के लिए संघमित्रा संघ के गुरुदेव तक पहुँच जाती है।

उपन्यास में एक और बुजुर्ग पात्र गंगाबाई है जो 7 साल की उम्र में संथारा व्रत लेती है इसके कारण वह जल अन्न तक भी त्याग देती है। गंगाबाई धर्म के इस अंधविश्वास का अनुसरण करके अपने शरीर को पीड़ा देखकर मोक्ष प्राप्त करना चाहती है इस घटना को देखकर संघमित्रा को बहुत दुख होता है और इसी कारण साधु और साध्वियों के दीक्षित जीवन के इस कठोर रास्ते को देखकर संघमित्रा के मन में घृणा भर जाती है तब परिस्थितियों से ग्रसित माँ कहती है–'अरे, जिस समाज ने चार भुने हुए चने के लिए धर्मात्मा तुलसीदास को भी नहीं छोड़ा वह हमें क्या बख्शेगा।'[1]

यह वाक्य उसके डर और मजबूरी को दर्शाता है। माँ को लगता है कि साध्वी बन जाने से परिवार का मान-सम्मान तो बढ़ेगा ही साथ ही आर्थिक विपन्नता भी दूर हो जाएगी।

अमरनाथ बाबू का वाक्य 'आप लोग मेरे लिए परम आदरणीय हैं और आपका घर वह तो साक्षात पवित्र मंदिर है, जहाँ एक नहीं तीन-तीन दीक्षाएँ हो रही हैं।'[2]

यहाँ मधु जी ने साधु जीवन के कटु सत्य को उजागर किया है कि किस प्रकार धर्म के नाम पर अपना संपूर्ण जीवन अर्पित करने के बावजूद साध्वियों का देह शोषण हुआ है । संघमित्रा तो इस बेरुखी दुनिया से अपने आपको बचा लेती है परंतु अम्मा और छुटकी की दीक्षा के उपरांत इस जगत का सत्य उनके समक्ष आता है। 'यह आपकी दुनिया खद्दर के नीचे मुलायम सिल्क पहनने वालों की दुनिया है। यह सेज पर संस्कृत बोलने वालों की दुनिया है।'[3] इन शब्दों में संघमित्रा ने साधु जीवन के निर्मम सत्य को उजागर किया है।

मधु काँकरिया का 'सलाम आखिरी' उपन्यास भी इस प्रकार के मार्मिक तथ्य को उजागर करता है। यह उस विषय को पाठकों के समक्ष बड़ी ही सूक्ष्मता से प्रस्तुत करता है। जिस विषय पर बहुत ही कम रचनाकारों ने अपनी लेखनी चलाई है, यह विषय है वेश्याओं का जीवन।

भारतीय समाज में वेश्याओं की उपस्थिति चिरकाल से चली आ रही है, बदल रही है तो सिर्फ वेश्याओं की जीवनशैली और समाज का उनके प्रति अपना दृष्टिकोण।

'समाज में वेश्याओं की मौजूदगी एक ऐसा चिरंतन सवाल है, जिससे हर समाज, हर युग में अपने-अपने ढंग से जूझता रहा है, वेश्या को कभी लोगों ने सभ्यता की जरूरत बताया, कभी कलंक बताया, कभी परिवार की किलेबंदी का बायप्रोडक्ट कहा और कभी सभ्य, सफेदपोश दुनिया

का गटर जो उनकी काम कल्पनाओं और कुंठाओं के कीचड़ को दूर अँधेरे में ले जाकर डंप कर देता है।'[4]

मधु जी ने वेश्याओं की तुलना उन वस्तुओं से की है, जो दुकान पर बेचने के लिए सजा-धजाकर, अच्छी पैकिंग में रखी जाती हैं ताकि ग्राहक उन वस्तुओं की ओर जल्दी से आकर्षित हो सकें। उसी प्रकार ही जड़ निर्जीव वस्तु की तरह इन वेश्याओं को भी अपने-आपको बेचने के लिए सज-सँवरकर ग्राहकों का इंतजार करना पड़ता है। इन वेश्याओं में 15 वर्ष की लड़कियों से लेकर 40 वर्ष तक की औरतें होती हैं। लेखिका के शब्दों में अगर कहा जाए तो 'लिपि पुती देह'। आँखों में भविष्यहीनता, चेहरे पर सस्ता और भड़कीला मेकअप, रँगे होठ, सस्ती चमक के आभूषण, चटक और सस्ते किस्म की पोशाकें। अठारह से लेकर के चालीस-बयालीस की उम्र की सभी वारांगनाएँ। तरह-तरह की बंगाली, नेपाली और आगरा वाली।'[5]

स्त्रीमुक्ति का मुद्दा, वेश्या व्यवसाय पर बंदी, वेश्याओं को समाज में श्रमजीवी का स्थान दिलाना यही उनके उपन्यास में खोजा गया है। प्रमुख रूप से देखा जाए तो यह उपन्यास नारी के दमन शोषण और संघर्ष की मार्मिक गाथा है। चाहे वह भारतीय समाज हो या विदेशी, सभी जगह नारी का आर्थिक और शारीरिक शोषण होता रहा तो कभी बौद्धिक और मानसिक।

आज की नारी भी इस प्रकार के दमन और शोषण के बीच पिसती जा रही है परंतु अच्छी बात यह है कि कुछ नारी संगठन आगे बढ़कर नारी को शक्ति प्रदान कर उसे संगठित और एकजुट करके पुरुष की दमनशाही वृत्ति के खिलाफ खड़ा करने की भरपूर कोशिश कर रहे हैं। स्त्रियाँ अब अपना अबलापन भूलकर नारी कल्याण संस्थाओं और संगठनों की छाया में सबला बनती जा रही हैं और अपनी अस्मिता को खोजने का प्रयत्न भी कर रही हैं। नारी-जीवन में आए इस परिवर्तन को एक नारी की दृष्टि से प्रमुख रूप से अनुभव करते हुए मधु जी ने यथार्थ पर आधारित इन उपन्यासों की रचना की है। आज 21वीं सदी में नारी की दशा के संबंध में एक सफल महिला लेखक के रूप में मधु काँकरिया का नाम सर्वोपरि लिया जाता है। उनके उपन्यास औरतों की जिंदगी का जायजा लेते हुए आगे बढ़ते हैं। समाज द्वारा नारी की निंदा, उसकी भोगी यातनाएँ, अनायास ही उसे गलत रास्ते पर उतारने का कारण बन जाती हैं। पुरुष की अवहेलना से वह कुलटा तक बन जाती है। इस प्रकार स्त्री के चरित्र को लेकर मधु जी ने इन उपन्यासों में नारी जीवन का यथार्थ चित्रण किया है।

भारतीय समाज के प्रजातंत्रीय ढाँचे में तथा पूँजीवादी व्यवस्था में विकसित होने वाली महानगरीय सभ्यता में अकेलेपन की पीड़ा, अस्तित्व का घोर संकट, भटके युवा, आक्रोश, संयुक्त परिवारों का विघटन आदि के कारण समस्त परिवेश जड़ों के साथ हिल रहा है। ऐसी स्थिति में नारी की स्थिति में कई परिवर्तन दिखाई देते हैं पश्चिमी सभ्यता के साथ-साथ अस्मिता को स्थापित करने की होड़ चारों ओर दिखाई देने लगी है। यह बात नारी में भी पाई जा रही है जिसके फलस्वरूप यहाँ नारी मुक्ति चेतना का तीव्र विकास भी दिखाई देता है यह सच है कि आजादी के बाद नारी चेतना में तेजी से परिवर्तन हुआ लेकिन उनकी क्षमता और चुनौतियों को स्वीकारने में पुरुष समाज उस अनुपात में अपने आपको अब भी नहीं बदल सका। परिवर्तित सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों में महिलाओं की शिक्षा, रोजगार के अवसर, मूल्यों और मानसिकता में भी भरपूर परिवर्तन हुआ है। लेकिन इस परिवर्तन को आधुनिक समाज अब भी पूरी तरह से स्वीकार नहीं कर पा रहा है अत: नारी कई विसंगतियों का शिकार हो रही है। कानून और अंधविश्वास के दोहरे शिकंजे के कारण यहाँ नारी आहत भी हो रही है तो साथ ही विद्रोही भी बन रही है। समाज में जीवन व्यतीत करते

समय नारी को कई उतार-चढ़ाव से गुजरना पड़ता है। चाहे घर हो या समाज, उसके समक्ष कई समस्याएँ हैं। इन समस्याओं को सहना है या इनका विरोध करने के लिए समाज की परंपरागत मान्यताओं को तोड़कर आगे बढ़ना है यह दो मार्ग उसके सामने हैं जो उसकी शिक्षा एवं उसके आत्मविश्वास पर निर्भर करता है कि वह इन दोनों में से किस विकल्प को चुने। लेकिन दोनों रास्तों में स्थित समस्याओं का एहसास भी उसे हो रहा है शिक्षित एवं आत्मनिर्भर होते हुए भी परंपरागत समाज व्यवस्था के बंधनों में जकड़ी नारी द्वंद्वात्मक मानसिकता की शिकार भी दिखाई देती है। मधु काँकरिया के उपन्यासों के माध्यम से इन नारी चरित्रों का विश्लेषण करने का प्रयास किया है, जो विभिन्न धरातल पर संघर्षरत हैं। सदियों से नारी दहेज प्रथा, बालविवाह, विधवा-जीवन, वेश्या-जीवन, पुरुष के अहंकार आदि सामाजिक समस्याओं का शिकार है। आज के आधुनिक कालखंड में भी इन समस्याओं की स्थिति वही है जो पहले थी। समाज में नारी मुक्ति के कितने भी नारे क्यों न लगाए जाएँ, समाज में नारी को विभिन्न समस्याओं का सामना अब भी करना पड़ रहा है। मधु काँकरिया के उपन्यासों और कहानियों में इन समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया गया है। मधु काँकरिया का 'सलाम आखिरी' उपन्यास वेश्याओं और वेश्यावृत्ति को उजागर करता है। इस उपन्यास के पूरे परिदृश्य को देखते हुए हम हमारे भीतर इन असहाय स्त्रियों के प्रति करुणा उत्पन्न करने की कोशिश करते हैं जो किसी भी कारण या मजबूरी से इन बदनाम और नाटकीय व्यवसाय में फँस गई है। कोलकाता के सोनागाछी रेड लाइट एरिया की अँधेरी गलियों का सीधा साक्षात्कार कराते हुए मधु जी सभ्य समाज की संवेदनशीलता और कठोरता को भी साथ साथ झिंझोड़ती चलती है।

इस उपन्यास की रचना करने में आने वाली समस्याओं का सामना कर उन्होंने बड़े ही चाव से यह अनुपम कृति पाठकों के समक्ष रखी है। लालबत्ती इलाके का वर्णन कैसे और किन शब्दों में किया जाए ऐसे एक नहीं कई सवालों से घिरी लेखिका ने उपन्यास को अंतिम रूप देने का प्रयास किया और इन विषयों की एक रहस्यमयी दुनिया का चित्रण हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। 'देह के मंदिरों और पुजारियों की यह वह दुनिया है जिसका हर कमरा अपना एक अलग इतिहास रखता है जहाँ हर रात केवल देह ही नहीं उतरती वरन् आत्माओं का भी चीरहरण होता रहता है।'[6]

कोलकाता महानगर के विभिन्न लाल बत्ती इलाके जैसे सोनागाछी, बहू बाजार, काली घाटी, बैरकपुर आधी गलियों में बसने वाले जीवन के कुरूप एवं भयंकर नग्न रूप का यथार्थ चित्रण इस उपन्यास में है। यहाँ संस्कृति, मर्यादा और परंपराओं का कोई डर नहीं है कोई बंधन नहीं है। मधु जी ने सोनागाछी के चकलों का चित्रण इस उपन्यास में किया है जिसमें वेश्यावृत्ति छोड़ चुकी मीना का चकला केंद्र बिंदु है जिसमें नूरी, कृष्णा, रमा, नलिनी, जूली और चंदा इन छह वेश्याओं के इर्द-गिर्द यह उपन्यास घूमता है। लेखिका ने वेश्या बनी नारियों में दुख, आत्मग्लानि के साथ-साथ समर्थता भी वर्णित की है। वेश्या होकर भी वे अपने अंदर आत्मा का सौंदर्य समेटे हुए हैं। उदाहरण के लिए एक वेश्या गायत्री का चित्रण भी यहाँ हुआ है जो बहु बाजार के प्रेमचंद बोरल स्ट्रीट की लाइन वाली है। वह 12 वर्षीय एक मासूम बालिका को वेश्या के चंगुल से छुड़ाती है। 30 वर्षीय गायत्री दो बच्चों की माँ है वह पति के उकसाने पर इस पेशे में आ गई थी फिर भी अपनी अंतरात्मा के सहारे वह अपने विचारों में पवित्रता रखती है। इंद्राणी दी के सहारे अपनी आत्मा को पाप मुक्त रखने की कोशिश करती है। उसकी गोद में डेढ़-दो साल का एक और बच्चा है जो किसी ग्राहक का है किंतु बोल नहीं सकती किसका है। फिर भी वह पूरे प्यार-दुलार के साथ उसका पालन-पोषण

करती है। गायत्री को देख लेखिका को वह वेश्या नहीं तीर्थमयी नारी नजर आती है।

इस प्रकार भारतीय समाज में प्राचीनकाल से अब तक स्त्रियों पर अत्याचार होते आए हैं। भारतीय समाज एक पुरुष प्रधान समाज है। इस समाज में कुल संख्या से आधी संख्या स्त्रियों की है इतनी बड़ी संख्या होने के बावजूद स्त्रियों को उपेक्षित स्थान ही दिया गया है। वह शिक्षित एवं आत्मनिर्भर होते हुए भी कभी पति के द्वारा अन्याय का , कभी दहेज प्रथा का और कभी बलात्कार जैसी समस्याओं का शिकार हो रही है। इस प्रकार कभी उसका आर्थिक और शारीरिक शोषण होता रहा तो कभी बौद्धिक और मानसिक शोषण।

निष्कर्ष: शिक्षा का प्रचार-प्रसार, स्त्री का आर्थिक स्वावलंबन तथा स्त्री को संरक्षण देने वाले कानून होने के बावजूद स्त्री पर होने वाले अत्याचारों में कोई कमी नहीं आई है। स्त्री के जन्म से लेकर मृत्यु तक अत्याचारों का चक्र चलता रहता है। स्त्री पर होने वाले अत्याचारों में घिनौना अत्याचार बलात्कार है, यह समस्या प्राचीनकाल से वर्तमान समाज में आज भी व्याप्त है। इसका उल्लेख ग्रीक, पुराणों और बाइबिल में भी मिलता है। बलात्कार स्त्री की इच्छा के विरुद्ध होता है। बलात्कार के लिए स्त्री की आयु की कोई मर्यादा नहीं होती है। मधु जी के सेज पर संस्कृत उपन्यास में बलात्कार की समस्या का चित्रण किया गया है। इस उपन्यास की छुटकी दस-बारह वर्ष की आयु में ही साध्वी बनने के बावजूद अपने ही आश्रम के मुनि द्वारा बलात्कार का शिकार होती है जिसके फलस्वरूप वह गर्भवती हो जाती है जिसके कारण उस पर ही कुल्टा होने का आरोप लगाकर उसे आश्रम से निकाल दिया जाता है। गर्भ में बढ़ते भ्रूण के साथ साध्वी दिव्यप्रभा को वेश्याओं की बदनाम गलियों का सहारा लेना पड़ता है। इस व्यवसाय को करने के बावजूद वह अपनी ऋषि कन्या को इस क्रूर दुनिया से बचाती है। 18 वर्ष तक इन बदनाम गलियों में जीवन बिताने वाली मजबूर छुटकी का अंत उन बीमारियों के कारण होता है जो बीमारियाँ उसे इसी वेश्या व्यवसाय ने उपहार में दी थीं। अपनी जिंदगी का सच वह अपनी जीजी से कहती है कि इन बदनाम गलियों का रास्ता किसी घर में नहीं, सीधा मरघट तक ही जाता है। इस प्रकार वेश्या जीवन और साध्वी जीवन के माध्यम से मधु जी ने नारी जीवन के यथार्थ का मार्मिक चित्रण किया है।

संदर्भ

1. मधु काँकरिया, सेज पर संस्कृत, पृ॰ 51
2. वही, पृ॰ 53
3. वही, पृ॰ 120
4. मधु काँकरिया, सलाम आखिरी, भूमिका से
5. वही, पृ॰ 14
6. वही, पृ॰ 13

Plot no-15 Basant Nagar Colony,
Dorai ka Rasta, Kekri (Ajmer) 305404
Mob. 7073636609
neetujharotia92@gmail.com

नरेंद्र कोहली के महासमर उपन्यास में आधुनिकताबोध

तरुण किशोर नौटियाल (जेआरएफ) शोधार्थी, हिंदी विभाग,
हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर (उत्तराखंड)

आधुनिकता एक संकल्पना पर आधारित शब्द है, यह किसी मूल्य का बोध नहीं कराता वरन् एक निरंतर गतिशील प्रक्रिया का नाम है। यही कारण है कि प्रत्येक युग, प्रत्येक धारणा और अवधारणा अपने समय में आधुनिक ही होती है। इस शब्द को अधुना अर्थात् आज शब्द से जोड़ा जाता है। वर्तमान की सार्वकालिक एवं सर्वस्वीकृत मन:स्थिति का दूसरा नाम आधुनिक है। आधुनिक शब्द की व्युत्पत्ति 'अधुना' शब्द में 'इक' प्रत्यय के योग से हुई है। इसका तात्पर्य वर्तमान समय या नए जमाने से होता है। आधुनिकता से तात्पर्य है कि स्थापित नियमों, परंपराओं एवं मान्यताओं से अलग हटकर विश्व में मनुष्य की स्थिति एवं इसके कार्य के प्रति नवीन दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करना। यह पश्चिम की अवधारणा है अत: वैश्वीकरण के दौर में इसका प्रभाव समग्र विश्व के साहित्य पर होना स्वाभाविक था। नरेंद्र कोहली जी का 'महासमर' उपन्यास भी आधुनिकताबोध को स्वयं में समेटे हुए है।

हर युग स्वयं में आधुनिक होता है। मानवीय सभ्यता के प्रारंभिक चरण से वर्तमान समय या कालखंड एक तरह से स्वयं में आधुनिक रहा है। हर युग का अपना विश्वास, अपनी आस्था एवं अपनी तार्किक परंपरा होती है। अत: पौराणिक कथाओं में महाकाव्य महाभारत की कथा की भी एक अपनी आस्था व तर्क प्रणाली रही है। इसी महाभारत की कथा को आधार बनाकर हिंदी साहित्य के कालजयी रचनाकार तथा राम और कृष्णकथा के मर्मज्ञ श्री नरेंद्र कोहली जी ने महासमर नामक एक बृहदाकार उपन्यास की रचना की है। आदर्शवाद तथा यथार्थवाद के मध्य की खाई को पाटने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले हिंदी साहित्यकार कोहली जी ने महासमर उपन्यास में गहन विश्लेषण किया तथा आधुनिक परिवेश की दृष्टि से वैज्ञानिक एवं तार्किक स्वरूप में महाभारत की मूल कथा में बिना कोई संशोधन किए इस कथा की अद्‌भुत प्रस्तुति की है।

समग्र मानवीय जीवन को सार्थक रूप से जीने के लिए वर्तमान में चल रहे तौर-तरीकों को तार्किक व तटस्थ दृष्टि से स्वीकार करना ही आधुनिकताबोध है। इस दृष्टि से नरेंद्र कोहली जी के बृहदाकार उपन्यास महासमर के सभी आठों भागों में यहाँ आधुनिकताबोध परिलक्षित किया जा सकता है। कोहली जी ने महाभारत की पौराणिक एवं आदर्शवादी छवि को अपने मौलिक सृजन कौशल से यथार्थवादी धरातल पर उतारने का सार्थक प्रयास किया है। महासमर उपन्यास के सभी भागों की भूमिकाओं में लेखक का स्वयं मानना है कि महासमर में घटनाएँ तथा पात्र महाभारत के हैं किंतु यह कृति एक उपन्यास है–आज के लेखक का मौलिक सृजन। अत: महासमर उपन्यास में तार्किकता, वैज्ञानिकता, तटस्थता तथा मौलिकता प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होती है।

महासमर के प्रथम भाग बंधन की कथा महाभारत की प्रमुख स्त्री पात्र सत्यवती के हस्तिनापुर आने तथा वहाँ से व्यास मुनि के आश्रम में जाने तक केंद्रित है, लेकिन इस भाग में

मनुष्य के मनोविज्ञान तथा सामाजिक परंपराओं की तार्किक व वैज्ञानिक अभिव्यक्ति की गई है। कुरुवंश के सम्राट शांतनु का पत्नी विरह में भटकना आज के उस पुरुष का प्रतीक है जिसकी पत्नी उसे छोड़कर चली गई है। मनुष्य के मनोविज्ञान में परिवर्तन युग और काल-निरपेक्ष होता है। फ्रायड की मनोविश्लेषणवादी दृष्टि से देखें तो काम चेतना की शक्ति जीवन के केंद्र में होती है। अब यह मनुष्य के मन को मिले संस्कारों व परिस्थितियों पर निर्भर करता है कि वह भोग-विलास या संयम या संतुलित संयमित भोग-विलास का चयन करे। प्राय: ऐसा देखा जाता है कि आधुनिक होने का एक सामान्य प्रचलित अर्थ अनियंत्रित भोग-विलास माना गया है। सत्यवती की सामाजिक पृष्ठभूमि में अभाव व साधनहीनता से उपजे असंतोष व हीनताग्रंथि ने उसे तब अनियंत्रित भोग की ओर अग्रसर किया, जब वह सम्राट की पत्नी के पद साम्राज्ञी पर सुशोभित होती है। आगे चलकर अपनी संतानों विचित्रवीर्य और चित्रांगद में वह वैसे ही भोग-विलास के संस्कार भरती जाती है जिसके परिणामस्वरूप उसके पुत्र असमय मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं। उस समय का समाज अलग-अलग परंपराओं व मान्यताओं को धारण किए हुए था, अत: जब कुरुवंश के उत्तराधिकारियों की असमय मृत्यु हुई, तब कुरु वंश के उत्तराधिकार का प्रश्न खड़ा हो गया था। पितामह भीष्म पहले ही अपनी प्रतिज्ञा से बँधे हुए थे। अत: उन परिस्थितियों में सत्यवती ने नियोग प्रथा की अनुमति दी किंतु अपनी पुत्रवधू की अनुमति प्राप्त न करके यह उन पर थोपा गया था।।

सत्यवती की अपनी महत्त्वाकांक्षा के कारण स्त्री-पुरुष के काम संबंध में उसकी पुत्रवधुओं की नियोग की अनिच्छा की स्थिति का परिणाम यह रहा कि हस्तिनापुर को उसके योग्य उत्तराधिकारी नहीं मिल पाते हैं। आधुनिकता बोध की दृष्टि से देखें तो एक तरफ नियोग प्रथा की सहमति तत्कालीन समाज में एक सामान्य परंपरा थी, लेकिन वर्तमान में ऐसी परिस्थितियों में आज का समाज इसे अवैध मानता है। यद्यपि आज स्त्री-पुरुष संबंधों की नई-नई व्याख्याएँ हमारे सामने आ रही हैं जैसे लिव इन रिलेशनशिप या स्पर्म डोनर इत्यादि। लेकिन आज का समाज संभवत: ऐसी किसी भी प्रथा को उस समाज की तरह ही वैध नहीं मान सकता है। आज जो पुरुष संतानोत्पत्ति में समर्थ नहीं होता उसके पास गोद लेने का विकल्प होता है तथा अन्य भी कई विकल्प होते हैं जैसे स्पर्म डोनर। लेकिन नियोग जैसी प्रथा को आज का पुरुष संभवत: स्वीकार नहीं कर पाता। महासमर उपन्यास में यह प्रश्न गंभीरतापूर्वक उठाया गया है कि एक विवाहित पुरुष जो संतान उत्पत्ति में असमर्थ है वह अपनी पत्नी के साथ किसी नियुक्त पुरुष के संसर्ग की अनुमति दे सकता है। वर्तमान युग की दृष्टि से महासमर उपन्यास के प्रथम भाग बंधन में स्त्री-पुरुष संबंधों की वैज्ञानिक एवं तार्किक व्याख्या की गई है। आगे चलकर कुंती और माद्री भी नियोग प्रथा के माध्यम से ही पांडवों को जन्म देती है तब भी कोहली जी ने मनुष्य के जन्म की प्रक्रिया का देवत्त्वकरण करने की बजाय स्त्री-पुरुष के यौन-संबंध आधारित संतान उत्पत्ति की प्रक्रिया को स्थापित करने का प्रयास किया है। नरेंद्र कोहली जी का मानना है कि 'हमें स्पर्म डोनर के माध्यम से नियोग प्रथा को नहीं समझना चाहिए अपितु नियोग से स्पर्म डोनर को समझना चाहिए।'[2]

महासमर उपन्यास में आध्यात्म तथा भौतिकता का संघर्ष इसके दूसरे भाग अधिकार में तथाकथित प्राचीनता तथा तथाकथित आधुनिकता के संघर्ष के रूप में प्रखर रूप से दृष्टिगोचर होता है। तब जब पांडवों के शतश्रृंग आश्रम से लौटने पर कौरवों के द्वारा उनका परिहास किया जाता है।[3]

यह संघर्ष पांडवों की संयमित जीवन शैली एवं कौरवों की भोग विलास युक्त जीवनशैली का संघर्ष प्रतीत होता है। संभवत: मनुष्य का मनोविज्ञान युग निरपेक्ष होता है क्योंकि आधुनिक व

सभ्य होने का जो अर्थ महाभारत काल में कौरव मानते हैं, वही अर्थ आज के समाज में प्रचलित है। सामान्य अर्थों में आधुनिक होना भोग-विलास की वस्तुओं का अनियंत्रित संचय एवं उनका अति उपयोग माना जाता है। जबकि वास्तविक अर्थों में यह संकीर्णता होती है। लेकिन महासमर के अधिकार भाग में कौरवों ने पांडवों को कभी अपना भाई न मानकर वनवासी भिक्षुक ही माना तथा हमेशा उनके अधिकारों से उन्हें वंचित करने का प्रयास किया। पांडवों की राजसत्ता-प्रायोजित हत्या करने का प्रयास वार्णावत के लाक्षागृह में किया गया था, जो वर्तमान समाज में परिवारों के मध्य ईर्ष्या-द्वेष या भाई-भाई में हो रहे संपत्ति, धन या सत्ता को लेकर होने वाले संघर्ष की याद दिलाता है।

वार्णावत के राज्य-प्रायोजित अग्निकांड से बचकर पांडवों ने वनों में आश्रय लिया। महासमर के तीसरे भाग कर्म में इसी कथा का वर्णन मिलता है तथा इस संघर्ष के काल में सात्विक शक्तियाँ पांडवों की रक्षा करती हैं।[4]

आधुनिकताबोध की दृष्टि से इसी भाग में पांडवों की मन:स्थिति का वह बिंदु आता है जब समाज में उन्हें अपने संबंधों के बाहर जाकर स्थितियों का तटस्थ विश्लेषण करना था। पांडवों की चिंतन-प्रणाली में मनुष्य का संसार वास्तविक होने लगता है, जहाँ बाहर से अधिक उसे अपने भीतर से लड़ना पड़ता है और परायों से ज्यादा अपनों से लड़ना पड़ता है। इसीलिए महाभारत की हिंसा और अहिंसा आधुनिक बोध दृष्टि से सदैव प्रासंगिक रहेगी।[5]

आज के मनुष्य की स्थिति उसी असहाय मनोदशा की ओर इशारा करती है क्योंकि समाज में व्याप्त स्वार्थ, लोभ तथा सत्ता की शक्तियाँ सामान्य मानव को असहाय और निर्बल कर देती हैं। मानवता की दृष्टि धूमिल होने लगती है तथा समाज जीवन के सभी क्षेत्रों में यथा–राजनीति, अर्थव्यवस्था, पर्यावरण इत्यादि में उसके नकारात्मक आत्मघाती प्रभाव जैसे: युद्ध, भ्रष्टाचार, घोटाले, जलवायु परिवर्तन इत्यादि परिलक्षित होते हैं। महाभारत के युद्ध प्रसंग में ब्रह्मास्त्र के माध्यम से जो वैश्विक शांति को भंग करने का प्रयास किया जाता है, वह कहीं-न-कहीं आज की विश्व की परमाणु शक्तियों के परमाणु बम-संबंधी परीक्षणों के माध्यम से संभावित विध्वंस को मूर्तिमान करता प्रतीत होता है।[6]

आगे चलकर जब पांडवों का विवाह द्रौपदी से होता है तो समाज की विवाह परंपरा-संबंधी कई मुद्दे प्रत्यक्ष होने लगते हैं किंतु विवाह-संबंधी विभिन्न परंपराओं में बहुपतित्व की परंपरा महाभारतकाल में बहुत असामान्य भी नहीं थी। हालाँकि अब यह प्रथा काफी कम देखने को मिलती है बहुपतित्व प्रथा को अपनाने के पीछे समाज का यह भाव रहता है कि परिवार के सभी संसाधनों यथा–धन-संपत्ति, खेत खलिहान, मवेशी, औजार इत्यादि को एकीकृत रखा जा सके। महाभारत में सात्विक शक्तियाँ पांडवों को एकीकृत रखकर उन्हें धर्म युद्ध के लिए तैयार करना चाहते थे। उनके मध्य विभाजन होने से यह धर्म युद्ध कमजोर हो सकता था अत: तत्कालीन राजनीतिक कूटनीतिज्ञ कृष्ण ने दूरदृष्टि युक्त योजना के तहत पांडवों को द्रौपदी के स्वयंवर में शामिल होने का संकेत व्यास मुनि से दिलवाया।[7]

अत: धर्म की रक्षा के लिए तथा पांडवों की एकता के लिए द्रौपदी का विवाह पाँचों पांडवों के साथ किया गया।

विवाह के पश्चात महत्त्वपूर्ण राजनीतिक शक्तियाँ पांडवों के साथ खड़ी हो गई थीं तथा पांडवों को उनका राज्य लौटाने का उपक्रम प्रारंभ हुआ। किंतु पांडवों को खांडवप्रस्थ का प्राचीन

नगर प्रदान किया गया, जोकि कौरवों की प्राचीन राजधानी भी थी। खांडवप्रस्थ में अराजकता, सुशासन तथा आतंक की स्थिति से प्रजा पीड़ित थी, वहाँ पांडवों ने अपने राजधर्म का पालन किया तथा अपने मित्र शक्तियों की मदद से इंद्रप्रस्थ नामक नगर की स्थापना की। जनता के प्रति अपने कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ करने का संकल्प लिया ताकि प्रजाजनों को एक शक्तिशाली व धर्म केंद्रित सम्राट के नेतृत्व वाले स्वायत्त राज्य शासक के रूप में मिलें।[8]

इससे कृषि, व्यापार, शिक्षा, चिकित्सा इत्यादि सभी मूलभूत आवश्यकताओं को जनता तक पहुँचाने का एक माध्यम माना जाता था। आधुनिकताबोध की दृष्टि से महासमर का यह चौथा भाग धर्म राजसूय यज्ञ के माध्यम से आज की लोकतांत्रिक व्यवस्था में शासक के प्रजा के प्रति धर्म का आदर्श प्रस्तुत करता है। इंद्रप्रस्थ के महाराज युधिष्ठिर जब अपने राजधर्म का पालन करने का प्रयास करते हैं तो इंद्रप्रस्थ के सीमाओं के आसपास इंद्र द्वारा तक्षक का संरक्षण किया जाता है जो पांडवों को अपना शत्रु मानता है। यह तथ्य भारत के आज के पश्चिमोत्तर भारत में पाक-प्रायोजित आतंकवाद के माध्यम से ग्रहणीय हो जाता है।[9]

भारत के संविधान में मौलिक अधिकारों तथा नीति निदेशक तत्त्वों के रूप में लोक कल्याण को सुनिश्चित करने का जो प्रयास किया गया है उसको यदि महाभारतकाल की दृष्टि से देखा जाए तो धर्म उपन्यास में खांडवप्रस्थ के इंद्रप्रस्थ में रूपांतरण से समझा जा सकता है। साथ ही राजसूय यज्ञ आज के भारत में संघवाद का एक अच्छा आदर्श प्रस्तुत करता प्रतीत होता है क्योंकि आज भारत की राजनीतिक व्यवस्था में शक्तिशाली केंद्र तथा स्वायत्त राज्य अवस्थित है जो जन कल्याण के लिए समर्पित हैं।

नरेंद्र कोहली जी का मानना है कि न तो प्रकृति के नियम बदलते हैं और न मनुष्य का मनोविज्ञान, अत: महाभारत की मूल कथा में कोहली जी ने बिना किसी संशोधन के अपनी वैज्ञानिकता, तार्किकता तथा मौलिकता के माध्यम से महासमर की आधुनिक बोध-दृष्टि का अन्वेषण किया है। महासमर उपन्यास के आठों भागों में महाभारत की कथा के कई अमूर्त रहस्यों को मूर्त एवं व्यावहारिक रूप देने का जो सार्थक प्रयत्न किया गया है, वह बंधन से निर्बंध तक की इस यात्रा में स्पष्ट होते हैं।

जब द्रौपदी को भरी सभा में घसीटते हुए निर्वस्त्र करने का प्रयास किया जाता है तब असहाय द्रौपदी के अपमान के लिए सभा में कोई भी अपना मुख नहीं खोल पाता। इसीलिए द्रौपदी कृष्ण का स्मरण करती है। इस संदर्भ में सामान्य कथा तो यही प्रचलित है कि कृष्ण वहाँ किसी रहस्यमयी ढंग से प्रकट होकर द्रौपदी के चीर को बढ़ाने का उपक्रम करते हैं। यह कथा समाज में श्रीकृष्ण के ईश्वरीकरण के लिए गढ़ी कथा प्रतीत होती है। आदरणीय कोहली जी ने कृष्ण के अलौकिक ईश्वरीकरण की बजाए उनकी उदात्तता, सामर्थ्य और शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक शक्ति का महत्त्व स्थापित करने का प्रयास किया है। अत: महासमर की कथा में दुशासन के द्वारा द्रौपदी के चीरहरण के समय कृष्ण वहाँ वर्तमान नहीं थे।[10]

दरअसल, दुशासन के मन में कृष्ण के सुदर्शनचक्र का भय समा जाता है तथा वह मूर्च्छित होकर गिर जाता है और द्रौपदी की लाज की रक्षा हो जाती है। इस उपन्यास की यही वैज्ञानिकता और तार्किकता इसे आधुनिकताबोध युक्त बनाती है।

अतीत में घटी घटनाओं के रहस्य को तार्किक वैज्ञानिक दृष्टि से जनसामान्य को समझाना आवश्यक है। कोहली जी ने महासमर उपन्यास में इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर ऐसी अनेक

घटनाओं में छिपे रहस्यों से पर्दा उठाने का प्रयास किया है। कर्ण के कवच-कुंडल की कथा तथा कृष्ण के जन्म-संबंधी रहस्य कथा भी इसका एक अच्छा उदाहरण है। महासमर के अनुसार कवच-कुंडल की कथा गढ़कर दुर्योधन समाज में कर्ण का देवत्वकरण करना चाहता था तथा उसकी महिमा तथा शक्ति के माध्यम से पांडवों में भय फैलाना चाहता था। लेकिन कोहली जी ने विदुर-पारंसवी-कुंती संवाद तथा पांडवों के परस्पर संवाद के माध्यम से इस कथा को प्रचारित मात्र माना है।[11]

वैज्ञानिक एवं तार्किक दृष्टि से कभी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि तथाकथित रूप से जन्म से शरीर को मिले कवच-कुंडल शरीर के आकार के बढ़ने के साथ-साथ बढ़ते हैं। इस बिंदु पर महासमर उपन्यास की आधुनिक बोध-दृष्टि स्पष्ट होती है इस तरह की विभिन्न प्रचलित कथाओं को जनसामान्य तेजी से स्वीकार कर लेता है किंतु एक चिंतनशील तार्किक मनुष्य ऐसा आसानी से नहीं कर सकता। नरेंद्र कोहली जी ने ऐसे ही आधुनिक भावबोध की दृष्टि से महाभारत की मूल कथा में बिना कोई संशोधन किए महासमर की रचना कर हिंदी साहित्य संसार को समृद्ध करने का प्रयास किया है।

इसी प्रकार कृष्णजन्म की कथा को तार्किक और वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान करने का प्रयास किया है। उद्धव के माध्यम से कृष्ण जन्म के संबंध में घटनाओं को प्रकृति के सहयोग तथा वसुदेव के साहस के संयोजन से बताकर उनका देवत्वकरण होने से रोकने का सार्थक प्रयत्न किया गया है।[12]

महासमर के अंतिम भाग निर्बंध की भूमिका में लेखक नरेंद्र कोहली जी का मानना है कि हमारे प्राचीन ग्रंथ शाश्वत सत्य की चर्चा करते हैं। वह किसी कालखंड के सीमित सत्य में आबद्ध नहीं है जैसा कि यूरोपीय कृत मस्तिष्क अपने अज्ञान अथवा बाहरी प्रभाव में मान बैठा है।[13]

अत: महासमर उपन्यास की बंधन से निर्बंध तक की यात्रा गाथा भारतीय चिंतन तथा भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर है। आधुनिकताबोध की दृष्टि से यह आज के बदलते परिवेश की विविध समस्याओं और गैर-आवश्यक स्थापनाओं के समाधान में सहायक हो सकता है। वैसे तो हर युग में मनुष्य के मन के भीतर छिपे भावों को समझ पाना अत्यंत कठिन रहा है किंतु कोहली जी का मानना है कि प्रत्येक चिंतनशील मनुष्य के जीवन में एक वह स्थल आता है जब उसका बाहरी महाभारत समाप्त हो जाता है और वह उच्चतर प्रश्नों के सम्मुख आ खड़ा होता है।[14]

समग्र महासमर उपन्यास में जहाँ जीवन के उच्च आध्यात्मिक मूल्य भौतिकता एवं जीवन की निम्नता के सम्मुख नतमस्तक हैं। वहीं महासमर के प्रत्यक्ष व निर्बंध भागों में सारे बंधन टूटते दृष्टिगोचर हो रहे हैं। भीष्म के बंधन हों या पांडवों के बंधन या कृष्ण एवं यादवों के बंधन इत्यादि सभी महासमर की कथा के अंतिम चरण में टूट जाते हैं। यह स्थिति तभी आ आती है जब चिंतन प्रणाली में तार्किकता, वैज्ञानिकता तथा तटस्थता का समावेश होता है। महासमर में आधुनिकताबोध का अन्वेषण करने के लिए ऐसी ही चिंतन प्रणाली सहायक हो सकती है।

अत: मानव-जीवन को समृद्ध करने तथा उच्चतर लक्ष्यों की ओर अग्रसर करने में नरेंद्र कोहली जी के बृहदाकार उपन्यास महासमर का आधुनिकताबोध एक शाश्वत अवधारणा के रूप में न केवल पुरातन बल्कि आधुनिक पीढ़ी के लिए भी एक ज्वलंत समाधान प्रस्तुत करता है।

संदर्भ

1. नरेंद्र कोहली, बंधन, पृ॰ 240
2. नरेंद्र कोहली, आनुषंगिक, पृ॰ 34, 231
3. नरेंद्र कोहली, अधिकार, पृ॰ 16
4. नरेंद्र कोहली, कर्म, पृ॰ 122
5. नरेंद्र कोहली, आनुषंगिक, पृ॰ 234
6. वही, पृ॰ 248
7. नरेंद्र कोहली, धर्म, पृ॰ 55
8. नरेंद्र कोहली, आनुषंगिक, पृ॰ 238
9. वही, पृ॰ 237
10. वही, पृ॰ 239
11. नरेंद्र कोहली, प्रच्छन्न, पृ॰ 212-213
12. वही, पृ॰ 74-75
13. निर्बंध की भूमिका
14. वही, भूमिका

आर्य भट्ट रिसर्च हॉस्टल
हे॰नं॰ बहुगुणा विश्वविद्यालय कैंपस,
श्रीनगर (उत्तराखंड) 246174
मो॰ 8126232711
tarunkishornautiyal1@gmail.com

 ISSN 0975-735X

रहीम का नीतिकाव्य

डॉ॰ अर्चना गौतम
सहायक निदेशक (रा॰भा॰)
भारतीय फिल्म और टेलीविजन संस्थान, पुणे

रहीम मध्ययुगीन महान कवि होने के साथ-साथ एक कुशल राजनीतिज्ञ और कलाप्रेमी भी थे। अकबर के दरबार के नवरत्नों में से रहीम एक थे। इन्होंने अकबर के साम्राज्य की समृद्धि में बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया था। मध्यकाल में निरंकुश राजतंत्र का बोलबाला था। किंतु अकबर की उदारवादी दृष्टिकोण के कारण विभिन्न संस्कृतियों के समन्वय के प्रयत्न किए गए थे। रहीम के मन में भी भारतीय संस्कृति के प्रति अत्यधिक अनुराग था, तभी तो उन्होंने अपने काव्य में रामायण, महाभारत और गीता के अंशों, संदर्भों को उदाहरणों के रूप में प्रयोग किया। परिणामत: रहीम के काव्य में भक्ति, प्रेम, शृंगार और नीति का सम्मिलित रूप दिखाई देता है। रहीम के काव्य में जनसामान्य जीवन का प्रभावशाली चित्रण हुआ, किंतु राजकीय वैभव का वर्णन नहीं मिलता है और न ही सम्राट अकबर का गुणगान किया। इनके काव्य में सांप्रदायिकता का रंग भी दृष्टिगोचर नहीं होता। मुसलमान होते हुए भी बड़ी श्रद्धापूर्वक हिंदू देवी-देवता का स्मरण अपने दोहों में करते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में–'रहीम का हृदय द्रवीभूत होने के लिए कल्पना की उड़ान की अपेक्षा नहीं रखता था। वह संसार के सच्चे और प्रत्यक्ष व्यवहारों में ही द्रवीभूत होने के लिए पर्याप्त स्वरूप पा जाता था। वे जिंदगी के पता नहीं कितने टेढ़े मेढ़े रास्तों से गुजरे थे। उनका भोगा हुआ यथार्थ देखा हुआ सामान्य जीवन, ऊँच-नीच का भेद बहुत कुछ जीवनीपरक रूप में प्रत्यक्षकृत हो उठा है।'

रहीम के नीतिकाव्य पर चर्चा करने से पूर्व नीति शब्द पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। 'नीति' शब्द का अर्थ है–आगे बढ़ना, प्रगति करना, उचित व्यवहार। नीति का संबंध नैतिक और नैतिकता से है। नीति का लक्ष्यार्थ मानव जीवन को नैतिक बनाना। नैतिकता ही मनुष्य को साधारण से असाधारण बनाती है। डॉ॰ भोलानाथ तिवारी के शब्दों में–'समाज को स्वस्थ एवं संतुलित पथ पर अग्रसर करने एवं व्यक्ति को धर्म, कर्म, काम, मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति कराने के लिए जिन विधि या निषेधमूलक वैयक्तिक और सामाजिक नियमों का विधान देश, काल और परिस्थिति के संदर्भ में किया जाता है, उन्हें नीति शब्द से अभिहित करते हैं।' नैतिकता वह मार्ग है जिसका अनुकरण कर स्वहित करते हुए परहित के लिए भी कार्य किया जाता है।

साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में नीतितत्त्वों का प्रयोग कर समाज को नैतिक मूल्य और नियमों से अवगत करवाने के साथ-साथ उनका अनुकरण करने के लिए भी प्रेरित किया। महान काव्य ग्रंथों में नीति कथनों की दृष्टि से महाभारत सर्वोत्कृष्ट है। इसमें विदुर नीति और भीष्म नीति के महत्त्वपूर्ण प्रसंग हैं। नीति के दो पक्ष होते हैं, एक विचार पक्ष और दूसरा आचरण पक्ष। पहले पक्ष का संबंध आंतरिक शुद्धता से है तो दूसरे का सदाचरण से। मनुष्य की जिस प्रकार की सोच

होती है, वह वैसा ही आचरण करता है। आंतरिक विचारों का परिणाम ही बाह्य आचरण होता है। नीति मनुष्य के प्रत्येक क्रियाकलाप में सक्रिय देखी जा सकती है। जिस प्रकार स्वस्थ रहने के लिए मनुष्य को भोजन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार लोक व्यवहार के लिए नीति अथवा नैतिकता अनिवार्य होती है। इतावली कवि दांतो का कथन है–'नरक का सबसे गर्म और खौलता कोना अन लोगों के लिए सुरक्षित होता है जो नैतिक संकट के समय तटस्थ और निर्लिप्त बने रहते हैं।

जैसा कि इससे पूर्व उल्लेख किया गया है कि मध्ययुगीन कवियों ने नीतिबद्ध काव्य की रचना की, क्योंकि वे काव्य के माध्यम से समाज में व्याप्त बुराइयों, विसंगतियों, जातीय संकीर्णता, धार्मिक कट्टरता और प्रदर्शनप्रियता के विरुद्ध आवाज उठाकर समाज को नई दिशा प्रदान कर एक स्वस्थ समाज की स्थापना करना चाहते थे। इन्होंने नीतिपरक साहित्य के माध्यम से समाज के प्रत्येक पहलू को उजागर करने का प्रयास किया । रहीम ने भी यही कार्य बड़े प्रभावी ढंग से किया। इन्होंने जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप को बड़ी मार्मिकता एवं गहराई से अपने दोहों के माध्यम से चित्रित किया। उनका संबंध समाज के सभी वर्गों से था। वे महापुरुषों, राजदरबारियों, दानियों, भिखारियों, याचकों और पुरुषार्थियों के बीच रहे थे। यही कारण है कि उनके दोहों में भाग्य-दुर्भाग्य, निर्धनता-अमीरी, मान-अपमान, ऐश्वर्य, बुरा समय और जीवन के उतार-चढ़ाव आदि का वर्णन बहुत ही मार्मिक ढंग से हुआ है। रहीम प्रेम को जीवन का आधार मानते हैं। उनका मानना है कि मनुष्य को अपने पारिवारिक और सामाजिक संबंधों को सहेजकर रखना चाहिए। संबंधों में आई कड़वाहट को पुनः सुधारा नहीं जा सकता। रहीम के शब्दों में–

रहिमन धागा प्रेम का, मत तोड़ो चटकाय।
टूटे पे फिर ना जुड़े, जुड़े गाँठ परी जाय।[2]

जिस प्रकार टूटे हुए धागे को जोड़ा नहीं जा सकता और जोड़ने की कोशिश की जाए तो उसमें गाँठ पड़ जाती है । यही स्थिति संबंधों की होती है। प्रेम अत्यंत दुर्लभ होता है। चौरासी लाख योनी के पश्चात मनुष्य का जीवन मिलता है, जैसा कि रहीम कहते हैं, ज्यों चौरासी लख में मानुष देह, त्यों ही दुर्लभ जग में सहज सनेह।

समाज में कई ऐसे मनुष्य भी होते हैं, जो रिश्तों का सम्मान नहीं करते। आज संबंधों में औपचारिकता का समावेश हो गया है। हर कोई एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करने में लगा है। बुद्धिमान मनुष्य वही होता है, जो अपने मन की व्यथा अपने मन में ही रखता है। दूसरे तो दुःख को सुनकर हँसेंगे, किंतु उसका निवारण नहीं करेंगे और न ही निवारण करने में सहयोग देंगे। इसीलिए–

रहिमन निज मन की व्यथा, मन ही राखो गोय।
सुनी इठलैहैं लोग सब, बांटी लैहें न कोय।[3]

रहीम अपनी नीति के द्वारा समाज को सचेत करते हैं कि मनुष्य को विपदा काल में भावुक होने की अपेक्षा व्यावहारिक होना चाहिए। मनुष्य को अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं करना पड़ता है। विपत्ति थोड़े समय के बाद अपने आप ही समाप्त हो जाती है, ऐसी स्थिति में मनुष्य का समर्थ बनना आवश्यक है। विपत्ति के समय ही सगे संबंधियों की पहचान होती है। जैसा कि रहीम कहते हैं–

रहिमन विपदा हूँ भली, जो थोरे दिन होय।
हित अनहित या जगत में, जानी परत सब कोय।

कहि रहीम संपति सगे, बनत बहुत बहु रीति।
विपति कसौटी जे कसे, ते ही साँचे मीत।[5]

रहीम कहते हैं कि मनुष्य को दु:ख और मुसीबत आने पर अधिक दु:खी होने की अपेक्षा उसे हर परिस्थिति के लिए तैयार रहना चाहिए। दु:ख और सुख जीवन के शाश्वत सत्य हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य को धैर्य बनाए रखना चाहिए–

रहिमन चुप हो बैठिये देखि दिनन के फेर।
जब नीके दिन आइहै, बनत न लगिहैं देर।[6]

नहीं तो बिगड़ी बात को कोई सुधार नहीं सकता, चाहे लाख कोशिश की जाए। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए रहीम कहते हैं–

बिगड़ी बात बने नहीं, लाख करो की कोय।
रहिमन फाटे दूध को मथे, न माखन होय।[7]

रहीम को जीवन की सच्ची मार्मिकता का अनुभव था। वे एक सच्चे एवं भावुक साहित्यकार थे। रहीम के दोहे कोरी नीति नहीं है। उन्होंने जीवन में वेदना, पीड़ा, निराशा को देखा और भोगा था। रहीम संवेदनशील साहित्यकार है। वे जो बातें कहते हैं और उपदेश देते हैं, वे आम आदमी के जीवन को एक नई रोशनी दिखाते हैं और उसे सोचने पर विवश करते हैं कि सहनशीलता और धैर्य से कार्य करना उसके हित में है तथा सही समय आने पर ही सभी कार्य संभव होते हैं, यथा–

समय पाय फल होत है, समय पाय झरी जात।
सदा रहे नहिं एक सी, क्या रहीम पछतात।[8]

समय आने पर वृक्ष पर फल लगते हैं और समय ने पर झड़ जाते हैं। इतना ही नहीं वे आगे कहते हैं कि जिन का स्वभाव अच्छा होता है। कुसंगति का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् जो व्यक्ति सद्वृत्ति वाले होते हैं उनका कुसंगति कुछ नहीं बिगाड़ सकती।

जो रहीम उत्तम प्रकृति का, करी सकत कुसंग।
चंदन विष व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजंग।[9]

सत्पुरुष चंदन के वृक्ष की भाँति होते हैं जिस प्रकार चंदन के वृक्ष के चारों ओर साँप लिपटे रहते हैं पर उससे चंदन में विष व्याप्त नहीं होता। रहीम के विचारानुसार सहनशीलता और क्षमाशीलता मनुष्य के सबसे बड़ा गुण हैं अज्ञान वश छोटे उत्पात मचाते हैं तो बड़ों का कर्त्तव्य है कि वे उन्हें क्षमा कर दें।

छिमा बड़न को चाहिए, छोटन को उतपात।
का रहीम हरि कौ घट्यौ, जो भृगु मारी लात।[10]

सहनशीलता की परीक्षा के लिए ही महर्षि भृगु ने विष्णु भगवान को वक्ष-स्थल पर पैर से प्रहार किया था, फिर भी वे विचलित नहीं हुए थे। रहीम इस बात पर भी जोर देते हैं कि मनुष्य का क्षमाशील होने के साथ-साथ दानवीर और परोपकारी भी होना आवश्यक है, क्योंकि–

वे रहीम नर धन्य हैं, पर उपकारी अंग।
बाँटनवारे को लगै, ज्यौं मेहँदी को रंग।[11]

यह सत्य है कि परोपकारी व्यक्ति मेहँदी के समान होते हैं। परोपकारी व्यक्ति ही समाज में सम्मान प्राप्त करने का अधिकारी होता है, किंतु संसार में ऐसे भी व्यक्ति हैं जो माँगने पर भी कुछ नहीं देते। वे सबसे बड़े पापी होते हैं। याचना करने वाले का स्वाभिमान समाप्त हो जाता है। रहीम

के शब्दों में–

रहिमन वे नर मर चुके, जे कछुँ माँगन जाहिं।
उनते पिहले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं।[12]

जैसा कि इससे पूर्व भी उल्लेख किया गया है कि रहीम अपने दोहों में लोककल्याण की बात बार-बार करते हैं और उनका मानना है की लोककल्याण करने वालों को आनंद की अनुभूति होती है वह कल-कल स्वर में बैठी हुई बहती हुई नदी के और फलों से लदे हुए वृक्ष की भाँति होते हैं जो दूसरों को देते ही रहते हैं और बदले में किस बदले में कोई अपेक्षा नहीं रखते। कहने का अभिप्राय: यह कि सज्जन व्यक्ति धन का संचय करता तो है पर पुरुषार्थ के लिए।

तरुवर फल नहिं खात है, सरवर पियहिं न पान।
कहि रहीम पर काज हित, संपति संचहि सुजान।[13]

विशेषत: जहाँ एक ओर वे परोपकार, दानशीलता और क्षमाशीलता पर बल देते हैं। वे संदेश देते हुए कहते हैं कि मनुष्य को किसी बड़े करने का श्रेय स्वयं को नहीं लेना चाहिए और बड़ा कार्य करने का अभिमान नहीं करना चाहिए–

बड़े बढ़ाई न करें, बड़े न बोलें बोल।
रहिमन हीरा कब कहे, लाख टका मेरा मोल।[14]

रहीम सोच-समझकर मुख से शब्द निकालने का सुझाव देते हैं। मनुष्य की वाणी ही तो है जो दूसरों को भी अपना बना लेती है और दूसरों से दूर कर देती है–

रहिमन जिह्वा बावरी कहि, गइ सरग पाताल।
आपु तो कहि भीतर रही, जूती खात कपाल।[15]

जिह्वा तो बोल कर अंदर चली जाती है और जूते सिर को खाने पड़ते हैं। रहीम भाग्य की प्रबलता में भी विश्वास रखते थे। वे मानते थे कि मनुष्य तो कर्म कर सकता है, किंतु कर्म फल उसके हाथ में नहीं होता है। जिस प्रकार कठपुतली की डोर अदृश्य हाथों में होती है और जैसे वह उसे नचाता है, कठपुतली उसी प्रकार नृत्य करती है। इसी तरह मनुष्य के भाग्य की डोर अदृश्य शक्ति के पास होती है। उसकी मर्जी के बिना मनुष्य कुछ भी करने में असमर्थ होता है।

ज्यों नाचत कठपुतली, करम नचावत गात।
अपने हाथ रहीम ज्यों, नहीं आपनु हाथ।[16]

कहने का अभिप्राय: यह है कि मनुष्य को कर्म में विश्वास रखना चाहिए। जब मनुष्य अच्छे कर्म करता है तो फल भी उसे अच्छे ही मिलते हैं। रहीम समाज को यह भी संदेश देते हैं कि इस संसार में प्रत्येक छोटी से छोटी वस्तु का अपना अस्तित्व एवं महत्त्व है, जबकि मनुष्य बड़ी वस्तु को देखकर छोटी वस्तु बेकार की वस्तु समझकर उसका त्याग कर देता है। रहीम का यह दोहा शिक्षाप्रद है–

रहिमन देखि बड़ेन को, लघु न दीजिए डारि।
जहाँ काम आवै सुई, कहा करे तलवारि।[17]

अर्थात् हमें प्रत्येक वस्तु के महत्त्व को समझना चाहिए। रहीम में आत्मसम्मान की भावना कूट-कूटकर भरी हुई थी। उनका मानना था–

रहिमन पानी राखिये, बिन पानी सब सून।
पानी गए न ऊबरै, मोती मानुस चून।[18]

रहीम ने अपने युग में एक नई चेतना जाग्रत की। वे किसी भी प्रकार की सांप्रदायिकता और धार्मिक कट्टरता से परे थे। उनके मन में भारतीय संस्कृति के प्रति गहरा अनुराग था। उन्होंने अपने नीतिपरक दोहों के माध्यम से समाज में मानवीय मूल्यों की स्थापना की। यही कारण है कि आधुनिकयुग में भी रहीम के दोहे प्रासंगिक हैं। आज कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं दिखाई देता, जहाँ नैतिक मूल्यों का पतन न हो रहा हो। आम आदमी में संतोष की भावना कम होती जा रही है और धन के प्रति उसका आकर्षण दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। वह अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अनीति पूर्ण कार्य एवं मार्ग का अनुसरण कर रहा है। ऐसे में वह व्यक्ति परिवार, समाज और देश को पतन के गर्त में धकेल देता है। रहीम संसार की इस कड़वी सच्चाई से भी दु:खी होते है कि इस संसार में सच्चाई से काम नहीं चलता और झूठ बोलने से राम मिलते।

अब रहीम मुसकिल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम।
साँच से तो जग नहीं, झूठै मिलै न राम।[19]

रहीम ने अपने जीवन को बड़ी गहराई से देखा, समझा और परखा था। रहीम को अपने जीवन के अंतिम दिनों में अनेक कठिनाइयों और समस्याओं को सहना पड़ा था। उनके अंतिम दिनों में उनकी सारी संपत्ति, धन दौलत वापस ले ली थी। रहीम समाज की सच्चाई को प्रकट करते हुए कहते है कि संपति होने पर जो व्यक्ति चारों और घेरे रहते हैं वे विपदा के अपना मुख भी नहीं दिखाते। निम्न दोहा इसी की ओर संकेत करता है–

ए रहीम दर-दर फिरै, माँगि मधुकरी खाँहिं
यारो यारी छाँड़िए, अब रहीम वे नाँहिं।[20]

अत: कहा जा सकता है कि रहीम ने अपने दोहों में जो नीति की बातें कही हैं, वे केवल कही, सुनी बातें और कल्पित बातें नहीं हैं अर्थात् उनके दोहे कोरे उपदेशात्मक उद्‌गार नहीं हैं, अपितु उन्होंने स्वयं भोगे हुए अच्छे, बुरे अनुभव की अभिव्यक्ति है। रहीम कहते हैं कि समाज व परिवार में निहित करुणा, ममता कर्त्तव्यबोध, परोपकारिता, अनुशासनप्रियता, सांप्रदायिक सद्‌भाव, सहिष्णुता, निष्कपटता जैसे नैतिक मूल्य ही स्वस्थ समाज की स्थापना करने में सहयोग सहायक सिद्ध होते हैं। नैतिक मूल्यों के बिना आदर्श समाज की कल्पना करना असंभव है। भारतीय संस्कृति में भी नैतिक मूल्यों पर विशेष बल दिया गया है। आज की विषम परिस्थितियों में रहीम के दोहों की उपादेयता और अधिक बढ़ जाती है, क्योंकि आज मनुष्य दूसरों के अहित की बात अधिक सोचने लगा है। सच्चे अर्थों में रहीम समाज के पथप्रदर्शक है।

संदर्भ

1. हिंदी नीतिकाव्य,भोलानाथ तिवारी, पृ॰ 4
2. रहीम ग्रंथावली, हिंदी समय.कॉम, दोहा सं॰ 212
3. रहीम ग्रंथावली, हिंदी समय.कॉम दोहा सं॰ 212
4. डॉ॰ विवेकी शंकर, हिंदी काव्य, पृ॰ 189
5. विद्यानिवास मिश्र, रहीम ग्रंथावली, पृ॰ 95
6. रहीम ग्रंथावली, हिंदी समय.कॉम, दोहा सं॰ 212
7. रहीम ग्रंथावली, हिंदी समय.कॉम, दोहा सं॰ 212
8. काव्य सुषमा, भाग 2, महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, पुणे, पृ॰ 11
9. वही, पृ॰ 11

10. पूरणचंद टंडन, काव्य कानन, पृ॰ 58
11. वही, पृ॰ 59
12. रहीम ग्रंथावली, हिंदी समय.कॉम, दोहा सं॰ 212
13. डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र, रहीम ग्रंथावली, पृ॰ 79
14. गगनांचल, मई-जून, 2014, पृ॰ 38
15. रहीम ग्रंथावली, हिंदी समय.कॉम दोहा सं 201
16. रहीम ग्रंथावली, हिंदी समय.कॉम, दोहा सं 201
17. बच्चनसिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ॰ 174
18. पूरणचंद टंडन, काव्य कानन, पृ॰ 59
19. बच्चनसिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ॰ 173
20. वही, पृ॰ 173

डॉ॰ अर्चना गौतम
सहायक निदेशक (रा॰भा॰)
भारतीय फिल्म और टेलीविजन संस्थान, पुणे
मो॰ 9860588581
archana07_gautam@yahoo.co.in

 ISSN 0975-735X

'तमस' के विशेष संदर्भ में भीष्म साहनी के उपन्यास और सामाजिक यथार्थ

डॉ॰ सुनीता कुमारी
सहा॰ प्राध्यापक, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग
राँची विश्वविद्यालय, राँची

बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार भीष्म साहनी ऐसे साहित्यकार थे जिन्होंने अपनी आँखों से देखे यथार्थ को अपने साहित्य में बारीकी से प्रस्तुत किया। उनके समय का भारतीय समाज आजादी और उसके बाद का है। भीष्म साहनी की सबसे बड़ी विशेषता थी कि उन्होंने जिस जीवन को जिया, जिन संघर्षों को झेला, उसी का यथावत् चित्र अपनी रचनाओं में अंकित किया। उनका जन्म 8 अगस्त 1915 ई॰ को रावलपिंडी, भारत में हुआ था। इनके पिता का नाम हरबंसलाल साहनी तथा माता लक्ष्मी देवी थीं। उनके पिता अपने समय के प्रसिद्ध समाज सेवी थे। हिंदी फिल्मों के प्रख्यात अभिनेता बलराम साहनी उनके बड़े भाई थे।

प्राय: तीन प्रकार के रचनाकार होते हैं : स्वांत:सुखाय के लिए लिखने वाले, जैसे कि तुलसी। अर्थोपार्जन के लिए लिखने वाले जैसे कि रीतिकालीन कवि और समाज परिवर्तन के लिए लिखने वाले, जैसे कि हिंदी के प्रगतिशील कवि अथवा रचनाकार। भीष्म साहनी को लेखन के क्षेत्र में प्रगतिशील लेखन परंपरा से जोड़कर देखा जाता है।

उपन्यास लेखन के क्षेत्र में भीष्म साहनी का विशेष योगदान है। झरोखे (1967), कड़ियाँ (1970), तमस (1973) बसंती (1980) मय्यादास का माड़ी (1988), कुन्तो (1993), नीलू, नीलिमा, नीलोफर (2000) आदि उपन्यासों के माध्यम से भारतीय समाज की विभिन्न प्रकार की समस्याओं को उठाया है।

उपन्यासकारों के रूप में भीष्म साहनी को प्रतिष्ठित करने वाला उपन्यास 'तमस' है। इस उपन्यास के माध्यम से लेखक ने सांप्रदायिकता के सबाल को उठाया है। इस उपन्यास में स्वतंत्रता के पूर्व पंजाब में हुए सांप्रदायिक दंगे तथा उससे प्रभावित जनजीवन का अंकन किया है।

यशपाल के उपन्यास 'झूठा सच' भी सांप्रदायिक त्रासदी का अंकन करता है लेकिन वहाँ देखा-सुना यथार्थ है पर भीष्म साहनी ने भोगे हुए यथार्थ का वर्णन तमस के माध्यम से किया है। मार्क्सवाद से प्रभावित होने के कारण भीष्म साहनी समाज में व्याप्त आर्थिक विसंगतियों के त्रासद परिणाम को बड़ी गंभीरता से अनुभव करते थे। नि:संदेह, अपने समय और समाज से संपर्क होना साहित्य और साहित्यकार की वह अंतरंग अनिवार्यता है जो साहित्य को स्वरूप और स्वभाव प्रदान करती है। 'तमस' उपन्यास में इन्होंने न केवल सांप्रदायिकता का विश्वसनीय चित्रण किया है अपितु उन कारणों की भी तलाश की है जो देश के विभाजन और सांप्रदायिकता के मूल में थे। 'तमस' नाम ही उस अंधकार का धोतन करता है जो आदमी के भीतर की इंसानियत और संवेदना को ढक लेता है और मनुष्य को हैवान बना देता है। इस उपन्यास में भीष्म साहनी ने यह दिखाने का प्रयास

किया है कि आजादी के पूर्व के यह दंगे आकस्मिक नहीं थे अपितु इसके पीछे एक पूरा सुनियोजित तंत्र काम कर रहा था। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से दिखाया है कि यह हिंदू और मुस्लिम दोनों धर्मों के चंद लोगों की साजिश थी।

दंगे की शुरुआत अँग्रेज अफसर के इशारे पर मुराद अली द्वारा नत्थू से सूअर मरवाकर मस्जिद की सीढ़ियों पर डलवा देने से होती है। इससे उपजता है अविश्वास, आशंका और धर्मोन्माद। सैकड़ों साल से साथ-साथ एक ही मुहल्ले में जी रहे अलग-अलग धर्मों के हिंदुस्तानी लोगों की आपसी सहिष्णुता, भाईचारा, प्रेम-व्यवहार सबके सब धरे ही रह जाते हैं। कुछ शेष अगर बचता है तो वह है सांप्रदायिक, अमानवीयता का एक नंगा चेहरा, जिसको जिंदा रखकर अँग्रेज स्वयं को बनाए रखने की जुगत कर रहे थे। सच कहा जाए तो उस दंगे में हिंदू या मुसलमान दोनों ही ओर से कोई नेता नहीं मरता, मरता है तो बस फतहचंद की ताल पर काम करने वाला मजदूर गली-गली दूध बेचने वाला मियाँ, बूढ़ा हरभजन सिंह और इकबाल सिंह तबाह होते हैं सैदपूर जैसे गाँव जहाँ के पुरुष यदि मारे जाते हैं तो औरतें बच्चों को लेकर कुएँ में कूद जाती है।

इन दंगों में घर के घर तबाह हो जाते हैं। इनके लेखन की खासियत है कि इतनी बड़ी अमानवीय घटना का वर्णन करते हुए बीच-बीच में मानवीय संवेदना औ इंसानियत की झलक भी हैं—इसका एक उदाहरण अली की घर वाली राजो या करीम खान जैसे नेक आदमी हैवानियत के सारे दंश को झेलते हुए भी मानवीयता को बचाए रखते हैं।

'तमस' का प्रयोग किन अर्थों में हुआ इस पर अगर गौर करें तो 'तम' का प्रचलित अर्थ अंधकार है? सुधि पाठक होने के नाते मन में एक प्रश्न उठता है कि तब उन्होंने इस उपन्यास का नाम अंधकार ही क्यों रखा।

'तम-संज्ञा-अंधकार अँधेरा, बाराह, सूअर, पाप, क्रोध, अज्ञान, कालिख, कालिमा, नरक, मोह, प्रकृति का तीसरा गुण जिसमें काम क्रोध और हिंसा आदि उत्पन्न होते हैं।

'तमस' का एक अन्य अर्थ 'उपनिवेश' भी हो सकता है। 'तमस' अर्थात् उपनिवेश अपने खिलाफ उठने वाले हाथ, हथियार और दिमाग सहित उपनिवेशित की सारी इच्छा क्रिया शक्ति को अपनी छाया से भिड़ा देता है। यह छाया कभी 'सूअर' का रूप धरता है तो कभी किसी और रूप में स्वाँग भरती है इसलिए अंत के पहले तमस के प्रारंभ को याद करना बेहद जरूरी है।

'आले में रखे दीये ने फिर से झपकी ली। ऊपर दीवार में, छत के पास दो ईंटें निकली हुई थीं। जब-जब वहाँ से हवा का झोंका आता, दीये की बाती झपक जाती और कोठरी की दीवारों पर साये से डोल जाते। थोड़ी देर बाद बाती अपने आप सीधी हो जाती और उसमें उठने वाले धुएँ की लकीर आले को चाटती हुई फिर से ऊपर की ओर सीधे रुख जाने लगती। नत्थू का साँस धौंकनी की तरह चल रहा था और उसे लगा जैसे उसके साँस के कारण ही दीये की बत्ती झपकने लगी है।

तात्पर्य यह हम कभी दीया को बचाने के नाम पर अपनी साँस से तो कभी अपनी साँस को बचाने के लिए 'अपने दीया' से लड़ते रह जाएँगे।

'तमस' का संदेश है कि 'तमस' को पहचानना आसान नहीं, उससे बाहर निकलना तो खैर मुश्किल ही है। इस उपन्यास में सांप्रदायिक तत्त्वों के मंसूबों को बहुत ही बारीकी से बताया गया है। अँग्रेज शासकों के सरपरस्ती में जिन समाज विरोधी ताकतों ने अपने राजनीतिक हित को साधने के लिए घृणा तथा दुर्भावना को फैलाया था वह कभी खत्म नहीं हुआ, बल्कि उनकी जड़ें मजबूत ही होती गईं, जिसके नतीजे आज की देखने को मिल रहे हैं।

भीष्म साहनी ने 'अपनी बात नामक निबंध-संग्रह में संकलित' 'तमस की पूर्व बेला' नामक एक संस्करण में अपने शहर में हुए दंगों, तनाव और बिगड़ते माहौल का जिक्र किया है। दंगों के संदर्भ में उन्होंने लिखा है–'बँटवारे के कुछ महीने पहले हमारे शहर में फिर दंगा हुआ था। अब की बार शहर में जगह-जगह दंगे हो रहे थे और यह दंगा भी शहर तक सीमित न रहकर हमारे शहर के आस-पास के बीसियों गाँव में फैल गया था। तब भी मंडी में आग लगी और आसमान लाल हो गया था।'[1]

इस तनाव भरे माहौल का बड़ा जीवंत चित्र भीष्म साहनी ने खींचा है। समझदार प्रबुद्ध और तथाकथित पढ़े-लिखे लोग माहौल की नजाकत को न समझकर उसे और अधिक नाजुक, गंभीर बनाने में योगदान दे रहे थे, वहीं दूसरी ओर मानसिक रूप से विक्षिप्त जरनैल जैसा पात्र लोगों से अमन और शांति की अपील कर रहा था–'अब दरवाजे बंद थे, शहर का कारोबार, स्कूल, कॉलेज, दफ्तर सभी तब बंद हो गए थे और ऐसी संशय भरी नफरत से जलते हुए माहौल में काँग्रेसी जरनैल चबूतरे पर खड़े होकर जोर-जोर से तकरीर कर रहा था–'साबिहान आप शहर में अमन बनाए रखें। यह शरारत अँग्रेज की है जो भाई-भाई को आपस में लड़ाता है।'[2]

इस विपरीत वातावरण में भी मानवता कहीं-न-कहीं किसी रूप में जिंदा है इसका उल्लेख साहनी जी ने किया है, शहनवाज के रूप में जो एक मुसलमान होते हुए भी अपने दोस्त रघुनाथ और उनके परिवार को बचाने की कोशिश करता है–'देख फकीरे कान खोलकर सुन ले। अगर मेरे यार के घर को किसी ने बुरी नजर से देखा तो मैं तुझे पकड़ूँगा। कोई उस घर के नजदीक ना आए।'[3]

अपने इस नेक काम के लिए उसे लोगों से गालियाँ-सुननी पड़ती है लेकिन रघुनाथ की पत्नी उसे देवता स्वरूप समझती है। उसके अनुसार–'ऐसे लोगों के दिलों में भगवान बसता है जो मुसीबत में दूसरों का हाथ पकड़ते हैं।'[4]

बड़ी ही स्पष्टता एवं गंभीरता के साथ भीष्म साहनी ने विभाजन की त्रासदी उसके कारणों एवं अनेक विसंगतियों का चित्रण किया है। विभाजन कराने में जहाँ देश की आंतरिक अलगाववादी शक्तियों का हाथ था वहीं साम्राज्यवाद ने भी अहम भूमिका निभाई थी। डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड की पत्नी लीजा की बात से लेखक ने इसी स्थिति को स्पष्ट किया है–'बहुत चालाक नहीं बनो रिचर्ड। मैं सब जानती हूँ। देश के नाम पर वे लोग तुमसे लड़ते है और धर्म के नाम पर तुम उन्हें आपस में लड़ाते हो।'[5]

संदर्भ

1. भीष्म साहनी, तमस की पूर्व बेला, अपनी बात में संकलित, पृ॰ 164
2. भीष्म साहनी, तमस, पृ॰ 126
3. भीष्म साहनी, तमस, पृ॰ 128-129
4. भीष्म साहनी, तमस, पृ॰ 127
5. भीष्म साहनी, तमस, पृ॰ 45

Dr Sunita kumari
Jyoti press kokar, Ranchi 834 001
Mob. 9470368260
dr.sunita71@gmail.com

हिमांशु जोशी के कहानियों में नारी-विमर्श

डॉ॰ सुनील एम॰ पाटिल, (सहयोगी अध्यापक)
आर॰सी॰ पटेल कला, वाणिज्य एवं विज्ञान महाविद्यालय शिरपुर, धुलिया (महाराष्ट्र)

समाज निर्माण में स्त्री एवं पुरुष दोनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दोनों समाज के परस्पर अंग हैं। घर निर्माण में दोनों की आवश्यकता होती है घर के घरपन में नारी की आवश्यकता होती है, वरना बिन घरनी घर भूत का डेरा बन जाएगा। अत: घर की शोभा बढ़ाने में नारी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आधुनिकयुग में नारी हर क्षेत्र में दिखाई दे रही है। शिक्षा के क्षेत्र में तो नारी को ही अग्रण्य स्थान दिया जा रहा है। पढ़ी-लिखी नारी पूरे परिवार को सुधार सकती है। ऐसा कहा जाता है कि 'एक औरत परिवार की उन्नति भी कर सकती है और उसे बरबाद भी कर सकती है।' अत: नारी को समाज में किस प्रकार का स्थान दिया गया है उस पर निर्भर है। हर समाज में नारी के प्रति देखने का भाव अलग है। आदिकाल में स्त्री एवं पुरुष में भेद नहीं किया जाता था। दोनों का समान स्थान था। वैदिककाल में सभ्यता एवं संस्कृति को पूजने वाली नारी रही है। वेद और शास्त्रों को चित्रित करने वाली नारी होने के कारण समाज में नारी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। देवी, लक्ष्मी, ज्ञान की सरस्वती एवं शक्ति की देवी दुर्गा तभी तो देवी के रूप में पूजी गई। उत्तर वैदिककाल तक नारी को धर्म एवं समाज इन दोनों क्षेत्रों में स्थान रहा है। बौद्धिकता की दृष्टी से नारी और पुरुष में अंतर माना जाता था। वर्णव्यवस्था के कारण नारियों के आजादी एवं अधिकारों का ह्रास होने लगा। बहुपत्नी तथा अनमेल विवाह प्रथा के कारण नारी का दर्जा हीन हो गया। इस काल में भारतीय नारी की स्थिति में गिरावट आई। बाद में नारी के अधिकार छीन लिए गए। इस युग की नारी को बंधन में जकड़ दिया गया। पति की सेवा करना उसका धर्म बन गया। नारी को सिर्फ उपभोग की वस्तु बन गई। बालविवाह तथा बहुविवाह पद्धति ने नारी का अधिकारों का अपहरण कर लिया। भक्तिकाल में नारी को भक्ति में बाधक, माया, मोहनी एवं ठगिनी के रूप में चित्रित किया है। इसी काल में विलासी वृत्ति का उदय होने के कारण नारी वासना एवं रूप का केंद्र रही। आधुनिककाल में नारी पिंजरे में बंद पंछी हो गई। इस काल में नारी का बाह्य रूप पूर्णत: बदल गया। कहानीकार नारी को बंधनों से मुक्ति देना चाहते हैं। अत: आधुनिककाल की नारी की दशा, दर्जा उसके खोए हुए अधिकार को उसे वापस देना चाहते हैं।

नारी के बिना समाज-व्यवस्था की कल्पना संभव नहीं हो सकती। नारी ही समाज-व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण पहलू है। नारी माता बहन एवं पत्नी भी है। नारी ही हर पुरुष की सफलता का कारण तथा उस सफलता की बुनियाद भी है। हिमांशु जोशी जी के कथासाहित्य में नारी-चित्रण श्रेष्ठत्व की चोटी तक पहुँचा है। इन के साहित्य में माँ, बहन एवं पत्नी के आदर्श रूपों का चित्रण हुआ है। माँ का आदर्श रूप जोशी जी की कुछ कहानियों में दिखाई देता है।

जोशी जी के कहानी साहित्य में आधुनिक किंतु पुरानी मान्यताओं में लिपटी नारी का चित्रण हुआ है। यह नारी संत्रस्त एवं पीड़ित है। उन्हें कई यातनाओं ने जर्जर बना दिया है। जोशी जी की

कई कहानियों में कामकाजी नारी का चित्रण हुआ है। उनमें उनकी विवशता, पीड़ा एवं यांत्रिक जीवन का भी चित्रण हुआ है। 'सजा' कहानी की नायिका भावना एक परित्यक्ता नारी है, जो अपना जीवनयापन अपनी बहन के सहारे शहर में नौकरी करती रहती है। इस कहानी में भावना जैसी कामकाजी नारी का सहृदयता एवं भावना का चित्रण किया है।

'लकीर की परछाई' कहानी में नौकरी करने वाली नारी की व्यथा एवं विवशता का वर्णन किया है। नायिका सुजाता क्लर्क है जो किसी दफ्तर में नौकरी करती है। सुजाता के परिवार में सिर्फ बूढ़ी माँ है। कुछ दिनों से उसकी माँ बीमार रहने लगती है तब मिलने वाली तनख्वाह पर परिवार और दवा-दारू के खर्च का निर्वाह हो नहीं पाता तो ओवर टाइम करती है। माँ की हालत देखकर घर लौटने की तीव्र इच्छा होकर भी वह मैनेजर के डर से वह घर नहीं आ पाती। कुछ समय बाद माँ की मृत्यु की खबर मिलने पर भी वह घर नहीं जा पाती।

मैनेजर उसे अपने साथ पार्टी में ले जाते हैं। मजबूरन सुजाता को पार्टी में जाना पड़ता है। स्पष्ट है कि नौकरी करने वाली नारियों को अपने अधिकारियों के आदेशानुसार मजबूरी से चलना पड़ता है। मैनेजर जो कुछ कहता है वह चुपचाप सुन लेती है। कहती है कि 'मैंने दो सीटें 'राईना' में आज ही अभी-अभी मार्निंग में रिजर्व करवाई हैं। साहब ने सन्नाटा भंग किया। मैनेजर साहब, नो-नो! आज स्पेशल प्रोग्राम है मिस सुजाता। मैनेजर साहब! अरी दो-चार ही ऐसे चांस आते हैं। कितनी मुश्किल से सीट्स मिली। यू डोंट नो।'[1] दरअसल, नौकरी करने वाली नारियों का अधिकारी वर्ग द्वारा शोषण होता रहा है तथा उनके ही इशारों पर चलना पड़ता है। 'तपस्या तथा अन्य कहानियाँ' संग्रह की 'अपने ही कस्बे में' कहानी की नायिका ग्रामसेविका है। उसे अपने अधिकारी बी॰डी॰ओ॰ का हमेशा भय रहता है। जब वह इंस्पेक्शन के लिए आता है तब वह उसका शरीर चूमता रहता है। वह भी उन्हें खुश रखने के लिए सब सहती रहती है। विधवा है। कल दौरे पर बी॰डी॰ओ॰ आया था। पाँच आदमियों समेत वहीं रुका था। ठरुवा शराब की पपिया भी वहीं खुली। सुना है, सुबह वह कपाल पर हाथ रखे रोई थी।'[2]

हिमांशु जोशी की कहानियों की नारियाँ अधिक मात्रा में पीड़ित हुई हैं। नारी-जीवन को उजागर करने वाली कहानियों में नारी की आत्म-पीड़ा उजागर हुई है। कुछ नारियाँ शारीरिक पीड़ा को सहती दिखाई देती हैं। नारी संवेदनशील होने के कारण छोटी-मोटी बातों पर सोचती रहती हैं और आत्म-पीड़ित बन जाती है। यह पीड़ा कभी अपनों से मिलती है तो कभी-कभी पुराने जख्मों पर नमक छिड़क जाने से। 'स्मृतियाँ' कहानी की नायिका पुनर्जन्म पर भरोसा रखती है। जिसका पति जिंदा होने पर भी एक अनजान पुरुष के प्रति वह आकृष्ट होती है, पुर्नजन्म के सहवास की बातें छेड़ती रहती है जिसे वह अपना प्रेमी मानती है। पुरानी बातें दोहराते-दोहराते वह आत्म-पीड़ित बन जाती है। किसी दूसरी दुनिया में खो जाती है-'कई बार बोलती-बोलती सहसा चुप हो जाती। मैं बाहर कहीं अँधेरे में टिमटिमाते पीले बल्बों की ओर देखने लगता तो वह भी उसी ओर देखने लगती है।'[3]

हिमांशु जोशी जी ने अपनी कहानियों में चित्रित नारियों का आर्थिक एवं मानसिक शोषण हुआ दिखाया है। इनका समाज में किसी-न-किसी माध्यम से शोषण होता रहा है। अपने ही परिवार तथा अपनी ही बिरादारी के लोगों द्वारा होने वाले शोषण की मात्रा अधिक रही है। साथ ही नौकरी करने वाली नारियों के शोषण की मात्रा कम नहीं रही है।

'काला दारिया' कहानी की नायिका उदुली शारीरिक, आर्थिक एवं मानसिक दृष्टि से शोषित नारी है। उसके ही नजदीक के हरकु काका उसका शारीरिक एवं मानसिक शोषण करता है। वह उदुली को अपने मित्रों की वासना की भूख मिटाने के लिए ले जाता है। विधवा उदुली पर

मातृत्व लाद देता है। इतना ही नहीं उसे कलंकित करके घर से निकाल देता है। उसे कहीं न्याय न मिलने पर वेश्या बनना पड़ता है। वह उसकी सारी कमाई भी छीन लेता है। कभी-कभी मार-पीट पर उतर आता है। वह हरकु काका को कहती है कि 'देख, देख राँड का यह सब तेरी बदौलत हुआ है। उस्ताद डंडे से पीटता है, जिस दिन कम मजदूरी होती है।'[4] इस प्रकार उदुली हरकु काका और उस्ताद से शोषित नारी है। दोनों ही उदुली का शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक शोषण करते हैं।

वर्तमान युग में महानगरों में नौकरी करने वाली नारियों का बड़ा शोषण हो रहा है। दफ्तरों में नौकरी करने वाली नारी से पूरी तनख्वाह पर हस्ताक्षर करवा लिए जाते हैं और कुछ रुपए ही हाथ पर टिकाए जाते हैं। 'किसी एक शहर में' कहानी की नायिका इस प्रकार के शोषण का शिकार बनी है। उसे मिलने वाली तनख्वाह पर अपना घर चलना मुश्किल हो जाता है।

विवशता मनुष्य को जीने के काबिल नहीं रखती। उनका मन बेचैन और दुविधा के भँवर में पड़ता है। उससे छुटकारा पाना मुश्किल होता है। कभी-कभी ऐसी मजबूरी भी उनका गला घोट देती है। अत: उन्हें विवशता के कारण हर घटना को सहना पड़ता है। हिमांशु जोशी जी की कहानियों में विवश नारी का चित्रण अधिक मात्रा में हुआ है। 'गंधर्व गाथा' कहानी-संग्रह में एक 'परमिता' कहानी की नायिका परमिता एक पढ़ी-लिखी लड़की है। उम्र लगभग तीस साल के करीब है। उसका विवाह कर देने का सिलसिला जारी रहता है लेकिन विवाह तय नहीं हो पाता। वह अपनी जानकारी देती है और स्वयं ही कह देती है कि आप मुझे कतई पसंद नहीं। विवाह के संबंध में बनी समाज व्यवस्था से लगातार उसे अपमानित होना पड़ता है। वह विवश हो जाती है। वह अपने मन से शादी का विचार निकाल देती है और मन में उठे असंख्य प्रश्नों के जाल में फँसती जाती है। जैसे 'क्या उसे अभी बी॰एड॰ में प्रवेश नहीं मिल सकता? क्या उसे कोई नौकरी नहीं मिल सकती? क्या वह अपना भार इस उमर में भी खुद नहीं उठा सकती—क्यों नहीं उठा सकती-क्यों? उसकी आँखें 'क्यों' के साथ शून्य में निराधार अटक जाती हैं, जिनसे बूँद-बूँद कर टपकता रहता है।'[5] आर्थिक विपन्नता के कारण विवश हुई नारी को दूसरों के आदेश पर चलना पड़ता है। वह अपने अस्तित्व का महत्त्व भी नहीं रखती। 'रेत की धाराएँ' कहानी की नायिका इरा ऐसी ही एक नारी है जो अर्थाभाव एवं गरीबी के कारण विवश है। पैसों की खातिर तथा दूसरों के आदेशों पर अपना जिस्म बेचने तक को नहीं हिचकिचती। कहानी का निवेदक 'मैं' के ही दप्तर का एक असिस्टेंट मैं से अपना काम करा लेता है और उपहार में इरा को कुछ पैसे देकर रात गुजारने को भेज देता है। अर्थाभाव में विवश इरा राजी होती है। उसकी विवशता बूढ़े असिस्टेंट की बेटी बनाती है तो कभी 'मैं' के वासना का शिकार बनती है। निवेदक उस लड़की को वापस जाने को कहता है लेकिन लड़की विवश होकर वहीं रुकती है और कहती है कि जी पिताजी नाराज होंगे। उन्होंने रातभर यहाँ रुकने को कहा है—जी पिता जी, गुस्सा होंगे। वह रोने को हो जाती है।'[6]

स्त्री के मन में पुरुष का दु:ख देखकर रहम आता है लेकिन कभी-कभी उनका बर्ताव उनके प्रति घृणा निर्माण करता है। जिससे वह विवश भी हो जाती है। पति के बर्ताव के कारण अपना अर्धांगिनी रूप भूलकर दासी का रूप अपनाती है। उनके आदेशानुसार चलती-फिरती है फिर भी पति के बर्ताव में परिवर्तन न आता है वह विवश हो जाती है। हंसा पति की विलासी वृत्ति तथा बर्ताव के कारण विवश है। पति उसे पाश्चात्य-पद्धति के अनुसार बदलना चाहता है। पार्टी में ले जाना, बाल कटवाना, ऊँचे नुकीली एड़ी के सैंडल पहनना आदि हंसा की इच्छा के विरुद्ध होता जाता है। जैसे 'दो बच्चों का बाप बनने पर भी उनकी आकांक्षा बुझी नहीं। उन्होंने जिद करके उसके नागिन से लहरातें

केश कटवा दिए। तब वह एकांत में बहुत दिनों तक छिपाए रोती रही। पति के जीते-जी बाल कटवाना उसे बड़ा अपशकुन लगा। पर चुप रही।'[7] हंसा के इस विरोध के कारण उसे तलाक देता है। हंसा को भी पति के बर्ताव के कारण से मुक्ति लेनी है लेकिन विवशता उसका पीछा नहीं छोड़ती।

हिमांशु जोशी की कहानियाँ वास्तविकता के धरातल पर आधारित होने के कारण लेखक समाज को नजदीक से परखता हुआ दिखाई देता है। प्रकृति ने स्त्री-पुरुष को लिंगभेद के आधार पर अलग किया है और दोनों को एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट भी किया है। अपनी शूद्र वासना को मिटाने के लिए स्त्री-पुरुष शारीरिक संबंध बनाते हैं। स्त्री-पुरुष प्रेम-संबंध आत्मीयता से एक-दूसरे के पास आते हैं और उसकी परिणति यौन-संबंधों में होती है। जब वह भौतिक दृष्टि से विचार न करके उसी में अपने-आपको खो देता तब वह स्त्री की इज्जत का ख्याल रखता है, समाज में उसकी प्रतिष्ठा का ख्याल रखता है।

आधुनिकयुग में महानगरों की लड़की का एक बॉयफ्रेंड होना आधुनिकता का प्रतीक माना जाता है। वह रात को नींद में प्रेमी का ख्वाब देखती है और उसी ख्वाब को हकीकत में बदलना चाहती है। 'सफेद सपने' में कपड़े की दुकान में नौकरी करने वाली लड़की है जो हमेशा अपनी दुकान में ग्राहक बनकर आने वाले युवक 'मैं' के साथ ख्वाब में संबंध बनाती है। उससे उसे गर्भ धारण भी होता है। 'इति' कहानी की इति और सज्जन बचपन से एक-दूसरे के साथ प्रेम करते हैं। बचपन में हमेशा दोनों एक साथ रहते थे। कुछ दिनों के बाद एक-दूसरे से मिलते हैं तब वह पुनः सज्जन के साथ प्रेम-संबंध बढ़ाना चाहती है। सज्जन को बीती घटनाओं की याद दिलाती हुई कहती है, 'तुम्हें क्रीम कलर की साड़ी में मैं बहुत अच्छी लगती थी न! सुनो मुझे अपने साथ नहीं ले चलोगे दिल्ली! तुम्हारे कपड़े धुलूँगी। तुम्हारे बर्तन माँज दूँगी। दो टुकड़े रोटी तो दे ही दोगे न।'[8]

असहाय तथा पीड़ित नारी की सहायता करने का प्रलोभन दिखाकर यौन-संबंध बनाने वाले पुरुष भी समाज में दिखाई देते हैं। 'तरपन' कहानी की मधुलि असहाय विवश है। पति के तरपन के दिन विवश होकर दुकानदार से कुछ उधार माँगती है। उसे उधार देने का प्रलोभन देकर वह उस पर बलात्कार करने का प्रयास करता है।

महानगरों में यौन भावना से पीड़ित नारियाँ शरीर सुख प्राप्त करने के लिए पुरुषों के साथ संबंध रखती हैं और अपनी दमित वासना को तृप्त कर लेती हैं। 'न जानना' कहानी की बुआ एक विधवा नारी है, जिसका एक बेटा भी है। वह नौकरी करती है। अपनी दमित वासना या शारीरिक भूख मिटाने के लिए एक पुरुष के साथ यौन-संबंध रखती है। वह दफ्तर छूटने पर अपनी गाड़ी से उसे घर छोड़ता है कभी बुआ के घर में ही रात गुजारता है। जैसे 'स्कूटर लेकर लौट पड़ता हूँ। बुआ के घर के सामने रुकता हूँ। देखता हूँ, अब ग्यारह बजने वाले हैं। पानी लगातार बरस रहा है। उनके कमरे में अँधेरा है। उनके दरवाजे के पास स्लेटी रंग की एक कार खड़ी है।'[9]

संवेदना एवं भावुकता नारी का स्थायी भाव है। वह दूसरों का दुःख एवं यातना देखकर द्रवित बन जाती है। उन लोगों की कृतघ्नता को भूलकर संकट के समय वह उनकी मदद भी करती है। उसका संवेदनशील एवं करुणामय मन उनके दुःखों को बाँट लेता है। 'सजा' कहानी की नायिका भावना पति द्वारा प्रताड़ित एक परित्यक्ता नारी है। वह नौकरी कर अपना जीवनयापन करती है। वह पति की मृत्यु की खबर मिलते ही उनके घर चली जाती है। सभी के प्रति सहानुभूति जतलाकर उनकी मदद करती है। अपनी सौतन के बच्चों की हालत देखकर उसका मन करुणा से भर आता है।

'अथाह' कहानी की नायिका कुसुम है। कई सालों से बिछडो प्रेमी दिवाकर, जो उसे मिलने

आता है लेकिन भेंट न होने पर जो संदेश लिखकर चला जाता है। उसके संदेश को पढ़कर कुसुम भावविभोर हो जाती है, लिफाफा जल्दी-जल्दी खोला उसने पढ़ा। एक बार। दो बार। बीस बार। न जाने कितनी बार वह पढ़ती चली गई।'[10]

इस प्रकार हिमांशु जोशी जी की कहानियों में चित्रित नारी संवेदनशील, भावुक एवं करुणामयी रही है। दूसरों के दु:ख में दु:खी रहती है। वह यातनाओं से छुटकारा पाने की कोशिश करती है। दूसरों द्वारा प्राप्त दु:खों को आसानी से सहने वाली भावुक नारी का जोशी जी की कहानियों में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

अंत में हम कह सकते है कि स्वातंत्र्योत्तर काल में नारी का शोषण उस पर होनेवाले अन्याय, अत्याचार की मात्रा कम होने के बावजूद दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है, जिसके कारण नौकरी करने वाली नारियों की स्थिति सोच एवं चिंता का कारण बनती जा रही है। अंचल क्षेत्रों में आज भी अंधविश्वास ने नारियों को जर्र-जर्र बना रखा है। नारी भावुक होने से अधिक मात्रा में आत्मपीड़ित रहती है, विवश हो जाती है, जिससे संवेदनशील एवं भावुक नारी दम तोड़ रही है। नारी का शोषण एवं उसकी पीड़ा को दूर की भावना को परे हटा दिया जा रहा है। मुक्ति पाने के लिए वह आत्महत्या करने के लिए मजबूर बनाई जा रही है।

हिमांशु जोशी जी की कहानियों में नारी का चित्रण विविध रूपों में हुआ है। वह अन्याय, हत्याचार एवं शोषण से पीड़ित है, यौन-संबंधों से पीड़ित है। वर्तमान युग में वह गरीब गौ के समान मजबूर होकर सह रही है, जहाँ तक उसे कहीं ठिकाना नहीं मिलता। नारी अंत में ज्वालामुखी के समान कौंध उठती है। सब-कुछ नष्ट करने की क्षमता भी उसमें होती है। जोशी जी के कथा साहित्य में चित्रित नारी की पीड़ा, अन्याय, अत्याचार एवं विवशता आदि पर प्रकाश डालना उनका लक्ष्य रहा है। साथ-साथ समाज-व्यवस्था के खिलाफ, अन्याय, अत्याचार, शोषण का विरोध कर संबंधियों से प्रतिकार करने के बाद ही वह अपना जीवन सुख शांति से बिता सकती है। इस गंदी व्यवस्था के खिलाफ कर नारी को सभी से मुक्त करने का भी दृष्टिकोण रहा है।

संदर्भ

1. हिमांशु जोशी, गंधर्व-गाथा, (लकीर की परछायी), पृ॰ 194
2. हिमांशु जोशी, तपस्या तथा अन्य कहानियाँ (अपने ही कस्बे में), पृ॰ 13
3. हिमांशु जोशी, गंधर्व-गाथा, (स्मृतियाँ), पृ॰ 18
4. हिमांशु जोशी, गंधर्व-गाथा, (काला दारिया), पृ॰ 23
5. हिमांशु जोशी, गंधर्व-गाथा, (एक परमिता), पृ॰ 51
6. हिमांशु जोशी, गंधर्व-गाथा, (रेत की धाराएँ), पृ॰ 18
7. हिमांशु जोशी, गंधर्व-गाथा, (हंसा), पृ॰ 160
8. हिमांशु जोशी, गंधर्व-गाथा, (इति), पृ॰ 97
9. हिमांशु जोशी, तपस्या तथा अन्य कहानियाँ, (न जानना), पृ॰ 66
10. हिमांशु जोशी, गंधर्व-गाथा, (अथाह), पृ॰ 30

मो॰ 9518977538
drsmpatil1968@gmail.com

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में स्त्री विद्रोह के स्वर

डॉ॰ लोकेश कुमार
सहायक आचार्य (गैस्ट फैकल्टी)
राजकीय कन्या महाविद्यालय डीग, भरतपुर (राजस्थान)

आधुनिक कथालेखिकाओं में मैत्रेयी पुष्पा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका उपन्यास-साहित्य गहरी मानवीय संवेदनाओं की यथार्थ अभिव्यक्ति है और साथ ही नारी मन को व्यथित करने वाली सूक्ष्मता है। इनके उपन्यासों में पुरुष समाज द्वारा स्त्रियों पर किए गए अत्याचारों आदि को चुनौती दी गई है जो कि स्त्री द्वारा अपने शोषण के विरुद्ध उठाए गए विद्रोह के स्वरों जैसे प्रसंगों में देखा जा सकता है। इनके स्त्री पात्रों ने 'नारी अबला है' के सिद्धांत का खंडन कर उसके 'सबला' होने की बात कह 'सबलीकरण' की विचारधारा को प्रतिपादित किया है। इनके स्त्री-पात्र 'नारी-संगठन' के बल पर पुरुष सत्ता को धत्ता बताकर साहस भरा कदम उठाते हैं। इनके उपन्यास साहित्य में विद्यमान स्त्री-विद्रोह के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

'इदन्नमम' उपन्यास में कुसुमा का पति यशपाल दूसरी शादी कर लेता है तो कुसुमा भी चचिया ससुर दाऊजू से संबंध जोड़ लेती है और बच्चा पैदा करती है। परंतु यशपाल और उसके घर वाले इस संबंध का विरोध करते हैं तो कुसुमा भी उनके फैसले के विरुद्ध विद्रोह करती है। उदाहरण द्रष्टव्य है–यशपाल और कुसुमा का संवाद–

'तुम होते कौन हो हमारी नाकेबंदी करने वाले?'

'तुम्हें क्या हक....कुत्ता की जात नहीं गिनते हम तुम्हें।'

'जवान खींच लूँगा तेरी। चली जा सीधे अस्पताल और खतम करा...।'

'नहीं जाऊँगी! कभी नहीं! आकास-पाताल एक हो जायँ तो भी नहीं।'[1]

पुरुष की इच्छा होते हुए स्त्री उसे स्वीकार नहीं करती और इस उदाहरण में पुष्पा जी ने स्त्री की दृढ़ता को पुख्ता किया है। 'चाक' उपन्यास में फुफेरी बहन रेशम की जेठ डोरिया द्वारा हत्या कर देने पर हत्या का बदला लेने के लिए सारंग पति रंजीत से कहती है, 'तुम जागो रंजीत! उठो!'[2] इस माध्यम से नायिका सारंग अब तक स्त्री का जो शोषण हुआ, अत्याचार हुए। उनका मुकाबला करने के लिए रंजीत को उठा या जगा रही है। वह ऐसे वाक्य कहकर अपनी शक्ति, सामर्थ्य को पहचान रही है तथा शोषण के प्रति विद्रोह करने के लिए स्वयं को तैयार कर रही है। 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास में अल्मा को पकड़कर सूरजभान की कैद में लाया जाता है। उसे बेइज्जत, अपमानित तथा प्रताड़ित किया जाता है तो उस समय अल्मा की जो स्थिति है उससे उसकी दृढ़ता का पता चलता है–'नत्थू अपनी रौ में था, भाई हद है ढीठपने की। इस लड़की का नग-नग तलाशा था सूरजभान ने। संग में परसराम था। वे इसके कपड़े खोलते, यह उन पर धावा बोलती। उछलकर लात मारी थी परसराम की छाती पर।'[3]

'इदन्नमम' उपन्यास की नायिका 'मंदा' में विद्रोह का साहसिक स्वर वहाँ से दिखाई देता

है जब उसकी दादी (बऊ) उसे श्यामली लेकर पहुँचती है। वह स्कूल के आगे खड़ी होती है तो उसे पुलिस पकड़ ले जाने का डर बताया जाता है तो तब वह बऊ से प्रश्न करती है। उनसे उसका साहस दिखाई पड़ता है–'बऊ, ऐसे ही ले जाएगी पुलिस? मैं पुलिस वालों के हाथ आऊँगी? मेरे मुँह पर लिखा है कि मैं मंदा हूँ? कि मैं ही अम्मा की बेटी हूँ? बऊ...मैं कितने दिनों तक बंद रहूँगी?'[4] 'कहीं ईसुरी फाग' उपन्यास में रज्जो नाइन के घर बैठती है तो जेठ रामदास बहू रज्जो को लात-घूँसा, थप्पड़ आदि से मारता है तो इसका विरोध नाइन ने उस्तरा लहराकर, लल्लू की बहू ने हँसिया तथा तमोलिन ने चाकू दिखाकर किया। रामदास ने जब इन औरतों से अपशब्द कहे तो घमासान मच गया जिसमें स्त्री साहस को इस प्रकार व्यक्त किया–'उनका निशाना रामदास की मर्दानगी था तो पुजारी का मकसद यहाँ से जान बचाकर निकल जाना। माचिस पास होती तो रामदास इस घर में आग लगा देता, मगर माचिस की जली तीलियाँ-सी आँखें लेकर इस ओर नाइन तो उस ओर तमोलिन और लल्लू की बहू सामने। रामदास पीछे की ओर भागा।'[5]

'अगनपाखी' उपन्यास में 'भुवन' का जेठ कुँवर अजयसिंह जिसने पागल भाई की शादी छल-कपट से की है। आज स्त्री अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक है। वह सामंती नियमों, कानूनों की धज्जियाँ उड़ा देना चाहती है–'उसका बस चलता तो इस फरेबी कुँवर जो अपने पागल भाई के लिए ब्याह ले गया, को कोड़ों से पीटकर इस घर से बाहर कर देती।'[6] 'त्रिया-हठ' उपन्यास में बेहमई में ठाकुरों ने फूलनदेवी को अपनी हवस का शिकार बनाया था तो वह अपने शोषण, अत्याचार, अन्याय आदि का बदला लेने के लिए घर छोड़कर जमुना और चंबल के बीच घाटियों में बंदूक लेकर घूमती है–'पर लला, यह वही बखत था, जब जमुना और चंबल के बीच घाटियों में फूलनदेवी घूम रही थी, जो मुँह से नहीं बंदूक से बात करती थी और इस इलाके की लड़कियाँ चौकन्नी हो गई थीं कि आखिर उनकी हिम्मतवर देह की कीमत क्या हो सकती है।'[7] अतः स्पष्ट है कि शरीर से पुरुष ही बलिष्ठ नहीं होता है, स्त्री भी होती है। पुष्पा जी ने शरीर सौष्ठव के माध्यम से उपन्यासों में स्त्री साहस को व्यक्त किया है।

मैत्रेयी पुष्पा के स्त्री पात्र अब पुरुषों के निर्णय से सहमत नहीं हैं। वे अपना अच्छा-बुरा स्वयं समझते हैं और ये स्त्री पात्र निर्णय लेने में सक्षम हैं। 'विजन' उपन्यास में मुकुल और आभा पति-पत्नी हैं, परंतु आएदिन दोनों में झगड़ा, मारपीट होती रहती है। आभा अपने माँ-बाप के घर आ गई है तथा मारने-पीटने से परेशान होकर आभा अपने पति मुकुल से तलाक लेने को तैयार हो जाती है–'मुकुल, आई वांट आ डायवोर्स। आई वांट डायवोर्स। आई वांट डायवोर्स....मैं तलाक चाहती हूँ। तलाक चाहती हूँ....क्योंकि कोई कितना ही प्यारा क्यों न हो, अगर यंत्रणा देता है तो.. ...मुकुल, किसी को हक नहीं कि दूसरे को ऐसा सदमा दे कि उसका संतुलन बिगड़ने लगे। उस आघात का कारण क्या था?'[8] यहाँ आभा डॉक्टर, पढ़ी-लिखी, आधुनिक नारी है। वह पति मुकुल से प्रश्न करती है तथा आघात का कारण जानना चाहती है। इसी प्रकार 'अगनपाखी' उपन्यास में 'भुवन' की शादी पागल कुँवर विजयसिंह के साथ कर दी जाती है जिसका विरोध 'भुवन' यह कहकर करती है–'ये गहने धरो चाहे लौटा दो, लाखों के होंगे। पर एक खरी बात सुन लो, भले टका की सही। मैं वहाँ जाने वाली नहीं।'[9]

मैत्रेयी पुष्पा की स्त्री परंपराओं को बदलने में सक्षम है। 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास में 'भूरी' कबूतरी ऐसी माँ है जिसे परंपरा के अनुसार बेटे को कुल्हाड़ी, डंडा आदि थमाना था लेकिन पकड़ाई पोथी। परंतु कबीले के लोग इस पर तोहमत फेंकते हैं लेकिन उसने परवाह नहीं की।

बिरादरी उसे बदकार औरत कहती है और सजा देने की बात पर भूरी सनसनाकर बोली, 'तुम सजा दोगे? रामसिंह के बाप को जिन्होंने मार डाला, उनके लिए सजा है तुम्हारे पास।'[10] मुखिया और पंचों ने जो पंचायत की उसे भूरी ने नहीं माना और कबीले की जो परंपरा बनी हुई थी उसको बदला। 'गुनाह-बेगुनाह' उपन्यास में मनीषा के पिता शराब पीकर मनीषा, माँ परिवार के और लोगों को भी मारते पीटते, लेकिन एक दिन पिटाई ज्यादा परवान चढ़ जाने पर भाई चीखकर चाचा को बुला लाया, तो पापा और नाराज हो गए। मनीषा पिटती रही लेकिन हिम्मत करके उसने मोटा डंडा उठा लिया और पापा पर चला दिया जैसा कि उल्लेख है–'डंडा चला दिया पिता पर। बाप को पीटने लगी। लड़की शैतान की खाला। ऐसा कहने वाले बहुत थे मगर बाप पीटता था रोज, इस पर बोलने वाले कोई नहीं।'[11] ये बगावत कोई एक बेटी की एक बाप के प्रति नहीं बल्कि एक आधुनिक, पढ़ी-लिखी लड़की की पितृसत्ता की रूढ़ियों, परंपराओं में बँधे व्यक्ति के अत्याचारों के प्रति है। लड़की को शैतान की खाला कहने वाले पुरुष समाज में अपने वर्चस्व को चुनौती मानते हैं।

मैत्रेयी पुष्पा की स्त्री विद्रोह के अंतर्गत दृढ़ता, निर्णय क्षमता, साहस, परंपरा, बदलाव से भी आगे क्रोध तक पहुँचती है। यह क्रोध उपन्यासों में विध्वंस का रूप लेता है। 'बेतवा बहती रही' उपन्यास में उर्वशी के विधवा हो जाने पर उसका भाई अजीत फूफा बरजोरसिंह के साथ 'बछिया' कराके अपने स्वार्थ को पूरा करना चाहता है तो उर्वशी को यह बात माँ ने बताई तब अजीत के इस कृत्य के प्रति उर्वशी का विद्रोह इस प्रकार व्यक्त हुआ–'अनगिनत वृश्चिक-दंश लगने लगे तन में, मन में। पीड़ा शिराओं में फैलने लगी, जैसे कोई तेज धारधार चाकू से चीर रहा हो कलेजा...चारों ओर खून ही खून मुट्ठियाँ भिंच गईं। आँधी की तरह आवेग में उठी और दीवाल से सिर मारने लगी, धड़ाक-धड़ाक!'[12] यह विद्रोह क्यों? यह क्रोध क्यों? इसलिए कि वह एक छोटे से बच्चे की माँ है, वह एक भारतीय नारी है उसके अंदर ममता है, वात्सल्य है, स्नेह है साथ-ही-साथ उसका स्वार्थी भाई अजीत यह नहीं जानता कि जिससे वह 'बछिया' करा रहा है। वह पिता समान फूफा है जिसकी बेटी मीरा उसके बराबर की है। उर्वशी का यह मूक विद्रोह आगे 'त्रिया-हठ' उपन्यास में मुखर सामूहिक संघर्ष की दिशा में अग्रसर होता है। 'इदन्नमम' उपन्यास में 'सुगना' की इच्छा के विपरीत पिता जगेसर अपनी बेटी की शादी चरित्र से पतित व्यक्ति अभिलाख के बेटे से तय करता है तो वह पिता के फैसले के विरुद्ध विद्रोह करती है क्योंकि वह उपन्यास नायिका मंदा की सहेली है। मंदा पैसा कमाने के लिए ट्रैक्टर खरीदकर स्वावलंबन द्वारा अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार कर अपनी स्थिति को मजबूत करती है। इस कार्य में सुगना भी सहयोग कर अपने अस्तित्व को बचाती है–'जिज्जी, सुगना ने अभिलाख सिंह की देह में चक्कू ही चक्कू मारे! गोद डाला शरीर।'[13]

'चाक' उपन्यास में रंजीत अपनी पत्नी सारंग पर शक करता है। इस पर स्त्री के तन-बदन में आग और विद्रोह की ज्वाला पैदा होती है, वैसी ही आग, विद्रोह सारंग में है। रंजीत बेटे चंदन को भाई दलवीर के साथ भेजने की कहता है तो इस पर सारंग मना कर देती है तब रंजीत सारंग की घूँसों से पिटाई करते हैं तो सारंग ने लपककर खूँटी से बंदूक उतारी और बिजली की सी फुर्ती से चला दी–'धाँय! धाँय! घर-आँगन थर्रा गया। चौक में पेड़ हिल गया। चिरइया-परेवा फड़फड़ा उठे। असल मर्द है तो छू चंदन को! छू? रणचंडी बनी खड़ी है सारंग।'[14] इस प्रकार उपन्यास के अंत तक आते-आते सारंग अपने शोषण, अत्याचार, अपमान आदि के विरुद्ध तनकर खड़ी हो जाती है। 'झूला नट' उपन्यास में शीलो के विद्रोही रूप को बालकिशन बताता है–'शीलो भाभी! फन पर चोट लगी नागिन! बालकिशन हतप्रभ रह गया। ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर भँवरी की तरह चक्कर

काट रही है। हाथ से छूकर घर की दीवारों को ढहा सकती है। कोप-क्रोध की ऐसी भंगिमा पहली बार अख्तियार की है उन्होंने।'[15] 'फरिश्ते निकले' उपन्यास में बेला की देह का शोषण भारत, जोरावर आदि पाँच भाइयों ने किया तब उसे प्रति विद्रोह बेला ने पाँचों भाईयों पर केरोसिन छिड़क कर दिया–'माचिस की तीली जला दी। देखने लायक नजारा था, तेल के छिड़काव पर अग्नि-बेल बनती हुई पलंगों और दीवारों तक चढ़ने लगी। धरती दावानल की ज्वाला में अदृश्य...हाहाकार कौन मचाता? नशे की रस्सियों में पाँचों भाई बँधे पड़े थे। जल गए। राख-खाक हो गए।'[16] इस प्रकार पुष्पा जी ने उपन्यासों में विद्यमान स्त्री विद्रोह को व्यक्त किया है साथ ही संकेतित है कि पुष्पा जी के स्त्री पात्रों ने पितृसत्ता, सामंती सत्ता के विरुद्ध रणभेजी गुजाई है क्योंकि उसने अपनी अस्मिता को पहचाना है। स्त्री में वह शक्ति है जो अकेले पितृसत्ता से टकराने के लिए उसे किसी पुरुष की आवश्यकता नहीं है।

निष्कर्षत: मैत्रेयी पुष्पा के साहित्य की स्त्री कोई अभिजात वर्ग की नहीं है, न ही सुख-सुविधाओं में पली-पढ़ी है। वह तो कामकाजी, श्रमजीवी, शिक्षित तथा वर्तमान जीने वाली है। उसका विद्रोह अपनों से है–भाई, पिता, पति आदि से है क्योंकि वह अपनी अस्मिता को गरिमा के साथ पुन: प्राप्त करना चाहती है। सामाजिक विसंगतियों, शोषण उपक्रमों एवं उत्पीड़न की निरंतर स्थितियों के बीच स्त्री की पीड़ा को संवदेनशीलता के साथ शब्दांकित करने की जो आवश्यकता वर्तमान में महसूस की जा रही है उसे पुष्पा जी ने अपने उपन्यासों में अंकित कर उपन्यासों को सार्थक बनाया है।

संदर्भ

1. मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, पृ॰ 124
2. मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ॰ 08
3. मैत्रेयी पुष्पा, अल्मा कबूतरी, पृ॰ 291
4. मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, पृ॰ 51
5. मैत्रेयी पुष्पा, कहीं ईसुरी फाग, पृ॰ 205
6. मैत्रेयी पुष्पा, अगनपाखी, पृ॰ 78
7. मैत्रेयी पुष्पा, त्रिया-हठ, पृ॰ 86
8. मैत्रेयी पुष्पा, विजन, पृ॰ 129
9. मैत्रेयी पुष्पा, अगनपाखी, पृ॰ 71
10. मैत्रेयी पुष्पा, अल्मा कबूतरी, पृ॰ 76
11. मैत्रेयी पुष्पा, गुनाह-बेगुनाह, पृ॰ 227
12. मैत्रेयी पुष्पा, बेतवा बहती रही, पृ॰ 112
13. मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, पृ॰ 360
14. मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ॰ 412
15. मैत्रेयी पुष्पा, झूला नट, पृ॰ 62
16. मैत्रेयी पुष्पा, फरिश्ते निकले, पृ॰ 83

ग्राम, पोस्ट साबौरा, तहसील कुम्हेर
जिला भरतपुर, राजस्थान 321206
मो॰ 8239308801
lokeshkumarsharma1781@gmail.com

अमृत महोत्सव से संबंधित खबरों के राष्ट्रीय हिंदी न्यूज चैनलों पर प्रस्तुतिकरण का दर्शकों पर प्रभाव: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

आदर्श कुमार, असि॰ प्रोफेसर,
स्कूल ऑफ जर्नलिज्म एंड मास कम्युनिकेशन,
नोएडा इंटरनेशनल यूनिवर्सिटी (उ॰प्र॰)
शोधार्थी, डिपार्टमेंट ऑफ जर्नलिज्म एंड मास कम्युनिकेशन,
मणिपाल यूनिवर्सिटी जयपुर (राज॰)

तारीख 12 मार्च, 1930 यही वह ऐतिहासिक दिन था, जब राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने नमक सत्याग्रह की शुरुआत की थी। इस अविस्मरणीय दिन के ठीक 91 साल बाद यानी 12 मार्च, 2020 को भारत के प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी ने जब घोषणा की कि आजादी के 75 साल पूरे होने से 75 सप्ताह पूर्व भारतवर्ष अमृत महोत्सव की शुरुआत कर रहा है और यह 15 अगस्त 2023 तक चलेगा तो देश के सामने एक सुअवसर उपस्थित हुआ, जब वो आजादी के लिए कुर्बान होनेवाले देश-प्रेमियों और भारतीय संस्कृति को पुष्पित-पल्लवित करने वाले महान व्यक्तित्वों की गाथाओं और विविधवर्णी आयाम को न सिर्फ याद करें बल्कि उसका उत्सव मनाएँ। समग्र भारतवर्ष में अमृत महोत्सव से जुड़े कार्यक्रमों का शानदार आगाज हुआ और इसके उल्लास की आभा का अवलोकन पूरा विश्व कर रहा है। अखबार, पत्रिकाएँ, रेडियो, टीवी और डिजिटल मीडिया के जरिए अमृत महोत्सव से संबंधित कार्यक्रमों को प्रसारित किए जा रहे हैं। ये सिलसिला तो अगले साल तक चलता रहेगा मगर सबसे बड़ा सवाल यह है कि प्रमुख राष्ट्रीय हिंदी न्यूज चैनल, जिनका देश के जनमानस पर एक व्यापक असर पड़ता है, वह इस महोत्सव को कैसे प्रस्तुत कर रहा है। हिंदी न्यूज चैनलों में अमृत महोत्सव से जुड़े कार्यक्रमों को लेकर किस कदर उत्सुकता है? 12 मार्च 2020 से लेकर 12 मार्च, 2022 यानी 2 सालों तक अमृत महोत्सव को हिंदी न्यूज चैनल किस तरह प्रस्तुत करता रहा है? यह शोधपत्र न सिर्फ इन जिज्ञासाओं को जवाब देता है, बल्कि अमृत महोत्सव का कौनसा रंग जनमानस पर चढ़ रहा है, इस बारे में भी पर्याप्त संकेत करता है। साथ ही यह शोधपत्र देश के उज्ज्वल भविष्य की योजनाओं और उद्देश्यों को साकार करने के लिए अमृत महोत्सव किस कदर जनमानस के हृदय में भारत की विराट विभूतियों की जीवंत उपस्थिति को प्रक्षेपित करेगा, इसकी भी व्याख्या करता है।

उसे यह फिक्र है हरदम नया तर्जे-जफा क्या है?
हमें यह शौक है देखें, सितम की इंतहा क्या है?

(शहीद भगत सिंह)

अँग्रेजों ने जब सितम की इंतहा कर दी तो देश के रणबाँकुरों ने दिखा दिया कि आजादी के

परवाने आजादी हासिल करने के लिए कोई भी कीमत चुकाने को तैयार हैं। शहीद भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद, सुभाषचंद्र बोस, रामप्रसाद बिस्मिल, मंगल पांडे, खुदीराम बोस, सुखदेव, राजगुरु, रानी लक्ष्मीबाई, अशफाक उल्ला खान जैसे कितने ही भारतमाता के सपूतों ने स्वयं की आहुति दे दी। वहीं महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, सरोजिनी नायडू, बाबासाहेब भीमराव अंबेडकर, खान अब्दुल गफ्फार खान और वीर सावरकर जैसी विभूतियों ने उस भारत की नींव रखी, जो आज विश्व में ना सिर्फ अपनी आजादी के गौरवाशाली इतिहास का यशगान कर रहा है, बल्कि दुनिया के लिए प्रेरणा का विशाल स्तंभ के तौर पर भी रौशन हो रहा है। यकीनन आजादी का अमृत महोत्सव एक आगाज है उन सपनों को साकार करने का, जिन्हें हमारे महापुरुषों ने देखा था। इस महोत्सव का सफर आकर्षक है, प्रेरक है मगर भारतीय मीडिया खासकर हिंदी न्यूज चैनल इसे कितने प्रभावशाली तरीके से प्रस्तुत कर रहा है, यह समझना जरूरी तो है ही, साथ ही दिलचस्प भी।

12 मार्च, 2021 को राज्यसभा टीवी पर 'आज की चर्चा' कार्यक्रम प्रसारित किया गया, जिसकी एंकर अमृता चौरसिया थीं। इस चर्चा में निरूपमा कोटरु (संयुक्त सचिव, संस्कृति मंत्रालय) और दीपा मलिक (समिति सदस्य, अमृत महोत्सव, 2021) ने बताया कि किस तरह अपरिमित ऊर्जा से इस अमृत महोत्सव का आगाज हो रहा है। इस महोत्सव के उद्देश्य को लेकर इस कार्यक्रम में विस्तार से चर्चा की गई।

राज्यसभा टीवी पर ही अमृत महोत्सव के आगाज से पहले इस पर चर्चा प्रस्तुत की गई, जिसमें एंकर प्रीति सिंह ने वरिष्ठ पत्रकार प्रदीपसिंह और इतिहासकार डॉ॰ मक्खनलाल से विस्तार से विमर्श किया। इसमें दांडी यात्रा के महत्त्व की भी यथासंभव व्याख्या की गई। जनभागीदारी और जनभावना के साथ किस तरह इस उत्सव को मनाया जाएगा, इसके लिए इस शो को बेहद तथ्यपरक तरीके से प्रस्तुत किया गया।

'आजादी के 75 साल के जश्न की क्या है तैयारी' शीर्षक से 8 मार्च, 2021 को इंडिया टीवी ने एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। इस कार्यक्रम में मुख्य रूप से प्रधानमंत्री के संबोधन को जगह दी गई, जिसमें वे सभी अमृत महोत्सव के आयोजन से जुड़ी समिति को संबोधित कर रहे थे, जिसमें सभी राज्यों के राज्यपाल भी शामिल थे। इस कार्यक्रम में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के वक्तव्य 'कोई भी प्रयास, कोई भी संकल्प बिना उत्सव के पूरा नहीं होता' को विशेष तौर पर प्रसारित किया गया। प्रधानमंत्री के संबोधन पर आधारित यह कार्यक्रम अमृत महोत्सव के उद्देश्यों को ठीक तरीके से व्याख्यायित करने में सफल रहा।

20 जनवरी, 2022 को न्यूज 18 पर ब्रह्मकुमारी संस्था के अमृत महोत्सव से जुड़े कार्यक्रम की खबर को प्रमुखता से प्रसारित किया गया। गौरतलब है कि इस आयोजन में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी भी शामिल हुए थे। उनके बयान को बुलेटिन में यथोचित जगह दी गई, जिससे दर्शक अमृत महोत्सव के उद्देश्यों को बेहद स्पष्ट तरीके से समझ सके। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के वक्तव्य कि 'संकल्पों से ही सिद्धि मिलती है' को चैनल के टॉप बैंड के जरिए बार-बार प्रदर्शित किया गया।

इसी दिन इंडिया टीवी ने इस आयोजन की खबर को प्रमुखता से प्रसारित किया। इस वीडियो का शीर्षक भी अमृत महोत्सव की खबर और प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के बयान से जुड़ा था। न्यूज बुलेटिन में अन्य महत्त्वपूर्ण खबरें भी शामिल थीं। लेकिन बुलेटिन का शीर्षक 'मोदी ने क्यों कहा कि भारत में नया सवेरा आनेवाला है' अमृत महोत्सव से जुड़ी खबर के महत्त्व को रेखांकित

करने के लिए काफी था।

साहित्य समीक्षा–अमृत महोत्सव से जुड़े कार्यक्रम को ज्यादा से ज्यादा लोग देखें, इस बात की चिंता हिंदी न्यूज चैनल के संपादकों को भी रहती है। दरअसल, पुस्तक 'टीआरपी: टीवी न्यूज और बाजार' में लेखक और वरिष्ठ पत्रकार मुकेशकुमार ने लिखा है कि 'स्थापित चैनल जब कोई नया कार्यक्रम शुरू करना चाहते हैं तो उसकी सामग्री और प्रस्तुति के बारे में निर्णय लेते समय भी उनके दिमाग पर टीआरपी और विज्ञापनदाता हावी रहते हैं।'[1] वैसे ज्यादातर चैनल मनोरंजक कार्यक्रमों को महत्त्व देते हैं लेकिन खासकर हिंदी न्यूज चैनल अगर जन उपयोगिता को ध्यान में रखें तो अमृत महोत्सव पर आधारित कार्यक्रम सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो सकेंगे। टीवी माध्यम की उपस्थिति और उसका व्यापक प्रभाव सर्वविदित है। लेकिन दर्शकों को भी अपनी पसंद के बारे में खुलकर अभिव्यक्ति करनी होगी। 'पूँजी, व्यावसायीकरण और टेक्नॉलाजी के वर्चस्व के युग में मीडिया को जनसरोकारवादी बनाए रखने में नागरिक समाज महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।'[2] वहीं चैनलों को भी चाहिए कि लगातार एक ही जैसे कार्यक्रम के ढर्रे से बाहर निकले। 'शो की सफलता का फॉर्मूला यह बन गया है कि जितना बड़ा विवाद, उतनी अधिक टीआरपी और उसी अनुपात में बढ़ता चैनल का मुनाफा।'[3] इस तरह के घिसे-पिटे फॉर्मूले से बाहर निकलकर भारतीय संस्कृति की गाथाओं को वृहत्त स्तर पर प्रस्तुत करने की आवश्यकता है।

प्रभात खबर में छपी एक खबर के मुताबिक आजादी के अमृत महोत्सव के दरम्यान एशिया महादेश के सबसे बड़ा जन आंदोलन संताल विद्रोह (1855-1856) से जुड़े प्रचुर ऐतिहासिक दस्तावेज उपलब्ध है। लेकिन इन पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। सिद्धू, कान्हू, चाँद और भैरव जैसे नायकों के बारे में ज्यादातर लोगों को जानकारी नहीं है। दैनिक जागरण की वेबसाइट पर 2 अप्रैल, 2022 को प्रकाशित एक लेख के मुताबिक आजादी के अमृत महोत्सव के बीच उन लोगों को भी याद किए जाने की आवश्यकता है, जिन्होंने पराधीन भारत में फिल्म विधा को सशक्त करने में अहम योगदान दिया।

शोध प्रश्न:

1. क्या आपने हिंदी न्यूज चैनलों पर अमृत महोत्सव से जुड़ा कार्यक्रम देखा है?
2. क्या आप हिंदी न्यूज चैनलों के अमृत महोत्सव से जुड़े कार्यक्रम के प्रसारण को लेकर संतुष्ट है?
3. क्या आपको हिंदी न्यूज चैनलों पर दिखाए गए कार्यक्रमों से अमृत महोत्सव के उद्देश्य एवं महत्त्व के संदर्भ में संपूर्ण जानकारी मिली है?
4. क्या आप मानते हैं कि हिंदी न्यूज चैनलों पर अमृत महोत्सव से जुड़े कार्यक्रमों को देखकर आपके ज्ञान और आपकी समझ में बढ़ोतरी हुई है?
5. क्या आप मानते हैं कि भारत के गौरवमय इतिहास और संस्कृति से जुड़े इस तरह के कार्यक्रम टीवी पर और ज्यादा दिखाए जाने चाहिए?

शोध प्रविधि–हमने ये शोध प्रश्न गूगल फॉर्म्स के तौर पर ईमेल, वॉट्सएप और फेसबुक मैसेंजर के जरिए 223 लोगों को भेजे। कुछ लोगों से हमने फोन कॉल के जरिए भी उपर्युक्त सवाल पूछे। इन सभी माध्यमों को मिलाकर कुल 157 लोगों के जवाब हमें मिले।

शोध परिणाम–पहले सवाल के जवाब में 65 फीसदी लोगों ने कहा कि उन्होंने हिंदी न्यूज चैनलों पर अमृत महोत्सव से जुड़े कार्यक्रम देखे हैं, 28 फीसदी लोगों ने कहा कि नहीं और बाकी

7 फीसदी लोगों ने कहा कि उन्हें याद नहीं। दूसरे सवाल के जवाब में 42 फीसदी लोगों ने कहा कि हां, वो हिंदी न्यूज चैनलों पर अमृत महोत्सव से जुड़े कार्यक्रमों के प्रसारण को लेकर संतुष्ट हैं, 31 फीसदी लोगों ने कहा कि नहीं और बाकी 27 प्रतिशत लोगों ने कहा कि साफ तौर पर कहना मुश्किल है। तीसरे सवाल के जवाब में 49 फीसदी लोगों ने कहा कि हाँ, वहीं 17 फीसदी लोगों ने कहा कि नहीं, जबकि 34 फीसदी लोगों ने कहा कि उन्हें अलग-अलग माध्यमों से जानकारी मिली। चौथे सवाल के जवाब में 53 फीसदी लोगों ने कहा–हाँ, 30 फीसदी लोगों ने कहा–नहीं और बाकी 17 फीसदी लोगों का कहना था कि साफ तौर पर कहना मुश्किल है। समझ और ज्ञान में बढ़ोतरी को लेकर साफ तौर पर कुछ कहा नहीं जा सकता। चौथे सवाल के जवाब में पाँचवें और बेहद अहमद सवाल के जवाब में 82 फीसदी दर्शकों ने माना कि भारत के गौरवशाली इतिहास और संस्कृति से जुड़े कार्यक्रम हिंदी न्यूज चैनलों पर और ज्यादा दिखाए जाने चाहिए।

प्रदत्त विश्लेषण–इस शोध के जो परिणाम आए, उनके विश्लेषण से कुछ बातें स्पष्ट होती हैं। पहली बात यह कि लोग किसी कार्यक्रम के बारे में जानने-समझने के लिए हिंदी न्यूज चैनल देखते हैं, 65 फीसदी लोगों का यह मानना इस तथ्य को बखूबी रेखांकित करता है। दूसरी बात कि करीब 42 फीसदी लोग हिंदी न्यूज चैनलों पर अमृत महोत्सव से जुड़े कार्यक्रम के प्रसारण को लेकर संतुष्ट हैं। तीसरी बात कि 49 फीसदी लोगों का ये मानना कि उन्हें हिंदी न्यूज चैनलों पर प्रसारित कार्यक्रम के जरिए अमृत महोत्सव को लेकर संपूर्ण जाकारी मिली, इस बात का संकेत है कि कार्यक्रमों में तथ्यों का भरपूर समावेश हुआ। चौथी बात यह कि तकरीबन आधे लोगों ने यह माना कि हिंदी न्यूज चैनलों पर अमृत महोत्सव से जुड़े कार्यक्रम को देखने के बाद उनके ज्ञान और समझ में बढ़ोतरी हुई, यह एक सकारात्मक पहलू है और यह हिंदी न्यूज चैनलों की लोकप्रियता और विश्वसनीयता को भी बल देते हैं। पांचवीं बात की कि तीन चौथाई से भी ज्यादा लोग अमृत महोत्सव और भारतीय संस्कृति से जुड़े कार्यक्रम देखना पसंद करते हैं।

परिचर्चा–आज तक के एक्जक्यूटिव एडिटर और लोकप्रिय न्यूज एंकर सईद अंसारी से जब हमने अमृत महोत्सव से जुड़े कार्यक्रमों के महत्त्व को लेकर बातचीत की तो उनका कहना था कि 'भारतीय संस्कृति से जुड़े कार्यक्रमों को दर्शक हमेशा पसंद करते हैं और यह उनकी जानकारी में भी इजाफा करता है। हमारे शहीद, हमारे महापुरुष कदम-कदम पर भारत के उज्जवल भविष्य के लिए मार्गदर्शन करते हैं। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को याद करना हमें गर्व की अनुभूति से भर देता है।

न्यूज 18 के मैनेजिंग एडिटर किशोर अजवाणी से जब हमने अमृत महोत्सव से जुड़े कार्यक्रमों के प्रसारण और उनकी गुणवत्ता को लेकर बातचीत की तो उन्होंने कहा कि 'जब हम आजादी या देश को प्रगति पथ पर ले जाने वाले महापुरुषों और विराट व्यक्तित्वों को याद करते हैं तो स्वाभाविक तौर पर गुणवत्ता का स्तर बेहतर रहता है क्योंकि उनके बारे में बातचीत की जाने वाली हर चीज अहम होती है, सुनने-समझने लायक होती है। हाँ, ये जरूर है कि बेहतर कंटेंट से ज्यादा से ज्यादा दर्शकों तक सूचनाएँ पहुँचाने में मदद मिलती है और एक संतुष्टि का अहसास होता है।'

डीडी न्यूज के वरिष्ठ न्यूज एंकर और सीनियर कंसल्टिंग एडिटर अशोक श्रीवास्तव के मुताबिक 'भारत ऋषि-मुनियों का देश रहा है। यहाँ एक से बढ़कर एक महान व्यक्तित्व, नेतृत्वकर्ता, युगप्रणेता और विश्वपटल पर धर्म और अध्यात्म का परचम लहराने वाली विभूतियों ने जन्म लिया

 ISSN 0975-735X

है। आज की पीढ़ी जो मीडिया के अलग-अलग माध्यमों से सूचनाएँ हासिल करती है, उन तक ज्यादा से ज्यादा संख्या में ऐसे कार्यक्रम तैयार कर पहुँचाए जाने चाहिए। अब ये कोशिश बड़े पैमाने पर हो रही है लेकिन मेरा मानना है कि हमें इस दिशा में और तेजी से काम करने की जरूरत है।'

निष्कर्ष–इस शोध के उपरांत तीन महत्त्वपूर्ण निम्नलिखित निष्कर्ष सामने आए।

1. भारत के गौरवशाली अतीत और महान व्यक्तित्वों की अद्‌भुत योग्यताओं की गाथा को हिंदुस्तान के दर्शक उत्सुकतापूर्वक देखना चाहते हैं।

2. हिंदी न्यूज चैनलों के दर्शक अमृत महोत्सव से जुड़े कार्यक्रमों के प्रसारण को लेकर संतुष्ट तो हैं, लेकिन वो ऐसे कार्यक्रमों की संख्या में इजाफा चाहते हैं।

3. हिंदी न्यूज चैनलों पर प्रसारित अमृत महोत्सव के कार्यक्रमों से लोगों के ज्ञान और समझ में बढ़ोतरी हुई है।

4. हिंदी न्यूज चैनलों पर प्रसारित अमृत महोत्सव के कंटेंट की गुणवत्ता का स्तर थोड़ा और बेहतर हो तो ज्यादा से ज्यादा खासकर युवा पीढ़ी तक पहुँचा जा सकता है। हिंदी न्यूज चैनलों के अलावा अन्य डिजिटल माध्यम भी अमृत महोत्सव से जुड़े कार्यक्रम को जन-जन तक प्रभावशाली तरीके से पहुँचा सकते हैं और इस तरह अमृत महोत्सव के आयोजन का महती उद्देश्य और अधिक सफल हो सकता है।

शोध की सीमा–यह शोध दिल्ली-एनसीआर क्षेत्र के लोगों तक सीमित है। साथ ही हमने इस शोध में शामिल सर्वे हेतु सिर्फ हिंदी न्यूज चैनलों के उन दर्शकों का चयन किया है, जिनकी उम्र 18 साल से 45 साल के बीच है। यह इस शोध की सीमा है।

संदर्भ

1. मुकेश कुमार, (2015), टीवी न्यूज और बाजार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 36
2. रामशरण जोशी, (2007), वर्ष-2007, जनवरी, चालाक और हमलावर मीडिया, हंस मीडिया विशेषांक, पृ॰ 134
3. आनंद प्रधान, (2016), तमाशा मेरे आगे, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), पृ॰ 252
4. https://www.amarujala.com/education/azadi-ka-amrit-mahotsav-festival-to-begin-75-weeks-before-75th-anniversary-know-why-the-program-started-on-dandi-march
5. https://www.youtube.com/watch?v=FRE6PMeOK5c
6. https://www.prabhatkhabar.com/state/jharkhand/ranchi/azadi-ka-amrit-mahotsav-santhal-vidroh-many-heroes-of-confined-in-documents-these-people-contributed-srn
7. https://www.jagran.com/entertainment/bollywood-mati-and-prem-remembered-from-film-on-amrit-festival-of-independence-22592308.html

16C, Second Floor, Lane No-13,
Pratap Nagar, Near Road Transport Office,
Mayur Vihar Phase-1, Delhi- 110091
Mob. 9871440511
adarshanchor@gmail.com

'छप्पर' : दलित संघर्ष-यात्रा के आलोक में

प्रा॰ डॉ॰ वैशाली विट्ठल खेडकर, सहा॰ अध्यापक (हिंदी विभाग)
रयत शिक्षण संस्था का महात्मा फुले महाविद्यालय, पिंपरी, पुणे

'दुख हमें, सुख उन्हें, कैसी यह विडंबना।'

सुशीला टाकभौरे की यह पंक्तियाँ वर्तमान समाज की विषमता को अभिव्यक्त करती है। वैसे, आजादी के कई वर्षों बाद भी सामाजिक विषमता को तोड़ने में हमें सफलता नहीं मिली है, बल्कि दिनों-दिन इसमें वृद्धि ही हुई है। आज भी स्त्री, आदिवासी, किसान, मजदूर एवं दलित समाज की समस्याओं का अंत नहीं हुआ है। आजादी का सूरज भी इस समाज के अँधेरे को मिटा नहीं पाया है। उसमें भी दलित समाज का जीवन अत्यंत सोचनीय है। हिंदी की तमाम रचनाओं में उनका दु:ख-दर्द भरा पड़ा है। इसमें दलित रचनाकारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। उन्होंने यह महसूस किया कि कुछ लोगों ने बहुजन समाज को हाशियें पर धकेलकर, उन्हें जूठन पर जीने के लिए विवश किया है। अत: उनकी रचनाओं में गलत नीति एवं परंपरा के खिलाफ विद्रोह अभिव्यक्त हुआ है। दलित रचनाकारों ने साहित्य के माध्यम से दलित चेतना का विकास किया है। जयप्रकाश कर्दम द्वारा लिखित छप्पर यह उपन्यास भी इसी असमानता, संघर्ष एवं दलित चेतना को बयां करता है। यह हिंदी दलित साहित्य का पहला कालजयी उपन्यास है। दलित साहित्य में अपनी सशक्त चेतना के कारण इस उपन्यास ने पाठकों के बीच अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। दलित समाज को केवल जाति के कारण सदियों से अत्याचार, शोषण, बलात्कार एवं भेदभाव को सहना पड़ा है। वर्चस्ववादी मानसिकता और उसकी बर्बरता से संघर्ष करना दलित समाज की नियति बन गई है और इसी नियति से मुक्ति की आकांक्षा दलित समाज को है। मूलत: इसी मुक्ति की कामना और संघर्ष की महागाथा है 'छप्पर'। तथाकथित सभ्य समाज द्वारा उनपर अनगिनत अत्याचार किए गए। इसी शोषण की परंपरा को दलित समाज सदियों से सहता आया है। किंतु आधुनिक युग में शिक्षा और वैचारिक आंदोलन के बलपर इस समाज ने तमाम रूढ़ि-परंपराओं का विरोध किया। डॉ॰ बाबासाहेब आंबेडकर के शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो इस विचार ने दलित समाज को आंदोलित किया। उनके जीवन में चेतना और विद्रोह का स्वर भर दिया। उन्हें उनके अस्तित्व, चरित्र और शक्ति से परिचित कराया। दलित जीवन की नियति को धर्म के ठेकेदार पंडे, पुरोहितों द्वारा निर्धारित किया गया है। डॉ॰ बाबासाहेब ने शिक्षा रूपी अस्त्र से सड़ी-गली परंपराओं के बंधनों को तोड़ा है। आज दलित समाज शिक्षित और सक्षम होकर समाज और देश के विकास में योगदान दे रहा है, बावजूद वर्तमान समय में भी दलित समाज में शोषण की घटनाएँ घटती रहती है। उन्होंने बड़े ओहदों को हासिल किया है फिर भी कुछ तथाकथित सभ्य लोगों का उनकी तरफ देखने का नजरिया प्राचीन ही है। अत: दलित समाज आज भी संघर्षरत है।

हिंदी के ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, सूरजपाल चौहान, श्यौराजसिंह बैचेन एवं जयप्रकाश कर्दम जैसे रचनाकारों ने दलित समाज के शोषण और संघर्ष को अपनी रचनाओं के

 ISSN 0975-735X

माध्यम से अभिव्यक्त किया है। 'छप्पर' उपन्यास इसी परंपरा की महत्त्वपूर्ण पहल है। छप्पर उपन्यास 1994 में प्रकाशित हुआ है। आलोचकों ने इसे हिंदी का पहला दलित उपन्यास माना है। लेखक ने युगीन परिवेश में दलित समाज की स्थिति का मार्मिक उद्‌घाटन किया है। दलित मतलब जिसका सदियों से दलन या दमन हुआ है। जिसे हमेशा ही लांछित या अपमानित जीवन जीना पड़ा है। कथानायक चंदन के माध्यम से लेखक ने इस शोषण रूपी तिलिस्म को तोड़ा है। लेखक स्वयं भी इस शोषणवादी परंपरा से आहत हुए हैं। अत: अपनी कलम से सदियों पुरानी परंपरा की जंजीरों को तोड़ने की वकालत की है। उनका संपूर्ण साहित्य दलित समाज का हिमायती है।

प्रस्तुत उपन्यास में दलितों की यातनाओं, प्रताड़नाओं एवं उपेक्षाओं का जीवंत चित्रण हुआ है। मगर इन्हीं यातनाओं ने दलित समाज के भीतर संघर्ष का दीपक जलाया है। यह समाज हजारों वर्षों से शोषण एवं भेदभाव का शिकार हुआ है। जाति और वर्ण व्यवस्था के भेदभाव पूर्ण व्यवहार ने दलित समाज को सामाजिक अधिकार से वंचित कर दिया। युगों-युगों से लांछित और अपमानित जीवन जीने के लिए इसे बाध्य किया। किंतु आधुनिक युग में दासता और गुलामी की जंजीरें कमजोर होने लगीं। डॉ॰ बाबासाहेब आंबेडकर दलित समाज के मसीहा बनकर आगे आए। उन्होंने दलित समाज को शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करों का महामंत्र दिया। इससे प्रेरित होकर दलित समाज ने तमाम रूढ़ि-परंपराओं का विरोध करना आरंभ किया। उनकी विचारधारा ने दलित समाज को अपनी शक्ति और सामर्थ्य से परिचित कराया। इनके विचारों के वाहक तमाम रचनाकारों ने इसी चेतना और विद्रोह को अपनी रचनाओं का प्राणतत्व बनाया है।

'छप्पर' से भले ही अभाव की स्थिति का बोध होता है लेकिन इसी अभाव में दलितों ने विद्रोह एवं संघर्ष करना सीखा है। चंदन चेतना का प्रतीक बनकर दलित समाज को शिक्षा के महत्त्व से परिचित करवाता है। उनके भीतर आत्मविश्वास पैदा करता है। दलित समाज को गुलाम बनाने के लिए धर्म ग्रंथों एवं शास्त्रों का सहारा लिया गया है। ईश्वर और धर्म की आड़ में दलित समाज को गुलामी की जजीरों से बाँध दिया है। दलित लोक इसे ईश्वर की इच्छा मानकर, पूर्व जन्मों का पाप समझकर बिना शिकायत किए नरकनुमा यातनाओं में गुजारा कर रहे हैं। चंदन आत्मा-परमात्मा और ईश्वर के अस्तित्व को नकारता है, यह किसी ईश्वर की इच्छा नहीं, पंडे-पुरोहितों द्वारा रचा गया धार्मिक षड्‌यंत्र है। इसी पूजा अर्चना से उनकी रोजी-रोटी चलती है। मठ, मंदिर साधन-संपत्ति के केंद्र बन गए हैं। उसी मंदिर या ईश्वर के सामने कई लोग भूख से बेहाल होकर मर रहे हैं। दरअसल, दलित समाज को अछूत और निम्न मानकर आध्यात्मिक ज्ञान से उन्हें दूर रखा गया। मंदिरों में उनका प्रवेश निषिद्ध माना गया। जिस मनुष्य का निर्माण ईश्वर ने किया, उसी मनुष्य की छाया से ईश्वर भी अपवित्र होने लगा। यह तथाकथित सभ्य समाज और धर्म के ठेकेदारों की साजिश थी। इन्होंने धर्मशास्त्रों की अपने अनुकूल व्याख्या कर दलित समाज को अपमानित जीवन जीने के लिए बाध्य किया। भक्तिकालीन कवियों ने ईश्वर की सगुण सत्ता को नकारकर उसके निर्गुण निराकार स्वरूप का स्वीकार किया। कबीर ने घट-घट में ईश्वर को स्थापित किया। ईश्वर तो मनुष्य के भीतर बसता है। उसके साथ मानवीय व्यवहार ही ईश्वर की पूजा है। महात्मा फुले ने भी मनुष्य की महत्ता का स्वीकार किया। गौतम बुद्ध, कबीर, महात्मा फुले आदि के क्रांतिकारी विचारों को डॉ॰ बाबासाहेब आंबेडकर ने जन-जन तक पहुँचाया। उसे संविधान के रूप में विशेष आकार दिया। चंदन डॉ॰ बाबासाहेब आंबेडकर की विचारों का वाहक है। चंदन के लिए सामाजिक परिवर्तन सबसे ऊपर है। वह जानता है, 'दलितों के लिए अवसर की समानता का कोई मतलब नहीं

है क्योंकि जाति की बाधा दलित को अवसर का उपभोग करने नहीं देती।'[1] यही कारण है कि चंदन सामाजिक सम्मान को सबसे ऊपर मानता है।

अशिक्षा दलित समाज के शोषण की बुनियाद है। सवर्ण समाज ने षड्यंत्र के तहत दलित समाज को अक्षर ज्ञान से दूर रखा क्योंकि शिक्षा गुलामी के बंधनों को तोड़ती है। विवेक पैदा करती है। तथाकथित समाज को डर था यदि ये लोग पढ़ेंगे, लिखेंगे तो सदियों पुरानी हमारी हुकुमत की परंपरा खतम हो जाएगी। इसीलिए ठाकुर हरनामसिंह, काणे पंडित चंदन की शिक्षा से खुश नहीं है। चंदन की देखा देखी हर दलित पढ़ने लगा तो उनकी तो दुकान बंद हो जाएगी। इसीलिए वे हर तरह से चंदन की शिक्षा रोकने का प्रयास करते हैं। लेकिन ठाकुर की बेटी रजनी इस पारंपरिक सोच का विरोध करती है। लेखक ने रजनी के रूप में एक क्रांतिकारी एवं समन्वयवादी चरित्र का निर्माण किया है। वे सवर्ण होते हुए भी दलित शिक्षा की पक्षधर है। वह चाहती है कि दलित समाज पढ़ लिखकर आगे बढ़े। वह अपने पिता का विरोध करते हुए कहती है, 'संविधान के अनुसार देश के प्रत्येक नागरिक को सम्मान और स्वाभिमानपूर्वक जीने का हक है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वेच्छानुसार व्यवसाय चुनने और जीवन की दिशा निर्धारित करने की स्वतंत्रता है। यदि चंदन पढ़ लिखकर कुछ काबिल बनना चाहता है तो यह उसका संवैधानिक हक है, इस पर किसी को ऐतराज क्यों होना चाहिए।'[2] रजनी दलित समाज के अधिकार की लड़ाई लड़ती है। चंदन भी शिक्षा अर्जित कर परिवर्तनवादी दृष्टि अपनाता है। वह केवल अपने परिवार तक सीमित न रहकर समाज के लिए काम करने लगता है। बिना थके-हारे दिन-रात लोगों के बीच रहकर उनके जीवन में परिवर्तन लाने के लिए जी तोड़ मेहनत करता है। सदियों से शोषण की परंपरा में सो रहे इस समाज को जगाने के लिए अपनी भूख प्यास कुर्बान करता है। वह स्वयं लोगों को शिक्षित करता है। चंदन की मेहनत रंग लाती है। सदियों से सोए समाज के अरमान, सपनें जगने लगते हैं। उन्हें अपना भविष्य स्वर्णमयी दिखने लगता है। चंदन के कार्य की खुशबू चहुँओर बिखरने लगती है। उसके नेतृत्व में परिवर्तन की लहर शुरू होती है। इस लहर में पंडे-पुरोहित, सेठ-साहूकार, ठाकुर आदि की शोषणवादी व्यवस्था बह जाती है। सभी लोग अपने अधिकारों के प्रति जाग्रत होते हैं। भारतीय संविधान ने सभी भारतीयों को समान अधिकार दिए है। किंतु आज भी सामंतवादी व्यवस्था के समर्थक दलित समाज को अपने अधिकारों से वंचित रखते हैं। चंदन इस विषमतावादी एवं जातिवादी व्यवस्था को ठुकराते हुए समानता की स्थापना करता है। जयप्रकाश कर्दम जी ने इस रचना के बहाने दलित समाज के लिए सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में समानता की वकालत की है। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता कहती हैं कि 'दलित साहित्य ने सामाजिक समानता और राजनीतिक भागीदारी को भी साहित्य का विषय बनाकर उनकी आर्थिक समानता की अधूरी मुहिम को पूर्णता दी। इन तीनों मुद्दों पर समानता प्राप्त किए बगैर मनुष्य पूर्ण समानता प्राप्त नहीं कर सकता। दलित साहित्य इस पूर्ण समानता के लिए संघर्षरत है।'[3] दरअसल समानता यह संपूर्ण दलित साहित्य का प्राणतत्त्व है।

कथानायक चंदन के नेतृत्व में समाजवादी आंदोलन शुरू होता है, जिससे हर दलित जाग्रत एवं सचेत होता है। चंदन अहिंसा एवं शांति के मार्ग से आंदोलन करता है तो परिवर्तन की लहर में शोषक समाज की नींव हिल जाती है। ऐसे में उनके उपर हिंसा हावी होने की संभावना चंदन को दिखती हैं। चंदन सभी को शांत करते हुए समानतावादी समाज की स्थापना पर बल देता है। जाग्रत या चेतित होने का अर्थ शोषक होना नहीं है। हमें तो जाति, धर्म एवं वर्णभेदमुक्त समाज का निर्माण करना है, जिसमें कोई उच्च-नीच, सवर्ण-अवर्ण न हो। सभी की पहचान भारतीय हो। अत: हिंसा

 ISSN 0975-735X

का मार्ग स्वीकार्य नहीं है। चंदन रजनी से कहता है, 'हिंसा का जवाब हिंसा नहीं है रजनी! हिंसा का जवाब अहिंसा से दिया जाना चाहिए। हमारा संघर्ष न्याय और समानता के लिए है। अतीत में हमारे साथ कैसा सलूक किया गया है हम उस पर जाना नहीं चाहते क्योंकि उससे कोई अच्छा परिणाम निकलने की आशा नहीं है। हम विरोध नहीं सामंजस्य चाहते हैं। हम चाहते हैं कि सभी लोग अपने विरोध और मतभेदों को भूलकर तथा सारे द्वेष और मालिन्य को मिटाकर परस्पर प्यार और सदभाव से साथ-साथ चलें। एक-दूसरे के दुख-दर्द में भागीदार बनें, एक-दूसरे के हित के साधक बनें तथा दूसरे लोगों ने हमारे साथ जैसा व्यवहार किया है यदि हम भी उनके साथ वैसा ही व्यवहार करेंगे तो हममें और उनमें अंतर ही क्या रह जाएगा।'[4] परिवर्तन का अर्थ बदला या हिंसा नहीं है। चंदन के माध्यम से लेखक ने मानवीय सोच को विस्तार दिया है। डॉ॰ बाबासाहेब आंबेडकर को भी यही अभिप्रेत था। चंदन उसकी अगुवाई करता है। उसकी मेहनत और संघर्ष से दलित समाज जाग्रत होता है और चहुँओर समानता स्थापित होती है। मानसिकता बदलने के बाद ठाकुर साहब को दलित समाज सहजता से स्वीकार करता है। उनके साथ हिंसा या बर्बरता से पेश न आकर उनसे मानवीय रिश्ता बनाता है। चंदन के विचारों का व्यावहारिक पक्ष ठाकुर और सुक्खा की मित्रता में दिखाई देता है। दलित चेतना ने केवल दलितों को जगाने का कार्य नहीं किया है बल्कि शोषक समाज को भी आत्ममंथन या आत्मचिंतन करने के लिए मजबूर किया है। लेखक ने 'छप्पर' उपन्यास के बहाने परिवर्तनवादी एवं समानतावादी विचारों का रोपण किया है। इसमें जाति एवं वर्ण भेद मुक्त समाज की स्थापना का प्रयास हुआ है, किंतु यह तभी संभव है जब अन्याय, अत्याचार को सहनेवाला उसका विरोध करें।

भारतीय समाज में तथाकथित सभ्य समाज ने दलितों के लिए नई जीवन पद्धति का निर्माण किया। उसके नियम और उसुल अपनी स्वार्थ नीति नुसार बनाएँ। सदियों से यह परंपरा चलती रही। परंतु वर्तमान समय में शिक्षा और साहित्य ने लोगों को आंदोलित करने में अपनी भूमिका निभाई है। छप्पर उपन्यास में यही दलित चेतना मुखर हुई है। स्त्री चाहे दलित हो या सवर्ण शोषण उसकी नियति बन गई है। पुरुष प्रधान समाज में स्त्री का स्थान हमेशा दोयम रहा है। परंपरा से ही उसे घर की चारदीवारी में कैद किया गया। दलित स्त्री तो दोहरा अभिशाप लेकर जीवन जीती आई है। एक तो स्त्री उपर से दलित स्त्री। दलित स्त्री की यातनाओं का इतिहास बर्बर एवं नृशंस रहा है। उसके दुख-दर्द को बयान करना भी मुश्किल है। जन्म से लेकर मृत्यु तक शोषण की अंतहीन यात्रा पर चलने के लिए वह मजबूर है। उपन्यास में चित्रित श्कमलाश दलित स्त्री पात्र है। माँ बचपन में ही मर चुकी है। अब पिता ही उसका लालन पालन करते हैं। कमला सयानी हो गई है और पिता किसी अच्छे दूल्हे की तलाश में है लेकिन आम आदमी की जिंदगी इतनी सहजता से कहाँ गुजरती है उसका जीवन तो उतार-चढ़ाव से भरा होता है। कमला के पिता एक सेठ के यहाँ भट्टे पर काम करते थे। उसका परिवार पास ही में एक झुग्गी में रहता था। एक दोपहरी में कमला पीने का पानी लाने के लिए नल पर गई। दफ्तर में मालिक और अन्य लोग शराब पी रहे थे। मालिक पानी पीने के बहाने कमला को दफ्तर में बुलाता है और साथियों के साथ उसपर बलात्कार करता है। कमला की चीख महज दफ्तर की चारदीवारी के बीच गूँजती रही। कमला को न्याय नहीं मिला। कमला की तरह कितनी ही औरतें न्याय की प्रतीक्षा में है। लेकिन दलितों को न्याय कहाँ और कब मिलता है। लेकिन चंदन जैसे समाजसेवी इनके पीछे डटकर खड़े रहते हैं। चंदन को हमारी सामाजिक व्यवस्था पर आश्चर्य होता है। एक ओर स्त्री को देवी समझकर पूजा जाता है तो दूसरी ओर उसी स्त्री का

शोषण भी किया जाता है। चंदन सोचता है, 'कैसी विचित्र व्यवस्था है, इस समाज की एक ओर आतताई भेड़िए हैं और दूसरी ओर कमला जैसी निरीह और असहाय युवतियाँ। एक ओर सृष्टि का आधार माना जाता है औरत को। वह देवी है, माँ है, उसके पैर छुए जाते हैं। वह श्रद्धा और सम्मान की पात्र है। दूसरी ओर कमला जैसी युवतियाँ हैं जो समाज के लिए खिलौना हैं, जिनको पुरुषों का एक वर्ग अपनी वासना की तृप्ति का साधन-मात्र समझता है, उनके साथ बलात्कार किया जाता है।'[5] यह स्त्री-जीवन की त्रासदी है। पुरुषप्रधान समाज में स्त्री का निरंतर शोषण होता आया है। पुरुष ने अपने अनुकूल स्त्री जीवन पद्धति का निर्माण किया है। वे हमेशा ही पुरुष की वासनांध प्रवृत्ति का शिकार हुई है। बलात्कारी छूट जाता है और स्त्री आजीवन उस बेगुनाही की सजा भुगतती है। कमला का जीवन भी उस भयानक हादसे से प्रभावित होता है। जातीय उत्पीड़न की अनगिनत परतें तथा स्त्री जीवन का दोहरा-तिहरा अभिशाप इस उपन्यास के शब्द-शब्द में प्रस्फुटित हुआ है।

दरअसल, दलित चेतना की सार्थक अभिव्यक्ति के कारण छप्पर को हिंदी का पहला दलित उपन्यास माना जाता है। इसमें अपने समय और यथार्थ की सूक्ष्म पकड़ मौजूद है। साथ ही पात्रों के माध्यम से दलित समाज की समस्याओं एवं कठिनाइयों का भी मार्मिक उद्घाटन हुआ है। समाज के स्थापित ढाँचे का अस्वीकार, उसे प्रश्नांकित कर उससे टकराने की कोशिश दलित साहित्य का एक नया सौंदर्यशास्त्र रच रही हैं। हालाँकि वर्तमान समय में दलित समाज ने अपने कृतित्व एवं क्षमता से अपनी पहचान बनाई है। बड़े ओहदों, पदों को हासिल किया है। फिर भी उनकी समस्याओं का अंत नहीं हुआ है। 'छप्पर' उपन्यास इसी दलित चेतना को जगाने की सफल पहल करता है।

संदर्भ

1. डॉ॰ जयप्रकाश कर्दम, छप्पर, पृ॰ 37
2. वहीं, पृ॰ 71
3. https://sahityakunj.net/blog/dalit-sahitya-kaa-saundrayshaastr-kuchh-vichar
4. छप्पर, डॉ॰ जयप्रकाश कर्दम, पृ॰ 116
5. वही, पृ॰ 56

A-501, Bluewoods,Pimple Saudagar
Mob. 9850337233
vaishu.khedkar@gmail.com

समकालीन हिंदी कविता में पुनर्वास

डॉ॰ राम बिनोद रे, सहायक आचार्य
केरल केंद्रीय विश्वविद्यालय, केरल

पुनर्वास विस्थापन की अगली प्रक्रिया है, इसका संबंध समाज की विकेंद्रीकरण प्रक्रिया से है, दूसरे शब्दों में विस्थापन के कारण परिवर्तन और परिवर्तन के पश्चात पूर्वर्तीय प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से परवर्ती साहित्य में परिलक्षित होना ही पुनर्वास है। इसे सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक गतिविधियों में देखा जा सकता है। 1987 में प्रो॰ मोहन अपने लेख में लिखते हैं– 'प्रयोगवादी काव्य के संदर्भ में एक तथ्य विशेष रूप से विचारणीय है। प्रयोगवादी कवि छायावाद के अतिशय रोमांस और अलंकृत भाषा का विरोध करते हुए काव्यक्षेत्र में उतरे थे परंतु ये स्वत: इन दोनों विशेषताओं से छुटकारा पाने में असमर्थ रहे। थोड़े से भाषा भेद के साथ आरंभिक प्रयोगवादी काव्य में इन्हीं दोनों बातों की प्रधानता रही। लेकिन इस क्षेत्र में भी हमें उनके काव्य में वह तन्मयता गहनता और अलंकृत सौंदर्य नहीं मिलता जो छायावाद का प्रधान आकर्षण रहा।'[1]

बदलाव एक निरंतर प्रक्रिया है। साहित्य जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण है। जब तक समाज की यथावत स्थिति साहित्य में परिलक्षित नहीं होती, साहित्य समाज से दूर होता है। सामाजिक सरोकारों से दूर-दूर तक कोई नाता रिश्ता नहीं होता। साहित्य में जब आनंद को तलाशने की बजाय समसामयिक स्थितियों को तराशा जाता है, जिससे सामाजिक मूल्यों का ह्रास होता है। एक बार शरतचंद से पूछा गया कि 'आप अपने साहित्य में नायिकाओं को इतना क्यों रुलाते हो' तभी शरतचंद जी ने टपाक से उत्तर दिया कि 'आप अपने घरों में नायिकाओं को रुलाना बंद कर दो, मैं अपने साहित्य में रुलाना बंद कर दूँगा। असीम संवेदनात्मक अनुभूति से उक्त काव्य में अब विचारों ने अपना डेरा जमाना शुरू कर दिया। विभिन्न प्रकार की रूढ़ियों को अस्वीकार कर नए विचारों को महत्त्व दिया गया। कविता मंचीय संस्कृति से अपना संबंध तोड़ दिया। पाठक काव्य की आंतरिक सत्ता और बाह्यसत्ता की रुवाईयत से दूर होने लगे। स्व: संदर्भों ने काव्य की रूमानियत को कमजोर बना दिया। जो हमें उर्दू की शेर-शायरी में कम देखने को मिलता है। कविता पाठ को आत्मसात करने के लिए श्रोताओं में वह गुणवत्ता होनी चाहिए, जो पहले पाठकों में हुआ करती थी। छंदमुक्त के स्थान काव्य में संवाद योजना का प्रयोग होना शुरू हो गया।

समकालीनता में पाठकों की रुचि को ध्यान में रखकर लेखकों ने अपनी कविता को जरूरत से ज्यादा सरलीकृत कर दिया। आमजन से ज्यादा जुड़ने की कोशिश होने लगी है। 'समकालीन' शब्द से स्पष्ट है–जिस काल व समय में रचनाकृति का सृजन होता है, उस समय का समाज,संस्कृति और जीवन-मूल्य उसमे सन्निहित होता है। ग्रामीण समाज की चेतना नए भावबोध में बदलने लगी। काव्य राजनीति और शहरी समाज से निकलकर ग्रामीण समाज में प्रवेश कर गई। लघुमानव और मध्यवर्ग की भूमिका बढ़ने लगी, व्यक्ति अनेक प्रकार के दबाव को महसूस करने लगा, एक छटपटाहट टीस का अहसास करने लगा। अरविंद त्रिपाठी जी लिखते हैं–'लगभग जयहिंद के प्रथम काव्य उन्मेष के बाद

क्रमश उनकी काव्य संवेदना में दु:ख बोध की अनुभूतियाँ निरंतर सघन और सांद्र हुई है। उनकी कविता व्यक्ति के निजी दुखों की कथा नहीं है, बल्कि वह व्यापक समाज के भीतर साधारण मनुष्यों के रोजमर्रा दु:ख से उपजी है।'[2] विनोदकुमार शुक्ल अपनी कविता में लिखते हैं–

सुनो मेरे पड़ोसी/ सबके अड़ोसी पड़ोसी
और पड़ोस के बच्चे/ जो एक दूसरे के छतों में
कूदकर आते-जाते हैं।[3]

समकालीनता, आधुनिकता और समसामयिकता में अंशमात्र का अंतर है। समसामयिक समय सापेक्ष है जबकि समकालीन काल सापेक्ष जो काल का बोध करवाता है। जबकि आधुनिकता में कालसापेक्ष के साथ-साथ मूल्य का भी बोध करवाती है आचार्य रामस्वरूप चतुर्वेदी जी कहते हैं–'आधुनिक की व्याख्या अपेक्षित है, जहाँ पहले अर्थ के अंतर्गत तो महज समकालीनता का बोध होता था पर उसके पद का विशिष्ट और निजी अर्थ आता है।'[4] चतुर्वेदी जी मानते हैं कि समकालीनता को जानना है तो आधुनिकता से प्रेरित रचनात्मक स्वरूप को जानना होगा 'समकालीन के विभ्रम को लेकर हमारी जो मूल चिंता है उसका समाधान भी आधुनिकता में ही पाया जा सकता है। हिंदी साहित्य में आधुनिक भाव बोध क्रमविकास को समझना यह जरूरी है।'[5]

समकालीन कविता पूर्व की परंपरागत पद्धतियों से मुक्त होकर नए साँचे में ढलने लगी। प्रबंधकाव्य लंबी कविताओं में बदलना प्रारंभ कर दिया, जिसमें जीवन के प्रत्येक पहलुओं का पदार्पण हुआ। व्यक्ति-मन की जटिलताएँ हर आदमी के चहरे में नजर आने लगी हैं। इसलिए मुक्तिबोध जी हर गली और सड़क के हर चौराहे में उस चहरे को खोजते नजर आते हैं। 'मुक्तिबोध के रोटी वाले चंद में और माथुर के स्याह चाँद में समसामयिकता सरोकार होते हुए भी समसामयिकता के आगे का भी कुछ इसमें है, जो कविता को कविता बनता है।'[6] कविता के आतंरिक और बाह्य संरचनात्मक व्यवस्था में बदलाव होने लगा। धूमिल की पटकथा, मोचीराम, राजकमल चौधरी का मुक्ति-प्रसंग जैसे कमलेश्वर, अशोक वाजपेयी, चंद्रकांता देवताले, कुमार अंबुज, भगवत रावत, विष्णु खरे, अरुण कमल, विनोदकुमार शुक्ल आदि कवियों की कविताओं में स्पष्ट परिलक्षित है। अक्सर यह प्रश्न उठाया जाता है कि समकालीन कवि किसे माना जाए। समकालीनता एक संदेहास्पद की स्थिति को पैदा करता है–'नंदकिशोर नवल जी ने अपनी पुस्तक 'समकालीन काव्य यात्रा' में विजयदेवनारायण साही, कुँवरनारायण, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, श्रीकांत वर्मा, राजकमल चौधरी और धूमिल इन आठ कवियों के नाम लेते हैं। ये वे कवि हैं जिन्होंने वाकई समकालीन हिंदी कविता का परिदृश्य निर्मित किया है और जिनकी काव्ययात्रा में समकालीन हिंदी कविता के विकास को लक्षित किया जा सकता है।'[7]

सामान्य बोलचाल को प्रमुखता देते हुए ग्रामीण जीवन जीवन के प्रचलित शब्दों का खुलकर मिश्रण कर भावसंप्रेषण को इतना प्रखर बनाया ताकि पाठक या श्रोता उस अनुभूतिव्यंजक वातावरण को समझ सके। कलावाद और रीतिवाद को अस्वीकार करते हुए स्थानीय भाषाई रंग में डुबोने के लिए ग्रामीण बोलचाल के आंचलिक शब्दों का प्रयोग करने लगते हैं। परंतु शब्दों में इतनी ताकत नहीं थी कि पाठकों और श्रोताओं को अपने काव्य संसार में बाँध सकें। यह कहते हैं–'अति सर्वत्र वर्जयेत्।' वह आवश्यकता से अधिक कमजोरी होती है। चाहे वह शब्द के रूप में हो या वाक्य के रूप में हों। नामवर सिंह जी लिखते हैं–तारसप्तक में यह कहा गया है–'काव्य सबसे पहले शब्द है और सबसे अंत में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है। सारे कवि धर्म इसी परिभाषा से नि:सृत होते हैं। शब्द का

ज्ञान-शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़ ही कृतिकार को कृति बनाती है। ध्वनि, लय, आदि के सभी प्रश्न इसी में से निकलते हैं और इसी में विलय होते हैं। इतना ही नहीं, सारे सामाजिक संदर्भ भी यही से निकलते है : इसी में युगसंपृक्ति का कृतिकार के सामाजिक उत्तरदायित्व का हल मिलता है या मिल सकता है।'[8] यह सत्य है अक्सर 'कविता को असफल का फल कहते हैं' इस अर्थ में कि जिनकी सब अनदेखी करते हैं वह उन्हें देखती है। अपने अग्रज कविता पीढ़ी और दूसरे दूसरे समकालीनों की तरह अरुण कमल की कविता भी उस अति साधारण की असाधारणता को हमारे सामने लाती है, मगर बिल्कुल अपनी तरह, सच्ची सहानुभूति और गहन संवेदना के साथ। 'वे जिन्हें मनुष्य का जीवन तो मिला है पर मनुष्य-सा जीवन नहीं, सभ्यता में तथा कठिन जीवन में, जिनके लिए एक आदिम आदमी का जीवन भी दूभर है। उनकी कविता में उन्हीं बेघरों का घर है।'[9]

कविता में भाषा का रूप छंदबद्ध के साथ-साथ सूत्रबद्धता पर निर्भर करता है। यह पद्धति बाद में सपाट बयानी ने लेना प्रारंभ कर दिया। जो तुकबंदी और लयात्मकता मध्यकालीन साहित्य में मिलता है, वह समकालीन साहित्य में लगभग न के बराबर है। संवेदना गहरी होने के साथ-साथ प्रभाव क्षेत्र कम होने लगा है। छंदबद्ध से युक्त कविता वाट्सआप, फेसबुक में प्रचलित है। भूमंडलीकरण के दौर में समय का आभाव ने काव्यभाषा में उलट-फेर कर दिया है। कम शब्दों में अधिक-से-अधिक अभिव्यक्ति करने की ताकत अब लगभग कम ही नहीं हुई बल्कि स्टेज में अथवा सार्वजनिक रूप से कविता का पठन-पाठन भी कम है। वर्तमान में काव्यपाठ के रूप छायावादी और प्रयोगवादी कविताओं के आलावा समकालीन कविता केवल हास्य-व्यंग्य की कविताएँ, जिसमें केवल राजनीति नेता, व्यक्ति, परिवार, पति-पत्नी, संबंध तक सीमित रह गया। जो व्यापक काव्यात्मक रूप आरंभिक काव्य में थी, अब नहीं है। हर छोटी-छोटी घटना को काव्य में पिरोया जाने लगा है-'काव्यभाषा में स्वकेंद्रीयता होती है रूपवादियों का मानना है कि काव्य या साहित्य का बाहरी जीवन जगत से कोई संबंध नहीं होता। इसलिए उसकी भाषा बाहरी जीवन जगत से जुड़े सामान्य अर्थ अर्थ नहीं व्यक्त करती। सामान्य भाषा हमारे जीवन-संदर्भों से जुड़ी होती है। अत: उसका अर्थ भी हमारे लिए परिचित होता है।'[10] दूसरी तरफ केदारनाथ सिंह जी विष्णु खरे पर लिखते हुए कहते हैं-'वे लंबी कविताओं के कवि हैं। जैसे मुक्तिबोध लंबी कविताओं के कवि हैं। पर दोनों में अंतर है। मुक्तिबोध की लंबाई लय ले आधार को छोड़ती नहीं, धीरे-धीरे कम जरूर होता गया। विष्णु खरे गद्य की पूरी ताकत को लिए चलते हैं-उसे तोड़ते-बिखेरते हुए, बीच-बीच में संवाद का सहारा लेते और जहाँ-तहाँ उसे डालते हुए चलते हैं और लय को न आने देते हुए।'[10]

समय की परिस्थितियों, परिवेश, घटनाओं को अपने संदर्भों में बदलने की प्रक्रिया से काव्य की प्रासंगिकता निर्धारित होती है। चूँकि समकालीन कविता जीवन और समय सापेक्ष के संघर्षों से उपजी कविता है। कवि ने जो भी अनुभव व आत्मसात किया; उन्हें अनुभवों के शब्दजाल में बाँधकर समाज के सामने एक नए परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करना का प्रयास किया है। मध्यकाल के रीतिमुक्त काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि घनानंद कहते हैं-'लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहिं तो मेरे कवित्त बनावट' (घनानंद कवित्त) इसी प्रकार ठाकुर कहते हैं लोग राजसभा में आकर पत्थर मारकर चले जाते हैं। लोगों ने कविता करना खेल समझ लिया है 'ढेल सो बनाय आए मेलत सभा के बीच, लोगन कवित की वो खेल करी जानो है' भाषा उन सभी जटिलताओं को ग्रहण करते जाते हैं, जो जीवन संघर्षों से उत्पन्न काव्यभाषा की सृजनात्मकता दिखता है। बदलते मानव मूल्य, संस्कृति समाज, देश और राष्ट्र की छवि को उभारने की कोशिश है। लीलाधड़ जगूड़ी आवेग में यह

मानते हैं–समकालीन कवियों ने न केवल भाषाई शक्ति को आगे बढ़ाया बल्कि विश्लेषित करते हुए शब्दों को बुलेट की तरह आम आदमी तक भी पहुँचाया। पुनर्वास की सबसे बड़ी विशेषता है, बदलते नए परिप्रेक्ष्य में भी पूर्व निर्धारित नियमावलियों से भिन्न व अलग होते हुए नहीं दिखाई देते, अप्रत्यक्ष रूप से अंश आते चले जाते हैं–

बहुत कुछ हुआ इस छोटे से इलाके की
छोटी-सी भाषा में
जो अब मृत भाषाओं की सूची में है
पूरा महाभारत हुआ जिंदगी का
मुख्य भाषा के साहित्य में मगर
अनलिखे, अनदिखे रहे वे लोग
जो सिर्फ अपनी भाषा में जी-मर रहे थे।

व्यंग्यप्रधान और सपाटबयानी से संपन्न काव्य ने संवेदना को प्रखरतर बनाने का प्रयास किया है। बाह्य अनुभव और आंतरिक अनुभवों से युक्त होकर संवाद शैली में लिखा जाने लगा है। काव्य में बोलचाल की भाषा के साथ-साथ वक्तव्य की परिपक्वता है जिसमें गुस्सा, नफरत, विद्रोह आदि मौजूद है। शमशेर की शमशेरियत में लिखते हैं 'यह कोई चिर परिचित गीत नहीं गद्य है। बोलचाल की लय का गद्य। रुक-रुककर आगे बढ़ता हुआ। विलंबिता। विपर्यस्ता फिर भी कविता।'[12] शमशेर बहादुर 'बहादुर' कविता में लिखते हैं–

तूने शताब्दियों/ सानेट से मुक्तछंद खन कर
संस्कृत वृतों में उन्हें बाँधा सहज ही लगभग
जैसे आकाश बँधे हुए हैं अपने/ सरगम के अट्टहास में।[13]

'समाज जितना दुस्कर होता जाएगा कविता की भाषा उतनी जटिलता से युक्त होती जाएगी 'यह सामाजिक पत्र जितना जटिल, व्यामिश्र, बहुस्तरीय उलझा हुआ बना तब कामायनी, विधवा, जूही की कली, नए पत्ते की कविताओं की भाषा बिंबात्मक, तरलपारदर्शी, बहुआयामी अर्थ प्रदान करने वाली है।'[14] बाह्य और आंतरिक जगत की संवेदनाएँ एक समान के बावजूद भाषाई दृष्टि से प्रयोग किए जानेवाले शब्दों के प्रयोग, प्रविधि एवं अर्थ में अंतर आने लगा है। भाषाई संसाधन लगभग समान हैं परंतु अर्थवृत्ति की दृष्टि से भिन्न-भिन्न है 'कविता की तरल अनुभूतियों में किरण-चित्रों का यह रूपांतरण फोटोग्राफ-पेंटिंग्स का शब्दबद्ध रूपांतरण है और उत्तर-आधुनिकता की विशेषताओं की व्याख्या की।'[15] शब्दों से दृश्य निर्माण करने की प्रवृति आरंभ से ही काव्य आंदोलन की प्रमुख विशेषता रही है–'ऐसे कई उदाहरण हैं, जो शब्दों में दृश्यों के सिलसिले को बद्ध किए हुए हैं और पुस्तक के ये किरण-चित्र शब्दों का साथ पाकर रेखाबद्धता लाँघकर शब्दों में चहचहाने लगे हैं। प्रताप सहगल की ये कविताएँ इन किरण चित्रों को देखे बिना समूचा कैनवास उद्घाटित नहीं कर पाएँगी और वे किरण-चित्र इन कविताओं के बिना अधूरे प्रतीत होंगे।'[16] जनवादी चेतना के प्रगतिशील कवि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना निरंतर ढरकते रिश्तों की धड़कनों को बड़ी सजीवता के साथ व्यक्त करते हैं। वे लिखते हैं–

कितना अच्छा होता है
एक दूसरे को बिना जाने/ आस-पास होना
और उस संगीत को सुनना/ जो धमनियों में बजता

उन रंगों में नहा जाना/ जो बहुत गहरे चढ़ते उतरते हैं।[17]

संदर्भित कविता तीन अनुच्छेदों और तीन पूर्ण विराम के सहारे समाप्त होती है। केवल मध्य में अल्प विराम देखने को मिलाता है–

शब्दों की खोज शुरू होते ही
हम एक-दूसरे को खोजने लगते हैं
और उनके पकड़ में आते ही
एक-दूसरे के हाथों से
मछली की तरह फिसल जाते हैं।[18]

विस्थापित और निष्कासित परिवार और गाँव की स्त्रियों की याद में, संबंधों के प्रणेता, अति व्यक्तिकेंद्रित जीवन की छवि, आवश्यकताएँ और उपयोगिताओं ने अपना स्थान ग्रहण करना शुरू किया। चंद्रकांत देवताले लिखते हैं–

मेरे पास छिपाने को कुछ भी नहीं
हाँ छिपाने को होता है बहुत कुछ
हर व्यक्ति के पास
पर मैं तो उगल चुका कविताओं में/ अपने सब भेद।[19]

ग्रामीण व आंचलिक जीवन के शब्दों के साथ समय की समसामयिक स्थितियों को व्यक्त करने के लिए पदों का प्रयोग किया जाता है जैसे बूटों की आवाजें में बूट शब्द का प्रयोग उस परिवेश को स्पष्ट करने के लिए किया जाता है ताकि परिवेश की अभिव्यक्ति रेखांकित किया जा सके। कविता में अर्थ-विस्तार अधिक है, पर यह विशेषता अब कम होने लगी है, पर कुछ एक कविताओं में अब भी ये विशेषताएँ दिखाई पड़ती है।

रात भर/ एक लाल सायकिल
कंटीले बाड़े से टिकी/ अकेले खड़ी रही
पुलिस की सीटियाँ बजती रहीं
उनके भारी बूटों की आवाजें आती रहीं।[20]

ज्यादातर कविताओं के शीर्षक एक शब्द में हैं। जैसे स्मृति, विवशता, भूख, इंतजार, रसोई, रिश्ते, चमक, पहाड़, चिड़िया, जड़ें, भेड़िया-1,2,3, प्यार, तुमसे, समर्पण, पथराव, चश्मा आदि जो भाववाचक, वस्तुवाचक अथवा प्रांतीयवाचक हैं। अब कविता एक नए यथार्थ और छवि के करीब तक पहुँचने का प्रयास है। सक्सेना जी 'काठ की घंटियाँ' में घंटियों के बजने और उसके सजने के लिए विभिन्न तरह के शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिसके लिए बजो, मंजो, सजो, जैसे शब्दों का प्रयोग अर्थ को स्पष्ट प्रतिबिंबित करने का प्रयास है। कविता में भावपक्ष को मजबूत करने के लिए कमजोर पक्ष को पहले रूपायित है, फिर मजबूत पक्ष को। जैसे जूता-3 कविता में–

उसने कहा–
मेरे जूते की पालिश में/ तुम अपना चेहरा देख सकते हो।
मैंने तिलमिलाकर सोचा–
वे लोग खुशनसीब हैं/ जिनके चहरे नहीं हैं
फिर ख्याल आया/ नहीं वे लोग भले आदमी हैं
जो जूते नहीं पहनते। [21]

कवि अभिव्यक्ति वहाँ से शुरू करता है जहाँ से सारी संभावनाएँ खत्म हो जाती हैं। इससे पूर्व अभिव्यक्ति का मध्यम ईश्वर, धर्म, मानवीय आदर्श रहा है, अब उसका खुले रूप में विवेचन किया गया। 'कवि यहाँ अखबार में छिपी खबरों का नहीं, अखबार नामक पदार्थ, थिंग का इस्तेमाल कविता के लिए कर रहा है, उसे अनायास काव्य-विषयों के 'सभी कुछ' के संसार में उठा लाया है। 'किवाड़' की संस्कृति गाँवों, कस्बों, शहरों के पुराने मोहल्लों, झोपड़ी, खुली नालियों, चहबच्चों, संडासों, आँगनों और सामने या भीतर बँधे मवेशियों, दशकों पहले के स्थापत्य मिट्टी, चूना, गारा, खपरैल की संस्कृति है।'[22] समकालीन कविता दमघोट की उच्छास से निकलने की कविता है। रामधारी सिंह दिनकर जी का मानना है कि हर युग नया जल लेकर आता है। जब यह युग जाने लगता है तब उस लाए हुए जल से आगामी युग की प्यास नहीं बुझ पाती। इसलिए प्रत्येक युग को अपना कुआँ आप खुद खोदना पड़ता है।

संदर्भ

1. प्रज्ञा मोहन, काशी हिंदू विश्वविध्यालय पत्रिका, अंक-33, भाग-1,1987, पृ॰ 64
2. विनोदकुमार शुक्ल, प्रतिनिधि कविताएँ, संपा॰ अरविंद त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, 2016, पृ॰ 13
3. वही, पृ॰ 65
4. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी काव्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 2012, पृ॰ 247
5. वही, पृ॰ 247
6. डॉ॰ पद्मा घोरपड़े, समकालीन हिंदी कविता की नई सोच, 1960-2009 तक, वाणी प्रकाशन, पृ॰ 26
7. वागर्थ : संपादक शंभुनाथ, अंक 267, अक्टूबर: 2017, पृ॰ 100
8. नामवर सिंह, कविता के नए प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन, वर्ष 2000, पृ॰ 97
9. अरुण कमल, प्रतिनिधि कविताएँ, संपा॰ प्रेमरंजन अनिमेष, राजकमल प्रकाशन, 2016, पृ॰ 8
10. प्रो॰ शंभुनाथ, वागर्थ : अंक 267 अक्टूबर 2017, पृष्ट-100
11. विष्णु खरे, प्रतिनिधि कविताएँ, संपा॰ केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, 2017, पृ॰ 6
12. शमशेर बहादुर सिंह, प्रतिनिधि कविताएँ, संपा॰ नामवरसिंह, राजकमल प्रकाशन, 2011, पृ॰ 5
13. वही, पृ॰ 5
14. समकालीन हिंदी कविता की नई सोच-1960-2009 तक, पृ॰ 25
15. समकालीन हिंदी कविता की नई सोच-1960-2009 तक, पृ॰ 150
16. वही, पृ॰ 150-151
17. सर्वेश्वरदयाल, प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल पेपर बैक्स, पृ॰ 37
18. वही, पृ॰ 37
19. चंद्रकांत देवताले, प्रतिनिधि कविताएँ, संपा॰ प्रभात त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, 2017, पृ॰ 9
20. सर्वेश्वरदयाल, प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल पेपर बैक्स, पृ॰ 33
21. वही, पृ॰ 138
22. कुमार अंबुज, प्रतिनिधि कविताएँ, सं॰ विष्णु खरे, राजकमल प्रकाशन, 2014, पृ॰ 7-8

Dr. Ram Binod Ray
Assistant Professor, Dept. of Hindi
Central University of Kerala,
Tejaswini Hills, Periya,
P.O. kasaragod 671316 Kerala
Mob. 08129102867
rambinodraycuk@gmail.com

आदिवासी कवयित्रियों की कविताओं में प्रतिरोध के स्वर

डॉ॰ सोनम शुक्ला, असिस्टेंट प्रोफेसर हिंदी विभाग
मर्यादा पुरुषोत्तम पीजी कॉलेज, भुड़सुरी, रतनपुरा, मऊ (उ॰प्र॰)

वर्तमान सदी की हिंदी कविता बहुरंगी हो चुकी है। इन रंगों में सबसे चटक रंग स्त्री-लेखिकाओं ने अपनी लेखनी के माध्यम से दिया है। यदि बात करें केवल आदिवासी स्त्री लेखिकाओं के योगदान की तो इस समय ये कवयित्रियाँ अपनी अस्मिता की आकांक्षा के अलावा अन्य सामाजिक विषमताओं-विडंबनाओं का प्रखर विरोध करती हुई दिखाई देती हैं। इनकी कविताओं में नयापन और आधुनिकता की छाप तो दिखती ही है साथ-ही-साथ ये कवयित्रियाँ समाज के उन लोगों की आवाज बनकर सामने आ रही हैं जो इस समाज में शोषित-दलित और कष्टकारी जीवन जीने के लिए अभिशप्त हैं। ऐसे असहाय लोगों के लिए एक सजग पैरोकार की भूमिका में ये कवयित्रियाँ उनके दमन के विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर बुलंद करती हुई हमारे समक्ष उपस्थित हैं।

आदिवासी समाज प्रकृति का सहचर होता है। उसका लालन-पालन और सर्वांगीण जीवन-विकास प्रकृति की गोद में ही होता है इसलिए बचपन से ही आदिवासियों को अपने जल-जंगल-जमीन के प्रति अत्यधिक लगाव पैदा हो जाता है। इधर कुछ दशकों से विकास के नाम पर उनकी इस प्राकृतिक विरासत के साथ बहुत अधिक छेड़-छाड़ तथा दोहन का कार्य किया जाने लगा है। इसका प्रभाव यह हुआ कि प्राकृतिक संपदा का क्षरण होने से आदिवासी समाज की संस्कृति खतरे में पड़ गई है। आदिम समाज के जीवन की इसी त्रासदी को इन कवयित्रियों ने अपनी कविताओं में उद्घाटित किया है। आदिवासी साहित्य के वरिष्ठ अध्येता हरिराम मीणा कहते हैं-'आदिवासी साहित्य में यदि प्रकृति, सामूहिक जीवन-शैली, जंगल, जमीन से लगाव आदिवासी विद्रोह, शौर्य, विस्थापन, पलायन और दमन व शोषण का दंश और अपने इतिहास पर गर्व वर्णित न हो तो वह अधूरा ही माना जाएगा। आज तो स्त्री अधिकारों पर भी आदिवासी साहित्य में रचनाएँ आ रही हैं और बाजारवाद पर भी।'[1] समकालीन आदिवासी कवयित्रियों की कविताओं में व्यक्त प्रतिरोध के स्वर को निम्न बिंदुओं के तहत समझने का प्रयास किया जाना चाहिए।

पितृसत्तात्मक समाज व पुरुषों के वर्चस्व के विरोध का स्वर-इतिहास के कालखंड में सिंधु-घाटी सभ्यता तथा वैदिककाल के समय को यदि छोड़ दिया जाए तो प्रायः भारतीय समाज में स्त्रियों का दर्जा पुरुषों से नीचे ही माना गया है। भारतीय समाज सदैव पुरुषप्रधान या पितृसत्तात्मक ही रहा है। ऐसे में पुरुषवर्ग स्त्रियों का शोषण मनचाहे ढंग से करते रहे हैं। इसी अनाचार-अत्याचार के प्रतिरोध में आदिवासी कवयित्रियों की कविताएँ हमारे सामने आती हैं। पुरुषों की भोगवादी मानसिकता का परिचय निर्मला पुतुल की निम्न पंक्तियों में दिख रहा है-

क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए/ एक तकिया
कि कहीं से थका-माँदा आया/ और सिर टिका दिया।[2]

आज इस बात की गनीमत है कि आदिवासी समाज भी शिक्षा के प्रति पहले की तुलना में अधिक जागरूक हुआ है। यही कारण है कि आदिवासी लड़कियाँ भी शिक्षा पाने के लिए अब

स्कूल का रुख कर रही हैं। शिक्षित स्त्रियाँ अपनी रचनाओं के माध्यम से अपनी संस्कृति, जीवन-शैली, शोषण-दमन-विस्थापन आदि के लिए आवाज भी उठा रही हैं। युवा कवयित्री जसिन्ता केरकेट्टा अपनी कविता 'साहेब' में पुरुष-वर्चस्व का विरोध करते हुए लिखती हैं–

साहेब
एक दिन/ जंगल की कोई लड़की
कर देगी तुम्हारी व्याख्याओं को/ अपने सच से नंगा
लिख देगी अपनी कविता में/ कैसे तुम्हारे जंगल के रखवालों ने
तलाशी के नाम पर खींचे उसके कपड़े
कैसे दरवाजे तोड़कर/ घुस आती है तुम्हारी फौज उनके घरों में।[3]

इसी तरह युवा कवयित्री 'निर्मला पुतुल' भी अपनी कविताओं के माध्यम से कुत्सित मानसिकता वाले पुरुषों को चेतावनी भरे लहजे में कहती हैं–

मैं चुप हूँ तो/ मत समझो कि गूँगी हूँ
या कि रखा है मैंने आजीवन मौन व्रत
गहराती चुप्पी के अँधेरे में सुलग रही है भीतर
जो आक्रोश की आग/ उसकी रोशनी में पढ़ रही हूँ
तुम्हारे खिलाफ अकेले लड़ने के खतरों का खेल।[4]

आदिवासी स्त्रियाँ अपना घर चलाने के लिए ज्यादातर मजदूरी का काम करती हैं। मजदूरी करने वाली जगहों पर अक्सर यह देखा जाता है कि मालिक इन स्त्रियों पर अपनी मिल्कियत दिखाते हुए उनका शारीरिक शोषण करने के प्रयास में लगा रहता है। घास के गट्ठर का मोलभाव करते हुए एक आदिवासी मजदूरनी का हाथ जब एक अजनबी पुरुष पकड़ने की कोशिश करता है तब मजदूरनी की देह के प्रति उस पुरुष की लोलुप दृष्टि के विरुद्ध आक्रोश व्यक्त करते हुए कवयित्री सविता सिंह बड़ाईक अपनी कविता 'घासवाली' में लिखती हैं–

मैं घास बेचती हूँ बाबू देह नहीं
आक्रोशित आँखें कहतीं
पर जुबान रहती नि:शब्द।[5]

'भ्रूण-हत्या' की प्रवृत्ति को पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था की एक कलुषित मानसिकता से उत्पन्न बीमारी कह सकते हैं। पितृसत्तात्मक समाज के नीति-नियंताओं को यह भय रहता है कि भविष्य में स्त्रियाँ कहीं उनकी सत्ता को चुनौती देने लायक न बन जाएँ इसलिए धर्म की आड़ लेते हुए समाज में स्त्री-विरोधी व्यवस्थाएँ निर्मित कर दी जाती हैं। यह स्त्री-विरोधी मानसिकता सभ्य कहे जाने वाले समाज से लेकर आदिवासी समाज तक पहुँच गई है। भ्रूण-हत्या की इसी कुत्सित प्रवृत्ति का विरोध करते हुए कवयित्री 'ज्योति लकड़ा' अपनी कविता 'तुम्हारा डर' में लिखती हैं–

तुम डरते हो मेरा सामना करने से
क्योंकि तुम बौने हो
इसलिए धो डालते हो मेरा भ्रूण।
अभी भी वक्त है सँभल जाओ तुम
कि तुम्हारी तरह क्रूर न हो जाऊँ मैं
अगर अब भी नहीं चेते तुम

तो भूल जाऊँगी मैं/ तुम कौन हो, कौन थे।[6]

आदिवासी कवयित्रियाँ अपनी कविताओं के माध्यम से स्त्रियों की दशा-दिशा का ही वर्णन नहीं करती अपितु उन्हें इस शोषणकारी व्यवस्था के प्रति संघर्ष के लिए तैयार भी करती हैं। इनकी कविताएँ शब्द मात्र न होकर एक तीक्ष्ण औजार-हथियार के रूप में आदिवासी समाज पर प्रभाव डाल रही हैं।

जल-जंगल-जमीन के लगातार दोहन के विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर–आदिवासी जनजीवन प्रकृति का सहयात्री होता है। बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों तथा वर्तमान सदी में औद्योगिक विकास के नाम पर जंगलों की अंधाधुंध कटाई की जा रही है। विभिन्न उद्योगों की स्थापना के लिए आदिवासियों को उनकी जमीन से बेदखल किया जा रहा है। एक ओर जहाँ जल-विद्युत परियोजनाओं, बड़े-बड़े बाँधों और पक्की सड़कों के निर्माण के कारण जल का संकट बढ़ा तो वहीं दूसरी ओर जंगल और जमीन का भी। जल-जंगल-जमीन ये तीनों चीजें आदिम समाज की जीवनधारा हैं जिससे उन्हें विकास के नाम पर वंचित किया जा रहा है। इनके अप्रत्याशित अंधाधुंध दोहन से आदिवासियों का अस्तित्व ही खतरे में पड़ता जा रहा है। जंगलों के कटने की पीड़ा को 'ग्रेस कुजूर' की पंक्तियों में सहज ही देखा जा सकता है–

कहाँ है वह फुटकल गाछ
जहाँ चढ़ती थी मैं/ साग तोड़ने
और गाती थी तुम्हारे लिए/ फगुआ के गीत
* * *
कैसे बीनूँगी उनकी पत्तियाँ
कैसे सिऊँगी दोना और पतरी
अब तो बढ़ने लगे हैं/ दातुन भी/ टेढ़े-मेढ़े।[7]

जंगल नष्ट होने का परिणाम यह हुआ कि आदिवासियों को उदरपूर्ति के लिए भी जद्दोजहद करनी पड़ रही है। उनकी अपनी जमीनों को छीनकर उस पर पक्की सड़कें बना डालीं गईं जिससे उनकी कृषि-पैदावार बहुत कम होती चली गई। मजबूरन उन्हें अपनी जीविका तथा परिवार के भरण-पोषण के लिए मजदूरी करने के लिए बाध्य होना पड़ा। सरिता सिंह बड़ाईक अपनी कविता 'फगनी' में एक आदिवासी परिवार जो अपनी जमीन से बेदखल कर दिया गया है और सड़कों पर अपना जीवन निर्वाह करने के लिए मजबूर हो गया है; उनका मार्मिक चित्रण करते हुए लिखती हैं–

अपनी अधिगृहीत जमीन पर बनी
सड़क के किनारे झोपड़ी में
वह बेचती है हड़िया
चावल को सिझाकर/ बनाती है शराब
अपनों की भूख मिटाने/ परायों की प्यास बुझाने
* * *
इसी दुखती रग की घात में/ हरदम लगा रहा दलाल
और लील गया/ एकड़-दर-एकड़ खेत
और लहलहाता धान।[8]

देश की विभिन्न सरकारों द्वारा समय-समय पर लागू किए जाने विकास के गलत मॉडलों

ने आदिवासी समाज की निजता पर हनन किया और उनके अस्तित्व तक को संकट में डाल दिया। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि उनके निजी व्यवसाय-आजीविका आदि लगभग समाप्त हो रहे हैं–

वे लूटने-लुटाने आए/ हम गए परदेस
धरती उजड़ी जंगल उजड़े/ रह गया क्या शेष?[9]

आजीवन प्रकृति की गोद में रहने वाला आदिवासी समाज उस प्रकृति से इस हद तक सामाजिक और सांस्कृतिक रूप में जुड़ा होता है कि उसके बिना आदिविसियों के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

विस्थापन की त्रासदी व पुनर्वास के संकट के विरुद्ध प्रतिरोध के स्वर–वर्तमान आदिवासी कवयित्रियाँ आदिवासी परिवारों के विस्थापन की पीड़ा से भलीभाँति परिचित हैं। देश में अपनायी गई आर्थिक उदारीकरण की नीति ने आदिवासियों से उनकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विरासत छीन ली और उनको अपने ही वन-क्षेत्रों से बिना उनके पुनर्वास की ठोस व्यवस्था किए, बेदखल कर दिया गया। विस्थापन किसी समाज में केवल भौगोलिक परिवर्तन ही उत्पन्न नहीं करता बल्कि सांस्कृतिक परिवर्तन भी पैदा कर देता है। आदिवासी समुदाय ऐसे भौगोलिक विस्थापन के बाद सीधे तौर पर अपनी सांस्कृतिक जड़ों से कट जाता है। विशिष्ट जनजातीय संस्कृति ही आदिवासियों की मुख्य पहचान है, यही कारण है कि उनमें होने वाले बदलावों को समकालीन कविता कभी स्वीकार नहीं करती बल्कि वह ऐसी व्यवस्था और विकास के विरोध में अपना स्वर बुलंद करती हुई दिखती है जिससे आदिवासी समाज अपनी सांस्कृतिक विरासत को ही खो दे। 'निर्मला पुतुल' अपना विरोध दर्ज कराते हुए लिखती हैं–

अगर वह चाहते हैं कि अपनी थोड़ी-सी भलाई के लिए
बिछ जाएँ जब तक उनके इशारे पर उनकी खातिर
तो नहीं चाहिए हमें उनका एहसान
उठा ले जाएँ वे अपनी व्यवस्था
ऐसा विकास नहीं चाहिए हमें
नहीं चाहिए ऐसा बदलाव/ नहीं चाहिए!!..[10]

प्राकृतिक वनों के अंधाधुंध दोहन से उपजी सबसे बड़ी समस्या आदिवासियों के लिए उनके आवास की समस्या है। हालाँकि सरकारों ने उनके पुनर्वास की व्यवस्था के लिए कई योजनाओं का संचालन किया किंतु वे सभी भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ने से न बच सकीं। ऐसी ही एक पुनर्वास की योजना सरकार द्वारा इंदिरा आवास चलाई गई थी किंतु इसके तहत आवास पाने की प्रक्रिया इतनी जटिल थी कि सामान्य भोला-भाला आदिवासी समुदाय इससे वंचित ही रह जाता है। निर्मला पुतुल अपने शब्दों में इसी विडंबना को आरेखित करती हुई कहती हैं–

इंदिरा-आवास के लिए बहुत दौड़-भाग की
पंचायत सेवक को मुर्गा भी दिया
प्रधान को भी दिया पचास टका
पर अभी तक कुछ नहीं हुआ
पूरा डेढ़ साल हो गया।[11]

आवास दिलाए जाने के नाम पर माँगी गई रिश्वत के अलावा आदिवासी स्त्रियों से उनके जिस्म की भी फरमाइश होने पर इन भ्रष्ट अधिकारियों का काला-चिट्ठा खोलती हुई लिखती हैं–

और ब्लॉक के बड़ेबाबू का क्या बताएँ
ऐसी चीज माँगता है कि बताते भी शर्म आती है
गुस्सा करने लगोगे तुम/ मारने-पीटने गरियाने लगोगे हमको
छोड़ो, उन सबकी आदत ही ऐसी है।[12]

स्त्री-दमन व शोषणकारी व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर: आदिवासी जनजातीय समाजों में अनेक प्रकार के जादू-टोनों तथा अंधविश्वासों की मान्यता होती है। अंधविश्वास के चलते ही कई बार ये लोग अपने ही समुदाय की स्त्रियों को बहुत अधिक अपमानित-प्रताड़ित करते हैं और यहाँ तक कि कई बार मौत के घाट उतार देते हैं। समकालीन लेखिकाएँ अपनी रचनाओं में आदिवासी जीवन-संघर्ष और आदिवासी-चेतना को व्यापक विस्तार देती दिख रही हैं। अंधविश्वास की ऐसी ही एक कुप्रथा 'डायन प्रथा' का कारुणिक चित्रण निर्मला पुतुल ने किया है। 'डायन प्रथा' में आदिवासी स्त्री को आर्थिक और शारीरिक दोनों प्रकार के दंड दिये जाते हैं। जब कभी आदिवासी समाज के किसी गाँव में कोई बड़ा हादसा या विपत्ति आती है तो इसके लिए किसी ऐसी स्त्री को ही दोषी माना जाता है जिसका पति या पुत्र दोनों में से कोई न जीवित बचा हो। उसको डायन घोषित करते हुए उस पर इतने अत्याचार किए जाते हैं कि कई बार उसकी मृत्यु हो जाती है। इन्हीं भयावह शोषणकारी परिस्थितियों और व्यवस्थाओं का प्रतिरोध करते हुए 'निर्मला पुतुल' लिखती हैं–

और एक दिन तो गजब ही हो गया
लखना के बेटे को साँप ने काटा/ तो सब आ धमके हम पर
कहने लगे डायन हैं हम/ कुछ कर दिया है उसके बच्चे को
वह तो अच्छा हुआ कि शरबतिया ने साँप देख लिया
नहीं तो पकलू बुढ़िया की तरह मुझे भी
मुझे भी घसीट कर ले जाते लोग कुलि में
और भरी पंचायत में सर मुँडवा/ नचा देते नंगा।[13]

देश की आजादी के इतने सालों बाद भी आदिवासी समाज की एक मुख्य समस्या जो आजतक बनी हुई है वह है–गरीबी और भुखमरी। आदिवासियों को आजतक हमारे समाज में न तो सम्मानजनक स्थिति ही प्राप्त हो सकी है और न ही उनको भरपेट भोजन। दिन-भर की मजदूरी के बाद उन्हें केवल इतना ही अनाज दिया जाता है कि वे अगले दिन पुन: काम पर वापस आ सकें। आदिवासियों की यह दशा वास्तव में दु:खद और शोचनीय है। आदिवासी समुदाय में पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही अत्यंत परिश्रमी होते हैं। आदिवासी स्त्रियाँ तो दोहरे दायित्व का निर्वहन करती हैं। एक ओर वे जहाँ पेड़ों से पत्ते निकालकर उनसे पत्तल, झाड़ू-पंखा आदि दैनिक प्रयोग की वस्तुएं बनाकर बाजार में बेचती हैं तो दूसरी तरफ घर का सारा काम करते हुए कभी-कभी मजदूरी के काम भी करती हैं। लेकिन इन सबके बावजूद वे अपना तथा अपने बच्चों का पेट पूरी तरह भरने में असफल रहती हैं। इस विडंबनापूर्ण स्थिति को रेखांकित करते हुए निर्मला पुतुल अपनी कविता बाहामुनि में लिखती हैं–

तुम्हारे हाथों बने पत्तल पर भरते हैं पेट हजारों
पर हजारों पत्तल भर नहीं पाते तुम्हारा पेट
कैसी विडंबना है कि/ जमीन पर बैठ बुनती हो चटाइयाँ
और पंखा बनाते टपकता है/ तुम्हारी करियाये देह से टप... टप...पसीना....।[14]

बाजारीकरण से उपजे शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर– पिछली सदी के अंतिम दशकों में देश द्वारा अपनाए गए आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण का परिणाम यह हुआ कि बाजारवाद शहरो से लेकर गाँवों तक और आदिवासी समाज तक अपना प्रभाव दिखाने लगा। शताब्दियों पहले अंग्रेजों द्वारा किया जाने वाला आर्थिक शोषण बाजार की शक्ल में ग्रामीणों तथा आदिवासियों को लूटने पुनः आ गया। नतीजतन उनके द्वारा तैयार किए गए कच्चे माल को वापस उन्हीं के पास महंगे उत्पाद के रूप में प्रस्तुत किया गया। घने जंगलों में पायी जाने वाली औषधियों को निकालने,महंगे मेवे के बदले केवल खानापूर्ति की सस्ती चीजें जैसे नमक, आटा, दाल, चावल आदि दे दी जाती हैं। शोषण की पराकाष्ठा देखिये कि रेशम जैसी महत्त्वपूर्ण और महंगी वस्तु आदिवासियों द्वारा तैयार की जाती है किंतु उसका उपभोग वे स्वयं नहीं करते बल्कि उन्हें बाजार से अच्छे दामों में खरीदकर सभ्य समाज उपभोग करता है। आदिवासी कवयित्रियों ने अपनी नजर इन समस्याओं पर भी डाली और तब 'रेशमी धागे' जैसी कविता लिख डाली। आदिम समाज की सुगनी, भंवरी और बुधनी रेशम बनाने के कार्य में तो लंबे समय तक लगी रहती हैं किंतु इन रेशमों का उपभोग कोई और ही करता है। इन बेचारियों को तो यह भी नहीं पता है कि उनका बनाया हुआ रेशम आखिर कहाँ जाता है? उसका होता क्या है? इसी दर्द को व्यक्त करती निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं–

तब से आज तक
सुगनी, मंगरी और बुधनी/ थामे हुए हैं कोकून
उन्हें नहीं पता/ रेशम से निकला पहला छोर
कहाँ तक पहुँचा होगा?
किस तन से लिपट रहा होगा?..[15]

'ग्रेस कुजूर' रचित यह कविता स्पष्ट संकेत करती है कि कड़ी मेहनत मजदूरी करके आदिवासी स्त्रियों द्वारा तैयार किए गए उत्पादों का उपभोग प्रायः उसी साधन-सम्पन्न वर्ग द्वारा किया जाता है जिसने ऐसे उत्पादों के निर्माण के लिए कभी कोई मेहनत नहीं की होती है। सच कहें तो उपभोक्तावाद ने आदिवासियों ग्रामीणों को केवल शोषण ही उपहारस्वरूप दिया है। उपभोक्तावादी संस्कृति में आदिवासी स्त्री-पुरुष दोनों की स्थिति केवल मजदूर के रूप में हैं। आदिवासी स्त्रियाँ तो इस बात से भी बेखबर हैं कि उनका शोषण किस स्तर से कहाँ तक हो रहा है। उन्हें यह तक नहीं पता चलता कि कब उनके द्वारा तैयार किया गया सामान दिल्ली के बाजार में पहुँच गया। इसकी अभिव्यक्ति इन्हीं पंक्तियों में हुई है–

वे नहीं जानतीं कि
कैसे पहुँच जाती है उनकी चीजें दिल्ली
जबकि राजमार्ग तक पहुँचने से पहले ही
दम तोड़ देती है उनकी दुनिया की पगडंडियाँ।[16]

कहने का आशय यह है कि आदिवासी लोगों के आने-जाने के लिए तो एक सामान्य पगडंडी तक नहीं बनाई गयी है किंतु उनके द्वारा निर्मित चीजें कितनी आसानी से राजधानी दिल्ली तक पहुँचा दी जाती हैं। दिल्ली को यहाँ महानगरीय संस्कृति के प्रतीक रूप में दिखाते हुए यह बताने की चेष्टा की जा रही है कि ऐसी महानगरीय संस्कृतियों के निरंतर फैलाव ने ही आदिवासी और श्रमशील समाज को अपने पैरो तले रौंद दिया है। देश दुनिया की मीडिया भी आदिवासी समाज में होने वाली दुर्घटनाओ तथा उनके शोषण को अपनी टीआरपी बढ़ाने के साधन के रूप में ही देखती

है। मीडिया आदिवासियों से संबंधित गंभीर न्यूज को भी चटपटेदार मसालेदार बनाकर समाज के सामने दिखाती है। इस पर 'जसिन्ता' कटाक्ष करते हुए लिखती हैं–

ओ जमुनी देखो
तुम्हारे दर्द का हर दिन अब/ सजा रहा है खबरों का बाजार
देश से लेकर देशों तक/ देखो तुम्हारा दर्द कैसे बिक रहा है?
पति से तुम्हारे पिट जाने की/ प्रेमी से पाया अनचाहा गर्भ मिटाने की
होने वाली तुम्हारी हत्या की/ तुम्हारे शोषण और उत्पीड़न की खबर
हर तरह की चटपटी मसालेदार/ देखो तुम्हारे दर्द का हो रहा है व्यापार।[17]

अस्तु, हम कह सकते हैं कि हिंदी की समकालीन कविता में दलित और आदिवासी कवयित्रियाँ अपने शोषित-वंचित समाज के प्रति न केवल तन-मन-धन से प्रतिबद्ध हैं अपितु उनके जीवन की समस्याओं-परेशानियों को समाज के समक्ष मजबूती से उठाने का काम भी बखूबी कर रहीं हैं; साथ-ही-साथ इन समस्याओं के समाधान रूप में आवश्यक प्रतिरोधी चेतना का विकास भी अपने समुदाय के लोगों में करती दिख रही हैं।

संदर्भ

1. हरिराम मीणा (संपा॰) समकालीन आदिवासी कविता, पृ॰ 14
2. निर्मला पुतुल, 'नगाड़े की तरह बजते हैं शब्द', पृ॰ 28
3. जसिन्ता केरकेट्टा, 'साहब कैसे करोगे', samalochan-blogpost.com
4. निर्मला पुतुल, नगाड़े की तरह बजते है शब्द, पृ॰ 56
5. रमणिका गुप्ता (संपा॰), भीड़ सत्तर में चलने लगी है, पृ॰ 300
6. ज्योति लकड़ा, रमणिका गुप्ता (संपादिका), कलम को तीर होने दो, पृ॰ 170-71
7. वही, पृ॰ 97-98
8. वही, पृ॰ 293
9. वही, पृ॰ 102
10. निर्मला पुतुल, नगाड़े की तरह बजते हैं शब्द, पृ॰ 34-35
11. वही, पृ॰ 43
12. वही, पृ॰ 44
13. वही, पृ॰ 41-42
14. वही, पृ॰ 12
15. रमणिका गुप्ता (संपादिका), कलम को तीर होने दो, पृ॰ 87
16. निर्मला पुतुल, नगाड़े की तरह बजते हैं शब्द, पृ॰ 11
17. वही, पृ॰ 14

डॉ॰ सोनम शुक्ला द्वारा श्री दिनेश कुमार शुक्ला
5F/5 **टैगोर टाउन, प्रयागराज (उत्तर प्रदेश)** 211002
मो॰ 7982657149
sonamshukla616@gamil.com

हिंदी उपन्यासों में पर्यायवरण विमर्श

आरती (विद्यार्थी)
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय

मानवजाति का संपूर्ण जीवन पूर्ण रूप से पर्यावरण पर निर्भर करता है। पर्यावरण के बिना मानव जीवन की कल्पना करना व्यर्थ सिद्ध होगा। सृष्टि के निर्माण के साथ दोनों में तादात्म्य बंधन स्थापित है। हमारे आस-पास उपस्थित लघुकाय व विशालकाय सभी अनिवार्य तत्त्व पर्यावरण के अंदर आते हैं। जैसे–जल, वायु, धरती, आकाश, अग्नि, पेड़-पौधे व जीव-जंतु आदि। मनुष्य प्रकृति की सुंदरता की तरफ स्वाभाविक रूप से आकर्षित होता है। वनों-पर्वतों के बीच घाटियों में पानी के झरनों का विस्मय संगीत व पक्षियों का चहकना आदि दृश्य देखकर मनुष्य के सारे दु:ख-दर्द व कष्टों का निर्वाण होता है। प्राचीनकाल से प्रकृति हमारे लिए देवीतुल्य पूज्यनीय रही है। मानव धर्म में प्रकृति के सभी रूपों की रक्षा करना परम कर्त्तव्य समझा जाता है। वेद, पुराण, उपनिषद्, रामायण और महाभारत आदि सभी साहित्य का संबंध प्रकृति से जुड़ा है।

आधुनिककाल में हम प्रकृति को अद्‌भुत विस्मय स्थिति के स्थान पर क्षतिग्रस्त परिस्थिति के रूप में पाते हैं। विकास के इस दौर में मनुष्य की पहुँच धरती के अंदर से लेकर अंतरिक्ष तक हो गई। विकसित औद्योगिकरण के कारण वायुमंडल में अनेक अवांछनीय गैसों ने जन्म ले लिया है जिस कारण हरित ग्रह प्रभाव व वैश्विक तापमान लगातार बढ़ता जा रहा है।

वनस्पति व वन्यजीव-जंतुओं से हम औषधियों, सामग्री, फल-फूल व भोजन आदि पदार्थ बहुतायात में प्राप्त करते हैं परंतु मनुष्य की भौतिक सुख सुविधाओं की असीम इच्छाओं ने आज विकराल रूप धारण कर लिया है। बिना भविष्य की चिंता किए मानव पर्यावरण के समस्त पदार्थों का अंधाधुध प्रयोग करने में लगा है। मनुष्य के पर्यावरण में अनुचित हस्तक्षेप ने आज हमारे सामने चक्रवात, भूकंप, बाढ़, भूस्खलन, ओजोन परत का क्षय, प्रदूषित जल, प्रदूषित वायु, ग्लेशियरों का पिघलना आदि चिंताजनक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई है।

साहित्य हमेशा संस्कृति व समाज के साथ चलता है। वर्तमान में विश्व के सामने पर्यावरण एक गहन संवेदना का विषय बना हुआ हैं साहित्य लोगों के विचारों को प्रभावित करता है उन्हें समस्याओं से अवगत कर भविष्य के लिए जागरूक करने की अपार शक्ति साहित्य रखता है।

'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में दिखाया गया है विकास व अर्थव्यवस्था को मजबूत करने के नाम पर कंपनियों को स्थापित किया जाता है परंतु कुछ स्वार्थी और लोभी प्रवृत्ति के मनुष्य के कारण विकास को केवल फाइलों तक रखा जाता है। कंपनी कच्चे माल के रूप में बॉक्साइड को जमीन से निकाल लेती है यह खनन कार्य अवैध रूप में भी होता है। खनन कार्य करने के बाद बॉक्साइड के गड्ढों को खाली छोड़ देते हैं–'पिछले पच्चीस-तीस सालों में खान-मालिकों ने बड़े-बड़े गड्ढे छोड़े हैं, बरसात में इन गड्ढों में पानी भर जाता है मच्छर पलते हैं। सेरेब्रल मलेरिया यहाँ के लिए महामारी है महामारी।'[1]

 ISSN 0975-735X

सरकार व कंपनी के एग्रीमेंट के तहत गड्ढों को भरना होता है। ताकि उस भूमि को कोई हानि या प्रदूषण न हो परंतु इन गड्ढों की तरफ किसी का ध्यान नहीं जाता है–'बीच-बीच में बॉक्साइड की खुली खदानें। जहाँ बॉक्साइड निकालें जा चुके थे वे गड्ढे भी मुँहबाए पड़े थे। मानो धरती माँ के चेहरे पर चेचक के बड़े-बड़े धब्बे हों।'[2]

मनुष्य हर जगह अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है वह अपनी शक्तियों को अन्य की तुलना में अत्यधिक करना चाहता है। आज के युग में जिसके पास ज्यादा आधुनिक हथियार हैं वही शक्तिशाली है। पूरी दुनिया उसके सामने घुटने टेकती है। आज वैज्ञानिकों ने इतने भयावह हथियारों का निर्माण कर लिया जो समस्त सृष्टि का विनाश करने की अपार शक्ति रखते हैं इनके प्रयोग से अनेक जहरीली गैसें निकलती हैं जो वायु को दूषित करती हैं। 'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास में भट्ट ने गुरु चरण के बारे में कहा, 'दुनिया को उजाड़ने वाले हथियारों को बनाने वालों के साथ वह नहीं होना चाहता था'[3] गुरुचरण को पर्यावरण से बहुत लगाव था उसने प्रकृति की सुंदरता के स्थान-स्थान का भ्रमण किया है।

रणेंद्र कृत उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में रुमझुम की कहानी के माध्यम से यह स्पष्ट अभिव्यक्त होता है कि युद्ध के पर्यावरण पर विपरीत प्रभाव पड़ते हैं–'सारे जीव सारी वनस्पतियाँ आँच से कुम्हला रही हैं कीड़े-मकोड़े, फुनगे-फतियों सब एक-एक मर रहे हैं। कमल फूलों की पोखरी और कुमुद फूलों की बावड़ी सूख रही है।'[4]

पृथ्वी की आंतरिक हलचलों व मानवीय गतिविधियों के कारण पर्यावरण में परिवर्तन होता है इस कारण कुछ नए पदार्थ पर्यावरण में आते हैं और कुछ नष्ट हो जाते हैं। इन परिवर्तनों का पर्यावरण पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। 'एक ब्रेक के बाद' में गुरु चरण व भट्ट के संवाद से स्पष्ट अभिव्यक्त होता है–'सरस्वती नदी इस देश से लुप्त हो गई है पर वह अब भी अंदर-अंदर बहती है।'[5]

नदियों के पानी से लेकर झीलों-तालाबों के पानी में प्रदूषण की मात्रा लगातार बढ़ती जा रही है। पेयजल का संकट उत्पन्न हो रहा है। उद्योगों द्वारा व नदी के तट के किनारे बसे हुए शहरों के द्वारा कूड़े-कचरे, गंदा पानी और मल को नदियों में गिराया जाता है। भारत में गंगा नदी माँ के समान पवित्र माना जाता है और इसके जल को शुद्ध मानकर लोग अपने घरों में सालों तक रखते हैं 'लक्ष्मण रेखा' उपन्यास में विश्वंभर के कथन से स्पष्ट है–'भारत में तो आज गंगा नदी भी जिसके जल से वर्षों तक कीड़े नहीं पड़ते थे, पूरी तरह से दूषित है। उसे प्रदूषण मुक्त करने के यत्न अरण्य-रोदन ही सिद्ध हुए। यमुना भी प्रदूषित हैं।'[6] नदियों का प्रदूषित पानी जब समुद्र में मिलता है तो समुंद्र के जीव-जंतुओं की खाद्य शृंखला को विपरित रूप ये प्रभावित करता है। पहाड़ी इलाकों में बनी झीलों के पानी को पर्यटकों व स्थानीय लोगों द्वारा प्रदूषित किया जा रहा है इसी प्रदूषित जल का प्रयोग मनुष्य करते हैं। इस कारण उन्हें अनेक बीमारियों का सामना करना पड़ता है। विश्वंभर गीतिका को प्रदूषित जल के बारे में सूचित करता है। 'तुम्हीं जाओ वहाँ, उस झील के पानी से मुझे अब उबकाई आती है और जानती हो इसी झील से पूरे नैनीताल को पानी पिलाते हैं और उसके लिए जल शोधन के क्रम में पड़ने वाली क्रोमीन की मात्रा वर्ष-प्रतिवर्ष बढ़ती ही जा रही है। अब तो यह पानी इस दवा से इतना प्रदूषित हो गया है कि समतल-वासियों को यह रास नहीं आता।'[7]

विश्व की जनसंख्या लगातार बढ़ती जा रही है। जनसंख्या के आवास व भौतिक जरूरतों की पूर्ति के लिए पेड़ों की कटाई दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। पेड़ों की कटाई से मिट्टी, वायु, वर्षा, भूस्खलन, बाढ़ पर प्रभाव पड़ता है। पहाड़ों पर पेड़ों की बढ़ती कटाई के कारण भूस्खलन का

खतरा बढ़ता जा रहा है।

विश्वंभर ने गीतिका के सामने नैनीताल के पहाड़ों पर काटे जा रहे पेड़ों का वर्णन किया है–'कितने सारे तो पेड़ काट दिए गए। मंसूरी तो एक तरह से नंगी हो ही गई। नैनीताल के भी वृक्ष जाते रहे तो हम स्वच्छ वायु के लिए तरस जाएँगे?'

पेड़-पौधों द्वारा हमें शुद्ध ऑक्सीजन मिलती है। पीपल का पेड़ हमें दिन-रात ऑक्सीजन देता है। पेड़ों की कटाई के कारण गैसों का संतुलन खराब हो रहा है जिस कारण हरित गैस प्रभाव व वैश्विक तापमान में वृद्धि हो रही है। ये गैंसे वायुमंडल में प्रदूषण को बढ़ा रही हैं। सूर्य से आने वाली ऊर्जा को मीथेन जैसी गैसों द्वारा अवशोषित कर लिया जाता है। इस कारण वैश्विक तापमान में वृद्धि हो रही है। प्रदूषण के कारण हमारी सुरक्षा ओजोन परत में बड़े-बड़े छेद हो रहे हैं। ओजोन परत सूर्य से आने वाली पैराबैंगनी किरणों को धरती पर आने से रोकती हैं परंतु ओजोन के छेद के कारण ये किरणें पृथ्वी पर आकर त्वचा व कैंसर जैसे रोगों को बढ़ा रही हैं। आज भी समाज में लोग पेड़ों की कटाई का ठेका लेते हैं जो गीतिका के अपने पिता के वर्णन से स्पष्ट है–'इस समय भी जब रात के अँधेरे में ही हरे-भरे वृक्षों को आधुनिक आरा-मशीनों से कटवा और ट्रकों पर लदवा कर पर्वतों के ऊबड़-खाबड़ रास्तों से तराइयों के अपने गुप्त गोदामों में पहुँचवा देते थे। रही जगंल की नीति अपने स्थान पर ठाकुर विक्रम सिंह की अपनी नीति थी।'[9]

जंगलों में वृक्षों व जीव-जंतुओं की अनेक जातियाँ पाई जाती हैं। भूमध्यरेखा के निकट अधिक वर्षा के कारण वनों की संख्या अधिक होती है। गीतिका के वाक्य से जंगलों का महत्त्व स्पष्ट होता है–'जंगल केवल हमारे प्राणों की रक्षा के ही साधन नहीं, उन्होंने हमारी साहित्यिक और आध्यात्मिक धरोहर को भी समृद्ध किया है। वन नहीं होते तो किधर से आते तपोवन? कहाँ होते यज्ञ-यजन?'[10]

हिमालय के वनों को औषधियों का उद्‌गम स्थल माना जाता है। प्रदूषण के प्रभाव से आज बीमारियों के नए-नए रूप हमारे सामने आ रहे हैं, जिनका इलाज हम आयुर्वेदिक प्रणालियों से कर सकते हैं। वैज्ञानिक युग में बहुत से रोगों की मुक्ति की दवाईयों में इन औषधियों का प्रयोग होता है। प्राचीनकाल में तो संपूर्ण रोगमुक्ति क्रिया इन्हीं औषधियों पर निर्भर थी। गीतिका की अभिव्यक्ति को आधार मानकर हम इनका महत्त्व समझ सकते हैं–'हाँ, हिमालय जड़ी-बूटियों का अंबार है– जीवदायिनी औषधियों का। संजीवनी से लक्ष्मण के प्राणों की रक्षा की बात मात्र पौराणिक और परिकल्पित भी हो सकती है, पर तुम्हारे ही नहीं विश्व के बड़े-बड़े औषधि कारखाने भी इन जड़ी-बूटियों पर आश्रित हैं।'[11] आर्द्रभूमि की उपयोगिता उसकी जैवविविधता के कारण होती है आर्द्रभूमि की सुरक्षा करने वाले देशों को वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है आर्द्रभूमि को खनिजों का भी स्रोत माना जाता है, यह परिस्थितिकीय तंत्र को बनाए रखने में प्रभावशाली भूमिका निभाते हैं। इनमें पानी स्थाई-अस्थाई रूप से रहता है दूषित पर्यावरण में खत्म होते पेड़-पौधों व जीव-जंतुओं की सुरक्षा के लिए आर्द्रभूमि कारगर साबित हुई है। आर्द्रभूमि के खतरे को देखते हुए इससे संबंधित अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हो रहे हैं। 'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास में भट्ट के कथन से आद्रभूमि के नष्ट होने के खतरे का पता चलता है–'सॉल्ट लेक के वैटलैंड्स यानी पानी की भेरियों तालाबों को सुखाकर पूरा शहर बस गया है। अब वहाँ ऐसा कौन-सा खुलापन बचा होगा जहाँ बिना किसी सीमा में बँधे मुक्त होकर घूमा जा सके।'[12]

प्रदूषण के विरुद्ध में और पर्यावरण बचाव के लिए सहयोग में कार्य करना आरंभ कर दिया।

यातायात के संसाधनों के सीमित प्रयोग पर बल दिया। हमें निजी वाहनों के स्थान पर सरकारी वाहनों का ज्यादा प्रयोग करना चाहिए। बसों, टैक्सियों हवाई जहाज व कार आदि के अत्यधिक प्रयोग से ध्वनि और वायु प्रदूषण को बढ़ावा मिलता है। उद्योगों से अधिक बहुत मात्रा में धुआँ निकलता है। 'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास में के॰वी॰एस॰ अय्यर ने कहा–'दुनिया की फैक्टरियों से रात-दिन निकलता काला धुआँ पूरी दुनिया पृथ्वी पर छाता दिखाई पड़ता है।'[13]

औद्योगिकरण के कारण कार्बन की बढ़ती मात्रा एक संकट का विषय बन गई है। सभी उद्योगों पर कार्बन उत्पादन की एक सीमा लगा दी। यदि उद्योग चाहे तो अपने कार्बन बचाकर रख सकता है। उस कार्बन को वह बेच तथा खरीद सकते हैं। यह कार्बन क्रेडिट का नियम इसलिए लाया गया क्योंकि विकसित देश तो बहुत अधिक कार्बन उत्पन्न करते थे और विकासशील देश कम कार्बन उत्पन्न करते थे। इसलिए यह 'कार्बन क्रेडिट' समझौता चला। लोगों ने अब भविष्य के बारे में सोचना आरंभ कर दिया था क्योंकि आने वाली पीढ़ी के लिए प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा जरूरी है। यदि हम प्राकृतिक साधनों की सुरक्षा नहीं करेंगे तो हमारा वर्तमान भी संकट में आ सकता है। के॰वी॰एस॰ अय्यर ने सतत विकास पर अपने विचार व्यक्त किए 'सस्टेनेबल विकास करना सिर्फ हमारा कर्त्तव्य नहीं, हमारी मजबूरी भी है। दुनिया हरी-भरी फली रहे। तभी हम बच सकेंगे।'[14]

सभी मनुष्यों का प्रकृति के सौंदर्यमयी कलाकृतियों को देखने का मन करता है। अपने मन की इच्छा को पूरा करने के लिए हमें प्रकृति को स्वच्छ रखना होगा। विकास की दौड़ में हम इसे अंधे हो गए हैं कि ये तक नहीं देख पा रहे कि हम प्रकृति को कितना प्रदूषित बना रहे हैं। शुद्ध ऑक्सीजन के लिए हम एकांत स्थान, जहाँ पर प्रदूषण कम हो ऐसी जगह ढूँढते हैं। शुद्ध भोजन और पानी तक हमें नहीं मिल पा रहा है जिसके कारण हमें अनेक प्रकार की बीमारियाँ हो रही हैं। अगर प्रकृति को हम प्रदूषित कर रहे हैं तो हमारा जीवन भी प्रदूषित होगा। अपने जीवन के लिए हमें अपने पर्यावरण को स्वच्छ रखना होगा।

वर्तमान समय में वैश्विक जंतुओं की लिए आई॰यू॰सी॰एन॰, रामसरोवर सम्मेलन, मॉन्ट्रियल प्रोटोकाल आदि विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन किया जा रहा है।

हिंदी साहित्य में पर्यावरण संबंधित, समस्याओं पर विचार-विमर्श किया गया है, यह व्यक्तियों को पर्यावरणीय मुद्दों के बारे में जागरूकता फैलाने के लिए समर्पित है। साथ ही समस्याओं से निपटने के लिए तर्कसिद्ध व उपयुक्त जानकारी प्रदान करते हैं, 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में पहाड़ी इलाके के स्थानीय निवासी लोग उद्योग स्थापना से असंतुष्ट हैं इसलिए सभी सामूहिक स्वयं को आंदोलन करते हैं जो इस कथन से स्पष्ट है–'राजधानी के यूनिवर्सिटी हॉस्टल से सुनील असुर अपने साथियों के साथ कोयलबीघा पाट के लिए निकल रहा था। लड़ाई की बागडोर अब उसे सँभालनी थी।'[15]

आधुनिकयुग में तीव्र गति से विकसित होते जनसंचार माध्यम जैसे सोशल मीडिया आदि की सहायता से लोगों को पर्यावरण के प्रति जिम्मेदारी से परिचित कराया जा सकता है! इससे हम स्वच्छ व प्रदूषण मुक्त वातावरण निर्माण करने में सफल होंगे।

संदर्भ

1. रणेंद्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, 2009, पृ॰ 13
2. वही, पृ॰ 9
3. अलका सरावगी, एक ब्रेक के बाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 61

4. रणेंद्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, 2009, पृ॰ 42
5. अलका सरावगी, एक ब्रेक के बाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 28
6. भगवतीशरण मिश्र, लक्ष्मण रेखा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ॰ 152
7. वही, पृ॰ 9
8. वही, पृ॰ 12
9. वही, पृ॰ 71
10. वही, पृ॰ 116
11. वही, पृ॰ 136
12. अलका सरावगी, एक ब्रेक के बाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प॰ 61
13. वही, पृ॰ 150
14. वही, पृ॰ 147
15. रणेंद्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, 2009, पृ॰ 100

V/P - Chimni, Teh - Beri,
dist - jhajjar 124412 (H.R.)
Mob. 9728150129
Kadianarti541@gmail.com

 ISSN 0975-735X

स्वातंत्र्योत्तरकाल में व्यंग्यात्मक हिंदी-कविताओं के पुरोधा: नागार्जुन

डॉ॰ ज्ञानेन्द्र मणि त्रिपाठी, असि॰ प्रोफेसर (हिंदी विभाग)
किसान पीजी कॉलेज, बहराइच (उ॰प्र॰)

नागार्जुन की रचनाओं में व्यक्त व्यंग्य का स्वरूप बहुमुखी है क्योंकि इनकी कविताओं में समाज के लगभग प्रत्येक पक्ष की अव्यवस्थाओं के प्रति घोर नाराजगी तथा क्षोभ दिखता है। समाज में फैली विषमता, सामाजिक-आर्थिक शोषण तथा सरकारी-गैरसरकारी तंत्रों में व्याप्त भ्रष्टाचार आदि पर इस जनकवि ने तीव्र प्रहार अपनी व्यंग्यात्मक कविताओं में किया है। बाबा नागार्जुन के व्यंग्य को उनकी मानवीय संवेदनशीलता के साथ-साथ उनके मानवीय सरोकार तथा प्रतिबद्धता के आलोक में देखना चाहिए। इनकी कविताओं में जीवन की अजस्र धारा का प्रवाह दिखता है। भारतीय जीवन का कटु यथार्थ कवि में आक्रोश पैदा करता है और यही आक्रोश उन्हें व्यंग्य के सृजन की ओर अग्रसर करता है। वस्तुत: व्यंग्य का मूल निहितार्थ मानवीय संवेदना तथा सरोकार से संपन्न एक ऐसे कवि की चिंता होती है जो कहीं-न-कहीं अपने समय से विक्षुब्ध है।

नागार्जुन ने देश की स्वतंत्रता के पूर्व तथा पश्चात की अनेक परिस्थितियों को न केवल बहुत करीब से देखा था अपितु उनकी सचेत-सतर्क निगाह और प्रगतिशील दृष्टि ने उन संदर्भों के भूत और भविष्य का भी चिंतन-मनन किया था। इसीलिए वे तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक स्थितियों पर क्षोभपूर्ण करारे व्यंग्य करने में सफल भी हुए हैं। व्यंग्यशीलता ही कवि नागार्जुन के संपूर्ण काव्य-सृजन की सबसे प्रमुख विशिष्टता है। जीवन की सजीवता-विश्वसनीयता लिए हुए इनके व्यंग्य की खास विशेषता है कि वह सतहीपन और अखबारीपन से कोसों दूर है। इनकी कुछ प्रमुख कविताओं में व्यक्त व्यंग्य-चेतना को इस प्रकार देख सकते हैं–

युगधारा (काव्य-संग्रह)–इस काव्य-संग्रह की अधिकतर कविताएँ सामाजिक भूमिका पर केंद्रित हैं जिसमें कवि ने समाज के अलग-अलग वर्गों को महत्त्व दिया है। इसी काव्य-संग्रह में संकलित एक प्रमुख कविता 'प्रेत का बयान' में नागार्जुन ने स्वतंत्र भारत के एक 'फटीचर अध्यापक' जोकि देश के समस्त अध्यापक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता दिखता है; का चित्रण बड़े ही मार्मिक ढंग से किया है। उन्होंने दिखाया है कि वह अध्यापक किस तरह आजाद भारत में भी दुर्दिन की भयावह स्थिति में जीता हुआ अपना वेतन न पाने से अन्न के अभाव में भूख से एक दिन मर जाता है। यमराज के पूछने पर अध्यापक के माध्यम से नागार्जुन का व्यवस्था के प्रति व्यंग्य दृष्टव्य है–

अविश्वास की हँसी हँसा दंडपाणि महाकाल
बड़े अच्छे मास्टर हो!
आए हो मुझको भी पढ़ाने!!
मैं भी बच्चा हूँ.../ वाह भाई वाह!
तो तुम भूख से नहीं मरे?

हद से ज्यादा डालकर जोर/ होकर कठोर
प्रेत फिर बोला–
'अचरज की बात है यकीन नहीं करते आप क्यों मेरा
कीजिए न कीजिए आप चाहे विश्वास
साक्षी है धरती, साक्षी है आकाश
और और और और और भले
नाना प्रकार की व्याधियाँ हों भारत में
किंतु
उठाकर दोनों बाँह/ किट-किट करने लगा जोरों से प्रेत
किंतु
भूख या क्षुधा नाम हो जिसका
ऐसी किसी व्याधि का पता नहीं हमको
सावधान महाराज/ नाम नहीं लीजिएगा
हमारे समक्ष फिर कभी भूख!![1]

कवि नागार्जुन को जनकवि की संज्ञा दी जाती है क्योंकि उन्होंने अपनी कविताओं में सामान्य जनता के दु:ख-दर्द-कष्टों को चित्रित ही नहीं किया बल्कि इन दु:खों के पीछे जो भी कारण हैं उन सभी पर भरपूर प्रहार कटाक्ष के रूप में किया है। उनके व्यंग्य सीधे व सरल होते हुए भी गहरी मार करने में सक्षम हैं। 'युगधारा' में ही संकलित एक अन्य कविता 'भिक्षुणि' में कवि ने धर्म के सत्त्व पर भी व्यंग्य करते हुए लिखा है। इसमें एक भिक्षुणी भगवान बुद्ध से प्रश्न करती है–

मैंने भी वैसे रटा सूत्रपिटक सारा,
तुम्हीं हो साक्षी भगवान् अमिताभ!
हुई कुछ सयानी फिर
तुम्हारा वह मध्यमार्ग समझने का यत्न किया
महायान-हीनयान सभी मैं जान गई
किंतु नहीं जान सकी-
मानव का मानवी का सहज यान क्या है![2]

सतरंगे पंखों वाली (काव्य-संग्रह) इस संग्रह की कविताओं में भारतीय सामाजिक जीवन की विषमता को अभिव्यक्ति मिली है। इस काव्य-संग्रह की सबसे प्रमुख रचना 'अकाल और उसके बाद' कविता है। अकाल की स्थिति में पूरा सामाजिक परिदृश्य ही परिवर्तित हो जाता है। यह कविता कवि के युगबोध और अकाल के दौरान दयनीय सामाजिक दशा के सूक्ष्म संवेदन-निरीक्षण की झाँकी प्रस्तुत करती है। अकाल की स्थिति आने पर भूख से बिलखते-मरते लोगों को देखकर नागार्जुन का हृदय दर्द से कराह उठता है इसीलिए अकाल की इस भयावह स्थिति को न सँभाल पाने वाली व्यवस्था के प्रति कवि का आक्रोश भी मुखरित होता है–

कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उनके पास
कई दिनों तक लगी भीत छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त।।[3]

इसी काव्य-संग्रह की 'जयति नखरंजनी' आज की फैशनपरस्त स्त्रियों पर व्यंग्य करती हुई कविता है जिसमें दो 'फैशनेबुल स्त्रियाँ' केवल इसलिए मतदान किए बगैर लौट जाती हैं कि मतदान करने से पूर्व उनकी उँगली पर काली स्याही का निशान बनाया जाएगा जिससे उनकी उँगली पर दाग लग जाएगा। फैशन में चूर ऐसी स्त्रियों पर बाबा नागार्जुन चुभता हुआ व्यंग्य करते हैं–

सामने आकर/ रुक गई चमचमाती कार
बाहर निकलीं वासक सज्जा युवतियाँ
चमक उठी गुलाबी धूप में तन की चंपई कांति
करीब के पार्टी-कैंप तक जाकर पूछ ली अपनी क्रम संख्या
तत्पश्चात आगे बढ़ी पोलिंग बूथ की ओर
आ रहा था डालकर वोट एक अधेड़
उँगली की जड़ में चमक रहा था काला ताजा निशान
ठमक गए सहसा बेचारियों के पैर...
हाय, इतने सुंदर हाथ हो जाएँगे दागी!
भड़क उठा परिमार्जित रुचि बोध/ छिः कौन लगवाए काला निशान!
कौन ले बैलट पेपर, मतदान कौन करे!..
क्षण-भर ठिठककर
नई दिल्ली की तीनों परियाँ/ मुड़ गईं सहसा वापस
स्टार्ट हुई कार, लोग लगे हँसने–
बात थी जरा-सी बस काले निशान की,
तीन वोट रह गए फैशन के नाम पर![4]

प्यासी पथराई आँखें (काव्य-संग्रह)–इसमें सामाजिक-राजनीतिक और व्यक्तिगत जीवन संबंधी कविताएँ संकलित हैं। नागार्जुन ने व्यंग्य के माध्यम से नेहरूयुग में व्याप्त भ्रष्टाचार और जनता के धन की फिजूलखर्च पर बहुत कड़ा विरोध प्रस्तुत किया है। प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के कार्यकाल में ब्रिटेन की महारानी एलिजाबेथ का आगमन भारत में हुआ था जिनकी अगवानी तथा स्वागत-सत्कार हेतु सरकारी कोष से बहुत अधिक रूपया खर्च किया गया था। 'आओ रानी हम ढोएँगे पालकी' और 'टके की मुस्कान करोड़ों का खर्चा' नामक कविताओं में स्वागत-सत्कार के नाम पर फूँके गए करोड़ों रुपए के खर्चों पर नागार्जुन व्यंग्य करते हैं–

जय ब्रिटेन की जय हो इस कलिकाल की!
आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी!
रफू करेंगे फटे-पुराने जाल की!
यही हुई है राय जवाहर लाल की!
आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी![5]

नागार्जुन के इस कविता-संग्रह की कई कविताएँ रोजमर्रा के जीवन के अनुभवों पर आधारित हैं। इनकी वे कविताएँ जिनमें हँसकर स्वयं के ऊपर इन्होने कटाक्ष किया है वे सबसे अधिक पाठकों को आकर्षित करती हैं। इसका कारण है कि जो कवि खुद के प्रति इतना निर्मम हो सकता है उसे ही समाज की व्यवस्था पर प्रहार करने का अधिकार प्राप्त हो सकता है। नागार्जुन की व्यंग्य-चेतना के संदर्भ में डॉ॰ नंदकिशोर नवल कहते हैं–'उन्हें व्यंग्य के लिए कोई विशेष भार

नहीं उठाना पड़ता है। हास्य-व्यंग्य का लहजा नागार्जुन को कहीं से उधार नहीं लेना पड़ता था क्योंकि वह उनके मिजाज में था। उक्ति स्वयं ऐसी वक्र हो जाती थी कि वह हँसाते हुए तीक्ष्ण बाण का काम करने लगी थी।[6] नागार्जुन के व्यंग्य-चेतना की सहजता इस बात से है कि इनके व्यंग्य 'कबीर' के व्यंग्यों की भाँति किसी भी व्यक्ति, स्थान, रूढ़ियों-परंपराओं, धार्मिक या राजनीतिक व्यवस्थाओं आदि पर टूट पड़ते हैं।

तालाब की मछलियाँ (काव्य-संग्रह)–इस काव्य-संग्रह में नागार्जुन का मुख्यत: समाजवादी तथा मानवतावादी दृष्टिकोण हमारे सामने आता है। जहाँ कवि समाज के दु:ख-दर्द-पीड़ा-संत्रास-कुंठा आदि मनोभावों का अनुभव करते हुए समाज की सहानुभूति भी बटोरने का प्रयास करता है। इस कृति में कवि का ध्यान विश्व-शांति के साथ-साथ मानवतावाद की ओर भी गया है। 'तालाब की मछलियाँ' नामक कविता नारी की स्वतंत्रता की बात कहती है। एक तरफ जहाँ मछलियाँ तालाब में कैद होती हैं वहीं और नारियाँ घरों-महलों के अंदर। दोनों को ही पुरुषवर्ग केवल अपने उपभोग की वस्तु समझता है। कवि नागार्जुन की व्यंग्यात्मकता इसी बात को लेकर प्रकट हुई है–

वह कुलीन मैथिल की कन्या
फिर-फिर सुनने लगी वही आवाज...
हम भी मछली, तुम भी मछली
दोनों ही उपभोग की वस्तु हैं
ज्ञाता स्वाद सुधीजन, सजनी हम दोनों को
अनुपम बतलाते हैं....[7]

तुमने कहा था (काव्य-संग्रह)–इस काव्य-संग्रह में संकलित राजनीतिक कविताएँ मूलत: ऐसे राजनेताओं और राजनीतिक दलों को बेनकाब करती दिखती हैं जो राष्ट्रीय संदर्भों में अपेक्षित जनहित करने में असफल साबित हुए हैं। इस संग्रह की चार कविताएँ बहुत प्रसिद्ध हैं–'तुम रह जाते दस साल और', 'तुमने कहा था', 'विकल है गुलाब' तथा 'विजयी हुआ वसंत'। ये कविताएँ देश के प्रथम प्रधानमंत्री पं॰ जवाहरलाल नेहरू से संबंधित हैं। कविता 'तुम रह जाते दस साल और' में नागार्जुन ने नेहरू जी की नीतियों पर कठोरतम व्यंग्य किया है।

इस काव्य-संग्रह में महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, लालबहादुर शास्त्री, जयप्रकाश नारायण, इंदिरा गांधी, मोरारजी देसाई, तथा लेनिन आदि से संबंधित व्यक्ति केंद्रित कविताएँ संकलित की गई हैं जिनमें इन महापुरुषों के जीवनचरित-संबंधी तथ्यों का उद्‌घाटन किया गया है। एक तरफ जहाँ बाबा नागार्जुन गांधीजी के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते दिखते हैं वहीं गांधी के चेलों की अपने मारक व्यंग्य के सहारे खबर भी लेते हैं–

मैं नाम तुम्हारा बेचूँगा
मारूँगा तुमको रोज-रोज
बापू तुमको जो अप्रिय थे
वह काम करूँगा खोज-खोज।
यरवदा चक्र पर काटूँगा
सूतों के लच्छे सुबह-शाम
तुम रजत-रूप में कैद रहो
जी, नित्य करूँगा मैं प्रणाम।[8]

 ISSN 0975-735X

इसी प्रकार सर्वोदयी नेताओं पर किया गया व्यंग्य इनकी कविता 'तीनों बंदर बापू के' में देखने लायक है–

ज्ञानी निकले, ध्यानी निकले तीनों बंदर बापू के
जल-थल-गगन-बिहारी निकले तीनों बंदर बापू के
लीला के गिरधारी निकले तीनों बंदर बापू के!
सर्वोदय के नटवरलाल/फैला दुनिया-भर में जाल
अभी जिएँगे ये सौ साल/ ढाई घर घोड़े की चाल
मत पूछो तुम इनका हाल/ सर्वोदय के नटवरलाल![9]

नागार्जुन अपने समय की तात्कालिक राजनीतिक उथल-पुथल पर अपनी पैनी दृष्टि रखते थे इसीलिए प्रत्येक राजनेता की काली करतूतों का चिट्ठा उन्होंने अपनी कविताओं में बेझिझक प्रस्तुत किया है। सबसे ज्यादा बाबा ने प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की शासन-व्यवस्था पर अपने व्यंग्यबाणों की वर्षा की है–

क्या हुआ आपको?/ क्या हुआ आपको?
सत्ता की मस्ती में/ भूल गईं बाप को?
इंदुजी, इंदुजी, क्या हुआ आपको?[10]

इंदिरा के राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप और संचालन पर नागार्जुन बहुत अधिक नाराज थे। इंदिरा गांधी के आरंभिक जीवन को याद करके उन्हें कोसते हुए कहते हैं–

इंदुजी, क्या हुआ आपको?
बेटे को तार दिया, बोर दिया बाप को!

बचपन में गांधी के पास रहीं
तरुणाई में टैगोर के पास रहीं
अब क्यों उलट दिया संगत की छाप को?
क्या हुआ आपको, क्या हुआ आपको?
बेटे को याद रखा, भूल गई बाप को
इंदुजी, इंदुजी, इंदुजी, इंदुजी...[11]

नागार्जुन को पंडित नेहरू के राजनीतिक कार्य-व्यापार तथा उनके नीति-सिद्धांतों से भी नाराजगी रहती थी। यही कारण था कि नेहरू के 'समाजवाद' तथा 'पंचशील के सिद्धांत' को वे केवल कपोल कल्पना समझते थे। बाबा की नाराजगी यहाँ तक थी कि नेहरू जी की मृत्यु के बाद उन्होंने लिखा कि यदि तुम दस वर्ष और रह जाते तो भारत देश का बंटाधार हो जाता। इनकी कविता 'तुम रह जाते दस साल और' में नेहरू जी की राजनीतिक सोच-समझ पर कटाक्ष करते हुए लिखते हैं–

झुकती स्वराज की डाल और
तुम रह जाते दस साल और
हम चावल लाते एक किलो, दस का दे आते नोट मगर
यों सिकुड़े रहते, सपने में सिलवाते ऊनी कोट मगर
गालियाँ छलकती, बैलों की जोड़ी को देते वोट मगर

हम गाँजा ही बेचा करते, लेते खादी की ओट मगर
खुलते-खिलते कुछ गाल और
तुम रह जाते दस साल और।[12]

खिचड़ी विप्लव देखा हमने (काव्य-संग्रह)–इस काव्य-संग्रह में भी ज्यादातर राजनीतिक कविताएँ समाहित हैं। इनमें संकलित कविताएँ भारतीय राजनीतिक दलों की षड्यंत्रकारी-भेदकारी नीतियों का पर्दाफाश करते हुए उन पर करारा व्यंग्य करती हैं। 'तुम तो नहीं गई थीं आग लगाने' इस काव्य संग्रह की प्रथम कविता है जिसमें नागार्जुन ने इंदिरा गांधी पर व्यंग्य किया है। यह व्यंग्य और अधिक धारदार तब बन जाता है जब बिहार के तत्कालीन मुख्यमंत्री ललित नारायण मिश्र जी की हत्या हो जाती है। इस हत्या से विक्षुब्ध होकर नागार्जुन ने 'जाने तुम कैसी डायन हो' नामक कविता लिख डाली। इस कविता में कवि का व्यक्त आक्रोश देखिए–

जाने, तुम कैसी डायन हो
अपने ही वाहन को गुप चुप लील गई हो!
क्या कसूर था बेचारे का ?
शंका-कातर भक्तजनों के सौ-सौ मृदु उर छील गई हो!
नाम ललित था, काम ललित थे
तन-मन-धन श्रद्धा विगलित थे।[13]

देश में बीसवीं सदी के आठवें दशक की राजनीतिक कारगुजारियों का लेखा-जोखा नागार्जुन ने अपने इस काव्य-संग्रह 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने' में प्रस्तुत किया है जोकि इनकी कुशल राजनीतिक दृष्टि को भी प्रकट करता है। जनता के मन की सुगबुगाहट को कवि ने ईमानदारी से अपनी रचनाओं के माध्यम से वाणी देने का सफल यत्न किया है।

हजार-हजार बाँहों वाली (काव्य-संग्रह)–सन् 1981 में प्रकाशित इस काव्य-संग्रह में 1936 से 1980 तक की कविताओं का संकलन किया गया है। चूँकि नागार्जुन जनकवि हैं इसलिए उनकी कविताओं में समाज के विभिन्न वर्गों की बनावट-बुनावट और कार्य-पद्धति की तलाश दिखती है। इनकी कविता की खासियत यह है कि ये कविताएँ समाज के जीवित स्पंदनों से उपजी हैं जहाँ कवि स्वयं सभी मोर्चों पर खुद को उपस्थित रखता है। नागार्जुन का हृदय अत्याचार-अनाचार-शोषण के खिलाफ हमेशा विद्रोह करने के लिए उद्दत रहता है। यही वजह है कि वे वर्ग-संघर्ष के लिए सौ बार मरकर भी जीने की उत्कंठा रखते हैं। अपनी कविता 'सच न बोलना' में इन्होंने पूँजीपतियों तथा जमींदारों की मनोदशा व कूटनीतियों को उद्घाटित करते हुए यह बताने का प्रयास किया है कि कैसे ये लोग गरीब जनता का हक छीनते हैं और उनका शोषण करते हैं–

जमींदार है, साहूकार है, बनिया है, व्यापारी है,
अंदर-अंदर विकट कसाई, बाहर खद्दरधारी है
सब घुस आए, भरा पड़ा है, भारतमाता का मंदिर,
एक बार जो फिसले अगुआ, फिसल रहे हैं फिर फिर फिर
छुट्टा घूमैं डाकू गुंडे, छुट्टा घूमैं हत्यारे,
देखो हंटर भाँज रहे हैं जस के तस जालिम सारे!
जो कोई इनके खिलाफ अँगुली उठाएगा, बोलेगा,
काल-कोठरी में ही जाकर फिर वह सत्तू घोलेगा!

सपने में भी सच न बोलना, वर्ना पकड़े जाओगे,
भैया, लखनऊ-दिल्ली पहुँचों, मेवा-मिसरी पाओगे।
माल मिलेगा रेत सको यदि गला मजूर-किसानों का,
हम मर-भुक्खों से क्या होगा, चरण गहो श्रीमानों का।[14]

पुरानी जूतियों का कोरस (काव्य-संग्रह)–इस संग्रह में नागार्जुन की 1942 से 1981 तक की 72 कविताएँ संकलित की गई हैं। देश में फैली गरीबी-महँगाई, धोखाधड़ी-कालाबाजारी-रिश्वतखोरी, हिंसा-अराजकता और व्यक्ति केंद्रित राजनीति से उत्पन्न होने वाली विकृतियों ने नागार्जुन का मन खिन्न कर दिया था। यही खिन्नता और क्षोभ उनकी कविताओं 'चीलों की चली बारात', 'दिल्ली चलो', 'चलो-चलो धरना दें चलकर', 'आखिर इंसान हैं भाई मोरारजी' एवं 'खड़ाऊँ थी गद्दी पर' आदि में दिखती है।

कविता चलो-चलो धरना दे चलकर में इन्होंने इंदिरा गांधी पर कटु व्यंग्य किया है–

जगत-तारिणी प्रकट हुई है नेहरू के परिवार में
उसके कई मुखौटे, देखो, छपते हैं अखबार में
जानसन-विल्सन सभी जुटे हैं पूजा में, उपचार में
कोसीगिन भी दिखता तत्पर मैत्री में, सहकार में
जगत्-तारिणी प्रकट हुई है नेहरू के परिवार में।'[15]

कवि ने केवल काँग्रेसियों और इंदिरा गांधी के शासन की ही आलोचना नहीं की है अपितु जनता पार्टी के शासन में भी व्याप्त कमियों पर उनके व्यंग्य बाण बराबर चलते रहे। 'नौ दिन चले अढ़ाई कोस', 'दलबदल बुर्जर्ग' आदि कविता जनता पार्टी के शासन और नेताओं पर ही व्यंग्य करती हुई लिखी गई हैं। इसके अलावा 'ऐसे भी हम क्या! ऐसे भी तुम क्या!' नामक एक अन्य काव्य-संग्रह है जिसमें इनकी 35 स्फुट कविताओं का संकलन किया गया है। ये कविताएँ 1981 से 1983 के बीच लिखी गईं। साम्यवादी जीवन-दर्शन को आत्मसात किए हुए नागार्जुन समाज की विसंगतियों-विषमताओं-विद्रूपताओं पर तीव्र प्रहार करते हैं। फिर विसंगतियाँ चाहे राजनीतिक हों या आर्थिक या सामाजिक, इंका प्रहार सदैव तीखा और व्यंग्यपूर्ण ही रहा। इसीलिए जिस जिस पर इनके व्यंग्य बाणों की मार पड़ी वह तिलमिला उठा। इस तिलमिलाहट के लिए ही और उनको चेतावनी देने आने पर ही कवि ने एक और कविता 'वो हमें चेतावनी देने आए थे' लिख डाली।

यह अकारण ही नहीं है कि आधुनिक हिंदी-साहित्य के वरिष्ठ आलोचक डॉ॰ नामवर सिंह भी नागार्जुन को कबीर के बाद एक बड़ा व्यंग्यकार स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं–'व्यंग्य की इस विदग्धता ने ही नागार्जुन की अनेक तात्कालिक कविताओं को कालजयी बना दिया है जिसके कारण वे कभी बासी नहीं हुई और अब भी तात्कालिक बनी हुई हैं। अन्य कवियों की तात्कालिक कविताओं से नागार्जुन की तथाकथित तात्कालिक कविताओं की यही विशेषता है इसलिए यह निर्विवाद है कि कबीर के बाद हिंदी कविता में नागार्जुन से बड़ा व्यंग्यकार अभी तक कोई नहीं हुआ। नागार्जुन के काव्य में व्यक्तियों के इतने व्यंग्य-चित्र है कि उनका एक विशाल अलबम तैयार किया जा सकता है।'[16]

संदर्भ

1. विश्वनाथ त्रिपाठी (संपा॰), नागार्जुन संचयन, पृ॰ 114-115
2. शोभाकांत (संपा॰), नागार्जुन रचनावली, , पृ॰ 79

3. वही, पृ॰ 226
4. वही, पृ॰ 304-305
5. विश्वनाथ त्रिपाठी (संपा॰), नागार्जुन संचयन, पृ॰ 132
6. डॉ॰ नंदकिशोर नवल, नागार्जुन और उनकी कविता, पृ॰ 58
7. शोभाकांत (संपा॰), नागार्जुन रचनावली, भाग-1, पृ॰ 113
8. वही, भाग-2, पृ॰ 43
9. वही, भाग-2, पृ॰ 44
10. वही, भाग-2, पृ॰ 81
11. वही, भाग-2, पृ॰ 82
12. वही, भाग-1, पृ॰ 382
13. वही, भाग-2, पृ॰ 92
14. वही, भाग-1, पृ॰ 105-106
15. वही, भाग-1, पृ॰ 420-421
16. संपा॰ डॉ॰ नामवर सिंह, नागार्जुन प्रतिनिधि कविताएँ (भूमिका), पृ॰ 09

डॉ॰ ज्ञानेन्द्र मणि त्रिपाठी
रूम नंबर-211, **होटल वैष्णवी,**
तिकोनी बाग पुलिस चौकी के पास,
नानपारा रोड, बहराइच (उत्तर प्रदेश) 271801
मो॰ 7985459537, 8765590579
tgyanu-gmt@gmail.com

मिथकीय प्रयोग और हरिशंकर परसाई

डॉ॰ ममता देवी
सहायक प्रवक्ता, लेडी श्रीराम कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

'व्यंग्य जीवन से साक्षात्कार करता है, जीवन की आलोचना करता है, विसंगतियों, मिथ्याचारों और पाखंड का पर्दाफाश करता है।' परसाई की व्यंग्य के प्रति इस समझ ने ही व्यंग्य को एक विधा के रूप में स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण निभाई। हरिशंकर परसाई ने हिंदी साहित्य में व्यंग्य को जो पहचान और प्रतिष्ठा दिलाई; उस पहचान और प्रतिष्ठा ने व्यंग्य को गंभीर विधा के रूप में स्थापित कर दिया। 'हास्य' नामक विशेषण को त्याग उसने (व्यंग्य ने) एक नई विशेषता गढ़ी और वह विशेषता है सरोकापरक व्यंग्य। यह सरोकारपरकता हर उस शोषित व्यक्ति के प्रति है जो सत्ता पर काबिज लोगों के शोषण का शिकार है। व्यंग्य की जो एक नई परिभाषा परसाई ने गढ़ी है वो है शोषितों और पीड़ितों के प्रति सहानुभूति और शोषणकारी शक्तियों और नीतियों के प्रति आक्रोश। परसाई का व्यंग्य लेखन इन्हीं विशेषताओं से युक्त है, जहाँ शोषित, पीड़ित, गरीब, आम जनता के प्रति सहानुभूति एवं करूणा है तो शोषक वर्ग के प्रति घोर तिरस्कार का भाव। परसाई के व्यंग्य में चित्रित आम आदमी की पीड़ा, दर्द, बदहाली, जहालत, मजबूरी को देखकर किसी भी आम पाठक के मुँह से स्वत: ओह! शब्द निकल आयेगा। वहीं शोषणकारी शक्तियों की अमानवीय क्रूर नीतियों को पढ़ छि! और धिक्कार! का भाव पाठक के मन में आता है। यह दोनों मनोभाव (ओह!, धिक्कार!) शोषित के प्रति ओह! और शोषक के प्रति धिक्कार! जगाने में परसाई की व्यंग्य रचनाएँ अहम् भूमिका निभाती हैं और आम पाठक को भी चेतना सम्पन्न बना देती है। सही-गलत में भेद, न्याय-अन्याय में अंतर परसाई की व्यंग्य रचनाएँ करती हैं और परसाई की टांग टूटना इसी बात का प्रमाण है कि वह कहीं भी समझौतावादी नहीं हुए।

परसाई की व्यंग्य रचनाओं का अनुशीलन करते समय दो बातें आकर्षित करती है जो उनकी रचना को सरोकारपरक होने के साथ-साथ धारदार और पैनी भी बनाती है- वह है उनकी व्यंग्य चेतना और व्यंग्य भाषा। उनकी व्यंग्य चेतना हर उस जगह एँगली उठाती है; जहाँ एक भी विसंगति शेष है और उनकी व्यंग्य भाषा उस विसंगति की चीर-फाड़कर उसमें पोषित सड़ांध को बाहर निकाल देती है। व्यंग्यात्मक भाषा परसाई के लेखन की विशेषता रही है जो उनकी व्यंग्य चेतना को प्रबल करती है। परसाई के साहित्य पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि व्यंग्य भाषा और व्यंग्य चेतना के साथ-साथ उनका व्यंग्य शिल्प भी कमाल का है। जहाँ मिथकों का कलात्मक एवं रचनात्मक प्रयोग देखते ही बनता है। परसाई ने राम, कृष्ण, हनुमान, भरत, नारद, सुदामा, मेनका, त्रिशंकु, लक्ष्मी आदि पौराणिक पात्रों को आधार बनाकर जो रचनाएँ लिखी की हैं वह रचनाएँ भाषा और शिल्प दोनों ही दृष्टि से अनूठी होने के साथ-साथ बड़ी समसामयिक भी हैं। उनके समकालीन व्यंग्यकार शरद जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी, श्रीलाल शुक्ल, शंकर पुणतांबेकर आदि व्यंग्यकार भी मिथकीय प्रयोगों की दृष्टि से परसाई से कमतर ही नजर आते हैं।

हिंदी साहित्य में आदिकाल से ही पौराणिक चरित्रों को आधार बनाकर रचनाएँ होती रही हैं।

विद्यापति ने अपने काव्य में शिव एवं कृष्ण को आधार बनाकर रमणीय प्रसंगों की कल्पना की है। वही भक्तिकाल में तुलसी, सूरदास, कबीर, जायसी आदि भिन्न सम्प्रदाय के कवियों ने भी मिथकों को आलम्बन बना अपना काव्य सृजन किया। रामभक्त तुलसी ने अपने रामचरितमानस में विष्णु के अवतार राम को अपना आराध्य बनाया वहीं सूरसागर में सूरदास ने कृष्ण को। रीतिकाल में राधा-कृष्ण को आधार बना प्रेम, श्रृंगार और विलास की अभिव्यक्ति की गई, परंतु आधुनिक काल में गद्य का प्रचार-प्रसार होने के कारण मिथकों का प्रयोग पद्य के साथ-साथ गद्य में भी होने लगा। आधुनिक काल में गद्य रूपों में बदलाव होने के साथ-साथ मिथकों को भी आधुनिक संदर्भो से जोड़कर देखने का प्रयास किया जाने लगा। राम और कृष्ण के अतिरिक्त कई अन्य पौराणिक कथाओं एवं संदर्भों को साहित्य में लाया गया; परन्तु यह प्रयोग कई मायनों में अलग रहे। परम्परागत पूज्य एवं श्रद्धेय मिथकीय पात्रों को सहज सामाजिक, आलौकिक शक्ति से रहित मनुष्य के रूप में चित्रित किया गया है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में जटिल होती परिस्थितियों के बीच मिथकों का आधुनिक संदर्भों में प्रयोग होने लगा। जहाँ तत्कालीन परिस्थितियों में उलझकर राम, कृष्ण, हनुमान आदि पौराणिक पात्रों की गरिमा झड़ जाती है। वह हमें सामान्य मनुष्य के रूप में दिखलाई देने लगते हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत में हरिशंकर परसाई अपने व्यंग्यों में मिथकीय प्रयोगों को एक नया ही आयाम देते हुए नजर आते हैं। यह अपनी रचनाओं में मिथक भंजक करते हैं, मिथकों के प्रजि जो परम्परागत श्रद्धा एवं पूज्य भाव था उसको पूरी तरीके से ध्वस्त कर देते हैं। परसाई मिथकीय प्रयोगों के माध्यम से सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में आए मूल्यों के ह्रास को बडेघ सषक्त एवं प्रभावषाली ढंग से उठाते हैं। डॉ॰ विश्वनाथ त्रिपाठी इनकी इस विशेषता को रेखांकित करते हुए कहते हैं–'वे मिथकों का उपयोग मिथक-भंजन के लिए करते हैं। इससे वर्तमानता या वस्तुस्थिति उजागर होती है।'[1] भोलाराम का जीव, पहला पुल, राम का दुख और मेरा, हनुमान की रेलयात्रा, त्रिशंकु बेचारा, लंका विजय के बाद, 'हम बिहार में चुनाव लड़ रहे हैं, 'मेनका का तपोभंग', नीलकण्ठ, सुदामा के चावल, 'अयोध्या में खाताबही', 'लक्ष्मी की विजय' आदि इनकी इसी प्रकार की रचनाएँ है जहाँ मिथकों को तत्कालीन संदर्भो से जोड़ते हुए सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों को उजागर किया गया है। 'राम का दुख और मेरा' नामक रचना राम के मिथक पर आधारित है। यहां परसाई ने राम के दुख को, उनकी विरहजन्य पीड़ा को अपने टपकते मकान की पीड़ा के समानांतर लाकर खड़ा कर दिया है। परसाई लिखते हैं–

'बादलों की गर्जन से डरता मैं भी हूँ, पर इस डर का कारण जानता हूँ। नहीं, राम वाला कारण नहीं है। मेरे डर का कारण कोई हरण की गई प्रिया नहीं है, यह मकान है, जिसकी छाया तले बैठा हूं। राम इस भय को नहीं जानते थे। वे किसी किराए के मकान में चतुर्मास काटते तो भाई को ऐसी बातें थोड़े ही सिखाते कि हे लक्ष्मण, पर्वत बूँदों के आघात को ऐसे सह रहे हैं, जैसे संत जन दुष्टों के वचन सहते हैं।'[2] इस रचना में परसाई की मिथकीय प्रयोग देखते ही बनता है। इस रचना में परसाई श्रीराम को जोकि एक भगवान के रूप में भारतीय जनमानस में अंकित हैं, उनको पौराणिक दुनिया से निकालकर एक गरीब किराएदार के समानांतर खड़ा कर देते हैं जो टपकने वाली छत के नीचे रहने को विवश है। राम के दुख और अपने दुख की तुलना कर वह पाठक को सोचने पर मजबूर कर देते हैं कि किसका दुख बड़ा है? भगवान राम का या टपकते मकान में रहने को विवश किरायेदार का। परसाई की इसी मिथकीय चेतना की प्रशंसा करते हुए डॉ॰ विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं–'वे पौराणिक पात्रों की टक्कर प्राय: निम्न मध्यमवर्गीय अभावग्रस्त या शोषित पात्रों से कराते हैं। उनके यहाँ ये पौराणिक पात्र वर्तमान युग की जटिल विषमता में उलझकर अपनी पौराणिक गरिमा झाड़ देते हैं।'[3] डॉ॰ त्रिपाठी

 ISSN 0975-735X

का यह कथन शब्दशः परसाई की रचनाओं पर लागू होता है। 'भोलाराम के जीव' नामक रचना में भी नारद मुनि पृथ्वीलोक पर आकर कोई आलौकिक चमत्कार नहीं दिखलाते और न ही किसी देव का आह्वान करते हैं कि वह रिश्वतखोरों और घूसखोरों को आकर दंड दें अपितु वह भी परिस्थिति चक्र में फँस जाते हैं। सरकारी तंत्र और कार्यालयों में व्याप्त भ्रष्टाचार और अराजकता के कारण उन्हें अपनी वीणा बड़े साहब को देनी पड़ जाती है ताकि भोलाराम के परिवार को पेंशन मिल सके। कार्यालय का भ्रष्ट बड़ा साहब नारदमुनि को समझाते हुए कहता है–'आप हैं वैरागी। दफ्तरों के रीति-रिवाज नहीं जानते। असल में भोलाराम ने गलती की। भई यह भी एक मन्दिर है। यहाँ भी दान-पुण्य करना पड़ता है। आप भोलाराम के आत्मीय मालूम होते हैं। भोलाराम की दरखास्ते उड़ रही हैं, उन पर वजन रखिए।'[4] स्वतंत्रता के एक दशक बाद ही हमें भ्रष्टाचार एवं घूसखोरी देखने को मिलती है। सरकारी कार्यालयों में अपना काम करवाने के लिए घूस देना पड़ता है जिसे भ्रष्ट कर्मचारी दफ्तर को 'मंदिर' और घूसखोरी को 'दान-पुण्य' कहता है। अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए वह नारद मुनि से कहता है–'मगर वजन चाहिए। आप समझे नहीं। जैसे आपकी यह सुंदर वीणा है, इसका भी वजन भोलाराम की दरख्वास्त पर रखा जा सकता है। मेरी लड़की गाना-बजाना सीखती है। यह मैं उसे दे दूँगा। नारद अपनी वीणा छिनते देख जरा घबराए पर फिर सँभलकर उन्होंने वीणा टेबिल पर रखकर कहा–'यह लीजिए। अब जरा जल्दी उसकी पेंशन का आर्डर निकाल दीजिए।'[5] अतः इस रचना के अन्त में नारद मुनि को भी भोलाराम की पेंशन का आर्डर निकलवाने में अपनी वीणा उपहार स्वरूप देनी पड़ जाती है। हरिशंकर परसाई ने अपनी इस व्यंग्य रचना के माध्यम से सरकारी तंत्र और कार्यालयों में व्याप्त भ्रष्टाचार, घूसखोरी एवं कर्त्तव्यहीनता पर करारा व्यंग्य किया है। जहाँ घूसखोर अफसर के आगे देवताओं के ऋषि नारद को भी अपनी वीणा से हाथ धोना पड़ता है।

परसाई एक समर्थ व्यंग्यकार है। देश और दुनिया को लेकर उनकी समझ काफी गहरी है। उनके लिए विषयों की कोई कमी नहीं। बात-बात में व्यंग्य पैदा करना परसाई के लिए एक सहज कर्म है। वह सीधी-सादी प्रचलित पुरा कथा-कहानियों में भी व्यंग्य ढूँढ लेते हैं। 'त्रिशंकु' नामक रचना उनकी इसी प्रकार की है। त्रिशंकु इक्ष्वाकु वंश का एक राजा था जिसे ऋषि विश्वामित्र ने सशरीर स्वर्ग भेजा था। देवराज इंद्र ने उसे स्वर्ग से वापस पृथ्वी की ओर धकेल दिया। नीचे गिरते हुए त्रिशंकु को ऋषि विश्वामित्र ने बीच में ही लटकाकर उसके लिए स्वर्ग का निर्माण कर दिया। अतः वह अपने स्वर्ग के साथ आज भी वास्तविक स्वर्ग और पृथ्वी के बीच लटका हुआ है। परसाई ने इस मिथकीय कथा को आधार बनाकर समाज में व्याप्त अमीरी-गरीबी की खाई को बड़ी ही बखूबी से चित्रित किया है। एक दिन त्रिशंकु से प्रसन्न हो विश्वामित्र उससे कुछ माँगने को कहते हैं और त्रिशंकु इस अवसर पर एक मकान की इच्छा जाहिर करता है। विश्वामित्र उसे अपने मित्र इंद्रदेव के यहाँ रहने को भेजते हैं, परन्तु इन्द्र त्रिशंकु को 'भिखारी' सम्बोधित करके उसे गाली देता है और उसे जाने को कहता है, क्योंकि त्रिशंकु इंद्र के स्टेट्स से मैच नहीं खाता, त्रिषंकु जब सिविल लाइन में इन्द्र के बंगले में अपने मकान की पूछताछ करने जाता है तो इंद्र फटेहाल त्रिशंकु को नौकर समझकर खूब अपमानित करता है वह कहता है–

'तुम यहाँ रहने के काबिल नहीं हो।

त्रिशंकु पूछता है यहाँ रहने के लिए क्या काबलियत चाहिए?

इंद्र ने नाराजी से उसे देखा और कहा 'भिखमंगे यहाँ नहीं रह सकते। तुम्हारे पास मोटर है? ट्रांजिस्टर-सेट है? रेफ्रिजरेटर है? सोफा है? बच्चे पब्लिक स्कूल में पढ़ते है या गँवारों के स्कूल

में?'[6] इंद्र के अनुसार वह सिविल लाइंस में रहने के योग्य नहीं है क्योंकि वह एक निम्नवर्ग का पात्र है, गरीब है, फटेहाल है जिसके पास अपना एक मकान भी नहीं है। अत: हारकर त्रिशंकु सोचता है कि स्वर्गपुरी जैसे प्रतिष्ठित अमीर वर्ग के बीच में रहने से अच्छा है वह अपनी बस्ती में वापस चला जाए। इस मिथकीय प्रयोग के माध्यम से परसाई इंद्रदेव (जो उच्चवर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहा है) और त्रिशंकु (जो निम्नवर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहा है) इन दोनों वर्गों के बीच की जो विषमता है उसको बड़े ही मारक ढंग से अभिव्यक्त करते हैं।

हरिशंकर परसाई एक बड़े रचनाकार है इनके यहाँ वर्तमानता अपने वास्तविक रूप में चित्रित हुई। इनके ईमानदार यथार्थबोध के कारण ही इनकी रचनाएँ समकालीन समाजिक-राजनीतिक यर्थाथ का दस्तावेज बन गई है। परसाई जहाँ निम्न मध्यवर्ग की अभाव ग्रस्तता के प्रति सहानुभूति रखते हैं वही मध्यवर्ग की प्रदर्शनप्रियता और दिखावापन पर भी अपनी पैनी नजर रखते हैं। 'नीलकंठ 'परसाई' की इसी प्रकार की रचना है जहाँ उन्होंने मध्यवर्ग के आत्मविज्ञापन और छद्म-विनम्रता को टेड़े हाथों लिया है।

भगवान शिव को देवताओं में विशेष स्थान प्राप्त है, उन्हें महादेव भी कहा जाता है विश्व के कल्याण के लिए उन्होंने समुद्र मंथन के दौरान विषपान किया था। विषपान करने के कारण उनका कंठ नीला पड़ जाता है, इस पुराकथा को आधार बनाकर परसाई मध्यवर्ग पर व्यंग्य करते हैं वह लिखते हैं–'कहते हैं, शंकर ने जहर पी लिया था। जिस हलाहल की ज्वाला से चराचर सृष्टि-अकुला उठी, उसे शंकर सहज पी गए। बड़ा अच्छा किया, बड़ी बहादुरी की। पर एक प्रश्न उठता है मेरे मन में कि कण्ठ को नीला क्यों होने दिया? जो इतने अलौकिक शक्ति-संपन्न थे, वे यदि चाहते, तो क्या कंठ का रंग हस्बे मालूम नहीं रख सकते थे? फिर चाहा क्यों नहीं? शायद इसलिए कि लोग कम-से-कम यह जान लें कि उन्होंने जहर पिया है। भला यह भी कोई बात है कि विष भी पियें और लोगों को मालूम भी न हो! नीला कंठ दिखाने का लोभ शंकर से संवरित नहीं हुआ। वे विष तो पचा गए, रंग नहीं पचा पाए! रंग पचाना आसान नहीं है।'[7]

वास्तव में रंग (दिखावा, दुख) छुपाना आसान नहीं होता और यह मध्यवर्ग के चरित्र की विशेषता या कह लीजिए कमजोरी होती है। परसाई बड़ा ही मारक कथन लिखते हैं– 'यदि कंठ नीला पड़ने का यकीन न होता, तो शायद शंकर विष पीने से इंकार कर देते।' यह आत्मविज्ञापन मध्यवर्ग का चरित्र है जिसे परसाई ने बखूबी चित्रित किया है। डॉ॰ वेद प्रकाश अपनी किताब 'हरिशंकर परसाई: व्यंग्य की व्याप्ति और गहराई' में परसाई की इस विशेषता को रेखांकित करते हुए लिखते हैं–'दुखों को तमगे-सा पहनने का विरोध परसाई-साहित्य में अनेक जगह है। उनकी चिर-परिचित शैली-मिथक-भंजन की शैली भी इस संदर्भ में काम आती है।'[8] मिथकीय प्रयोग में परसाई को असाधारण कुशलता प्राप्त है; वह मिथकों का प्रयोग सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि विसंगतियों और विद्रूपताओं को उजागर करने में करते हैं। प्राचीन पुराकथाओं को नवीन स्थितियों में डालकर परसाई उन्हें अलग ही अर्थ दे देते हैं, चाहे वह राम हो, चाहे नारद हो, चाहे वह त्रिशंकु हो, चाहे सुदामा हो, चाहे हनुमान हो, चाहे 'हम बिहार में चुनाव लड़ रहे हैं' के कृष्ण हो! वह 'वास्तविक स्थिति की भूमि पर अडिग रहकर वे व्यंग्य-प्रहार करते हैं, मिथक-भंजन करते हैं और नए सौंदर्य बोध का निर्माण करते हैं।'[9]

'हम बिहार में चुनाव लड़ रहे हैं राजनीति पर केंद्रित व्यंग्य है जहाँ कृष्ण मिथक के माध्यम से भारतीय राजनीति में व्याप्त जातिगत समीकरण को दिखाया गया है। इस रचना में परसाई का मिथकीय प्रयोग देखते ही बनता है। जहाँ भगवान कृष्ण को बिहार के विधानसभा का चुनाव लड़ते

हुए दिखाया गया है, परंतु उन्हें एक भी वोट नहीं मिलता लेकिन जैसे ही वह यादव (जाति विशेष) होना स्वीकार कर लेते हैं तो वह चुनाव जीत जाते हैं। रचना से निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–'कृष्ण ने कहा, मैं ईश्वर हूँ, मेरी कोई जाति नहीं है। उन्होंने कहा देखिए, इधर भगवान होने से तो काम नहीं चलेगा। आपको कोई वोट नहीं देगा। जात नहीं रखिएगा तो केसे जीतिएगा? जाति के इस चक्कर से हम परेशान हो उठे–भूमिहार, कायस्थ, क्षत्रिय, यादव होने के बाद ही कोई काँग्रेसी, समाजवादी या साम्यवादी हो सकता है। कृष्ण को पहले यादव होना पड़ेगा, फिर चाहे वे मार्क्सवादी हो जाए।'[10] स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति में जाति-वर्ण और धर्म का दुरुपयोग कर वोटों का ध्रुवीकरण होना शुरू हो गया था। जिसको परसाई ने कृष्ण के मिथक के माध्यम से बड़े ही सफलतापूर्वक ढंग से अभिव्यक्ति किया है। जात-पाँत नहीं मानने वाले भगवान की भी इस पृथ्वी पर यादव जाति घोषित कर दी जाती है। कितनी बड़ी विडंबना है कि आजाद भारत का संविधान जहाँ जाति-पाँति, धर्म, भाषा, संप्रदाय, लिंग, नस्ल या क्षेत्र के नाम पर वोट माँगने को असंवैधानिक मानता है। वहाँ इन्हीं आधारों पर वोट प्राप्त किए जाते हैं। राजनीतिक-दल अपने प्रत्याक्षी का चयन इन्हीं आधार पर करते हैं और जातीय या धार्मिक आधार पर विजय के समीकरण बैठाए जाते हैं। परसाई जातिवाद के इस समीकरण को भलि-भाँति जानते हैं और इस कटु-यथार्थ को वह बड़ी बखूबी से कृष्ण के मिथक के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। परसाई के राजनीतिक व्यंग्यों की प्रशंसा करते हुए आलोचक 'विश्वनाथ त्रिपाठी' अपनी पुस्तक 'हरिशंकर परसाई' में लिखते हैं–'राजनीतिक व्यंग्य में भी परसाई पौराणिक गाथाओं का भरपूर उपयोग करते हैं। पौराणिक पात्रों में रूपांतरित कर देने से मनोवांछित प्रभाव अनायास पड़ जाता है।'[11] अत: हम देखते हैं कि लेखक का काम यहाँ थोड़ा आसान हो जाता है क्योंकि मिथकीय पात्रों एवं मिथकीय कथाओं की भारतीय जनमानस में पैठ होने के कारण परसाई की व्यंग्य रचनाएँ और अधिक प्रभावशाली बन जाती है।

हरिशंकर परसाई के मिथकीय प्रयोग वर्तमान संदर्भों में भी सार्थक बने हुए हैं। इनके व्यंग्य समाज एवं सत्ता से उत्पन्न समस्या एवं चुनौतियाँ को आज भी प्रखरता एवं तीव्रता के साथ अभिव्यक्त करते हैं। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि इनके व्यंग्य आज भी प्रासंगिक बने हुए हैं। 'पहला पुल' परसाई की ऐसी ही एक प्रासंगिक रचना है जिसमें परसाई राम और सुग्रीव, नल एवं नील, राम एवं नल-नील और राम एवं दशरथ के संवादों के माध्यम से समाज में फैले भ्रष्टाचार, दिखावा, दोगलापन को अपनी कलम का निशाना बनाया है, कुछ संवाद दृष्टव्य हैं–

'राम समझाने लगे-देखो बंधु, हमें ध्यान रखना चाहिए कि एक दिन की देर होने से सीता का अहित भी हो सकता है। हमें उद्घाटन की प्रथा को पालना इस समय आवश्यक नहीं हैं। सुग्रीव तो आसमान से गिरते-गिरते ही बचा। बोला-ऐसा भी कहीं होता है! बिना विधिवत् उद्घाटन के पुल पर एक कदम भी नहीं रखा जा सकता। कितने पुल बनकर वर्षों से पड़े हैं, पर उन पर कोई नहीं चलता क्योंकि उनका उद्घाटन नहीं हो सका है। महाराज, पुल पार उतरने के लिए नहीं, बल्कि उद्घाटन के लिए बनाए जाते हैं। पार उतरने के लिए उनका उपयोग हो जाता है, प्रासंगिक बात है।'[12]

एक अन्य स्थान पर राम जी नल-नील से कहते हैं–

'क्या कहते हो पुल बन गया? ऐसा तो होते नहीं देखा गया। अभी तो मैंने उसका शिलान्यास किया है। जिसका शिलान्यास हो वह इतनी जल्दी नहीं बनता, इस व्यंग्य रचना का अंत परसाई ने घूसखोरी की पोल खोलकर करते हैं जहाँ पुल दशरथ द्वारा किए जा रहे पुल के उद्घाटन के समय ही वह तालियों की गड़गड़ाहट से भरभराकर गिर जाता है। परसाई लिखते हैं–

'तालियों की गडगड़ाहट के बीच राजा जनक अपने आसन पर बैठ गए। वे बैठे ही थे कि देखते-ही-देखते वह पुल भरभराकर गिर पड़ा। 'सुना है, उस पुल के संबंध में जो जाँच-कमीशन बिठाया था, उसकी रिपोर्ट कलियुग के इस चौथे चरण तक तैयार नहीं हुई।'[13]

'सुदामा के चावल' नामक कहानी के माध्यम से परसाई जी शासकीय व्यवस्था में निहित भ्रष्टाचार की समस्या को उजागर करने का प्रयास करते हैं। कृष्ण एवं सुदामा जैसे मिथकीय पात्रों का प्रयोग कर परसाई ने राजनीति एवं प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं घूसखोरी को चित्रित किया है जो घुन की तरह भारतीय समाज एवं देश को खाए जा रही है। कृष्ण और सुदामा की मित्रता को कौन नहीं जानता, जब सुदामा कृष्ण के यहाँ मदद लेने जाते हैं तो कृष्ण बड़े ही अपनत्व एवं आत्मीय भाव से अपने गरीब मित्र सुदामा की मदद करते हैं। इस बात को परसाई बड़े ही नाटकीय ढंग दिखाते हुए उसे आधुनिक संदर्भों से जोड़ देते हैं। जहाँ कोई भी ऐरा-गैरा (गरीब आम आदमी) राजा (मंत्री) से नहीं मिल सकता। यदि उसे राजा से मिलना है तो चढ़ावा (घूस) देना पड़ेगा। भ्रष्ट व्यवस्था के कारण सुदामा को कृष्ण से मिलने के लिए जगह-जगह रिश्वत देनी पड़ती है। द्वारिका का राज कर्मचारी कहता है 'यह भी एक मंदिर है। कुछ भेंट वगैरह तो लाए ही होंगे। महाराज से क्या बिना भेंट के मिलोगे। हमारा भी तो कुछ हिस्सा होगा।'[14] वहीं कृष्ण भी अपने आस-पास जमा चापलूसों और सगे-संबंधियों से परेशान है, वह सुदामा से कहते हैं कि 'जब से मुझे राजपद मिला है, असंख्य आदमी मेरे आत्मीय बनकर मेरे पास सहायता के लिए पास आ चुके हैं अभी तक बीस सहस्त्र चाचा, पंद्रह सहस्र काका, पच्चीस सहस्र भतीजे, दस सहस्र मौसियां आ चुकी हैं। अब बताओं मैं किसका काम करूं? और सच पूछो तो मुझे अब भी विश्वास नहीं है तुम वही सुदामा हो जो मेरा सहपाठी था, क्योंकि आठवें सुदामा तो कल ही आये थे, जिन्हें मैंने बाहर से ही लौटा दिया।[15] कृष्ण और सुदामा के माध्यम से परसाई न केवल भ्रष्ट व्यवस्था पर प्रहार करते हैं अपितु शासन तंत्र में व्याप्त भाई-भतीजा वाद एवं मुनाफा खोरों पर चुटकी लेते हैं।

'अयोध्या में खाता-बही' परसाई की मिथकीय प्रयोगों पर आधारित एक और रचना है। इस रचना में 14 वर्ष के अंतराल के बाद जब राम रावण को परास्त करके अयोध्या लौटते है तो अयोध्या के भ्रष्ट व्यापारी वर्ग में खलबली मच जाती है। परसाई लिखते हैं-'बात यह हुई कि जब राम के आने का समाचार आया तो व्यापारी वर्ग में खलबली मच गयी। वे कहने लगे, 'सेठजी, अब बड़ी आफत है। भरत के राज में तो पोल चल गई। पर राम मर्यादा पुरुषोत्तम है। वे टैक्स की चोरी बर्दाश्त नहीं करेंगे। वे अपने खाता-बही जाँच करेंगें और अपने को सजा होगी।'[16]

इस रचना में परसाई सिर्फ भ्रष्ट व्यापारी (पूँजीपति) वर्ग की ही पोल नहीं खोलते जो रातों-रात खाता बही बदल देते है अपति, वह हनुमान जी के माध्यम से जोकि इस रचना में 'सर्वहारा के नेता' के रूप में चित्रित किए गए है, वह भी अपनी चापलूसी सुन गद्‌गद हो जाते हैं और रामचंद्र जी को व्यापारियों की रिपोर्ट को क्लीन चिट दे देते हैं। परसाई लिखते हैं, 'व्यापारी ने लाल बस्ता निकाल कर आगे रख दिया। हनुमान ने देखा, लँगोट और खाते का कपड़ा एक है। खुश हुए।

बोले, 'मेरे लंगोट के कपड़े में खाता-बहीं बाँधते हो?'

व्यापारी ने कहा, ''हाँ, बल-बुद्धि निधान, हम आपके भक्त हैं।

आपके निशान मानते हैं। आपकी पूजा करते है।' हनुमान जहाँ भी जाते, लाल लंगोट के कपड़े में बँधे खाता-बही देखते। वे बहुत खुष हुए, उन्होंने कहीं हिसाब की जाँच नही की।'[17]

परसाई की यह रचना इस लिए भी महत्त्वपूर्ण है कि वह सर्वहारा वर्ग को चेताते भी हैं कि

'पर सर्वहारा के नेता को सावधान रहना चाहिए कि उनके लंगोट से बुर्जुआ खाता बही न बाँध लें।' पूँजीपति और सर्वहारा के बीच जो वर्ग संघर्ष है उसे किस प्रकार पूँजीपति बरगालने की कोशिश करते हैं। इस बात को परसाई ने बड़ी ही बखूबी से चित्रित किया है और यह काम एक सजग रचनाकार ही कर सकता है।

परसाई ने इस रचना में राम एवं हनुमान जैसे मिथकीय पात्रों को आम पात्रों में बदल दिया है, जहां उनकी पौराणिक गरिमा समाप्त हो गई है। परसाई की इसी मिथकीय कौशल को रेखांकित करते हुए आलोचक डॉ॰ विश्वनाथ त्रिपाठी अपनी पुस्तक 'देश के इस दौर' में लिखते हैं कि 'पौराणिक पात्रों को अत्याधुनिक स्थितियों में डालकर नए फैशन की हँसी उड़ाना हिंदी व्यंग्य में बहुत पहले से शुरू हो चुका था; लेकिन ऐसे लोग वर्तमानता को परसाई की तरह नहीं देखते।'[18] परसाई के समग्र साहित्य का अनुशीलन करने पर डॉ॰ त्रिपाठी का यह कथन शब्दशः सत्य प्रतीत होता है। परसाई मिथकों का प्रयोग बड़ी कुशलता से तो करते ही हैं, परंतु इसके साथ ही वह इन मिथकीय पात्रों एवं कथाओं को वर्तमान संदर्भों से भी जोड़ देते हैं। यह वर्तमानता ही परसाई को बड़ा व्यंग्यकार बनाती है।

निःसंदेह मिथकों का रचनात्मक प्रयोग परसाई की विशेषता है जो उन्हें उनके समकालीन व्यंग्यकारों से अलग करती है। परसाई अपने समय की छोटी से छोटी विसंगति को भी पकड़ लेते हैं। 'मेनका का तपोभंग' में परसाई की रचनात्मकता देखते ही बनती है जहाँ स्वर्ग की सबसे सुंदर अप्सरा और ऋषि विश्वामित्र (भैया जी) को अत्याधुनिक स्थितियों में डालकर प्रस्तुत किया गया है। जहाँ राजनीतिज्ञों की लंपटता, धूर्तता और चालाकी मेनका जैसी अप्सराओं को भी पानी पिला देती है। व्यंग्य रचना के अंत में भैया साब स्पष्ट करते है कि 'मैंने स्वर्ग पाने के लिए या इंद्रासन पाने के लिए तपस्या नहीं की। मुझे यह कुछ नहीं चाहिए, मैं तो तुम्हारे लिए तपस्या कर रहा था, मेरी मेनका रानी।'[19]

अति नाटकीयता से मेनका के रूप गर्व का मर्दन होता है। जहाँ भैया-साब (नेता) मेनका को एक 'सेक्स ऑब्जेक्ट' बना देते हैं।

परसाई ने न केवल राजनीतिक एवं सामाजिक विसंगतियों पर प्रहार किया है अपति शिक्षा जगत में व्याप्त विसंगतियों की भी कटु आलोचना की है। 'एकलव्य ने गुरु को अंगूठा दिखाया' नामक रचना में परसाई ने शिक्षा जगत में व्याप्त बौद्धिकहीनता और सामन्ती मनोवृत्ति को बखूबी उजागर किया करते हैं। परसाई लिखते हैं–'अर्जुन जानता था कि विद्या पढ़ने से नहीं, बल्कि गुरु-कृपा से प्राप्त होती है। वह निरंतर गुरु की सेवा में रहता था। वह आचार्य के घर में किराना, कपड़े, सब्जी आदि पहुँचाता था। त्यौहार पर आचार्य के पाँच बच्चों को बाजार ले जाता और उन्हें मिठाई, कपड़े, खिलौने आदि खरीद देता।' आचार्या को सिनेमा नाटक दिखता था। रात को उनके सामने अन्य आचार्यों की निन्दा करता था, जिसके अकी आत्मा का उत्थान होता था।'[20]

शिक्षा जगत में इस प्रकार की चापलूसी करना वर्तमान समय में सहज हो गया है, जिसे 'अकादमिक कल्चर' के नाम से सही भी ठहराया जाता है, परन्तु इस प्रकार की चापलूसी के कारण एकलव्य जैसे योग्य विद्यार्थी पिछड़ जाते हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत में षिक्षा व्यवस्था में आए इस शैक्षिक पतन को परसाई बखूबी चित्रित करते हैं। परसाई ने अपने साहित्य में मिथकों का रचनात्मक उपयोग किया है जो उनके व्यंग्य को और अधिक मारक एवं पैना बना देते हैं।

परसाई को परसाई बनाने में जहाँ उनकी व्यंग्य चेतना अद्‌भुत कमाल की है, वहीं इनका शिल्पगत सौंदर्य भी अपने चरम पर है, चाहे वह फैंटसी का सृजनात्मक प्रयोग हो, चाहे बिम्ब एवं प्रतीक विधान हो, चाहे पेरोडी करना हो, चाहे व्यंग्य भाषा के तेवर हो या फिर इनके मिथकीय

प्रयोग! परसाई का रचनात्मक कौशल देखते ही बनता है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में परसाई एक गम्भीर एवं प्रतिबद्ध लेखक के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। परसाई की प्रतिबद्धता एवं सरोकारपरकता ही उनके व्यंग्य को कालजयी रचनाओं की श्रेणी में ला खड़ी करती हैं।

परसाई का लेखन स्वातंत्र्योत्तर भारत के लोकतंत्र में हो रहे मोहभंग का महाकाव्य है। मोहग्रस्तता किस प्रकार मोहभंग में तब्दील होती चली गई, जिसके कारणों की पड़ताल परसाई अपनी मिथकीय व्यंग्य रचनाओं में करते हैं। जैसे–जातिवाद का राजनीतिकरण (हम बिहार में चुनाव लड़ रहे हैं) घूसखोरी एवं भ्रष्टाचार (सुदामा के चावल, भोलाराम का जीव, पहला पुल), राजनीति में मूल्यों एवं सिद्धांतो के ह्रास (लंका विजय के बाद, मेनका का तपोभंग) अभावग्रस्त निम्न मध्यवर्ग की समस्याएँ (राम का दुख और मेरा दुख) वर्गभेद का विषमतामूलक चित्रण (त्रिशंकु बेचारा) आयकर चोरी की समस्या (आयोध्या में बहीखाता) राजनीति में व्याप्त छल–छद्म (नया महाभारत आदि)। परसाई की इन रचनाओं का अनुशीलन करने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि परसाई सांस्कृतिक मोह से उपर उठ जाते हैं और मिथकों का बड़ा ही सार्थक प्रयोग करते हुए हमें दिखाई देते हैं। बिना मिथक, पुराण एवं सांस्कृतिक मोह छोड़े लेखक मारक व्यंग्य रचना लिख ही नहीं सकता और परसाई की प्रत्येक रचना ही मारक व्यंग्य का सफल उदाहरण है।

संदर्भ

1. विश्वनाथ त्रिपाठी, देश के इस दौर में, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 14
2. हरिशंकर परसाई, हरिशंकर परसाई रचनावली, खंड–3, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 15
3. विश्वनाथ त्रिपाठी, देश के इस दौर में, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 16
4. हरिशंकर परसाई, हरिशंकर परसाई रचनावली, खंड–1, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 172
5. वही, खंड–1, पृ॰ 172
6. वही, खंड–1, पृ॰ 349–350
7. वही, खंड–3, पृ॰ 160
8. वेद प्रकाश, हरिशंकर परसाई व्यंग्य की गहराई और व्याप्ति, साहित्य भंडार, इलाहबाद, पृ॰ 137
9. विश्वनाथ त्रिपाठी, हरिशंकर परसाई, साहित्य अकादमी, दिल्ली, पृ॰ 9
10. हरिशंकर परसाई, हरिशंकर परसाई रचनावली, खंड–1, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 250
11. विश्वनाथ त्रिपाठी, हरिशंकर परसाई, साहित्य अकादमी, दिल्ली, पृ॰ 53
12. हरिशंकर परसाई, हरिशंकर परसाई रचनावली, खंड–1, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 206
13. वही, खंड–1, पृ॰ 207
14. वही, खंड–1, पृ॰ 266
15. वही, खंड–1, पृ॰ 267–268
16. वही, खंड–2, पृ॰ 319
17. वही, खंड–2, पृ॰ 320
18. विश्वनाथ त्रिपाठी, देश के इस दौर में, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 16
19. हरिशंकर परसाई, हरिशंकर परसाई रचनावली, खंड–1, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 354
20. वही, खंड–1, पृ॰ 423

H.No. 6 Street No. 9, B Block Gamri Extn
Delhi-110053
Mob. 8800233076
mamtajaiswal27@gmail.com

त्राटक साधना पर साहित्यिक व प्रायोगिक अध्ययन

कृष्णा दग्दी, शोध छात्रा, योग विज्ञान विभाग
राकेश गिरी, सेवानिवृत्त प्रोफेसर, योग विज्ञान विभाग
सुरेन्द्र कुमार, प्रो॰ विभागाध्यक्ष, योग विज्ञान विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखंड)

प्रस्तावना–शुद्धिकरण योग का प्रथम कदम है। प्रभुत्व को प्राप्त करने के लिए किए जाने वाले शुद्धिकरण के इन प्रयत्नों को 'क्रियाएँ' कहते हैं।[1] हमारे देह में विभिन्न प्रधान भाग होते हैं अर्थात् अंग। योग प्रत्येक अंग की एक विशेष प्रकार की कार्य प्रणाली होती है। शुद्धि क्रियाएँ शरीर की शुद्धि करती हैं। इन क्रियाओं की कार्य-प्रणाली भिन्न-भिन्न होती है। यौगिक क्रियाओं के रूप में उन क्रियाओं का वर्णन है जिनसे देह के आंतरिक अंगों की शुद्धि होती है तथा जिन्हें प्राचीन ऋषियों व मुनियों ने विकसित किया है।[2] योग ग्रंथों में शरीर शुद्धि की प्रारंभिक छः प्रकार की विधियों को वर्णित किया है, जिन्हें षट्कर्म के रूप में जाना जाता है, जो निम्न प्रकार से है–

धौतिर्वस्तिस्था नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभांतिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते।।[3]

धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलिक तथा कपालभांति ये सभी क्रियाएँ ही शुद्धि क्रिया या षट्कर्म हैं। अब पूर्व निश्चित प्रकरण के अनुसार त्राटक के अर्थ, स्वरूप व अवधारणा पर परिचर्चा करेंगे।

'त्राटक' शब्द की व्याख्या को लेकर सामन्य बोलचाल में एक सूत्र प्रचलित है–'त्रायते इति त्राटकम्' अर्थात् चंचल मन को नियंत्रण में करना ही त्राटक कहलाता है।

घेरण्ड संहिता में त्राटक साधना–

निमेषोन्मेषकं त्यक्तवा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्।
पतन्ति यावदश्रणि त्राटकं प्रोच्यते बुधैः।
एवमभ्याससोगेन शाम्भवी जायते ध्रुवम।
नेत्ररोगाः विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते।।[4]

अर्थात् किसी विशेष दृश्य को टकटकी लगाकर देखना या लगातार बिना पलक झपकाए एकटक देखते रहें जब तक आँखों से पानी न निकल आए, इसे त्राटक कहते हैं। त्राटक के निरंतर अभ्यास से शांभवी मुद्रा भी सिद्ध हो जाती है। दिव्य दृष्टि की प्राप्ति तथा दृष्टि रोग दूर हो जाते हैं।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार–

निरीक्षेन्निचलददला सूक्ष्मलक्ष्य समाहितः।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्।।
मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीना कपाटकम्।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं तथा यथा हाटकपेटकम्।[5]

अर्थात् त्राटक साधना इच्छुक साधक द्वारा एकाग्रता के साथ अपनी आँखों को सूक्ष्म वस्तु (लक्ष्य) पर केंद्रित करते हुए अपलक देखते रहें। जब तक चक्षुओं से अश्रुपात न होने लगे। इसी को ऋषियों ने त्राटक बताया है। इससे नयन निरोगी होते हैं, प्रमाद व अर्द्धनिद्रा के लिए यह द्वारकंटक के रूप में है। यानी–जैसे बंद कमरे में दरवाजे के खुलने से कमरे में व्याप्त अंधकार दूर हो जाता है उसी प्रकार से त्राटक साधना के अभ्यास से अर्द्धनिद्रा तथा प्रमाद दूर हो जाते हैं। त्राटक को स्वर्ण मंजूषा के समान गुप्त रखना चाहिए। आलस्य से युक्त तथा आचारहीन प्राणी के सामने इसका अभ्यास करने से लाभ प्राप्ति के स्थान पर हानि की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए इसे यत्नपूर्वक छिपाकर रखना चाहिए।

अभ्यास की विधि–ध्यान के किसी आसन में बैठकर पत्थर या धातु निर्मित किसी सूक्ष्म वस्तु या कागज पर एक काला बिंदु बनाकर बिना पलक झपकाए देखते रहना है। रात में मोमबत्ती या तिल के तेल से युक्त बत्ती की रोशनी को स्फटिक पर डालते हुए त्राटक क्रिया का अभ्यास करना उत्तम है। यह अत्यधिक लाभदायक सिद्ध होगा।

त्राटक के अभ्यास से नेत्र व मस्तिष्क का ताप बढ़ जाता है इस कारण अभ्यासी को अभ्यास के बाद जलनेति करनी चाहिए तथा आँखों का गुलाब जल से शोधन करना चाहिए। त्राटक के 3 प्रकार हैं–

(1) आंतर त्राटक–दृष्टि को बंद कर भृकुटी के मध्य में हृदय या नाभि में नेत्रवृत्ति की भावना से देखना आंतर त्राटक कहलाता है।

(2) मध्य-त्राटक–किसी सूक्ष्म वस्तु का नेत्रों को स्थिर करके देखना मध्य-त्राटक कहलाता है।

(3) बाह्य त्राटक–प्रकाशित नक्षत्र व निशाकर को व उषाकाल के सूर्यदेव को देखना बाह्य त्राटक कहलाता है।[6] ज्ञानशंकर सहाय जी ने हठयोग प्रदीपिका में वर्णित त्राटक क्रिया पर विशेष विवेचना करते हुए बताया है–त्राटक आँखों का योग अभ्यास है।

विषय–त्राटक अभ्यास के समय प्रयुक्त किया जाने वाला विषय सूक्ष्म होना चाहिए। सामान्यत: त्राटक करते समय अभ्यासी जली हुई मोमबत्ती या दीपक का ही अधिक उपयोग करते हैं। इस प्रक्रिया से त्राटक अभ्यास करने का सिद्धांत यह कि त्राटक क्रिया के लिए चुना गया विषय पूर्ण विचारों से संबंधित नहीं होना चाहिए, पूर्व संबंधित विचारों के कारण मन बार-बार विचारों पर जाता है और मन भी उन विचारों से संबंधित हो जाता है अत: इस तरह का विषय अभ्यास के लिए युक्तिसंगत नहीं है जो पूर्व विचारों से संबंधित हो।

विधि–अपलक एकटक किसी लक्ष्य (वस्तु) को देखना है। एक निश्चित समय के बाद आँखें बंद करनी हैं या पलकें झपकेगीं। किंतु इस प्रक्रिया में स्वनियंत्रित करना है। अत: आत्म-नियंत्रण के लिए भी त्राटक-साधन श्रेष्ठ है।

अभ्यास की समय सीमा–आँखों की पलकों का झपकना मनुष्य की एक स्वाभाविक क्रिया है, ऐसा नहीं होगा तो नेत्रों से अश्रुपात होने लग जाता है, किंतु प्रत्येक व्यक्ति की एकटक देखने की क्षमता भिन्न-भिन्न हो सकती है। अत: ग्रंथों में समय-सीमा का कोई निश्चित विधान नहीं है। सामान्य रूप से बता गया है कि जब तक नेत्रों से अश्रु न बह जाएँ तब तक देखते रहना है। शुरुआत में कुछ देर में ही आँसू आ जाते हैं किंतु निरंतर अभ्यास के बाद अधिक समय तक आँखों से आँसू नहीं निकलते हैं तथा आँखें खुली रखने की क्षमता बढ़ने लगती है।

साधना के समय मन की स्थिति–त्राटक साधना के वक्त मन तथा दृष्टि लक्ष्य पर बनी रहनी चाहिए। लक्ष्य पूर्व से निश्चित किया गया न हो। मानस पूर्व की धारणा से युक्त नहीं होना चाहिए। इससे साधक का मन एकाग्र बना रहता है तथा त्राटक श्रेष्ठ प्रकार से सिद्ध हो जाता है। त्राटक क्रिया से नेत्र व्याधियाँ दूर होती हैं, प्राणी प्रमाद से भी पीड़ित नहीं होता है त्राटक–आज्ञाचक्र पर भी प्रभाव डालकर उसे प्रभावित करता है।[7]

हठरत्नावली ग्रंथ के अनुसार–इस ग्रंथ में त्राटक शब्द के लिए 'त्राटक कर्म' नाम प्रयुक्त किया गया है–

नीरीक्ष्य निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रु सम्पातपर्यन्त माचार्यैस्त्रोटकं स्मृतम।।
स्फोटनं नेत्र रोगाणां तन्द्रादीनां कवाटकम्।
प्रयत्नात्राटकं गोप्यं यथारत्नं सुपेटकम्।।[8]

(हठरत्नावली -1/ 54,55)

अर्थात् किसी सूक्ष्म वस्तु पर चक्षुओं को अश्रुपात न हो तब तक बनाए रखने को आचार्य त्राटक कहते हैं। इससे नेत्र व्याधियों का नाश तथा तंद्रा आदि की निवृत्ति होती है इसे रत्न-पात्र के समान छुपाकर रखना चाहिए। श्रीमद् भगवद्गीता के अनुसार–

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन।।[9]

अर्थात् शरीर, गर्दन, कंधे व रीढ़ की हड्डी को एक सीध में बिना हलचल किए तथा एकटक देखते हुए अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करके बैठें। ऐसा अभ्यासी परमपद शांति को प्राप्त हो जाता है।[10]

त्राटक को हम यदि सैद्धांतिक दृष्टि से जानें तो त्राटक साधना में 3 प्रकार के प्रयोजन का निर्धारण करना होता है। प्रथम–आप एक 'दर्शक' के समान अभ्यास के लिए एक स्थान पर बैठे हैं। द्वितीय–जो स्थूल लक्ष्य आपके सामने है, उसका दृश्य। तथा तृतीय–दृश्य को देखने की युक्ति। जब इन तीनों प्रयोजनों का निर्धारण कर अभ्यास किया जाता है तभी त्राटक आंतरिक चेतना या अंदरूनी सजगता की एकाग्र स्थिति सिद्ध होती है।[11]

अतः त्रिपुटी की अवस्था में जल धारा के समान एक विषय पर अनेक विचार होने से धारणा घटती है और तेल की धारा के समान एक विषय व एक विचार से ध्यान घटता है, दृष्टा व दृश्य का एक रूप में घटना समाधि है।

त्राटक के अभ्यास की शुरुआत में त्रिपुटी रूप से धारणा घटती है जिसमें अभ्यासी के सामने एक लक्ष्य होता है जिस पर उसकी दृष्टि केंद्रित होती है, उस वक्त उस लक्ष्य के बारे में अलग-अलग तरह के विचार अभ्यासी या दृष्टा के मन में आते हैं वह अवस्था धारणा कहलाती है।

धारणा– 'देशबन्धश्चितस्य धारणा'[12] (योग सूत्र 3/1), अर्थात् मन को किसी विशेष अवस्था में धारण करके रखने का नाम धारणा है।

ध्यान–तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्[13] (योग सूत्र 3/2), अर्थात् जिस वस्तु में चित्त को लगाया जाता है, उसी में चित्त का एकाग्र हो जाना ध्यान कहलाता है।

समाधि–'तदेवार्थमात्रनिर्भास्यं स्वरूपशून्यमिण समाधिः'[14] (योग सूत्र 3/3), अर्थात् जब

ध्यान सभी बाहरी विचारों को छोड़कर अर्थ मात्र रूप में ही प्रकाशित करने लग जाए तो वही अवस्था समाधि है।

इस प्रकार त्राटक की त्रिपुटी अवस्था में अभ्यास प्रारंभ करने पर धारणा घटती है वहीं पर बिना प्रयास के ध्यानमय हो जाती है और अंतिम अवस्था में दृश्य व दर्शक हो जाते हैं तो समाधि की स्थिति है स्वामी निरजनांद सरस्वती[15] ने त्राटक के 3 प्रकार बताए हैं जो इस प्रकार से हैं–

प्रथम, बहिर्त्राटक–साकार (संसार की सभी वस्तुओं में से किसी एक वस्तु पर) जैसे - नदी, पहाड़, गुरु, उदय-अस्त का सूर्य, चंद्रमा आदि। दृष्टि-पूर्णिमा, अर्थात् खुली आँखें।

द्वितीय, अंतर्त्राटक (अंतरंग)–मानस की परिकल्पना शक्ति का उदय कर भौंह के मध्य ध्यान लगाना। संकेत मानसिक हो ईष्ट, गुरु, यंत्र आदि। दृष्टि-मावस (अमावस्या) बंद नेत्र।

तृतीय, आधोत्राटक–आधे नेत्र खुले व आधे बंद, शांभवी मुद्रा (दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर) प्रतिपदा चक्षु अर्ध खुली आँखें।

त्राटक के स्वामी[16]–जो अभ्यासी पित्र प्रवृत्ति के हों, हृदय, मस्तिष्क, नासिका, नेत्रों में अग्नि (दाह) रहती हो उन्हें अंत त्राटक का अभ्यास करना चाहिए। जिन अभ्यासी को दूरदृष्टि रोग हो, जो वात प्रवृत्ति के हों या जिन्हें शुक्र अधिक हो, उन अभ्यासी को बाह्य त्राटक का अभ्यास करना चाहिए। जिन्हें नेत्र रोग न हो, तीनों धातु सम अवस्था में हों, कफ प्रवृत्ति के हों, ऐसे अभ्यासी मध्य त्राटक के स्वामी हैं।

विशेष[17]–सम्मोहन प्रक्रिया सीखने वाले अभ्यासी को तीस मिनट से अधिक अभ्यास करना आवश्यक है। इच्छाशक्ति व आत्मशक्ति की प्रगति होती है। इससे आज्ञाचक्र जाग्रत होता है, त्राटक से मानस की दबी इच्छा, वासनाएँ, दु:खदायक घटना आदि का नाश हो जाता है।

नेत्र रोगा विनश्यन्ति–नेत्र नीरोगी होते हैं, दैहिक लाभ।

दिव्य दृष्टि प्रजायते–दिव्य दृष्टि का उदय, दैविक लाभ

शांभवी जायते ध्रुवम–शांभवी मुद्रा की सिद्धि, आध्यात्मिक लाभ।

अभ्यास काल[18]–सर्वश्रेष्ठ काल उषाकाल या गोधूलि बेला, खाली पेट अभ्यास करना। अभ्यास क्रमश: आसन, प्राणायाम, त्राटक, जप या ध्यान करना चाहिए। अभ्यासी को तनाव मुक्त होकर अभ्यास करना चाहिए।

सावधानियाँ व सीमाएँ–अभ्यास को नियमित करे तथा यथा शक्ति बढ़ाए। मिर्गी व्याधि ग्रस्त को दीपक की 'लौ' से अभ्यास नहीं करना चाहिए। सूर्य पर गुरु निर्देश में त्राटक करना चाहिए। विषमज्वर, जीर्णज्वर, मज्जातंतु-विकृति, पित्राश्य विकृति तथा अत्मपित्र विकृति आदि व्याधिग्रस्त को त्राटक क्रिया का अभ्यास नहीं करना चाहिए।[19]

त्राटक के अभ्यास के वक्त गाय-घी सर्वोत्तम है। अभ्यास के पश्चात आँखों को मसलना नहीं चाहिए। एक बार में 3 बार से अधिक त्राटक का अभ्यास न करें। अभ्यास के तत्काल पश्चात लिखना, पढ़ना, टी॰वी॰ देखना आदि कार्य नहीं करना है, यथासंभव त्राटक पश्चात ध्यान अवश्य करें या उद्यान में भ्रमण करें।

उच्च रक्तचाप रोगी को श्वासन के बाद त्राटक का अभ्यास करना चाहिए। जिन्हें अधिक मानसिक तनाव व अस्वस्थता हो तो उन्हें त्राटक से पूर्व जल नेति का अभ्यास करना चाहिए। त्राटक करने के बाद तुरंत जोर से बोलना या चिल्लाना नहीं चाहिए।[20]

निष्कर्ष–इस अध्ययन से 'त्राटक' प्रकरण में यह स्पष्ट होता है कि इस 'शोधन- क्रिया'

से व्यक्ति के मानसिक संतुलन पर लाभदायक प्रभाव पड़ता है क्योंकि वर्तमान समय में प्राणी चित्त चंचलताओं से पीड़ित है इस कारण वह धैर्य व स्वयं का विवेक खो बैठा है। त्राटक से मन व बुद्धि में सतुलन की अवस्था प्राप्त होती है तथा इच्छाशक्ति, धैर्य से युक्त, विवेकयुक्त निर्णय लेने वाला होता है व एकाग्रता से परिपूर्ण रहता है। अत: मन ही मनुष्य को जगत् सागर के सुख-दु:ख में डुबकियाँ खिलाता है तथा विचारों भँवरजाल में फँसा देता है, त्राटक मन को इन विचारों के भँवरजाल से मुक्त करता है, अद्‌भुत एकाग्रता व इच्छाशक्ति प्रदान करता है।

संदर्भ

1. डॉ॰ एच॰ आर॰ नागेंद्र, प्राणायाम काल और विज्ञान, विवेकानंद केंद्र योग प्रकाशन, बैंगलोर, 2015, पृ॰ 52
2. वही, पृ॰ 52
3. हठयोग प्रदीपिका, 2/22
4. घेरण्ड संहिता, 1/55,56
5. हठयोग प्रदीपिका- 2/31,32
6. रामलाल श्रीवास्तव, योगिन्द्र स्वात्माराम द्वारा प्रणित हठयोग प्रदीपिका, श्री गोरखनाथ मंदिर, गोरखपुर, सं॰ 2058, पृ॰ 53
7. ज्ञानशंकर सहाय, हठयोग प्रदीपिका, चौखंबा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2021, पृ॰ 88-89
8. गिरिरत्न मिश्र, श्रीनिवास योगींद्र विरचितम् हठरत्नावली, चौखंबा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2021, पृ॰ 16-17
9. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता- 6/13
10. स्वामी रामसुखदास, गीता माधुर्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं॰ 2074, पृ॰ 65
11. स्वामी निरंजानानंद सरस्वती, घेरण्ड संहिता, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर, 2011, पृ॰ 106-107
12. पातंजल योगसूत्र-3/1
13. वही, 3/2
14. वही, 3/3
15. स्वामी निरंजानानंद सरस्वती, घेरण्ड संहिता, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर, 2011, पृ॰ 107-111
16. योगी आदित्यनाथ, हठयोग स्वरूप एवं साधना, श्री गोरखनाथ मंदिर, गोरखपुर, 2015, पृ॰ 51
17. स्वामी निरंजानानंद सरस्वती, घेरण्ड संहिता, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर, 2011, पृ॰ 111-112
18. स्वामी सत्यानंद सरस्वती, आसन प्राणायाम मुद्रा बंध, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, 2006, पृ॰ 542-543
19. योगी आदित्यनाथ, हठयोग स्वरूप एवं साधना, श्री गोरखनाथ मंदिर, गोरखपुर, 2015, पृ॰ 51
20. डॉ॰ मकरंद मधुकर गोरे, शरीर विज्ञान और योगाभ्यास, ड्रोलिया पुस्तक भंडार, हरिद्वार, 2016, पृ॰ 198

sunilyogi1988@gmail.com

'महाभोज' उपन्यास में राजनीतिक अवसरवादिता

मुकेश कुमार जाटव, शोधार्थी
महारानी लक्ष्मीबाई कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, ग्वालियर (म०प्र०)
(शासकीय स्वशासी उत्कृष्ट महाविद्यालय)

वर्तमान परिवेश में सफेदपोश राजनेता, नौकरशाह एवं दलाल पत्रकार राजनीतिक रूपी नौका में बैठकर आपदा या घटना को अवसर, मनोरंजन या महोत्सव में तब्दील करने की अभूतपूर्व क्षमता रखते हैं। आपदा उपेक्षित वर्गों, गरीबों, मजदूरों, किसानों के लिए संकट पैदा कर सकती है; अन्न के दाने-दाने के लिए मोहताज कर सकती है; बेवक्त मौत दे सकती है; आत्महत्या तथा चोरी जैसे अपराधों के लिए मजबूर कर सकती है किंतु राजनीतिक क्षेत्र में आपदा के परिणाम ठीक विपरीत होते हैं। जैसे–आमजन के प्रति झूठी सहानुभूति दिखाकर नेताओं को स्वयं के पक्ष में जनमत तैयार करने का अवसर प्राप्त हो जाता है, विपक्ष को सत्ता पक्ष पर और सत्ता पक्ष को विपक्ष पर आरोप-प्रत्यारोप लगाने मौका मिलता है, राजनीतिक उत्तराधिकारियों को प्रशिक्षण मैदान प्राप्त हो जाता है जहाँ पर वह अपना हुनर दिखाकर राजनीतिक जमीन मजबूत करते हैं। इसके अलावा तथाकथित रूप से राजनेताओं, नौकरशाहों और मीडिया घरानों की आमदनी दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगती है। अर्थात् इस दौरान इनकी पाँचों उँगलियाँ घी में रहती हैं। अवसरवादी तथा स्वार्थपरक राजनीति को इंगित करते हुए ख्याति प्राप्त लेखिका मन्नू भंडारी ने अपने राजनीतिक उपन्यास 'महाभोज' में कहा है कि 'लावारिस लाश को गिद्ध नोच-नोचकर खा जाते हैं।'[1]

राजनीतिक उपन्यास 'महाभोज' ख्याति प्राप्त लेखिका मन्नू भंडारी के द्वारा सृजित है जो किसी महिला लेखिका द्वारा राजनीति पर लिखा गया पहला उपन्यास है। यह उपन्यास समकालीन परिवेश में व्याप्त अवसरवादी राजनीति को लक्ष्य करके लिखा गया है। उपन्यास में बगुला भगत नेताओं की अवसरवादी नीतियों को बेनकाब किया गया है। अफसरों की लालफीताशाही, स्वार्थपरकता व राजनीतिक गठजोड़ को उजागर किया है तथा पत्रकारिता के माध्यम से सच्चाई पर पर्दा डालकर जनता के सामने किस प्रकार झूठ का महिमामंडन किया जाता है? उसका पर्दाफाश किया है। साथ ही भारतीय समाज में सामाजिक सोपानक्रम के निचले पायदान पर स्थित उपेक्षित जातियों पर होने वाले अत्याचार, मानसिक, शारीरिक प्रताड़ना तथा भावनात्मक खिलवाड़ का मार्मिक व यथार्थ चित्रण किया गया है।

उपन्यास में सामाजिक रूप से उपेक्षित तथा हासिए पर धकेल दिए गए वर्ग के दुरूह जीवन की वास्तविक तस्वीर पेश कर यह स्पष्ट करने की कोशिश की गई है कि वर्षों से प्रताड़ित उपेक्षित वर्ग की स्थिति आज भी समाज में शतरंज के उस मोहरे के समान है जिससे जो चाहे बस खेल रहा है। शायद यही इनकी नियति है। सहोरा गाँव की हरिजन[2] बस्ती में कुछ असामाजिक तत्त्वों के द्वारा आग लगा दी जाती है, आग की भयंकरता इतनी अधिक थी जिसमें दर्जनों अनुसूचित जाति के लोग मृत्यु के शिकार हो जाते हैं। घर-गृहस्थी का सामान जलकर तबाह हो जाता है। अब यदि उनके पास कुछ शेष रह जाता है तो वह है खुले आसमान की छत, पेट की भूख तथा नंगा बदन। इस पर

 ISSN 0975-735X

नौकरशाही की बर्बरता, नेताओं के झूठे वादे, समाचार-पत्रों में उनकी विवशता तथा व्यथा का भद्दा प्रदर्शन उनके दु:ख-दर्द को दुगुना कर देती है। हालाँकि परंपरा के अनुसार क्षेत्रीय या राष्ट्रीय नेता (यह मौके-मौके की बात है) सहोरा गाँव में घटना-स्थल पर पहुँचते हैं। लोगों के दु:खों को अपना दु:ख बताते हुए विशेष सहानुभूति प्रकट करते हैं तथा हरसंभव अधिक-से-अधिक मदद का आश्वासन देते हुए उच्चस्तरीय जाँच करवाने का वादा भी करते हैं। यह अलग बात है कि ऐसे वादों को भारतीय राजनीति में जमीनी रूप से कभी पूरा नहीं किया गया। पुलिस जाँच के नाम पर कागजी घोड़े दौड़ाना प्रारंभ कर देती है। पीड़ितों से पूछताछ कम डराया-धमकाया अधिक जाता है और सबूतों के अभाव में जाँच की लीपा-पोती कर केस को भी बंद कर दिया जाता है। बिसू नाम का एक पढ़ा-लिखा अनुसूचित जाति का युवा इस घटना में शिकार हुए लोगों को न्याय दिलाने के लिए दोषियों के खिलाफ सबूत इकट्ठा करता है। वह पुलिस अधिकारियों से मदद के लिए गुहार लगाता है और दोषियों पर उचित कार्यवाही के लिए प्रार्थना करता है किंतु राजनेताओं से प्रभावित पुलिस अधिकारी उल्टा उसे ही धमकाते हैं। जब वह अपनी बात पर अड़ जाता है और न्याय न मिलने तक संघर्ष जारी रखने की बात कहता है तब उसे पुलिस द्वारा झूठे केस में नक्सली करार देकर चार वर्ष के लिए जेल में डाल दिया जाता है। चार वर्ष बाद जब वह जेल से आता है तो पुन: सबूतों को इकट्ठा कर दोषियों को सजा दिलाने का प्रयास करता है किंतु रहस्यमयी तरीके से उसकी मौत हो जाती है। बिसू के हत्यारों को सजा दिलवाने लिए उसका मित्र बिंदा अपनी पत्नी रूक्मा के साथ सबूतों को इकट्ठा करने में एस॰पी॰ सक्सेना की मदद करता है किंतु राजनीति के कुचक्र में फँसकर एस॰पी॰ का तबादला हो जाता है और बिंदा को बिसू का हत्यारा सिद्ध कर जेल में डाल दिया जाता है। भारत में दलितों के द्वारा अपने अधिकारों के लिए न्याय माँगने की अंतिम परिणति यही होती है। अखबारनवीस नेताओं के इशारे पर सच को झूठ और झूठ को सच में बदलने के लिए अपने शब्दकोश में से चटकीले-भड़कीले शब्दों का प्रयोग कर घटना को अलग ही दिशा में मोड़ देते हैं। उपन्यास में भी दत्ता बाबू ने बिसू की मौत की खबर को दा साहब के इशारे पर ही अपने अखबार 'मशाल' के एक लंबे वक्तव्य में संकेत दिया था कि 'यह हादसा हत्या का नहीं आत्महत्या का है।'[3]

बिसू की मौत ऐसे समय पर होती है जब विधानसभा का उपचुनाव होना था। दूसरी ओर यहाँ से विपक्षी पार्टी के पूर्व मुख्यमंत्री सुकुलदेव चुनाव मैदान में थे, जिससे मुकाबला रोचक हो गया था। बिसू की मौत को राजनीतिक विषय से जोड़कर सत्ता पक्ष व विपक्ष दोनों ही अधिक-से-अधिक अनुसूचित वर्ग एवं अनुसूचित बस्ती की सहानुभूति प्राप्त करना चाहते थे। जिसके लिए उन्होंने नए-नए हथकंडे अपनाना प्रारंभ कर दिए। सुकुल बाबू ने गाँव में चुनावी सभा रखी जिसमें उन्होंने अपने भाषण के दौरान अधिक-से-अधिक बिसू की घटना का जिक्र किया और सभा समाप्त होने के बाद बिसू के घर माता-पिता से मिलने गए। मुख्यमंत्री दा साहब सुकुल बाबू से दो कदम आगे बढ़कर सबसे पहले बिसू के पिता हीरा के घर जाते हैं, उसे अपने साथ गाड़ी में बिठाकर सभा-मंच पर साथ बिठाकर सम्मानित करते हैं और घरेलू उद्योग योजना का उद्घाटन उन्हीं के हाथों से करा देते हैं। जिससे भोले-भाले अनुसूचित वर्ग की सहानुभूति प्राप्त की जा सके। दा साहब और सुकुल बाबू के द्वारा प्रदर्शित इंसानियत उपेक्षित वर्ग की स्वयंसिद्धता की वजह से नहीं दिखाई जा रही बल्कि वास्तव में यह परिस्थितिजन्य अपरिहार्यता है।[4]

भारत में तथाकथित रूप से उच्च कही जाने वाली जातियाँ प्राचीनकाल से उपेक्षित जातियों का दमन करती आई हैं। वर्तमान में भी उनकी दमनकारी नीति और बर्बरता जारी है। जिसके शिकार हुए

बिसू और बिंदा के दर्द को उपन्यास में दिखाया गया है। वर्षों से अन्याय, अत्याचार एवं अमानवीय व्यवहार से प्रताड़ित उपेक्षित वर्ग ने अब अश्लील गालियाँ, झिड़की, पाशविकता को दिनचर्या का हिस्सा मान आम व्यवहार की तरह सहज स्वीकार कर लिया है। यदि इसी दौरान कोई उच्च कही जाने वाली जाति वाला सामान्य व्यवहार ही करता है। बेशक, वह दिखावा हो उपेक्षित वर्ग इसे अपना सौभाग्य समझता है। यह एक मनोवैज्ञानिक कारण है कि जिस जाति ने हमेशा से ही समाज में अपमान से भरा जीवन जिया हो, यदि उसे कहीं क्षणिक सम्मान भी प्राप्त होता है तब वह स्वयं को गौरवान्वित महसूस करता है और सम्मान देने वाले को ईश्वर मानने लगता है। इसके इतर, यदि वह बगावत करता है तब उसे उसके भयानक परिणाम भुगतने होते हैं; यह भी वह जानते हैं। शायद! तभी बिसू के पिता हीरा दा साहब के द्वारा सम्मानित होने पर वह उसे अपने जीवन का सबसे बड़ा दिन समझते हुए बिसू की मौत के संबंध में पूछताछ के दौरान एस॰पी॰ सक्सेना को अपने बेटे की मौत को भुलाकर दा साहब का गुणगान करते हुए कहते हैं कि 'हाँ सरकार, तबै छुटमल रहा! हम तो बड़ा जस गाइत हैं नई सरकार का। हमारा बिसू घर तो आवा! अउर दा साहब तो देवता आदमी हैं, सरकार! हम गरीबन का कइस मान दिहिन! ऊ दिन हमार घरै आ... हमका अपना संग लिवाय लै गये... नहीं तो को पूछत है गरीबन का दु:ख दर्द।'[5] शायद! हीरा और हीरा जैसे कई गरीब, असहाय लोग यह जान पाते कि उनके ऊपर दु:खों का जो पहाड़ टूटा है उसके कर्ताधर्ता दा साहब जैसे नकाबपोश ही हैं।

उपन्यास में बगुला भगत नेताओं की कथनी-करनी में अंतर स्पष्ट रूप से चित्रित किया गया है। दा साहब उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं। संपूर्ण घटनाएँ इन्हीं के इर्द-गिर्द घूमती नजर आती हैं। इनका व्यक्तित्व, भाषा शैली तथा राजनीतिक विचार सात्विक प्रतीत होते हैं और दिखने में वह दार्शनिकों की भाँति शांति और धैर्य को धारण किए रहते हैं। दा साहब वार्तालाप के दौरान सभी को गीता पढ़ने और गांधीजी के विचारों का अनुसरण करने हेतु प्रेरित करते हैं–'देखो भाई! मेरे लिए राजनीति धर्मनीति से कम नहीं। इस राह पर मेरे साथ चलना है तो गीता का उपदेश गाँठ बाँध लो निष्ठा से अपना कर्त्तव्य किए जाओ, बस फल पर दृष्टि मत रखो।'[6] वह स्वयं को माहत्मा गांधी का अनुयायी बताते हैं किंतु इनके चेहरे का असली रूप उस समय नजर आता है जब बिसू की हत्या को आत्महत्या के रूप में तब्दील करवाते हैं। बिसू की मौत की जाँच कर रहे एस॰पी॰ सक्सेना का तबादला करवा देते हैं तथा बिसू का मित्र बिंदा जो बिसू का एकमात्र पक्षकार था उस पर ही बिसू की हत्या का आरोप सिद्ध करवाकर जेल पहुँचा देते हैं। सुकुल बाबू (पूर्व मुख्यमंत्री) जिनके कार्यकाल में अनुसूचित बस्ती में आग की घटना हुई थी और उन्होंने बिसू को नक्सली करार देकर जेल पहुँचाया गया था। फलस्वरूप, अगले चुनाव में अनुसूचित जाति का वोट बैंक खिसक जाने से पार्टी के स्वयं भी हार जाते हैं। सुकुल बाबू अपनी हार की समीक्षा करते हुए स्वयं कहते हैं कि 'अभी तक उपेक्षित वर्ग के बूते पर ही चुनाव जीतते आए थे पिछली बार इन लोगों ने आँखें फेरीं तो मुँह की खानी पड़ी थी।'[7] किंतु उपचुनाव में अनुसूचित जाति के वोट बैंक पर दुबारा पकड़ मजबूत करने के लिए वह उसी बिसू की मौत के लिए न्याय की माँग करते हैं जिसे मुख्यमंत्री रहते झूठे केस में नक्सली करार देकर चार वर्ष के लिए जेल पहुँचाया था।

राजनीति में सभी अवसरवादी, स्वार्थी एवं भ्रष्ट नहीं होते हैं। जिस प्रकार कीचड़ में कमल खिलता है; वैसे ही राजनीति के कीचड़ में भी त्रिलोचन जैसे कमल पैदा हो जाते हैं। दा साहब के मंत्रिमंडल में शिक्षामंत्री त्रिलोचन बगैर पद लोलुपता के अपने नैतिक कर्त्तव्यों का निर्वहन करते हुए जन-साधारण की आवाज को बुलंद करते हैं। संकट के समय उनके साथ कंधे से कंधा मिलाकर

चलते हैं। इसलिए त्रिलोचन जनता के प्रिय लोचन के नाम से ख्याति पा चुके हैं। किंतु जब वह देखते हैं कि अपनी ही सरकार के सरंक्षण में जातिवाद, भ्रष्टाचार, गरीबों तथा उपेक्षित वर्ग पर अन्याय हो रहा है एवं बाहुबली व गुंडों का सरंक्षण किया जा रहा है। तब वह अपनी ही सरकार के खिलाफ बगावत कर देते हैं। चौधरी और राव के अलावा और भी असंतुष्ट विधायक त्रिलोचन का साथ देते हैं। इन विधायकों की नाराजगी त्रिलोचन बाबू से इतर, मलाईदार पद न मिलने के कारण थी। चूँकि, चौधरी और राव साहब ने मंत्रिमंडल में मलाईदार पद के लिए बगावत की थी। इसलिए, जब वह त्रिलोचन बाबू से नई सरकार के गठन पर मंत्रिमंडल में अपने पद के लिए सौदेबाजी करते हैं तब त्रिलोचन बाबू सोचने के लिए मजबूर हो जाते हैं कि 'क्या इसी परिवर्तन के लिए सुकुल बाबू की पार्टी और विधानसभा की सदस्यता छोड़ी थी उन्होंने? इसी गति का सपना देखा था? क्या इसी टुच्चेपन की सौदेबाजी के लिए मंत्रिमंडल गिराने की बात सोच रहे हैं वे? नाम, चेहरे, लेबुल भले ही अलग-अलग हों पर अलगाव है कहाँ सुकुल बाबू....दा साहब...राव चौधरी।[8] इसी का फायदा उठाकर दा साहब राव, चौधरी एवं अन्य विधायकों को पद तथा धन देकर संतुष्ट कर अपन खेमे में शामिल कर त्रिलोचन बाबू को पार्टी एवं शिक्षामंत्री के पद से निर्लंबित कर देते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि जो भी नेता आमजन की आवाज बनने की कोशिश करेगा उसकी दशा त्रिलोचन बाबू के समान ही होगी।

निष्कर्ष–उपर्युक्त समीक्षा से स्पष्ट होता है कि विधानसभा उपचुनाव के दौरान घटित घटना ने दा साहब को उपेक्षित वर्ग के प्रति सहानुभूति दिखाने का मौका दे दिया, जिसे उन्होंने खूब भुनाया। विपक्षी पार्टी के पूर्व मुख्यमंत्री सुकुल बाबू को सत्ता पक्ष के खिलाफ और उपेक्षित वर्ग के पक्ष में बोलने का विषय मिल गया था। क्योंकि, पिछले चुनाव में उपेक्षित वर्ग का वोट खिसकने से उनकी हार हो गई थी। दत्ता साहब ने समाचार-पत्र 'मशाल' पर लगे सरकारी प्रतिबंधों को हटा लिया इसके साथ ही, कागज का कोटा भी बढ़ा दिया था। दा साहब की पार्टी में असंतुष्ट सदस्यों ने मौके का फायदा उठाते हुए सरकार के खिलाफ बगावत कर दी; फलस्वरूप, दत्ता साहब ने उनके आत्म-सम्मान का ख्याल रखते हुए मलाई वाले पदों से विभूषित कर मंत्रिमंडल में शामिल कर लिया। एस॰पी॰ सक्सेना का तबादला और बिसू की हत्या को आत्महत्या करार देकर बिसू केस की फाइल बंद करने के लिए डी॰आई॰जी॰ साहब को प्रमोशन का पुरस्कार प्राप्त हुआ। अन्याय के खिलाफ और अपने अधिकारों के लिए आवाज उठाने पर बिसू को अपनी जान देकर; त्रिलोचन को मंत्री पद खोकर; एस॰पी॰ सक्सेना को तबादले के रूप में; बिंदा को बिसू की हत्या के आरोप में जेल जाकर; रूक्मा को बिसू और बिंदा को खोकर तथा हीरा को अपने जवान बेटे की अकाल मृत्यु के रूप में कीमत चुकानी पड़ी। शायद! अन्याय के खिलाफ लड़ने और न्याय की माँग करने की यही परिणति होती है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि एस॰सी॰ बस्ती में आग की घटना में दर्जनों अनुसूचित वर्ग के लोगों की मृत्यु हो जाती है। किंतु यह समाचार-पत्रों की एक दिन की खबर तथा राजनेताओं के लिए एक दिन का औपचारिक दौरा बनकर रह जाता है। किंतु एक बिसू की मौत ने राजनीति, नौकरशाही तथा पत्रकारिता को हिला दिया था। क्योंकि उस घटना के समय चुनाव नहीं थे और इस घटना के समय चुनाव थे! मन्नू भंडारी जी ने ठीक ही कहा कि 'सच पूछा जाए तो बड़ा न आदमी होता है, न घटना। यह तो बस मौके-मौके की बात होती है।'[9]

वर्तमान प्रासंगिकता–आज तीन दशक बीत जाने के बाद सत्ता परिवर्तन हुआ, नए युवा चेहरों का राजनीति में पदार्पण हुआ किंतु राजनीतिक अवसरवादिता, सत्ता लोलुपता, नौकरशाही की मनमानी, पत्रकारिता में चाटुकारिता एवं अनुसूचित जाति पर होने वाले अत्याचारों में लेशमात्र भी

परिवर्तन नहीं हुआ। उल्टे समय के साथ-साथ और अधिक विकराल रूप धारण किया है। विगत आम चुनावों के दौरान भ्रष्टाचारी, बेरोजगारी, महिला सुरक्षा से इतर हाल ही में पुलवामा हमले में शहीद हुए सैनिकों की लाशों पर वोट माँगा गया था।[10] जो अवसरवादिता का ज्वलंत उदाहरण है। सत्ता एवं पद की लोलुपता में विधायकों की खरीद-फरोख्त कर उत्तराखंड, कर्नाटक की सरकारों को गिराया गया। कोरोनाकाल में जब आम जनता की सुरक्षा को विशेष रूप से तरजीह देनी थी ऐसे समय का फायदा उठाकर मध्यप्रदेश की सरकार को गिराया गया था।[11] यह सीधे तौर पर स्वार्थी राजनेताओं का अपने निजी हितों के लिए आम-जनता को भारी संकट में डालना है। अनुसूचित जाति पर 2 अप्रैल, 2018 को भारत बंद आंदोलन के दौरान दंगे,[12] गुजरात में ऊना कांड,[13] महाराष्ट्र में भीमा कोरंगाँव के रूप में देखे गए जो किसी बर्बरता से कम नहीं थे। बाद में राजनीतिक फायदे के लिए राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय पार्टियों ने इन घटनाओं को चुनावी मुद्दा बनाया। पत्रकारिता जिसे लोकतंत्र का चौथा स्तंभ कहा जाता था। किंतु ऐसा लगता है कि इसमें जंग लग गई है। वह सत्ता पक्ष की बजाय विपक्ष से प्रश्न करने में अधिक दिलचस्पी लेता है। जनता की आवाज न बनकर सरकार की आवाज को बुलंद करने पर आतुर है। इसे यदि राजनीति की चरम अवसरवादिता कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

संदर्भ

1. मन्नू भंडारी, महाभोज, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा॰लि॰, दिल्ली, 1979, पृ॰ 7
2. जनसत्ता, हिंदी न्यूज, द इंडियन एक्सप्रेस समूह, प्रकाशन-5 अप्रैल, 2018 नई दिल्ली। जनसत्ता न्यूज के अनुसार गृहमंत्रालय ने राज्य सरकारों, केंद्रशासित प्रदेशों और केंद्र सरकार के सभी विभागों को निर्देश जारी किया गया है कि सरकारी दस्तावेजों और कार्यव्यवहार में अनुसूचित जाति के लिए 'दलित' शब्द का प्रयोग न किया जाए। जबकि 10 फरवरी, 1982 में 'हरिजन' शब्द पर प्रतिबंध लगाते हुए गृह मंत्रालय के द्वारा जारी मूल निर्देशिका में 'हरिजन' शब्द को मान्यता नहीं दी। चूँकि शोधार्थी द्वारा लिखित आलेख का आधार ग्रंथ 'महाभोज' उपन्यास है जिसका प्रकाशन 1979 में (हरिजन शब्द के प्रतिबंध से पूर्व) हुआ था। मैंने इस आलेख में हरिजन शब्द का प्रयोग एक बार किया है। अन्य सभी स्थानों पर हरिजन और दलित शब्द की जगह उपेक्षित वर्ग या एससी/एसटी शब्द का प्रयोग किया है।
3. मन्नू भंडारी, महाभोज, राधाकृष्णन प्रकाशन प्रा॰लि॰, दिल्ली, 1979, पृ॰ 48
4. डॉ॰ बी॰आर॰ अंबेडकर, और बाबा साहेब अंबेडकर ने कहा, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, खंड-1, पृ॰ 122
5. मन्नू भंडारी, महाभोज, राधाकृष्णन प्रकाशन प्रा॰लि॰, दिल्ली, 1979, पृ॰ 101
6. वही, पृ॰ 23
7. वही, पृ॰ 26
8. वही, पृ॰ 62
9. वही, पृ॰ 9
10. रवीश कुमार, प्राइम टाइम विथ रवीश कुमार और रवीश कुमार ब्लॉग, 29 अप्रैल, 2019
11. दि प्रिंट, एम॰पी॰ सरकार का पतन राजनीतिक नैतिकता के निम्न मानकों का साक्ष्य, पब्लिश 20, मार्च, 2020
12. जनसत्ता ऑनलाइन, भारत बंद, 2 अप्रैल, 2018
13. गूगल, ऊना हिंसा, विकिपीडिया, 3 अगस्त, 2020

पिप्पल मेडीकल, कबीर कालोनी चौराहा
टाल रोड, मुरार, ग्वालियर 474011 **(म॰प्र॰)**
मो॰ 8966842922
mk645356@gmail.com

शरद सिंह की कहानियों में वृद्ध स्त्री के अकेलेपन की समस्या

आशारानी
एसोसिएट प्रोफेसर वैश्य कॉलेज, भिवानी

भारतीय संस्कृति में माता-पिता को देवतुल्य माना जाता है। उनके विचारों का आदर-सत्कार करना तथा बुढ़ापे में उनके देख-रेख और सेवा करना संतान का परम कर्त्तव्य माना जाता है। परंतु 21वीं सदी के वर्तमान परिदृश्य पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि बढ़ते पूँजीवाद और वैश्वीकरण की होड़ में यह सभी नैतिक मूल्य नष्ट हो गए हैं। वर्तमान समय में प्रत्येक घर में बुजुर्गों की समस्याएँ एक जैसी हैं। अपनी संतानों द्वारा किए जाने वाले उपेक्षित व्यहार उन्हें अंदर तक तोड़ देता है। बुढ़ापे में जब माता-पिता को अपने बच्चों के प्रेम और साथ की सबसे अधिक आवश्यकता होती है, तब उन्हें या तो वृद्ध आश्रम में भेज दिया जाता हैं या फिर आपस में उनका बँटवारा कर लिया जाता है। खर्च अधिक न हो इस विचार से एक बेटे के घर पिता और दूसरे बेटे के घर माँ को रख दिया जाता है। उम्र का इतना लंबा समय एक साथ व्यतीत करने और जीवन के सभी सुख-दुख साथ सहने के बाद उन्हें ऐसे अचानक अलग कर देना कितना पीड़ादायक होता है यह उनकी संतान नहीं समझ पाती हैं। बचपन में जब बच्चे अपने माता-पिता को अपनी आँखों से ओझल पाकर तड़प उठते थे, वही बच्चे बड़े होकर अपने माँ-बाप को सुख देने की बजाय उन्हें स्वयं पर बोझ समझने लगते हैं और इसी बोझ से छुटकारा पाने के लिए उन्हें वृद्ध आश्रम में अकेले रहने के लिए छोड़ आते हैं।

शरद सिंह ऐसी रचनाकार हैं जिनके लेखन ने सामाजिक सरोकार और संघर्षों को उजागर करते हुए विशेषता पाई है। यथार्थवादी लेखन में विश्वास रखने वाली लेखिका शरद सिंह ने अपनी कहानियों में स्त्री से संबंधित समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है। स्त्री की सामाजिक समस्याओं में एक समस्या है–वृद्ध स्त्री के अकेलेपन की। शरद सिंह ने 'बकरी', 'खाली सीप', 'पत्तों में कैद औरतें' आदि कहानियों में वृद्ध स्त्री के जीवन की समस्याओं को दर्शाया है।

'बकरी' कहानी में बऊ के बेटे-बहू उसे अकेला छोड़कर शहर चले जाते हैं। भरे-पूरे परिवार के होते हुए भी बऊ अकेली रह जाती है। इस अकेलेपन को दूर करने के लिए उसने एक बकरी अपने पास रखी हुई है। बऊ का छोटा बेटा भी अपने स्वार्थसिद्धि के लिए बऊ से मिलने आता रहता है। वह चाहता है कि वह अपना पुश्तैनी घर बेचकर सद्भावना नगर में प्लाट ले ले। एक बार छोटा बेटा बऊ से मिलने के लिए आता है। वह मन-ही-मन बहुत खुश होती है कि उसके बेटे-बहू उससे मिलने आए। परंतु घर पर बेटा आता है बहू स्टेशन से ही अपनी चाचिया सास के पास चली जाती है इस विषय में लेखिका लिखती है, 'खटमल सुनकर बऊ ने बाहर झाँका। हल्के बाड़े का दरवाजा खोल रहा था। बऊ का हृदय प्रसन्नता से खिल उठा। पर दूसरे ही पल बऊ चकित होकर देखने लगी, हल्के अकेला था। न बहू साथ में, न बच्चे।'[1]

सफारी सूट में बाबासाहेब बना दिख रहे हल्के ने तनिक झुककर अम्मा के चरणस्पर्श किए। उसे देखने पर मात्र ऐसा लग रहा था कि वह पैर छूने का अभिनय कर रहा है। जब बऊ ने हल्के से बच्चों और अपनी बहू के विषय में पूछा तो हल्के कहने लगा, 'नहीं अम्मा वे लोग सद्भावना नगर चले गए हैं, चाची के घर। अम्मा तुम तो जानती हो, तुम्हारी बहू को इस घर का गँवारू माहौल जरा भी नहीं भाता। अम्मा, तुम ऐसे क्यों रहती हो?'[2] आधुनिक युग के बच्चों को माता-पिता का रखरखाव भी पसंद नहीं आता। जबकि बचपन में यही बच्चे इसी रखरखाव में पले-बढ़े हैं। परंतु बड़े होने के साथ ही उसी रखरखाव से इन्हें ईर्ष्या होने लगती है। अपने बेटे हल्के की सफाई सुनकर अम्मा खामोश रह गई। अम्मा ने अपने बच्चों के लिए मनपसंद बेसन के लड्डू बनाए थे। हल्के की बात सुनकर जैसे अंदर से कुछ चटक-सा गया था। मन तो हुआ कि वह हल्के के लिए बनाए उसके मनपसंद बेसन के लड्डू न निकाले पर माँ की ममता थी, मानी नहीं। बऊ ने बड़े लाड़-प्यार से हल्के को उसकी पसंद के बेसन के लड्डू खिलाए। लड्डू खाने के बाद हल्के शहर जाने के लिए तैयार हो गया, 'हल्के जाने के लिए उद्दत हो उठा। बऊ रोकती भी तो कैसे? बऊ हल्के के पीछे-पीछे बाहर निकली। हल्के ने मुड़कर नहीं देखा। सिर्फ खूँटे से बँधी बकरी ही थी जो बऊ की तरफ टुकुर-टुकुर ताके जा रही थी।'[3] हल्के जैसी न जाने कितनी ऐसी संतानें हैं जो एक बार भी अपनी बूढ़ी अकेली माँ के विषय में नहीं सोचते और उन्हें तड़पने के लिए अकेला छोड़ जाते हैं।

'खाली सीप' कहानी में भी लेखिका ने वृद्ध स्त्री के अकेलेपन की समस्याओं को चित्रित किया है। 'बूढ़ी अम्मा' के आठ बच्चे होने के बाद भी वह पुराने जमाने के साथ खपरैली घर में रहती है। क्योंकि बूढ़ी अम्मा के बेटे-बहू उनसे उपेक्षित व्यवहार करते हैं। बच्चों का बूढ़ी अम्मा के प्रति उपेक्षित व्यवहार का कारण था बूढ़ी अम्मा के पति की जायदाद। बूढ़ी अम्मा के पति ने दो शादियाँ की थीं। इसलिए जायदाद का हिस्सा ठीक से नहीं बँट पा रहा था। एक से तीन बेटे और पाँच बेटियाँ थीं, जबकि दूसरी से एक बेटा। बूढ़ी अम्मा के पति जीते-जी जायदाद का हिस्सा नहीं बाँट सके थे। इसलिए अब उन सबके सामने यह समस्या खड़ी हो गई है। क्योंकि इतनी-सी जमीन के इतने सारे हिस्सेदार थे। बूढ़ी अम्मा की बड़ी बहू कहानी की वक्ता से कहती है, 'अरे आप नहीं समझीं। अगर पिताजी यानी मेरे ससुर जी इस जमीन का बँटवारा कर गए होते तो इन सब भाइयों का अपना-अपना हिस्सा मिल गया होता और कोई झगड़ा झंझट नहीं रहता... लेकिन अब...अम्मा जी को भुगत रहे हैं हम, बाकी सब ऐश कर रहे हैं। जब बँटवारे की बात करो तो आकर खड़े हो जाते हैं छाती पर। जरा-सी जमीन और बीस हकदार।'[4] अपनी सास के प्रति ऐसे विचारों को सुनकर वह सोचती है कि, 'उनके स्वर की कड़ुवाहट उनके मन की सारी पर्तें खोल रही थी। बूढ़ी अम्मा के लिए 'भुगतना' जैसा शब्द सुनकर मुझे बुरा लगा। वैसे, सच पूछा जाए तो हर दूसरे घर का यही रोना है।'[5] वर्तमान समय में बच्चों द्वारा अपने बूढ़े माता-पिता के प्रति उपेक्षित व्यवहार चिंता का विषय है। एकल परिवार होने के कारण संतान अपने पारिवारिक जीवन में वृद्धजनों की उपस्थिति पसंद नहीं करते। उन्हें अपने बूढ़े माता-पिता की सेवा से नहीं अपितु उनकी जायदाद से मतलब होता है। तभी तो बूढ़ी अम्मा की बहू अपने इस प्रकार के मंसूबों को कैसे भी करके पूरा करना चाहती है। यही तो पारिवारिक दाँव-पेंच है जो जीवन को कँटीले तानों-बानों में उलझाकर लहूलुहान करते रहते हैं।

जब बूढ़ी अम्मा से कहानी की वक्ता पूछती है कि अम्मा आराम कर लिया तब बूढ़ी अम्मा कहती है, 'अये बिटिया। अब ई उम्मर में आराम काए को? दो दिना बदरा ऊदे, सो कम्मर पिरान

लगी। अब हमाई ऐसी कि चला-चली की बेरा आए। जो कछू बचो सो और भोग लेऊँ बिटिया।'[5] बूढ़ी अम्मा की बात सुनकर उसका मन उदासी से भर गया। वह सोचने लगी कि इन्हीं के नाम पर इस जमीन का आधा हिस्सा माँगा जा रहा है जो स्वयं जानती है कि अब चला-चली की बेरा है।'[6] मैं बूढ़ी अम्मा को ध्यान से देखने लगी। उनका झुर्रियों-भरा चेहरा, लटके हुए कान, ढीली-ढाली बाँहें, उनके शरीर का एक-एक अंग बुढ़ापे की चुगली कर रहा था। देखा जाए तो उनका शरीर भी धीरे-धीरे उनका साथ छोड़ता जा रहा था। आज इस घर में बूढ़ी अम्मा का अस्तित्व मात्र इतना है कि वह संपत्ति पाने का साधन बनकर रह गई है। एक खोखले सीप की तरह जिसकी चमक अभी मूल्यवान है।'[7] आजकल की संतानों को अपने माता-पिता की संपत्ति से मतलब होता है उनके दुख-तकलीफ से उन्हें कोई सरोकार नहीं है। वह सिर्फ इसलिए उन्हें भुगतते हैं कि उनके जमीन जायदाद उनके हिस्से आ जाए।

ढलती उम्र के साथ जब माता-पिता बूढ़े हो जाते हैं और वो बीमारी या थकावट के कारण कोई कार्य करने या किसी प्रकार की सहायता दे पाने में असमर्थ होते हैं तो परिवार में उनकी स्थिति पालतू कुत्ते से अधिक नहीं होती। सब उनसे दूर भागना चाहते हैं। परमात्मा ने व्यक्ति को जितना जीवन दिया है उससे पहले मृत्यु नहीं आ सकती। मगर ऐसे बुजुर्गों को मृत्यु के इंतजार में दिन गुजारने पड़ते हैं। 'बूढ़ी आँखों के मरते सपने' कहानी की रामरती भी ऐसी ही बुजुर्ग है जिसने अपनी आयु के सत्तर बसंत पार कर लिए है। उसने अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए बीस वर्ष की आयु में बीड़ी लपेटना शुरू कर दिया था। परंतु अब ढलती आयु के साथ हाथों की उँगलियों में पहले जैसी कुशलता नहीं रही। अब उसके हाथ काँपने लगे हैं। आँखों में तंबाकू के कणों के कारण निरंतर आँसू बहने की वजह से धुँधलापन आ गया है। इसी धुँधलेपन के कारण रामरती को सभी आकृतियाँ धुँधली दिखाई देती हैं। पहले वह अकेली बीड़ी लपेटती थी परंतु अब बहू के साथ मिलकर बीड़ी लपेटने का काम करती हैं जिस दिन 'छट्टा' की बीड़ियाँ अधिक निकलतीं, उस दिन बदले में अधिक पैसों की कटौती हो जाती, उस दिन सारी 'छट्टा' बीड़ियों का दोष रामरती की बहू रामरती के माथे पर मढ़ देती थी। बहू झल्लाती हुई रामरती से कहती, 'जब बनाते नहीं बनता है, दिखाई नहीं देता है तो क्यों बनाती हो?[8] बहू के मुँह से ऐसी बातें सुनकर रामरती सोचने पर विवश हो जाती कि एक दिन में हजार-हजार बीड़ियाँ बनाने वाली उसकी उँगलियाँ उसका साथ क्यों नहीं देती हैं? क्या वास्तव में सारा दोष उसी का है। जबकि सच्चाई तो यह थी कि बहू को भी बीड़ी लपेटना स्वयं रामरती ने ही सिखाया था। आज वही बहू उसे दुत्कारती हुई कहती है, 'छोड़ो अम्मा, तुम्हारे बस का नहीं है यह सब। 'यह सब सुनकर रामरती के मन को बहुत पीड़ा पहुँचती पर वह कर भी क्या सकती थी।'[9]

रामरती अपनी अंतिम साँस तक सक्रिय रहना चाहती थी, परंतु बुढ़ापे की उम्र में यह सब बहुत कठिन होता है। उनकी बहुएँ उसे अपने साथ रखना नहीं चाहती है परंतु फिर भी यह सोचकर उसे घर से नहीं निकालती कि उनकी सास कम-से-कम उनके बच्चों को सँभालने और बीस-पच्चीस बीड़ियाँ बनाने का काम तो कर ही लेती है। रामरती की स्थिति को दर्शाते हुए लेखिका लिखती है, 'सच तो यह है कि जीवनभर बीड़ियाँ लपेटने के बाद आज अपनी वृद्धावस्था में वह स्वयं 'छट्टा' बीड़ी बन चुकी है, उसके सपने उसकी आँखों में ही तिल-तिलकर मर रहे हैं। बीड़ियों को उसने अपना पूरा जीवन दिया किंतु बीड़ियों ने उसे कभी अच्छा जीवन नहीं दिया।'[10]

नई पीढ़ी के समक्ष नया भविष्य, नई तकनीक, नई आरामदायक जीवनशैली है परंतु इसका

मतलब यह कतई नहीं है कि जो पुराना है वह पूर्ण रूप से बदल गया। आपा-धापी की जीवनशैली में युवाओं के पास घर के बड़े बुजुर्गों के पास कुछ देर बैठने तक का समय नहीं है। सभी अपनी-अपनी दिनचर्या में व्यस्त रहते हैं। लेखिका शरद सिंह ने अपनी कहानियों में वृद्ध स्त्री के जीवन के एकाकीपन को पूर्ण यथार्थ के साथ चित्रित किया है। भरे-पूरे परिवार के होते हुए भी वृद्ध लोगों का जीवन खाली सीप की तरह हो जाता है जो अंदर से खोखला होने पर भी उसकी चमक मूल्यवान होती है।

संदर्भ

1. शरद सिंह, बाबा फरीद अब नहीं आते, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012 पृ॰ 82
2. वही, पृ॰ 83
3. वही, पृ॰ 84
4. शरद सिंह, छिपी हुई औरत और अन्य कहानियाँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ॰ 130
5. वही, पृ॰ 130
6. वहीं, पृ॰ 131
7. वहीं, पृ॰ 131-132
8. शरद सिंह, पत्तों में कैद औरतें, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2018, पृ॰ 100
9. वहीं, पृ॰ 101
10. वहीं, पृ॰ 105

485/29 Model Town
Near Tikona Park, Rohtak 124001
Mob. 9416283548
ashanehra04@gmail.com

आचार्य केशवदास के काव्यशास्त्रीय सामान्य अलंकार विवेचन में श्रीराम

अशेष उपाध्याय
पूर्व छात्र हिंदी, बरेली कॉलेज, बरेली

हिंदीभाषा काव्यशास्त्र के प्रवर्त्तक और कविशिक्षा के आचार्य केशवदास द्वारा रचि 'कविप्रिया' उनके कवि जीवन की प्राण है। उनका मत है कि इसे प्रतिपल अवलोकित करते हुए पढ़ना और चित्त में मित्रवत् धारण करना चाहिए। यह सुंदर वर्णों से परिपूर्ण रत्नजटिल पदार्थों से युक्त अलंकारों से विभूषित है। जिस प्रकार कवि अपनी प्रिया की रक्षा करता है उसी प्रकार उसको इसे भी आचार्य कवि की प्रिया के रूप में संरक्षित करके सम्मान प्रदान करना चाहिए। कविता, वनिता एवं मित्र को दोष-रहित बनाने तथा काव्य-रचना की शिक्षा के लिए ही उन्होंने इसकी रचना की है। इसमें अलंकारों का व्यापक वर्णन हुआ है। तत्कालीन काव्य-जगत में अपना महत्त्व स्थापित करने के लिए उन्होंने काव्य-शास्त्रीय विवेचना एवं चमत्कार शीलता का आश्रय लेकर भामह, उद्भट, दंडी इत्यादि प्राचीन आचार्यों से प्रभाव ग्रहण किया है। इनके अनुकरण पर ही उनके द्वारा काव्य के विविध पक्षों को भी रस एवं अलंकार के व्यापक वर्णन में समाहित करके दूषण रहित कवित्तों तथा कवि-शिक्षा द्वारा काव्य के संवर्द्धन हेतु हिंदी काव्यशास्त्रीय परंपरा की प्रतिष्ठा की है। 'सुजाति, सुलच्छनी, सुबरन, सरस सुवृत्त' युक्त 'कविता वनिता' की श्रेष्ठता के लिए आभूषणों अर्थात् अलंकारों की प्रतिबद्धता की उद्घोषक 'कविप्रिया' में अलंकारों के दो भेद साधारण अथवा सामान्य एवं विशिष्ट स्वीकार किए गए हैं। सामान्यालंकार के चार प्रकार निर्धारित हैं–वर्ण, वर्ण्य, भूश्री और राजश्री। वर्ण अलंकार के उदाहरण में 'श्वेत वर्णन' में श्रीराम के श्वेत-धवल यश को समस्त जगत का शृंगार माना गया है–

कीने छत्र छितिपति 'कैसोदास' गनपति
दसन, बसन, बसुमति कर्‌यौ चारू है।
बिधि कियो आसन सरासन असमसर,
आसन को कीनो पाकसासन तुषारु है।
हरि करी सेज हरिप्रिया करयो नाकमोती,
हर कर्यो तिलक हरा हूँ कर्‌यो हारु है।
राजा दशरथ सुट सुनौ राजा रामचंद्र,
राबरो सुजस सब जग को सिंगारु है।[1]

छितिपति और गणपति के श्वेत धन, श्वेत दशन, बसन, बसुमती अर्थात्-पृथ्वी, ब्रह्म का आसन, कामदेव का सरासन, इंद्र का श्वेत गज तथा अश्व, हरिप्रिया लक्ष्मी की सेज, नाकमोती, शंकर के तिलक तथा पार्वती के श्वेत हार इत्यादि शृंगार के पदार्थों में इसका श्वेत वर्ण व्यापक रूप विराजमान है। निम्नलिखित कवित्त में भी कवि ने इसी प्रकार स्पष्ट किया है–

देहदुति हलधर कीने निसिकर कर,
जगकर बानी बर, बिमल विचारु है।
मुनिगन मन मानि, दुजनि जनेऊ जानि,
संख संखपानि-पानि सुखद अपारु है।
'कैसोदास' सबिलास बिलसै बिलासिनीन
सुख मुख मृदु हास, उदय उदारु है।
राजा दशरथ सुत सुनौ राजा रामचंद्र,
रावरो सुजस सब जग को सिंगारु है।[2]

देहदीप्ति, चंद्रकिरण, सरस्वती का श्रेष्ठ वेश, विमल विचार मुनि अथवा संतमन, ब्राह्मणों का यज्ञोपवीत, शंख, शंखपाणि विष्णु के हाथ, निलासिनियों की विलास-क्रीड़ा की शोभा, मुख के लिए सुख कारक मृदु हास इत्यादि का श्रीरामचंद्र के उज्ज्वल श्वेत सुयश से ही शृंगार किया गया है। श्वेत वर्ण के वर्णन में केशवदास जी की यह प्रशंसा अविस्मरणीय है। इस संदर्भ में एक और उदाहरण पठनीय है–

नारायन कीनी मनि उर अवदात गुनि,
कमला की बीना भनि सोभा सुभ सारु है।
'केसव' सुरभि केस, सारदा सुदेश बेस,
नारद को उपदेस, विमल विचारु है।
सौनक ऋषि विशेष सीरष सिखानि लेखि,
गंग की तरंग देखि, विमल बिहास है।
राजा दसरथ सुत सुनौ राजा रामचंद्र,
रावरो सुजसु सब जग को सिंगारु हैं।[3]

नारायण के वक्षस्थल की श्वेतमणि, लक्ष्मी की सुंदर शुभ वाणी, सुगंधित केशयुक्त शारदा का श्रेष्ठ श्वेत परिधान, नारद का उपदेश, विमल विचार, शौनक आदि ऋषियों की श्वेत शिखाएँ, गंगा की श्वेत तरंगें एवं निष्पाप विमल बिहार आदि के सौंदर्य का श्रीराम के सुयश के श्वेत वर्ण से ही शृंगार हुआ है। 'कृष्ण वर्ण के वर्णन में भी कवि ने 'श्री रामचंद्र'[4] का स्मरण किया है। इसका उदाहरण इस प्रकार है–

बैरिनि के बहुभाँति देखत ही लागि जाति,
कालिमा कमलमुख सब जग जानी है।
जतन अनेक करि जदपि जनमभरि,
धोवत हू छूटति न 'केसव' बखानी है।
निजदल जागै जोति, परदल दूनी होति,
अचला चलति यह अकन्ह कहानी है।
पूरन प्रताप-दीप-अंजन की राजि राजै,
राजति श्रीरामचंद्र पानि न कृपानी है।[5]

यहाँ पर काजल लगाने में प्रयुक्त श्यामवर्ण की 'कृपानी' को श्रीरामचंद्र के पूर्ण प्रताप रूपी दीपक के अंजन से सुशोभित वरद हस्त के रूप में बताया गया है। इसे देखते ही शत्रुओं के कमल-मुखों पर कालिमा लगना समज जगत में विख्यात है। यह कालिमा अनेक यत्न करके धोने

पर भी नहीं छूटती इसके द्वारा श्रीराम के सैन्यदल में ज्योति जाग्रत होती है, परंतु शत्रुओं के सैन्य दल में इसी कालिमा दुगनी हो जाती है। 'श्वेतकृष्ण मिश्रित वर्णन' में भी इसी प्रकार कहा गया है–

हंसिन के अवटंस रचे रंच कीच करि,
सुधा से सुधारे मठ काँच के कलस सों।
गंगाजू के अंग-संग जमुना तरंग बल-
देव को बदन रस्यो बारुनी के रस सों।
'केसव' कपाली-कंठ-कूल कालकूट जैसें
अमल कमल अलि सोहै ससि सम सों।
राजा रामचन्द्रजू के त्रास बस भारे भूप,
भूमि छाँड़ें भागे फिरें ऐ अपजस सों।[6]

राजा रामचंद्र जी के 'त्रास' के कारण बड़े शक्तिशाली राजा पराजय के कारण अपने राज्य से पलायन कर गए। उनका श्वेत कृष्ण शिरोभूषण श्यामल कीच के किनारे से युक्त हंस के रूप में प्रतीत होता है। यह चूना अथवा सफेदी से सुधारे गए मठ में श्याम वर्ण के किनारों से युक्त काँच के कलश के समान है। उनके अंग श्वेत वर्ण की गंगा के साथ तरंगित श्यामलवर्ण की यमुना जैसे प्रतीत होते हैं। बलदेव के श्वेतवदन से प्रस्रबित बारूणी के रस, शंकर के कृष्ण कंठ के किनारों पर चमकते हुए कालकूट, श्वेत कमल के भीतर स्थित कृष्णवर्ण के भ्रमर तथा चंद्रमा के भीतर स्थित कृष्ण वर्णीय शशक अर्थात् खरगोश जैसा स्वरूप अत्यंत प्रभावशाली है। कृष्ण-लोहित वर्ण अथवा धूम्रवर्ण के संदर्भ में श्रीराम की चतुरंगिणी सेना का उदाहरण अवलोकनीय है–

राघव की चतुरंग चमू बहुधूरि उठी जल हू थल छाई।
मानौ प्रताप हुतासन धूम सु 'केसवदास' अकास न माई।
मेटि के पंच प्रभूति किधौं विधि रेनुमई नव रीति चलाई।
दुख्ख-निवेदन कौं भव-भार को भूमि मनौ सुरलोक सिधाई।[7]

'राघव' श्री राम का पर्यायवाची शब्द है। इसे 'रामचंद्र चंद्रिका' में 'रामाश्वमेध वर्णन' में भी यथासंदर्भ प्रस्तुत किया गया है। इसमें अयोध्या नरेश श्रीराम की सेना द्वारा अश्वमेघयज्ञ की पूर्णता हेतु किए गए सैन्य अभियान का वर्णन है। युद्धोत्साह पूर्ण सेना के अग्रसर होने के कारण उड़ती हुई धूम्रवर्णी धूल ऐसी प्रतीत होती है जैसे श्रीराम के प्रताप की अग्नि का धुआँ आकाशमंडल में परिपूर्ण हो गया है। यह भी संभावित है कि ब्रह्मा ने पंचतत्त्व भूमि, जल, अग्नि, गगन एवं वायु युक्त सृष्टि के उपरांत धूम्रवर्णी रेणु से निर्मित नई रीति का प्रचलन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि धूल के धूम्रवर्णी रूप में पृथ्वी सेना से भयभीत होकर अपना कष्ट निवेदन करने की इच्छा से देवकृपा की प्राप्ति के लिए भूलोक से स्वर्गलोक चली गई है। यह धूम्रवर्णी धूल उसी का प्रमाण है। आचार्य केशवदास ने आकृति एवं गुणों के वर्णन के अनुसार मुख्य रूप से अट्ठाइस 'वर्ण्यालंकार स्वीकार किए हैं। इनके नाम हैं–संपूर्ण, आवर्त्त, कुटिल, त्रिकोण, सुबृत्त, तीक्ष्ण, गुरु, कोमल, कठोर, निश्चल, चंचल, सुखद, दुखद, मंदगति, शीतल, तप्त, सुरूप, क्रूरस्वर, सुस्वर, मधुर, अबल, बलिष्ठ, साँच, झूठ, मंडल, जाति, सदागति तथा दानी। इनमें उन्होंने 'बलिष्ठ' के वर्णन में रावण के कृत्यों का वर्णन करते हुए श्रीराम का उल्लेख किया है।[8] 'साँच-झूठ' में समस्त संसार को झूठ और 'अदिष्ट हरि'[9] को सत्य मानते हुए बताया है–

हाथी न साथी न घोरे न चेरे न गाँउ न ठाँउ को नाँउ बिलै है।

तात न मात न पुत्र न वित्त न अंगऊ संग न रैहै।
'केसव' काम कौं राम विसारत और निकाम न कामहि ऐहै।
चेतरे चेत अजौं चित-अंतर अंतक-लोक अकेलो ही जैहै।[10]

श्रीराम 'अदिष्ठ ब्रह्म के रूप में सगुण स्वरूपाकार बनकर अवतरित परब्रह्म हैं। यह छंद 'रामचंद्र चंद्रिका' के अंगद रावण संवाद में भी उपलब्ध है। इसमें 'हाथी,' साथी, अर्थात् सहकर्मी, घोड़े, 'चेरे', अर्थात्, सेवक, 'गाँव-ठाँव' इत्यादि इस नश्वर संसार में विलीन हो जाएगा। यही नहीं भाई, माता, पुत्र, मित्र और न स्त्री ही साथ में रहेगी अर्थात् समयानुसार इनका भी विनाश हो जाएगा। इस स्थिति एक मात्र श्रीराम ही साथ देंगे अत: उन्हें भूलना उचित नहीं है। यदि असावधानी और भोग-विलास के वशीभूत श्रीराम का भजन नहीं किया गया तो हे मूर्ख मनुष्य तुझे यम-लोक में अकेला ही जाना पड़ेगा। इन पंक्तियों में अंगद द्वारा रावण को श्रीराम की शरण में जाने का उपदेश देकर उसे वैराग्य की ओर प्रेरित करने का प्रयास भी किया गया है। 'साँच-झूठ' एक अन्य उदाहरण भी पठनीय है–

अनही ठीक को ठग, जानै न कुठौर ठौर
ताही पै ठगावै ढेलि जाही कों ठगतु है।
जाके तौ डर निडरे डग न डगत डरि,
डर के डरनि डगि डोंगी ज्यों डगतु है।
ऐसे बसबास तें उदास होहिं कैसो दास'
काहे को न भजै कहि काहे को खबातु है।
झूठो रे झूठो जगराम की दुहाई काहू
साँचे को बनायो तातें साँचो से लगतु है।[11]

उचित अनुचित का ज्ञान किए बिना असत्यपूर्वक छल-प्रपंच से ग्रस्त व्यक्ति से छल प्रपंच कराना, वास्तविकता प्रकट होने के भय से निर्भय होकर चलने में असमर्थ रहना और तीव्र जल धारा में छोटी नाव के समान डगमगाने की प्रवृत्ति के साथ भोग-विलास में संलिप्तता असत्य प्रियता के लक्षण हैं। ऐसी स्थिति में उदास होने की आवश्यकता नहीं है। श्रीराम की दुहाई देकर यही कहना उचित प्रतीत होता है कि इस झूठे संसार को सत्यस्वरूप परमेश्वर द्वारा बनाया गया है, इसीलिए सत्य जैसा प्रतीत होता है। 'वर्ण्यालंकार' के 'दानवर्णन' में 'रामजू को दान' में केशवदास ने लिखा है–

पूरन पुरान अरु पुरुष पुराने परि-
पूरन बतावैं न बताबैं और उक्ति कों।
दरसन देत जिनि दरसन समझें न
नैति नेति कहैं वेद छाँड़ि और जुक्ति को।
जानि यह 'कैसोदास' अनुदिन राम राम,
रटत रहत न डरत पुररुक्ति कों।
रूप देइ अनिमाहि, गुन देह गरिमाहि,
महिमाहि देहभक्ति नाम देह मुक्ति कों।[12]

प्राचीन ऋषि-मुनि एवं पुराणग्रंथ श्रीराम को किसी अन्य उक्ति का आश्रय नहीं लेकर एक मात्र सर्वविधि संपूर्ण पुरुष के रूप में ग्रहण करते हैं। वे सदैव अपने भक्तों को दर्शन देते हैं, फिर भी दार्शनिक ग्रंथ आदि इनके वर्णनातीत स्वरूप को समझने में असमर्थ हैं। इस संदर्भ में वेदों के

द्वारा अन्य उक्तियों का परित्याग करके 'नेति-नेति' का निर्वचन ही स्वीकार किया गया है। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को ग्रहण करके केशवदास जी काव्यशास्त्र के पुनरुक्ति दोष की चिंता से विचलित हुए बिना रात-दिन रामनाम रटते रहते हैं। उनके रूप का स्मरण अणिमा अर्थात् लघु रूप ग्रहण करने, गुणों का स्मरण गुरुता अर्थात् महत्त्व प्रदान करने, भक्तिभाव विशाल रूप ग्रहण करने तथा नाम का स्मरण मुक्ति अर्थात् जीवन-मृत्यु से मोक्ष नामक सिद्धि प्रदान करता है। श्रीराम की 'दानकथा' बानरसमूह, विभीषण और अयोध्या के 'सूकर कूकर' को महादेव, हनुमान तथा सनकादि ऋषियों को प्राप्त सद्गति के समान सद्गति प्रदान करने के कारण अद्भुत रस से परिपूर्ण है।[13]

केशवदास जी ने 'भूमि भूषण-वर्णन' में देस, नगर, बन, बाग, गिरि, आश्रम, सरिता, ताल, रवि, ससि, सागर, भूमि के भूषण तथा रितु सबकाल' के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इनमें 'गिरि वर्णन' में उन्होंने श्री राम के भय से व्याकुल 'अरिकुल' का वर्णन इस प्रकार किया है–

रामचंद्र कीने तेरे अरिकुल अकुलाइ,
मेरु के समान आन अचल धरीनि में।
सारो सुक हंस पिक कोकिला कपोट मृग,
'कैसोदास' कहूँ हय करभ करीनि में।
डारे कहुँ हार टूटे राते पीरे पट छूटे,
फूटे हैं सुगंध घट श्रवत तरीनि में।
देखियत सिखर सिखर प्रति देवता से,
सुंदर कुँवर अरु सुंदरी दरीनि में।[14]

सुमेर पर्वत के समान ऊँचे महलों में रहने वाले राज परिवार श्रीराम के शत्रु भय के कारण आत्मरक्षा के लिए पर्वतों में घर बनाकर जंगली पशुओं में निवास हेतु विवश हो गए हैं। पर्वतों की ओर पलायन करते समय उनके कंठ में धारण करने वाले मूल्यवान आभूषण टूट गए और लाल-पीले वस्त्र छिन्न-भिन्न हो गए हैं। सुगंधित घर टूट कर पर्वतों की तलहटी में प्रवाहित हो गए हैं। राज-भवनों के उच्च शिखरों पर देवी-देवताओं के समान सुशोभित सुंदर राजकुमार और राजकुमारियाँ पर्वतों की गुफाओं में दृष्टिगोचर होते हैं। 'राज्यश्री-भूषण वर्णन', में राजा, रानी, राजसुत, प्रोहित, दलपति, दूत, मंत्री, पयान, गय, हय, संग्राम, आखेटक, जलकेलि, विरह, स्वयंवर, भूषित और सुखादि की गणना की गई है। 'राजा वर्णन' में केशवदास जी ने श्रीराम को सर्वोत्तम राजा मानकर उनकी राजनीति की प्रशंसा करते हुए घोषित किया है कि समस्त दिशाओं में विजयी होने पर भी उनकी राजनीति में 'द्विज और दीन' अजेय रहते हैं।[15] उन्होंने सलज्ज सुबुद्धि-निधान, सुंदरि, सुखद, पतिब्रता, शुचि रुचि से युक्त शीलगुण संपन्न सीता की 'राजा रामचंद्र जू से राजत न अनुकूल सीता सी पतिब्रता नारी'[16] कहकर प्रशंसा की है। यहाँ यह स्मरणीय है कि विद्या, विविध विनोद युक्त सुंदर, सर्वशक्तिमान, (विभु) शूर, उदार, शील सहित आचारपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख 'राजकुमार वर्णन' में किया गया है। इसके उदाहरण में श्रीराम का वर्णन लक्ष्मण के साथ हुआ है। इसमें उन्हें दानशीलता के उत्तम गुणों से परिपूर्ण, शत्रुओं से दंड के रूप में दान ग्रहण की प्रवृत्ति से युक्त, दानवारि अर्थात् दानवों के शत्रु विष्णु के समान दानवों के संहारकर्त्ता मन, वचन और कर्म से सज्जनों के स्वभाव से युक्त, 'परदारप्रिय' अर्थात्, पृथ्वी एवं लक्ष्मी तथा जनकपुरी की अन्य स्त्रियों के लिए प्रिय, विदेहराज राजा जनक के समान राजा दशरथ के पुत्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[17] 'पुरोहित' को राजहितकारक, वेदवित, सत्यशील, 'शुचि-अंग', उपकारी, ब्रह्मन्य, निष्कपट

एवं जितेंद्रिय होना चाहिए। केशवदास जी ने श्रीराम के पुरोहित व शिष्टजी को श्रेष्ट पुरोहित का सम्मान प्रदान किया है। इनके आशीर्वाद ही श्रीराम के धन-धर्म-धाम और प्रसन्नता की वृद्धि हुई है–

कीनो पुरहूह मीत, लोक लोक गाए गीत,
पाए जु अभूतपूत, अरिउर बास है।
जीते जो अजीत भूप देस देस बहुरूप,
और को न कैसोदास बल को बिलास है।
तोर्‌यो हर को धनुष नृपकुल गौ-विमुख,
देख्यो जु बधू को मुख सुषमा को बास है।
ह्वै गए प्रसन्न राम, बाढ़ो धन धर्म धाम,
केवल वशिष्ठ के प्रसाद को प्रकास है।।[18]

अपने राज्य के तेज को बढ़ाते हुए शत्रु के हृदय में क्षोभ या व्याकुलता उतपन्न करने की क्षमता 'दूत' का लक्षण है। उसे लोभरहित होकर इंगित मात्र से समयानुसार ज्ञातव्य प्राप्त करने में सक्षम होना चाहिए। श्रीराम के 'दूत' काम, क्रोध, लोभ, मोह, क्षोभ, मदविहीन और शत्रु-मित्र को पहचान करने की सामर्थ्य युक्त हैं। ये देशकाल के अनुसार बुद्धि-बल के उपयोग में परमप्रवीण हैं। इन्हें श्रीराम ने विभिन्न देशों में विद्यमान 'अरिदल' पर दृष्टि रखने के लिए ही दृष्टिबल प्रदान किया हैं।[19] सेना का 'प्रयाण' चँवर, पताका, छत्र छवि तथा बहुत सी दुंदुभियों की तीव्र ध्वनि से परिपूर्ण जल-थल में 'भूवकंप' के साथ धूलि से परिपूर्ण होना चाहिए। इस संदर्भ में श्रीराम की सेना की श्रेष्ठता प्रशंसनीय है। उसने मुद्रित सप्त समुद्रों में अपनी मुद्रा मुद्रित रूप में स्थापित करके दस दिशाओं में विजय प्राप्त करने के उपरांत राजधानी में प्रवेश किया है।[20] 'हय वर्णन' या अश्ववर्णन में तरल, तताई, तेजगति, मुखसुख, सुंदर और सुलक्षण युक्त विशेष अश्व के बताए गए हैं। श्रीराम इसी प्रकार के मन के मीत, समीर के समान वीरवाहन, गुनगुन वलित, ललित गति के सुंदर अश्वों को दीन-जनों को दान करते थे।[21] गजवर्णन में मत्त, महावत से अनुशासित, मंदगति, मुक्तामय, सुन्दर, सुवर्ण हाथी के लक्षणों का वर्णन हुआ है। इन लक्षणों से युक्त 'विंध्य के बाँधव, कलिदं नंद से अमंद उदैगिरि' के समान गजराज श्रीरामचंद्र के द्वार पर सुशोभित होते थे।[22] 'संग्राम वर्णन' में सेना, सहासपूर्ण, सशस्त्र प्रहार, अंग-भंग, संघट्टभट अर्थात्, युद्ध तथा रुधिरमय सरिता, समुद्र, सरोवर, एवं भूमि का भयानक रूप वर्णित है। इसके उदाहरण में श्रीराम के परिवार की 'समर-सिंधु' विजय का वर्णन कवि ने किया है–

सोनित सलिल नर बानर सलिलचर,
गिरि हनुमंत विष विभीषन डार्‌यो है।
कँवर पताका बड़ी बाड़वा अनल सम,
रोग रिपु जामबंत 'केसव' विचार्‌यो है।
बाजि, सुरबाजि, सुरगज से अनेकगज,
भरत सबंधु इंदु अंमृत निहार्‌यो है।
सोहत सहित सेष रामचंद्र कुसलव
जीति के समर-सिंधु साँच ही सुधार्‌यो है।[23]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य केशवदास जी ने मध्यकालीन धार्मिक आस्था एवं मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के उदात्त लोकपावन स्वरूप को 'कविप्रिय' में अपनी चमत्कार प्रदर्शक

प्रतिभा के द्वारा काव्य-शास्त्रीय 'सामान्य अलंकार विवेचन में उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करने सफल प्रयास किया है। उनके द्वारा काव्य-रचना को लोकप्रिय और निर्दोष बनाने के लिए भी श्रीराम का आश्रय उदाहरणों में लेकर काव्य-रचना की शिक्षा एवं उचित समझ विकसित करने की तत्परता का विचार सर्वथा प्रशंसनीय है। इस प्रकरण में उनकी अलंकार्य एवं अलंकार में अभेद-दर्शन की मान्यता के कारण वर्ण, वर्ण्य, भूश्री, राज्यश्री आदि की विवरणमूलक वर्णन विधि सामान्यालंकार में वर्णन से भी पर्याप्त सुविधा प्राप्त हुई है।

संदर्भ

1. केशवास, कविप्रिय, केशव ग्रंथावली, संपादक-विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिंदुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश इलाहाबाद, 1990 ई॰, छंद संख्या 5/10, पृ॰-112, 113
2. वही, छंद संख्या-5/11, पृ॰ 113
3. वही, छंद संख्या-5/12, पृ॰ 113
4. वही, छंद संख्या-5/21, पृ॰ 114
5. वही, छंद संख्या-5/26, पृ॰ 115
6. वही, छंद संख्या-5/27, पृ॰ 115
7. वही, छंद संख्या-5/35, पृ॰ 116
8. वही, छंद संख्या-6/54, पृ॰ 126
9. वही, छंद संख्या-6/55, पृ॰ 126
10. वही, छंद संख्या-6/56, पृ॰ 126
11. वही, छंद संख्या-6/57, पृ॰ 127
12. वही, छंद संख्या-6/71, पृ॰ 130
13. वही, छंद संख्या-6/72, पृ॰ 130
14. वही, छंद संख्या-7/9, पृ॰ 133
15. वही, छंद संख्या-8/5, पृ॰ 139
16. वही, छंद संख्या-8/8, पृ॰ 140
17. वही, छंद संख्या-8/10, पृ॰ 140
18. वही, छंद संख्या-8/12, पृ॰ 141
19. वही, छंद संख्या-8/16, पृ॰ 141
20. वही, छंद संख्या-8/24, पृ॰ 143
21. वही, छंद संख्या-8/26, पृ॰ 143
22. वही, छंद संख्या-8/28, पृ॰ 143
23. वही, छंद संख्या-8/31, पृ॰ 144

अशेष उपाध्याय
द्वारा श्रीमती रजनी उपाध्याय
197/199, **डॉक्टर्स कॉलोनी**
सिविल लाइंस, बरेली
asheshupadhyaya@gmail.com

गुरु तेगबहादुर : युगचिंतक

डॉ॰ हरजिंदर कौर

श्री गुरु नानक मध्ययुगीन भारतीय इतिहास में एक महान चिंतक, प्रगतिशील समाज-सुधारक और प्रसिद्ध लोकनायक के रूप में जाने जाते हैं। इन्होंने मध्यकालीन भारतीय धर्मसाधना को एक नया मोड़ प्रदान किया। इनके स्पष्ट और सुव्यवस्थित चिंतन ने भारतीय जनमानस में नव चेतना को पैदा किया। इस प्रकार उनके धार्मिक चिंतन ने लोगों में नवचेतना का संचार किया था। इन्होंने बहु-देववाद, मूर्तिपूजा, व्रत-उपवास आदि बाह्याडंबरों का तर्कपूर्ण शैली में खंडन किया, इन्होंने धर्म के सहज और सामान्य रूप को उजागर किया और प्रभु-भक्ति के लिए बाहरी पूजा-आचार और घर छोड़, वेश-बदलकर संन्यासी बनने की प्रवृत्ति को स्वीकार नहीं किया। ये एक क्रांतिकारी समाज निर्माता भी थे। इन्होंने 'स्त्री' को समाज में विशेष और महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी घोषित किया। स्वयं उच्च वर्ग से संबंधित होने पर भी निम्नवर्ग को ऊपर उठाने की सफल कोशिश की। इन्होंने जातिगत कट्टरता और धार्मिक संकीर्णता की खुलकर आलोचना की और मानवतावादी विचारों का प्रचार किया।

गुरु नानकदेव जी द्वारा शुरू की गई आध्यात्मिक परंपरा के उत्तराधिकार में नौवें गुरु तेग बहादुर साहिब (1621-1675) को धार्मिक स्वतंत्रता के धारक के रूप में जाना जाता है। श्री गुरु नानक के चिंतन का अनुगमन और अनुसरण श्री गुरु तेगबहादुर जी ने भी किया। श्री गुरु तेगबहादुर का जन्म अमृतसर शहर में 1 अप्रैल सन् 1631 ई॰ को हुआ। इनके पिता का नाम के श्री गुरु हरगोबिंद था जिन्होंने अपने पिता गुरु अर्जुन की शहादत के पश्चात् अपने अनुयायियों को शस्त्रबद्ध किया था। गुरु साहिब की माता का नाम नानकी जी था जो परोपकार और दया की प्रतिमूर्ति थी। अपने माता-पिता का बालक गुरु तेगबहादुर पर विशेष प्रभाव पड़ा था।

गुरु तेग बहादुर साहिब को अपनी दृष्टि या विश्वदृष्टि अपने पूर्ववर्ती गुरुओं से विरासत में मिली थी। वे नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों की उसी प्रणाली के पक्ष में थे जिस पर पिछले गुरुओं ने जोर दिया था। फिर भी, श्री गुरु ग्रंथ साहिब में निहित उनकी रचनाओं की अपनी एक पहचान है कि कैसे सिख दर्शन में कुछ तत्त्वों पर जोर दिया जाता है और उन्हें ध्यान में लाया जाता है। एक पूरे के रूप में, उनके भजन एक केंद्रीय, एकीकृत विषय प्रस्तुत करते हैं: मनुष्यों की एक सुसंगत और गतिशील दृष्टि, प्रकृति के एक हिस्से के रूप में उनकी दुर्दशा, इस दुर्दशा से बाहर निकलने का तरीका, और अद्वितीय आध्यात्मिक प्रकृति के परिणामी जागरूकता जो उनके भीतर है। इस तरह, गुरु मनुष्य को दुनिया के साथ अपने संबंधों को फिर से परिभाषित करने और उन्हें आध्यात्मिक रूप से विकसित करने में मदद करते हैं। इसके परिणामस्वरूप, मनुष्य अपने मन को आत्म-इच्छा के सीमित क्षेत्र से परे प्रोजेक्ट करने में सक्षम होंगे ताकि वह सत्य का हिस्सा बन सके और ईश्वर की इच्छा का पालन कर सके। गुरु तेगबहादुर जी का भजन जीवन को अर्थहीनता और भय से मुक्त करने, मानव चेतना को विस्तार देने और सजीव करने, और सर्वमुक्तिदायक, सदा-अस्तित्व

 ISSN 0975-735X

सत्य की महिमा के लिए उनकी आंतरिक आँखें खोलने का प्रयास करता है।

श्री गुरु तेगबहादुर ने भाई बुड्ढा और भाई गुरदास से पंजाबी और ब्रज भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। इन्होंने साहित्य दर्शन आदि विषयों का गहन अध्ययन किया। इन्हें शास्त्र-विद्या सिखाने वालों में योद्धामल और बाबक उल्लेखनीय हैं। गुरु साहिब बाल्य अवस्था से ही परमात्मा चिंतन में लीन रहते थे। इसी तरह इनके ब्राह्मणों की धार्मिक आजादी के रक्षार्थ प्राणों के बलिदान के बारे में श्री गुरु गोबिंद सिंह ने लिखा है–

तिलक जंजू राखा प्रभु ताका। कीनो बडो कलू में साका।
धर्म हेतु साका जिनि कीआ। सीसु दीआ पर सिररु न दीआ।

श्री गुरु तेग बहादुर के अमर बलिदान ने न केवल सिक्खों में नई चेतना को जाग्रत किया बल्कि विभिन्न धर्मों के लोगों में एक-दूसरे के धर्म के प्रति आदर भाव दिखलाने की प्रेरणा भी प्रदान की। गुरु साहिब के धर्म और न्याय के लिए स्वेच्छा से दिए गए बलिदान को देखकर भारतीयों ने इन्हें हिंद की चादर की उपाधि से सम्मानित किया।

श्री गुरु तेग बहादुर के विलक्षण व्यक्तित्व के बारे में डॉ॰ पद्म गुरचरण सिंह लिखते हैं, गुरु तेगबहादुर के बहुमुखी व्यक्तित्व में पूर्ण गुरु, अद्वितीय धर्म रक्षक और महान कवि के समस्त गुण सहज रूप में मिलते हैं। इन्होंने पूर्ण गुरु के रूप में अपने शिष्यों को सुसंगठित और सशक्त बनाया, एक अद्वितीय धर्म रक्षक के रूप में अपने धर्म के लिए ही नहीं अपितु हिंदु धर्म के रक्षार्थ प्राणोत्सर्ग किया और एक महान कवि के रूप में ऐसी अमर वाणी का प्रणयन किया जिसने भारतीयों में धैर्य, निडरता, आत्मविश्वास आदि भावों को उजागर किया।

श्री गुरु तेगबहादुर की समस्त वाणी श्री गुरुग्रंथ साहिब में अपने प्रामाणिक रूप में संकलित है। श्री गुरु गोबिंद सिंह ने श्री ग्रंथ साहिब के गुरु पद पर सुशोभित करने से पूर्व गुरुग्रंथ साहिब में संकलित किया था। श्री गुरुग्रंथ साहिब में गुरु तेगबहादुर की वाणी महला नौवां के अन्तर्गत सुरक्षित है। इन्होंने 15 रागों से 56 पदों और 57 श्लोकों का प्रणयन किया। इन्होंने 'श्री गुरु ग्रंथ साहिब' के 31 रागों में से 15 रागों में वाणी रची है।

श्री गुरु तेगबहादुर ने श्री गुरु नानकदेव जी की महान विचारधारा को ही अपने चिंतन का आधार बनाया था। डॉ॰ हरिभजन सिंह का भी यही मत है कि श्री गुरु तेगबहादुर ने श्री गुरु नानक देव जी द्वारा स्थिर की गई सैद्धांतिक विचारधारा का अनुसरण बड़ी निष्ठा के साथ किया। इनकी वाणी का महत्त्व उसकी भाव-प्रणवता के कारण है, मौलिक तत्त्व चिंतन के कारण नहीं।' हमारे विचार से गुरु कवि के विचारों में मौलिकता भी है क्योंकि काव्य में मौलिकता से अभिप्राय दृष्टिकोण और विवेचन की नवीनता से होता है। अत: गुरु कवि द्वारा विचारों के प्रस्तुतिकरण और चिंतन के विभिन्न पक्षों पर विशिष्ट बल दिए जाने में ही इनकी मौलिकता है।

श्री गुरु तेगबहादुर ने भारतीय चिंतन में अपना बहुमूल्य योगदान दिया है। भारतीयों में एकत्व की भावना लाने के लिए उन्होंने परम तत्त्व को मात्र एक माना है। वह पुरुष-रूप है। वही सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। गुरु कवि के शब्दों में–

जन नानक सभ ही मै पूरन। एक पुरख भगवान। –(रागु वसंत हिंडोल)

तथा–

बाहरि भीतरि एको जानहु।

श्री गुरु तेगबहादुर जी ने परमात्मा को मात्र एक और पुरुष की संज्ञा से अभिहित करके

भारतीयों में अनेक देवी देवताओं की उपासना को निरर्थक घोषित किया। एक परमात्मा की अराधना से इनके अनुयायियों में संगठन की भावना और समृद्ध हुई तथा उनमें परस्पर प्रेम और भ्रातृ-भाव की भावना का संचार हुआ।

श्री गुरु तेगबहादुर ने अपने जगत-संबंधी विचारों के द्वारा भी भारतीय चिंतन को और अधिक समद्ध किया उन्होंने परमात्मा के द्वारा जगत का निर्माण माना है लेकिन यह जगत पानी के बुलबुले की तरह नश्वर है यथा–

जैसे जल ते बुदबुदा उपजै विनसै नीत।
जग रचना तैसे रची कहु नानक सुनि मीत।

(सलोकु: 25)

श्री गुरु तेगबहादुर ने जगत को मिथ्या सोद्देश्य कहा है। इन्होंने यह स्वयं देख लिया था कि लोग संसार के पदार्थों को सत्य तथा वास्तविक मानकर अधिक महत्त्व देने लग पड़े थे जबकि सच्चे अर्थों में राम नाम को भुला दिया गया था। ईश्वर की भक्ति में लोगों को पुन: लगाने के लिए, इन्होंने संसार और उसके पदार्थों की असत्यता एवं अस्थिरता को बारम्बार दोहराया है। इसी विचार को इंगित हुए गुरु कवि कहते हैं–

राम गइओ रावनु गइओ जा कउ बहु परवार।
कहु नानक थिरु कछु नहीं सुपने जिउ संसार।

(सलोकु 50)

गुरु जी ने अपने सामाजिक चिंतन में गुरु आदर्श मनुष्य का संकल्प प्रस्तुत किया है जोकि उनके शब्दों में इस प्रकार है–

जो नरु दुख मैं दुखु नहीं माने।
सुख सनेहु अरु भै नहीं
जा के कंचन माटी मान।

गुरु साहिब ने आदर्श मनुष्य की अवधारणा के अंतर्गत उसे विभिन्न परिस्थतियों में समत्व धारण करने वाला कहा है। उसे सुख-दुख, लोभ-मोह, निंदा-स्तुति और हर्ष-शोक का भय नहीं रहता है। वह सांसारिक काव्य-व्यापार करता हुआ सांसारिक मोह-बंधन के पाश से अप्रभावित रहता है। ऐसे आदर्श व्यक्ति के हृदय में परमात्मा निवास करता है। आजकल के द्वंद्व ग्रसित मानव समाज को संतुलन प्रदान करने की दिशा में यह आदर्श मनुष्य की संकल्पना बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। धार्मिक पक्ष के अंतर्गत भी श्री गुरु तेगबहादुर के विचारों का योगदान है। उन्होंने महान अवतारों के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए, परमात्मा के निराकार, निरंजन और अलख रूप को ही सर्वाधिक मान्य कहा है। इन्होंने पौराणिक पात्रों द्वारा प्रभु-प्राप्ति का वर्णन भी अनेक बार किया है। वस्तुत: इसका उद्देश्य नए-नए शिष्यों में धर्म का प्रचार और प्रसार करना ही था। इन्होंने सच्चे धर्म के लिए सदाचरण को अधिक महत्त्व दिया है। इन्होंने नैतिक आचरण के अंतर्गत संयम, धैर्य, निर्भयता, सहनशीलता समदर्शिता आदि पर अधिक बल दिया है। इस संदर्भ में निम्न पंक्तियाँ अवलोकनीय है–

सुख दुख दोनों सम करि। जाने अउरु मानु अपमाना।
हरख सोग ते रहे अतीता, तिनि जगि ततु पछाना।

(राग गउड़ी)

श्री गुरु तेगबहादुर जी ने अपने जीवन में ही देख लिया था कि भारत का प्रत्येक नागरिक न केवल विदेशी शासकों के अत्याचार से भयभीत था। बल्कि उसमें साहस की कमी होने के साथ-साथ (रागु सोरठि पद-11) भौतिक सुखों को भी अधिक महत्त्व देना आरंभ कर दिया था। इतना ही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार से ग्रसित था। वह भ्रष्टाचार जैसी कुवृत्तियों में फँसा था। गुरु जी ने ऐसी विषम सामाजिक परिस्थिति में सबसे घोषित किया और लोगों को सच्चे प्रभु की आराधना करने का परामर्श दिया। इतना ही नहीं, मानव के अधिकारों की रक्षा के लिए बलिदान करने की भावना को सर्वोच्च मानवमूल्य स्वीकारा गया। इस प्रकार गुरु साहिब ने निम्न पंक्तियों द्वारा सामाजिकों में निर्भयता और बलिदान की भावना भरने के लिए ही ऊँचे स्वर से घोषित किया–

भे काहू कउ देत नहि नहि में मानत आनि।
कहु नानक सुनि रे मना गिआनी ताहि बखानि।

(सलोकु, 61)

गुरु तेगबहादुर जी ने अपने सहज ज्ञान के माध्यम से भक्ति और कर्म का सामंजस्य प्रस्तुत किया। इनका स्पष्ट कथन है–

निज करि देखिओ जगतु मैं। को काहू को नाहिं।
नानक थिर हरि भगति है। तिह राखो मन माहिं।।

निष्कर्ष–श्री गुरु तेगबहादुर जी के दार्शनिक, धार्मिक और सामाजिक चिंतन के विश्लेषण के उपरांत यह निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि गुरु जी ने अपने युग के चिंतन को बहुमूल्य योगदान दिया है। उन्होंने माया-ग्रसित संसार से अलिप्त रहने की बात कही है परंतु उन्होंने संसार को छोड़कर संन्यास धारण करने की प्रवृत्ति को अनुचित बतलाया है–

काहे रे बन खोजन जाई।
सरब निवासी सदा अलेपा तो ही संग।

श्री गुरु तेगबहादुर जी कालीन अधिकांश संत-महात्मा, समाज कल्याण की अपेक्षा प्रभुभक्ति पर अधिक बल देते हैं। परंतु गुरु कवि ने तत्कालीन समाज में व्याप्त भीरूता के भावों को समूल नष्ट करने के लिए जयघोष किया–'भै काहू को देत नहिं नहिं भै मानत आनि।'

समग्रतः श्री गुरु तेगबहादुर जी का मध्यकालीन भारतीय चिंतन में योगदान बहुमूल्य कहा जा सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

संदर्भ

1. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की संत परंपरा, (संवत् 2008वि॰), पृ॰ 336
2. गुरु गोबिंद सिंह, दशम ग्रंथ, विचित्र-नाटक, अध्याय-7
3. डॉ॰ तारन सिंह, गुरु ग्रंथ साहिब जी दा साहित्यिक इतिहास, (1663), पृ॰ 437
4. डॉ॰ त्रिलोचन सिंह, गुरु तेगबहादुर, प्रोफैट एंड मारकीट (1675 ई॰)
5. डॉ॰ पदम गुरचरन सिंह, गुरु तेगबहादुर, जीवन चिंतन व कला (1676)
6. डॉ॰ मनमोहन सहगल, गुरु ग्रंथ साहब, एक सांस्कृतिक सर्वेक्षण (1671)
7. डॉ॰ हरिभजन सिंह, गुरुमुखी लिपि में हिंदी काव्य (1663)

C/o Amar Industries, Cheel Mandi,
Amritsar 143001(Punjab)
Mob.7986204871
harjindersoni19@gmail.com

मृदुला गर्ग के उपन्यास 'चित्तकोबरा' में व्यक्त स्त्री का स्वतंत्र अस्तित्व

डॉ॰ रश्मि कुमारी, एसो॰ प्रोफेसर, शोध निर्देशिका, हिंदी विभाग
कु॰ मायावती राज॰ महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बाहलपुर, गौतमबुद्ध नगर (उ॰प्र॰)
क्षमा वर्मा, शोधार्थी हिंदी विभाग,
चौधरी चरणसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ (उ॰प्र॰)

प्रस्तावना–वर्तमान समय स्त्री की क्षमता और योग्यता का परिचायक है। नारी की युवा पीढ़ी में अपने भविष्य को लेकर जागृति परिलक्षित होती है। अपने भविष्य को लेकर वे चिंतित हैं और अब तो हर स्त्री का उसका परिवार भी साथ दे रहा है। इन सारी स्थितियों को ही महिला कथाकार अपने लेखन के केंद्र में रख रही हैं। इन लेखकों का स्वर नारी समस्या तथा नारी जीवन की विभिन्न विडंबनाओं को व्यक्त करता है। इन्होंने नारी के स्वतंत्र अस्तित्व एवं उसकी घुटन एवं मानसिक संघर्ष को अपने साहित्य में अभिव्यक्ति दी है।

अपने अनुभव वृत्त में नई कहानियों के दौर से लेकर अब तक जितने सशक्त रूप से मृदुला गर्ग ने लिखा उतना सशक्त संभवत: और लेखक नहीं लिख सकते थे। संबंधों के सत्य पर लिखे हुए इनके विभिन्न उपन्यास न केवल अपने समय का दस्तावेज हैं बल्कि हमारी भाषा के साहित्य का गौरव भी हैं। मृदुला गर्ग का लेखन उनके व्यक्तित्व की तरह बोल्ड है स्वाभिमान उनमें कूट-कूटकर भरा है। वे सत्य को उसके पूर्ण रूप में ही घटित करती है। वे जीवन से कोई दुराव छिपाव नहीं जानती और अपने लेखन को भी उसी के अनुरूप ढाला है। उनके उपन्यास के नारी पात्र बेबाकी से अपना अंतर्जगत खोलकर रख देते हैं। भय या संबंध टूटने का डर उनमें नहीं है। नारी जीवन के रूढ़ मिथक को तोड़ने की पहल सबसे पहले मृदुला गर्ग द्वारा की गई। इनके उपन्यासों में ऐसी नारी प्रस्तुत होती है जो उन्मुक्त भोग की पक्षधर है।

मृदुला गर्ग एक संवेदनशील लेखिका हैं जिन्हें कला की अभिवृद्धि प्राप्त है। साहित्य में उनका प्रवेश 1970 में हुआ। मृदुला गर्ग ने कुल 7 उपन्यास लिखकर हिंदी साहित्य में अपनी पहचान बनाई। उनके अधिकांश उपन्यास आज की नारी को उसके सहज रूप में चित्रित करते हैं तथा नारी के अस्तित्व को स्वतंत्र रूप में स्वीकार करते हैं। मृदुला जी के स्त्री पात्र स्वच्छंद हैं और यौनमुक्ति व स्वेच्छाचार की माँग करते हैं। नारी की इसी स्वच्छंता के कारण चित्तकोबरा और उसके हिस्से की धूप उपन्यास विवाद का विषय बने रहे। मृदुला जी अत्यंत साहसी लेखिका हैं उनके संघर्ष का साक्षात् उदाहरण हमें वहाँ मिलता है जहाँ चित्तकोबरा के लिए उन्हें जेल यात्रा करनी पड़ी। उन पर अश्लीलता का आरोप लगाया जाता है, धमकाया जाता है फिर भी उन्होंने इन चुनौतियों का डटकर सामना किया। वह कहती हैं, 'जब गिरफ्तारी करवाई गई तो मैं केवल 42 वर्ष की थी। मेरे छोटे-छोटे बच्चे थे और मेरे ससुर गंभीर स्थिति में अस्पताल के इंटेंसिव केयर में दाखिल थे, 4 दिन बाद उनकी मृत्यु हो गई। इन सबसे ज्यादा मुझे जिस बात का दुख है–वह है मेरी साहित्यिक कृतियों

 ISSN 0975-735X

का सही मूल्यांकन न होने देना।'[1]

मृदुला जी को साहित्यिक प्रतिभा विरासत में प्राप्त हुई, उनके नाना वकील थे और साहित्य प्रेमी भी थे। जिस कारण उनका अपना एक वृहद पुस्तकालय था। माँ और पिता दोनों ही साहित्य में गहरी रुचि रखते थे। उनके परिवार के प्राय: सभी लोगों को हिंदी, बांग्ला, अँग्रेजी आदि भाषाओं का ज्ञान था।

मृदुला जी अपने परिवार के प्रति दायित्व का निर्वाह करने में कभी पीछे नहीं हटीं। यहाँ तक कि उन्होंने लेक्चरर की स्थाई नौकरी भी छोड़ दी। मृदुला जी कहती हैं कि 'घर परिवार मेरी जिंदगी का बेहद जरूरी हिस्सा है और उसके साथ लेखन भी। अक्सर यह देखा गया है कि कई चीजों के दबाव के साथ मैं महसूस करने लगी थी कि मेरे पास लिखने के लिए वक्त नहीं था या परिस्थितियाँ मेरे लेखन के अनुकूल नहीं है लेकिन मैं उन सबसे भाग नहीं सकती थी।'[2]

साहित्य का संबंध समाज से होता है, साहित्यकार जिस समाज में रहता है, सामाजिक सरोकार उसे प्रभावित करते हैं। मृदुला गर्ग कहती हैं समाज के मौजूदा हालात साहित्य में आ जाते हैं अत: मृदुला जी के साहित्य में उनका चिंतन पक्ष स्वयं उभरता है।

चित्तकोबरा एक सामान्य परिचय

समकालीन हिंदी कथा लेखन में अग्रणी मृदुला गर्ग का चित्तकोबरा उपन्यास विवादास्पद रहा है। यह प्रेम जीवन की गहराई व फैलाव देता है या उसे संकुचित करता है। लावा उबलता है तो क्या धरती की सीमा उसे रोक पाती है? व्यक्ति अगर दो हिस्सों में बँटकर जीता है तो क्या दोनों के प्रति न्याय कर सकता है? व्यक्ति की स्वतंत्रता क्या समाज विरोधी होती है? भीतर की आदिम और उद्दाम जिज्ञासाओं को घोटकर जीना और बस जीते रहना ही क्या समाज के प्रति उत्तरदाई होना है? ऐतिहासिकता के प्रवाह को अंतिम मानने में व्यक्ति की समझदारी और जीत है। क्या इतिहास को अपनी जरूरतों और इच्छाओं के अनुरूप गढ़ने में व्यक्ति की सार्थकता है। इसी प्रकार के प्रश्नों में लिपटी जीवन शक्ति से ओतप्रोत प्रेमगाथा है चित्तकोबरा।

चित्तकोबरा में अलौकिक सुख के क्षण भी हैं और लोक निरपेक्ष वेदना की अनुभूति भी है। प्रस्तुत उपन्यास की कहानी अपने मूल में सार्वकालिक है और परिवेश में अत्यंत आधुनिक है। चित्तकोबरा में मृदुला गर्ग का स्वयं मानना है कि जीवन को उसके समग्र और उदात्त रूप में जानने पहचानने के लिए प्रेम से अधिक उपयुक्त माध्यम नहीं मिल सकता। उपन्यास के पात्र मनु और रिचर्ड की परस्पर प्रेम कथा प्रेम के चैतन्य मन: समागम के अनुभव से गुजरते हुए दोनों का जो आत्मोत्सर्ग होता है उसके भाव बोध में जो सूक्ष्मता और व्यापकता आती है, उनकी संवेदन शक्ति जिस प्रकार प्रगाढ़ होती है। अपने चारों तरफ के वातावरण से दूर वह जो एक माध्यम स्थापित कर सकते हैं वही उनका प्रेम का कथ्य है, 'और प्रेम अपने आदर्श रूप को तभी प्राप्त करता है जब प्रेमी-प्रेमिका के लिए शारीरिकता का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। आत्मा का तब इतना घनिष्ठ समागम हो जाता है कि एक-दूसरे की उपस्थिति अनुपस्थिति भी महत्त्वहीन हो उठती है। ऐसा है मृदुला गर्ग का चित्तकोबरा का प्रेम।'[3]

प्रस्तुत उपन्यास में मनु और रिचर्ड के शारीरिक संबंध होते हुए भी उनके लिए अशरीरी शब्द का प्रयोग किया गया क्योंकि सामाजिक बंधनों या नैतिक मूल्यों के भय से जो प्रेम शारीरिकता से दूर रहता है वास्तविक अर्थ में अशरीरी माना जाता है। साधारणतया प्रेम के विकास के लिए दोनों पात्र मनु और रिचर्ड ऐसे बिंदु पर पहुँचते हैं जब शरीर की प्रेम की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने

की इच्छा मन में जाग्रत होती है उपन्यास के मध्य मनु और रिचर्ड के मनोभावों से स्पष्ट होता है प्रेम परोपकार नहीं होता और जो प्रेमी बलिदान चाहे वह प्रेमी नहीं होता।

एक बार मनु का स्मरण हो गया कि कैसे उसने रिचर्ड को अपने पति महेश गोयल से मिलवाया था और तभी महेश ने रिचर्ड की तरफ हाथ बढ़ाकर कहा था कि मैं महेश हूँ मिस्टर रिचर्ड हचिसन, सिर्फ पति होना मेरा परिचय नहीं। परंतु मनु तो हमेशा से ही जानती रही कि जब से उसका विवाह महेश से हुआ है तभी से वहाँ महेश के लिए एक तयशुदा सुनिश्चित विवाह से अधिक कुछ नहीं, डर के मारे मनु ने कभी महेश से नहीं पूछा कि वह भी उससे प्यार करता है या नहीं। अगर उसने सच में नहीं कह दिया तो क्या होगा? शादी के बाद मनु सब-कुछ महेश को देने में जुट गई जो एक पति पत्नी से चाह सकता था। सुंदर, सुचारू, घर-गृहस्थी, साफ-स्वस्थ बच्चे, सुघड़ पत्नी, दोस्तों की भरपूर खातिदारी करने वाली, सामाजिक मेल-मिलाप रखने वाली, इस तरह मनु और महेश गोरखपुर के एक छोटे से शहर में आदर्श दंपती की तरह रहने लगे। इसी तरह 8 वर्ष बीत गए और इन 8 वर्ष में मनु ने खुद को अपनी नजरों से नहीं देखा और न ही महेश को। मनु का कहना कि हम छोटे शहर में रहे या बड़े में समाज में औसत आदमी की दृष्टि से बनी समाज की दृष्टि ही मेरी दृष्टि बनी रहे। उन दिनों तो दर्पण देखने पर भी मुझे अपनी सूरत नहीं समाज की औसत औरत का मूर्त रूप ही दिखता था वही मेरा स्वरूप था।

एक बार मनु नाच गाने की रिहर्सल के दौरान रिचर्ड से मिलती है। मनु और रिचर्ड का यह परिचय प्रगाढ़ रूप धारण कर लेता है। एक दिन भावावेश में मनु नैतिक वर्जनाओं को नकार देती है और रिचर्ड का उससे शारीरिक संबंध हो जाता है। रिचर्ड चर्च में पादरी है मनु रिचर्ड से प्रेम करती है। वह सोचती है कि वह अँग्रेज नहीं स्कॉट मैं हिंदुस्तानी, वह चर्च के पादरी, मैं नास्तिक, वह शादीशुदा और मैं भी, उसका परिवार विलायत में मेरे बच्चे यही दिल्ली में एक बार तो मनु रिचर्ड से कह देती है कि कितना अच्छा होता कि तुम अपनी पत्नी जैनी से प्रेम करते और मैं महेश से प्रेम करती। रिचर्ड इंग्लैंड लौट जाता है मनु के पास उसकी यादों के सिवा अब कुछ नहीं बचता।

प्रस्तुत उपन्यास में यह प्रश्न भी उठाया गया है कि क्या विवाहिता नारी का पर पुरुष से लगाव अनुचित है? और यह सत्य भी उद्घटित किया गया है कि जब धरती के भीतर लावा उबलने लगता है तो धरती की सीमाएँ उसे रोक नहीं पातीं यही स्थिति प्रेम की है। एक और प्रश्न खड़ा किया गया है क्या कोई भी नारी पति और प्रेमी के प्रति समुचित न्याय कर सकती है? उपन्यास की नायिका मनु-महेश की पत्नी है किंतु रिचर्ड से प्यार करती है। रिचर्ड वृक्ष की निर्जीव छाया की तरह है कभी अपनी आवश्यकतानुसार मनु उसके तले बैठना पसंद करती है किंतु इस बैठने में आत्मा का लगाव नहीं है बिछड़ के चले जाने पर मनु के पास उसकी स्मृतियाँ मात्र रह जाती हैं।

इन्हीं जीवन मूल्यों पर आधारित चित्तकोबरा उपन्यास नारी के बदलते संसार को उसकी देह की गाथा के साथ प्रस्तुत करता है। बदलते जीवन संदर्भ में स्त्री की एक बनती हुई मानसिकता को लेकर यह उपन्यास लिखा गया। चित्तकोबरा एक ऐसा उपन्यास है जिसमें पुरुष की बराबरी करती हुई नारी के दिल की कथा भी है और मनःगाथा भी।

चित्तकोबरा में व्यक्त स्त्री का आधुनिक स्वरूप–मृदुला गर्ग अंतर्मुखी व्यक्तित्व की लेखिका मानी जाती हैं। किसी भी लेखक की रचना उसके आसपास के वातावरण से ही प्रभावित होती है। लेखक जो कुछ अपने आसपास देखता है उन्हीं को अपनी रचनाओं में उतारता है। मृदुला गर्ग आधुनिक युग की लेखिका हैं उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से समाज को एक नई दिशा

प्रदान की है। उनका लेखन मुख्यत: स्त्रियों की समस्याओं इर्द-गिर्द घूमता है। 'डाक्टर तारा अग्रवाल मृदुला जी के बारे में लिखती हैं एक लेखिका के रूप में अपने को स्थापित करने के लिए उन्हें काफी संघर्ष करना पड़ा। मृदुला गर्ग के लेखकीय व्यक्तित्व के निर्माण में उनके परिवार की भूमिका तथा उनके परिवेश की भूमिका प्रमुख रही है।'[4]

प्रस्तुत उपन्यास में रिचर्ड और मनु की प्रेम कहानी है। एक ऐसी कहानी जिसे समाज कभी बर्दाश्त नहीं करता शादीशुदा होकर रिचर्ड और मनु से प्रेम करते हैं सबकी नजरों से बचकर मिलते हैं कभी जंगल में कभी होटल के कमरे में। रिचर्ड मनु की तस्वीरें अपने केमरे से उतारता है। यह बात मनु को खटकती है वह सोचती है जरूर तुम चाहते हो एक दिन हम न रहें इसीलिए फोटो खींचते हो और सारे फोटो लेकर फाड़ देती है–'दो टुकड़ों में बँटा मेरा चित्र दो टुकड़ों में बँटी मैं, हर क्षण जुड़ने की प्रतीक्षा में आशंकित होना, जुड़ना एक होना और चूर-चूर होकर पिघल जाना एक ही बात है मैं जुड़ना चाहती हूँ, मैं जुड़ना चाहती हूँ, बँटे रहने में एक सुख है कम अज कम मैं हूँ, जैसी भी हूँ टुकड़ा-टुकड़ा हूँ तो सही जुड़ते ही मिट जाऊँगी।'[5]

मनु और रिचर्ड एक नाटक में अभिनय के दौरान मिलते हैं और इसी बीच उनमें प्रेम-संबंध फूट पड़ता है। कहते हैं न कि जब मनुष्य प्रेम में होता है या प्रेम में पड़ता है तो उसके चेहरे से वह खुशी फूटती है 'आजकल दर्पण देखती हूँ तो अचरज में पड़ जाती हूँ यह क्या वाकई मैं हूँ? रोशनी के नीचे जाकर दो बार चेहरे पर देखती हूँ एक किरण प्रकाश का मिल जाता है आँखें यूँ चमक उठती हैं जैसे प्रकाश ऊपर से न पड़कर आँखों से फूटकर निकल रहा हो। मैं अपने को समझाती हूँ कुछ नहीं है नाटक में, अभिनय कर रही है ना, फ्रांसीसी काउटिंग्स का जो सुन रखा है ऐसी औरतें बड़ी रंगीन होती हैं बस इन्हीं रंगीनियों का मुझ पर असर हो गया है। पागल भी तो कम नहीं हूँ जब अभिनय करती हूँ तो चरित्र को आत्मसात करके।'[6]

मनु को ऑर्किड बहुत पसंद हैं। मनु कहती है मेरे मरने की खबर पाकर वह मुझे एक बहुत बड़ा जामुनी-हरा ऑर्किड फूल भेजेगा थाइलैंड से। इस बात पर रिचर्ड कहता है, 'तुम मरने की बात करना छोड़ दो मैं वादा करता हूँ जब भी थाईलैंड जाऊँगा तुम्हारे लिए दो ऑर्किड लाऊँगा। एक थाई एयरलाइंस वाला मुफ्त और एक खरीदकर जामुनी-हरा महँगे से महँगा, जरूर चाहे मुझे दो दिन भूखा क्यों न रहना पड़े।'[7]

प्रेम और काम इन दो शाश्वत सत्य के आसपास ही उनका वैचारिक चिंतन प्रस्फुटित हुआ। प्रेमहीन सेक्स और सेक्सहीन प्रेम दोनों जीवन का अतिचार हैं। चित्तकोबरा में स्त्री-पुरुष संबंधों की ओर से हटकर एक स्त्री की अस्मिता की खोज है। रिचर्ड चर्च का पादरी है और मनु एक गृहस्थ औरत। जब दोनों का प्रेम परवान चढ़ता है तो जगह-जगह एकांत की तलाश करते और मनु कहती है शुरू-शुरू में उसकी भूरी-हरी आँखों की दृष्टि को झेलना बहुत कठिन होता था मेरे लिए पर अब तो मुझे उसकी आदत हो गई है। 'कितना सम्मोहन होता है खतरे में अब आदत हो गई है सम्मोहन ने मेरी ताकत बढ़ा दी है। अब झेल लेती हूँ इस बात का एहसास बना रहता है कि मेरे दिलोदिमाग की भीतरी परसों से ढूँढकर वह मेरे हर भाग को पढ़ता चला जा रहा है चाहकर भी कुछ छुपा नहीं सकती।'[8]

प्रेम में प्रेमी से बलिदान नहीं माँगना चाहिए और जो बलिदान माँगे वह सच्चा प्रेमी नहीं होता। मनु कहती है मुझे पादरियों से नफरत है। और मैं तुमसे शादी भी नहीं करती जब तक कि तुम चर्च न छोड़ देते। इस पर रिचर्ड कहता है, 'प्रेम परोपकार नहीं होता जो प्रेमी बलिदान चाहे वह प्रेमी

नहीं होता। बलिदान के बाद प्रेम, प्रेम नहीं रहता परोपकार बन जाता है। आदर्श नहीं घमंडी और बनावटी परोपकार। मैं जानता हूँ तुम मुझसे प्रेम करती हो बलिदान न तुम माँगती न मैं देता।'[9]

मनु रिचर्ड से पूछती है तुम बांग्लादेश जाना क्यों चाहते हो? रिचर्ड बोला एक देश है वहाँ के लोग मुसीबत में है तो मुझे मदद के लिए जाना चाहिए जो हो सकेगा मैं करूँगा। उनमें से कितने बीमार होंगे उनकी दवा सेवा, सुश्रुषा करूँगा, कितने दिन भूखे हैं उनके लिए सरहद के पार चोरी से रसद पहुँचाने का इंतजाम करने की कोशिश करूँगा। हो सका तो ठीक। मनु भी रिचर्ड के साथ जाने की जिद करने लगी। घर पहुँचते ही अपना फैसला महेश को सुना दिया। लेकिन जा नहीं सकी क्योंकि उसकी बच्ची को भयानक रूप से टाइफाइड हो गया था। पहले बच्चे की बीमारी के बारे में पता लगा तो बहुत दिनों बाद दिल मुँह से वापस छाती में गिर आराम से धड़का था। लगा अचानक अँधेरी गुफा से बाहर भाग जाने का रास्ता मिल गया 'कायर को सबसे बड़ा डर यही होता है कि कहीं कोई उसे कायर न कह दे। जो जितना बड़ा कायर होता है उतना ही व्यापक होता है उसका अपराधबोध। उतनी ही भयंकर होती है उसकी वेदना और शर्मनाक उसकी कायरता। बांग्लादेश जाने के ख्याल से मेरी रूह काँप रही थी पर जाने को मना करना नामुमकिन था। कायर होना एक बात है कायर होने को स्वीकार करना दूसरी।'[10]

प्रस्तुत उपन्यास के पात्र मनु साहसी एवं निर्भीक हैं। वह रिस्क भी लेती है और विपरीत परिस्थितियों का सामना भी करती है। वह सोचती है कि मैं बांग्लादेश न जाऊँ और यहीं बैठे-बैठे उन लोगों की सेवा भी कर लूँ। डर मुझे मौत का नहीं मरने से मैं नहीं डरती–'अगर मुझे दीवार के साथ खड़ा करके गोली से उड़ा दिया जाए तो मैं बिल्कुल न डरूँ। मौत की सजा व मौत के बीच महीनों का अंतराल हो तो वह भी तसल्ली से गुजार दूँ, एक क्षण के लिए भी बेचैन न हूँ। सुना है मृत्यु की अवश्यंभावी क्षण बहुत भयानक होता है। गिलोटिन के गिरने का दिन निश्चित हो फाँसी के फंदे पर लटकने का लम्हा तय हो बचके भाग निकलने की आशा शेष न हो तो मनुष्य-मनुष्य नहीं रहता। डर और आशंका से कँपकपाती नसों का लोथड़ा बन जाता है।'[11]

मनु एक आदर्श प्रेमिका भी है चाहे वह शादीशुदा हो। लेकिन रिचर्ड के प्रति उसका जो अनुराग है वह सच्चा है। जब मनु और रिचर्ड मिलते हैं तो मनु अपनी आदत के अनुसार हमेशा आगे की सोचते हुए कि कब दोबारा वापस आओगे। अगर नहीं आए तो हम फिर से अजनबी हो जाएँगे। बहुत कष्ट होता है कि कल कितनी तेजी से पास आ जाता है समय को पकड़कर रखने की कोशिश मत करो। 'उसने कहा डोरी ढीली छोड़ दो पतंग को ऊँचा उड़ने दो फिर देखो क्षण और अनंतकाल का अंतर मिट जाएगा।'[12]

रिचर्ड साल में सिर्फ कुछ ही दिन के लिए आता है। वही चार-पाँच दिन रुककर फिर से किसी देश में। उसका एक ठिकाना नहीं कभी किसी देश में होता है, कभी किसी देश में। और वहीं से मनु को चिट्ठी भेजता है। काफी वक्त गुजर गया रिचर्ड की कोई चिट्ठी नहीं आई। मनु बहुत इंतजार कर रही है कि तभी डाकिया आया और ढेर सारी चिट्ठियाँ मनु के सामने फैला दीं वह समझ गई कि रिचर्ड का खत आ गया। समुद्र पार करके आने से ही क्या वह खास व लिफाफे में बस सकती है? मैं जानती हूँ इंसान की सबसे बड़ी ताकत उसकी विवेक बुद्धि है और वहाँ विवेक बुद्धि हमें बतलाती है कि हर चीज का कोई कारण जरूर होता है।

हाँ, बड़े फक्र की बात है पर इस वक्त मुझे इस बात पर कहीं ज्यादा नाज है कि खुशबू सूँघकर ही मैंने पहचान लिया कि यह खत रिचर्ड का है नहीं नाज भला क्या होता बस एक सुकून

है जो मेरी नसों के तनाव को धीमे से सहला कर खोल गया है और मुझे खुमारी की तरफ धकेल रहा है।'[13]

मनु का कविता-संग्रह छपकर आया है सोचती है कि कब-कब की लिखी कविताएँ हैं। 5-6 या सात साल पहले मैं दिन गिना करती थी, अब बरस गिनना भी छोड़ दिए हैं। मनु किताब को सूँघ रही है तभी महेश ने कहा किताब को सूँघ रही हो और मनु ने चौंककर आँखें खोल दीं। किताब मनु ने महेश को पकड़ा दी। जिल्द पलटकर महेश ने खोली अंदर लिखा था–'एक जिप्सी के नाम' महेश के नाम क्यों नहीं? 'क्या है मुझमें जो सिर्फ एक जिप्सी प्रकृति का आदमी ही मुझे प्यार कर सकता है। या जिम्मेदारी मेरी है कि मैं सिर्फ जिप्सी को प्यार कर सकती हूँ। मैं उन लोगों में से हूँ जो क्षणों में जीते हैं मुझे प्यार मिले और मिलता ही चला जाए। रोज हर रोज तो क्या मैं उससे ऊब जाऊँगी। मेरे जैसे आदमी के लिए ना मिलना वही अहमियत रखता है जो मिला उससे कुछ ज्यादा। मैं उन लोगों में से हूँ जिनके भीतर उसे ग्रहण करने की असीम शून्य मुँहबाए पड़ा रहता है। सुख लेना उसकी प्रकृति है स्वतंत्र है अहं का प्रतीक।'[14]

प्रस्तुत उपन्यास में मृदुला गर्ग ने स्त्री जीवन के जटिल प्रश्नों से मुठभेड़ करने की प्रवृत्ति दिखाई गई है। मृदुला गर्ग बड़ी साहस कर पारंपरिक चीजों के विरुद्ध मोर्चा खड़ा कर ऐसी मर्यादाओं से मुक्ति दिलाई है जो स्त्री की तरक्की में बाधक है। महिला लेखन में नई गति का संकेत मृदुला गर्ग के चित्तकोबरा उपन्यास से ही मिलता है। जिसमें साहस के साथ स्त्री-पुरुष की बराबरी पर उरती है। एक स्त्री के मन में जो सवाल व दुविधा रहती है इन्हीं प्रश्नों व समस्याओं का चिंतन इस उपन्यास में उभरा। अंत में कहा जा सकता है कि चित्तकोबरा उपन्यास की नायिका मनु के मानस की कथा यात्रा शरीर से आरंभ होकर उदास प्रेम की यात्रा पूरी करते-करते उसके आदर्श रूप को प्राप्त करके अंत में समाज उन्मुख हो गई। शरीर ही आराधना है, शरीर ही चेतना है इसी से उत्पन्न आत्मपीड़ा को दिखलाया गया है।

उपसंहार–मृदुला गर्ग ने साहित्य की प्राय: सभी विधाओं पर लेखनी चलाई है किंतु उपन्यास में ही उनका अपनी बात कहने का मूल स्वर रहा है–'उपन्यास को मैंने प्राथमिकता दी है क्योंकि मैं जो कहना चाहती थी कहानी में सीमित नहीं कर पाती थी। कहानी में मैंने क्षण को पकड़ा है और उपन्यास में जीवन की विस्तीर्णतर को थीम लेने के पश्चात मुझे लगता है कि उसको कहानी में पूरा नहीं कर पा रही हूँ इसीलिए उपन्यास को ही प्राथमिकता देती हूँ।'[15]

चित्तकोबरा उपन्यास मृदुला जी का बहुत ही प्रसिद्ध उपन्यास है। इसमें शादीशुदा औरत की कथा कही गई है इस उपन्यास में खुले शब्दों में औरत की सेक्स-संबंधी इच्छाएँ बताई गई हैं। चित्तकोबरा भारतीय समाज की पारम्परिक सोच से अलग एक ऐसी प्रेमकथा है जो व्यक्ति के भीतरी स्पंदनों और शरीर में गहरे अंतर को बड़ी ईमानदारी से पाठकों को बताता है। प्रेम केवल स्त्री पुरुष के आपसी शारीरिक संबंधों से नहीं बल्कि प्रेम की अनुभूति अध्यात्मक की अनुभूति है।

मृदुला गर्ग कहती हैं 'जीवन को उसके समग्र या उदात्त रूप में जानने पहचानने के लिए प्रेम एक उपयुक्त माध्यम है। प्रेम की अनुभूति अध्यात्म की अनुभूति है। एक से नि:स्वार्थ पूर्ण समर्पित प्रेम करने पर अहं का धीरे-धीरे हनन होता है वह व्यक्ति को उस बिंदु पर पहुँचा देता है जहाँ से बढ़कर प्रेम के आदर्श तक पहुँचना एक कदम और आगे बढ़ना जैसा रह जाता है। यही चित्तकोबरा की प्रेरणा है।'[16]

मृदुला जी इस उपन्यास के माध्यम से बताती हैं कि प्रेम के अभाव में शरीरिक संबंध केवल

भोग-लिप्सा है। आत्मा का उत्पीड़न है। प्रेमहीन शरीर संबंध जो भारतीय विवाह-पद्धति का स्वाभाविक स्थिति है भयानक आत्म-उत्पीड़न के अलावा कुछ नहीं। प्रेम आदर्श रूप तभी प्राप्त कर सकता है जब तन और मन आत्मनिष्ठ हो।

संदर्भ

1. सोर्स, इंटरनेट
2. सोर्स, इंटरनेट
3. डॉ॰ अमरजीत कौर, मृदुला गर्ग का कथासाहित्य, बदलते संबंधों का दस्तावेज, पृ॰ 66
4. सोर्स इंटरनेट
5. गर्ग मृदुला, चित्तकोबरा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण-2009, पृ॰ 18
6. वही, पृ॰ 20
7. वही, पृ॰ 30
8. वही, पृ॰ 39
9. वही, पृ॰ 42
10. वही, पृ॰ 57
11. वही, पृ॰ 57
12. वही, पृ॰ 63
13. वही, पृ॰ 111
14. वही, पृ॰ 137
15. सोर्स इंटरनेट
16. गर्ग मृदुला, चित्तकोबरा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण-2009, पृ॰ 6-7

29/B Krishnapuri , Mathura 281001
Mob. 7017958154
kshamaverma140@gmail.com

झारखंड के प्रमुख प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक पर्व : करमा

डॉ॰ निरंजन कुमार
स्नातकोत्तर खोरठा विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची

परिचय–करमा झारखंड का एक महान प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक पर्व है। इस पर्व को संपूर्ण राज्य में निवास करने वाली जनजाति एवं गैर जनजाति के लोग बहुत ही हर्षोल्लास के साथ मनाते हैं। करमा मुख्य रूप से प्रकृति संरक्षण, संवर्धन के लिए मनाया जाता है। इस पर्व का संबंध जल, जंगल एवं जमीन से विशेष रूप से जुड़ा हुआ है। करमा पूजा भादो महीने के एकादशी को संपूर्ण गाँवों में मनाया जाता है। इस दिन सभी समुदायों के घरों में एक अलग खुशी का माहौल देखने को मिलता है। करमा मुख्य रूप से एक पौधा है और इस पौधे की डाली की पूजा एकादशी के दिन संपन्न होती है। डाली का पूजन एक संकेत मात्र है जो जंगल संरक्षण को दर्शाता है। इस राज्य में निवास करने वाली आदिवासी एवं सदानी समूह के लोग आपस में मिल-जुलकर खुशी-खुशी मनाते हैं।

करमा पूजा मुख्य रूप से भाई-बहन का त्योहार है जिसमें बहन अपने भाई के जीवन में सुख-समृद्धि आने की कामना करती है। यह पर्व सभी जातियों के लिए है। धान-रोपन के बाद भादो माह की पिछला पक्ष एकादशी को यह पर्व मनाया जाता है। यह पर्व भाई-बहनों के अटूट रिश्तों का पर्व है तथा नृत्य-गीत का समा बँध जाता है। बहनें जौ, गेहूँ, चना, कुरथी के दानों को डलिया में नदी का बालू डालकर अंकुरन के लिए रख देती हैं। ऐसा वे नहा-धोकर करती हैं तथा कम-से-कम पखवारे भर नाच-गान करती हैं। पृथक-पृथक जावा डालियों को अखरा के बीच रखकर उसके चारों ओर नाच-गान करती हैं। अखरा के बीच करम की डाली गाड़ी जाती है। सभी बहनें भाइयों समेत करमा-धरमा की कथा सुनते हैं। द्वादशी को करम देवता का विसर्जन होता है।[1]

करमा पूजा का झारखंड में विशेष महत्त्व है इस पूजा के माध्यम से सामाजिक समरसता एवं एकता को बनाए रखने में बहुमूल्य योगदान रहता है। इस दिन पूरे समाज में बहुत ही हर्षोल्लास का माहौल देखने को मिलता है। भाई अपनी बहनों के लिए पूजन सामग्री, धार्मिक सामग्रियों एवं सुविधाओं को जुटाने में लग जाते हैं। करमा पूजा मुख्य रूप से प्रकृति एवं संस्कृति के बीच एक अटूट संबंध को बताता है। इस पूजा में नव विवाहित महिलाएँ एवं लड़कियाँ विशेष रूप से भाग लेती हैं एवं पूजा बहुत ही धूमधाम से मनाई जाती है। करमा पूजा में शामिल युवतियाँ मुख्य रूप से अपने भाई की सुख-समृद्धि के लिए पूजा-अर्चना करती है। करमा पूजा के माध्यम से प्रकृति के संरक्षण के लिए महत्त्वपूर्ण कदम उठाए जाते हैं। करमा लोकगीतों के माध्यम से गाँव के सभी लोग एक साथ झुमइर खेलने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

विषय प्रवेश–करमा झारखंड की एक महान प्राकृतिक पर्व है। प्रकृति के संरक्षण में इस पर्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। करमा पूजा में करम डाली को करम राजा के नाम से संबोधित करते हैं तथा करम राजा का समाज में विशेष स्थान है। करम डाली को ढोल-नगाड़े बजाते हुए

आदरपूर्वक अखड़ा में लाया जाता है। करमा पूजा का धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व है तथा एक पवित्र पर्व के रूप में झारखंड राज्य में मनाया जाता है। यह त्योहार झारखंड के अलावा सीमावर्ती राज्यों में भी बहुत ही धूमधाम से मनाया जाता है। करमा पूजा से जुड़े प्रमुख बिंदु निम्नांकित हैं–

1. **अखड़ा**–अखड़ा झारखंड के सभी गाँवों में मिलता है। अखड़ा गाँव के बीच में स्थित होता है जिसके कारण सभी ग्रामीणों को सांस्कृतिक एवं धार्मिक क्रिया-कलापों को संपन्न करने में सुविधा होती है। अखड़ा झारखंड राज्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है तथा धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अहम भूमिका निभाता है। अखड़ा वह स्थल है जहाँ से करमा पूजा के अलावा समाज के कई अहम फैसलों का निर्णय लिया जाता है। भादो एकादशी के दिन अखड़ा में करम डाली को बड़ी धूम-धाम से लाकर गाड़ा जाता है।

करमा पूजा की तैयारी लगभग एक महीने पूर्व से प्रारंभ हो जाती है। गाँव की लड़कियाँ साल-भर से इस पर्व का इंतजार करती हैं क्योंकि यह भाई एवं बहन से जुड़ा महत्त्वपूर्ण पर्व है। इस पर्व में बहनें अपने भाई की सुख-शांति के लिए पूजा-अर्चना करती हैं। अखड़ा में करम डाली को पहान के द्वारा रात्रि में गाड़ा जाता है और रात-भर पूजा के करने के पश्चात् गाँव के सभी लोग मिलकर नाचते-गाते हैं। करम डाली से जुड़ा एक करम लोकगीत इस प्रकार है–

आनली करम काटी, गाडली करमराती
सभे नाचय गावय करमइती, ओ हो रे करमाक राती
आखरा थापली रीझे, जते करमइती लुझे
बारी देला प्रेमेक बाती, ओ हो रे करमाक राती।[2]

2. **जावा उठाना**–करमा पूजा में जावा का सर्वाधिक महत्त्व होता है। जावा बाँस के बने डलियों में उठाया जाता है। इसके लिए लगभग पंद्रह दिन पूर्व से तैयारी प्रारंभ की जाती है। जावा में मुख्य रूप से उरद, कुरथी, गेहूँ, मकई, जौ इत्यादि शामिल रहता है। जावा उठाने के लिए गाँव की नव विवाहित महिलाएँ ससुराल से अपने मायके जाती हैं। जावा मुख्य रूप से पाँच दिन, सात दिन, नौ दिन पूर्व उठाया जाता है। इस प्रकार पाते हैं की जावा उठाने के दिन हमेशा विषम दिनों का ही होना चाहिए जो धार्मिक परंपरा के तौर पर उचित माना जाता है। जावा को प्रतिदिन गाँव की लड़कियाँ अखड़ा में ले जाकर जगाने का कार्य करती हैं। सभी जावा उठाने वाली लड़कियों को अलग-अलग पहचान दी जाती है और किन्हीं पहचान के समीप जावा ठीक से नहीं उगता है तो यह माना जाता है कि अमुख लड़की ने जावा से संबंधित नियमों का पालन सही तरीके से नहीं किया है। जावा जगाने से संबंधित एक लोकगीत–

इति-इति जावा, किया-किया जावा।
जावा जगउली रे। दाना बहुरे।
हामर जावा चिकन-चिकन
हामनिक जावा चिकन-चिकन
करमइतिक मन, फरहर-चनफन
जावा फुला सब, कानें गोंजली रे
जावा जगउली रे, दाना बहुरे।
इति-इति...[3]

इस लोकगीत में जावा जगाने से संबंधित बातों को शामिल किया गया है। इसमें जावा के

साफ-सुथरे स्वरूप को बताया गया है। जावा को कान में खोंस कर सभी लड़कियाँ अखड़ा में जावा को नृत्य करते हुए जगाने का कार्य करती है।

3. **पूजन सामग्री**–करमा पूजा में पूजन सामग्री का विशेष स्थान है। पूजन सामग्री के अभाव में करमा पूजा संपन्न नहीं हो सकती है। करमा पूजा में मुख्य रूप से धान की पत्तियों का फूल स्वरूप प्रयोग किया जाता है। पूजा करने के दिन करमा पूजा करने वाली सभी लड़कियाँ शाम के समय नाचते-गाते हुए नदी अथवा तलाब के किनारे के खेतों से नहा-धोकर धान की पत्तियों को तोड़कर लाने का कार्य करती हैं। पूजन सामग्री में अरवा चावल, धूप, अगरबत्ती, माचिस, बेल पत्ता, सिंदूर, दिया, खीरा, धान की पत्तियाँ, चना, मटर इत्यादि शामिल रहता है। इन सभी के मिश्रण को झारखंड में अकरी-बटरी के नाम से जाना जाता है। करमा पूजा में खीरा का महत्त्व बढ़ जाता है क्योंकि खीरा को पुत्र का प्रतीक माना जाता है। पूजा के बीच में गाँव की बुजुर्ग महिलाएँ करमा पूजा करने वाली सभी लड़कियों के खीरा को देखती है एवं लड़कियों के माता-पिता के नाती के नाम लेकर हँसी-मजाक करती हैं। इस दौरान यह कामना की जाती है कि कुँवारी लड़कियों का विवाह जल्दी हो जाए और उन्हें पुत्र की प्राप्ति हो।

4. **करमा लोककथा**–करमा पूजा में करम लोककथा का विशेष महत्त्व है। करमा लोककथा गाँव के पहान अथवा बुजुर्ग व्यक्ति के द्वारा सुनाया जाता है। करम लोककथा में मुख्य रूप से करमा एवं धरमा नामक दो भाई के बीच की कथा को सुनाया जाता है। एक गाँव में करमा एवं धरमा नामक दो भाई रहते थे तथा दोनों भाईयों में करमा करम डाली की पूजा करता था तथा दूसरा भाई धरमा करम डाली का अनादर करता था। वह अपने आँगन से करम डाली को उखाड़कर फेंक देता था। इसके फलस्वरूप करमा के घर में सुख-संपति बढ़ने लगी और धरमा के घर धन-संपति घटनी लगी। इससे धरमा बहुत ही परेशान रहने लगा और अंततः धरमा करम गोंसाई को खोजने के लिए अपने घर से निकल जाता है।

धरमा को करम गोंसाई सात-समुद्र पार में दिखाई पड़ता है। धरमा करम गोंसाई के पास जाकर अपनी गलतियों को माफ कर देने का माँग करता है तथा बहुत विनती करने के पश्चात करम गोंसाई मान जाते हैं। इसके पश्चात करम गोंसाई को वापस लेकर आता है और अपने आँगन में गाड़ता है। करमा के दिन बहुत ही धूम-धाम से करम गोंसाई का पूजा करता है और करम गोंसाई को खुश कर देता है। इसके फलस्वरूप धरमा के घर में सुख-संपति बढ़ने लगती है।

5. **करमा लोकगीत**–करमा पूजा में करमा लोकगीत का अद्वितीय स्थान है। लोकगीत के अभाव में करमा पूजा को धूमधाम से नहीं मनाया जा सकता है। करमा लोकगीत अधिकांशतः प्रकृति और संस्कृति से जुड़े हुए मिलते हैं। करमा पूजा के सभी विधि-विधानों में अलग-अलग लोकगीतों का प्रचलन मिलता है। करमा लोकगीतों को सुनकर गाँव के सभी लोगों का मन अखड़ा के ओर जाने के लिए बाध्य हो जाता हैं। लोकगीतों के साथ-साथ ढोल-नगाड़ों की मधुर आवाज लोगों के मन को आकर्षित करती है। एक खोरठा लोकगीत जिसमें विवाहित महिला करमा पूजा के समय अपने माता-पिता के घर जाने के लिए उत्साहित हो रही है। इस प्रकार है–

नदिया के धारि-धारि फूटलइ फूल कांसि।
नुनिक मन-ऽ नइहर चलि गेल।
कांसि फूल फूटी गेल, आसा मोर बाढ़ी गेल
कांदी-कांदी मोर छतिया धोवाय रे

भादर चलल सिराय।[4]

इस लोकगीत के माध्यम से बताया गया है कि भादो के महीने में नदी के किनारे कांसी फूल फूला हुआ है जिससे देखकर नवविवाहित महिला का मन मायके जाने का कर रहा है। मायके नहीं जाने के दु:ख से नवविवाहित महिला का रो-रोकर बुरा हाल हो रहा है। आँख के आँसू से छाती भीग चुकी है तथा लेने आने का उम्मीद टूटने लगी है।

भादो कर एकादसी करम गड़ाइल रे
एहे भाय! सोभे रे बहिनी खेले जायब
दे तो हो डाला भइया, झिली-मिली डलवा
से हे डाले फूला लोर्हे जाइब श्रीराम।[5]

करमा पूजा भादो के महीने में एकादशी में मनाया जाता है। इस दिन गाँव के अखड़ा में करम डाली को गाड़ा गया है। बहन अपने भाई से कहती है कि सभी बहन झूमर खेलने के लिए अखड़ा जाएँगीं। झिली-मिली डाला को लेकर फूल लोर्हे जाने की बात कर रही है।

दीहा सासु, दीहा सासु, दीदी के विदाई गो।
नजिक अइकल करमा, भादा फूले बेलंदरिया।[6]

इस लोकगीत में शादी-शुदा महिला अपनी सास से विनती कर रही है कि मुझे अपने माता-पिता के घर जाने की अनुमति दी जाए क्योंकि जाकर करमा पूजा करनी है। आगे कहती है कि करमा पूजा नजदीक आ गई है।

6. **करम डाली का विसर्जन**–करमा पूजा के दूसरे दिन करम डाली को अपने गाँव के नजदीक नदी-नाला अथवा तालाब में विसर्जन किया जाता है। विसर्जन करने के लिए करमा पूजा करने वाली सभी लड़कियाँ तथा महिला-पुरुष मिलकर नाचते-गाते हुए जाते हैं। विसर्जन के समय करम देवता से अपने गलती को माफ करने की विनती करते हैं और पुन: अगले वर्ष धूमधाम से करमा मनाने की बात करती हैं। करमा विसर्जन से संबंधित प्रमुख लोकगीत–

करम खेलखे मंइआं जीतिआ गे
दइआ सोंहराइ खेलबें ससुरारी
ससुरारी जाबें मइआं, लेसन-पोतन करबें।
दइआ दुबें चाउरें गइआं के चुमाइ
खरिका खोटियें मइआं आंखि काजर करबें
दइआ आरसी देखिए मुसकाइ।।[7]

इस लोकगीत में करम डाली के विसर्जन करने के बाद लौटते समय सभी लोग इस झुमर को गाते हुए एक-दूसरे से कहते हैं कि करम खेलने के बाद जीतिआ आता है। सोहराय ससुराल में खेलने तथा ससुराल जाकर घर की साफ-सफाई करना है। दूब घास और अरवा चावल से गाय को चुमाने संबंधित बातों को इस लोकगीत में शामिल किया गया है।

जा हो-जा हो करम गोंसाइ
जा कइये मास हो-जा कइये मास हो
आवतो भादर मास आनबो घुराइ
दिहा-दिहा करम गोंसाइ, दिहा आसीस हो
हमर भइया जियतइ लाखें बरिस हो।[8]

इस करम डाली विसर्जन लोकगीत में करमा करने वाली लड़कियाँ और महिलाएँ करम देवता से कहती हैं कि आप कई महीनों के लिए जाइए। जब भादो का महीना आएगा तो पुनः वापस लाएँगे और अभी हमें आशीर्वाद दीजिए कि हमारा भाई लाखों वर्ष तक जीवित रह सके।

निष्कर्ष–करमा एक पवित्र प्राकृतिक पर्व है। इस पर्व में भाई एवं बहन के बीच अटूट प्रेम को दर्शाया गया है। बहन हमेशा करम देवता से आशीर्वाद माँगती है कि भाई का घर हमेशा धन-धान्य से परिपूर्ण रहे। करमा पूजा में झारखंड की संस्कृति की अद्‌भुत झलक देखने को मिलती है। इस समय ग्रामीण क्षेत्रों के खेतों में धान लहलहाती नजर आती है तथा खेतों के किनारे कांसी फूल के फूटने से अलग ही मनमोहक तस्वीर दिखाई पड़ती है। करमा एक सरल एवं सादगी से भरा त्योहार है जिसमें परिवार के लगभग सभी सदस्य शामिल होते हैं। करमा पूजा में करमा-धरमा नामक दो भाईयों से जुड़ी कहानी सुनाई जाती है। इसमें बताया जाता है कि करमा पूजा करने वाले भाई के घर में सुख-संपत्ति आती है। करमा एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक पर्व है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में परंपरागत रूप से हस्तांतरित होता चला आ रहा है जिससे समाज की समरसता एवं एकता को बनाए रखने में आसानी होती है।

संदर्भ

1. कुमारी, डॉ॰ अर्चना, खोरठा शिष्ट साहित्य एक अध्ययन,प्यारा केरकेट्टा फाउण्डेशन, राँची, प्रथम संस्करण, 2015, पृ॰ 54
2. प्रमाणिक, शिवनाथ, खोरठा लोकसाहित्य, खोरठा साहित्य संस्कृति परिषद्, बोकारो, 2004, पृ॰ 14
3. झा, ए॰के॰, पानुरी, श्रीनिवास एवं अन्य, एक टोकी फूल, झारखंड झरोखा, राँची, 2012, पृ॰ 21-22
4. ओहदार, डॉ॰ बी॰एन॰, खोरठा भाषा एवं साहित्य (उद्‌भव एवं विकास), खोरठा भाषा साहित्य अकादमी रामगढ़, प्रथम संस्करण, 2007, पृ॰ 121
5. प्रभाकर, डॉ॰ गजाधर महतो, खोरठा भाषा व्याकरण, सफल प्रकाशन, राँची, पृ॰ 133
6. झा, ए.के. पानुरी, श्रीनिवास, एक टोकी फूल, झारखंड झरोखा रातु रोड राँची, 2012, पृ॰ 17
7. ओहदार, डॉ॰ बी.एन., खोरठा भाषा एवं साहित्य (उद्‌भव एवं विकास), मार्गदर्शन पब्लिकेशन, राँची, तृतीय संस्करण, 2017, पृ॰ 196
8. प्रमाणिक, शिवनाथ, खोरठा लोकसाहित्य, खोरठा साहित्य संस्कृति परिषद्, बोकारो, 2004, पृ॰ 43

रजतरानी मीनू की स्त्री दृष्टि और दलित स्त्रीवाद

(संदर्भ : पिता भी होते हैं माँ)

राजा कुमार, शोधार्थी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

रजतरानी 'मीनू' की 'पिता भी होते हैं माँ' काव्यकृति का प्रकाशन वर्ष 2015 है। यह काव्यकृति कई कारणों से उल्लेखनीय है। इस 184 पृष्ठों की लंबी काव्य-यात्रा में दलितों की एक ऐसी दुनिया बसती है जहाँ स्त्रियाँ आज भी झुग्गी-झोपड़ियों/सड़कों पर रहती हैं और दोहरे-तिहरे शोषण का शिकार हैं तो दलित पुरुष आज भी स्वराज के लिए संघर्षरत। बच्चे बालश्रम और बाल-विवाह के लिए विवश! इक्कीसवीं सदी में बड़े-बड़े नेताओं द्वारा मंचों-टीवी या विज्ञापनों में चीख-चीखकर भारत बनाम इंडिया की जो छवि या चित्र प्रस्तुत किए जाते हैं वे 'मीनू' की कविताओं में पेश किए गए भारत की तस्वीर के सामने झूठे और बेबुनियादी प्रतीत होते हैं। यहाँ एक ओर प्रसव से कराहती, सड़क पर दम तोड़ती स्त्रियाँ हैं तो दूसरी ओर भूख-गरीबी और जातिगत पीड़ा से त्रस्त आत्महत्या करती स्त्रियाँ भी। बलात्कार की शिकार स्त्री हो या वंशानुगत पेशे के अपमान का घूँट पीती झाड़ूवालियाँ केवल स्त्री ही नहीं दलित पुरुषों की भी ऐसी जमात है यहाँ जो आज भी खेतों में बेगारी करने को विवश हैं तो अस्पताल की मोटी फीस न जमा कर पाने के कारण अस्तपताल के दरवाजे पर दम तोड़ने को विवश! स्कूल की फीस न दे पाने के कारण अशिक्षित रहने और खेलने की उम्र में काम करने को विवश हैं दलित बच्चे। दलित बस्तियों या सड़कों पर रहने वाले बच्चों की आँखों में पढ़ने की जिस ललक और जिज्ञासा से 'मीनू' ने साक्षात्कार कराया है वह हाशियाकृत समाज की एक ऐसी तस्वीर पेश करती है जो वर्चस्ववादियों को 'पानी-पानी' करती है। यहाँ ऐसी माँएँ भी हैं जो अपने बच्चे को पढ़ा न पाने के लिए जीवनभर अपराधबोध पाले घुट रही हैं और आदिवासी भी जिनके घर-आँगन में विकास नाम की कोई चिड़िया भूले से भी नहीं भटकती। कह सकते हैं कि मीनू ने वंचित-पीड़ित-शोषित-परेशानहाल-किसान-मजदूर की एक ऐसी दुनिया से हमारा साक्षात्कार कराया है जो 'इंडिया बनाम बहिष्कृत भारत' की सच्ची किंतु कटु तस्वीर पेश करती है।

आत्मकथ्यात्मक शैली में लिखी गई ये कविताएँ जमीन से जुड़कर जमीनी लोगों को पर लिखी गई कविताएँ हैं–जहाँ आपबीती में जगबीती का सार पेश कर लेखिका ने भूख-गरीबी-अपमान और जहालत झेलते उनसे दो-चार होते लोगों के यथार्थ का फलसफा कबीर की 'जस की तस धर दीनी चदरिया' वाले भाव से उजागर किया है। 'मीनू' के लिए कविता लिखना मन 'बहलाव का साधन नहीं/ बदलाव का दूसरा नाम है।'[1] 'मरघट से गुजरते हुए' हो या 'साक्षात्कार' या 'मेरा दर्द' जैसी कविताओं में एक ओर व्यवस्था के प्रति विद्रोह दिखता है तो दूसरी ओर वर्णवादी व्यवस्था के प्रति खुली चुनौतियाँ भी, जिनमें परिवर्तन की अनुगूँज को लक्ष्य किया जा सकता है–

'कब तक/ यूँ ही ढोता रहेगा/ आदमी, आदमी को?/ मेरे देश में कब तक/ चलता रहेगा ये

 ISSN 0975-735X

सिस्टम?/ आखिर कब तक/खून चूसेगा आदमी?/ आदमी का?'[2]

प्रस्तुत आलेख के अंतर्गत मुख्यत: रजत रानी 'मीनू' की स्त्री दृष्टि पर विचार करते हुए स्त्री विमर्श के आलोक में रजतरानी मीनू के काव्य-संग्रह 'पिता भी तो होते हैं माँ' में अभिव्यक्त दलित स्त्रीवाद का अध्ययन किया जाएगा!

स्त्री-दृष्टि : 'अन्याय की अनुगामिनी न बनूँ/ बात व्यक्तिगत की नहीं/ गलत परंपरा की है/ टूटनी चाहिए झूठी और गलत परिपाटी!'[3]

साहित्य में अभिव्यक्ति की दो दृष्टियाँ आरंभ से ही दृष्टिगोचर होती रही हैं—स्त्री-दृष्टि और पुरुष-दृष्टि! स्त्री दृष्टि का एक व्यंजनार्थ 'द हिंदु' मैगजीन के मुख पृष्ठ पर छपी एक तस्वीर के माध्यम से देना चाहूँगा, देखें, 'दस महीने का इराकी बच्चा मुँह उठाए रो रहा है और उसकी आठ बरस की बहन, जो खुद भी बम से उतनी ही आहत है, अपना रोना भूलकर उसे चुप करा रही है।'[4] 'मीनू' की दृष्टि इसी नियम से परिचालित दिखती है जहाँ हर वंचित-परेशान-दुखी उनके लेखन में अनुस्यूत दिखता है। वे उनके अधिकार के लिए प्रतिबद्ध दिखती हैं। अजंता और एलोरा की गुफाओं में उकेरे गए स्त्री की नग्न प्रतिमाओं की रुँधी अनसुनी आवाज का भी वे स्वर बन जाती हैं–

अजंता-एलोरा में/ पत्थर की तराशी गईं
सुंदर कमनीय मूर्तियाँ/ रो रही हैं–
आजाद होना चाहती हैं/ वे नहीं चाहतीं
उन्हें आज भी/ पुरुष देखें/
उसी दृष्टि से जिससे/ देखा था उन्हें
हजारों वर्ष पूर्व।[5]

'दृष्टि' जेंडर की मुखापेक्षी नहीं होती। जरूरी नहीं पुरुष की दृष्टि पुरुषवादी और स्त्री की दृष्टि स्वीवादी दृष्टि से ही परिचालित हो बल्कि पुरुष की दृष्टि स्त्रीवादी भी हो सकती है या स्त्री की दृष्टि पुरुषवादी भी। यह परिवेश और स्वभाव पर निर्भर करता है। इसके कई उदाहरण आज साहित्यक विधाओं कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध में देखने को मिल रहे हैं। संयोग से आज ज्यादातर स्त्री रचनाकार 'जैसे को तैसा' (विध्वंसक-दृष्टि) नीति का अवलंबन करती दिखती हैं जिन पर जाने-अनजाने उषा उथुप के निम्न गाने का प्रभाव लक्ष्य किया जा सकता है– 'दुनिया ने हमको दिया क्या/ दुनिया से हमने लिया क्या/ हम सबकी परवाह करें क्यों/ सबने हमारा किया क्या?'

क्या 'अन्याय का प्रतिकार अन्याय होना चाहिए?' इस प्रतिक्रियावादी दृष्टि से तो पूरी धरती ही लहूलुहान हो जाएगी! 'मीनू' की दृष्टि करुणा संबलित न्याय दृष्टि है जो 'संतुलन को ही विकास का मूलमंत्र मानती है।'[6] अनामिका रजतरानी 'मीनू' की दृष्टि के संबंध में लिखती हैं, 'जीवन के बृहत्तर पाठों के लिए तैयार करती सजग-सरल मातृदृष्टि, भेदभावरहित नए समाज की संरचना बुनती मातृदृष्टि... पुरुषों की ममता और वात्सल्य में इसने आस्था नहीं खोई।'[7] 'मीनू' की स्त्री-दृष्टि का प्रमाण है उक्त संग्रह में संकलित 'पिता भी तो होते हैं माँ' कविता। जो यह सिद्ध करती है, 'मीनू' की दृष्टि पुरुष-विरोधी नहीं बल्कि विरोध उनका पितृसत्ता से है, वर्णवादी व्यवस्था से है जो हमेशा यह मानकर चलती है कि स्त्री और दलित उनसे हीनतर हैं।

'मीनू' केवल आतताई पुरुषों के चित्र नहीं खींचतीं, उनमें आए बदलावों को भी रेखांकित करती हैं जो सिद्ध करता है वे पुरुषविरोधी नहीं पुरुष की सामंतवादी मानसिकता से उनका विरोध है–

माँ की तरह/ पापा ने सिखाया
उठना-बैठना/ पढ़ना-लिखना
सिलना-बुनना/ खाना-पकाना/ रहना-सहना
वे सुलाते थे मुझे/ अपने सीने से लगाकर
मम्मी की तरह।/ मेरे कपड़ों पर इस्त्री
नहलाते थे मुझे रगड़-रगड़कर
मेरी चोटियाँ गूँथते थे/ बालों में तेल लगाकर
खाना खिलाते थे–
अपने हाथों से निवाला तोड़-तोड़कर
तभी मिलती थी उनको तृप्ति!'[8]

गौरतलब है, स्त्रीवाद की सारी लड़ाई उस व्यवस्था के खिलाफ है जो स्त्री को पुरुषों से कमतर मानते हैं। उन्हें स्वतंत्रता और समानता से वंचित रखने में ही अपनी और समाज की भलाई मानते हैं। कभी धरती पर उक्त कविता में वर्णित पुरुष-सखा या मित्र भाव वाले पुरुष को धरती पर न देख 'जनाबाई' ने अलौकिक पुरुष माधव से अपनी पीड़ा यूँ कही थी–

ऐ माधव! देखो न,
कितने तो काम धरे हैं सर पर
कितना आटा गूथना है अभी
कितने तो कपड़े फींचने हैं
आओ, जरा हाथ बँटा दो/ या तुम/ हेर दो जुएँ ही।[9]

क्या रजत रानी 'मीनू' का पुरुष माधव-सा ही नहीं? निश्चय ही रजतरानी 'मीनू' की कविता का 'पिता' ऐसा ही पुरुष है जिसकी तलाश स्त्रीवादियों को बरसों से थी। वही सखा-बंधु वाले पुरुष, भरतमुनि के धीरोदात्त-धीरललित-धीरप्रशांत नायक।

स्त्रीवाद बनाम दलित स्त्रीवाद–'मेरे जज्बातों का/ संज्ञान तुमने लिया नहीं/ गुलामी मैंने चुनी नहीं/ आजाद तुमने किया नहीं/ पंख उगने दिए नहीं/ फिर व्यंग्य करते हो मुझ पर/ कि अपने पंखों में/ उड़ा ले चलो/ आसमान में/ मुझे भी यदि तुम–'नर से बड़ी नारीवादी हो'।[10]

साहित्य में स्त्री की अभिव्यक्ति आरंभ से होती रही, पिकबैनी, मृगनैनी, सेविका या हृदय में पंप भरती माँ, बहन, बेटी या प्रेमिका के रूप में। सही मायने में स्त्री के मनोविज्ञान या मानसिक अवगुंठन को समझ पाना (यथार्थ के धरातल पर) संभव न हो पाया। सूरदास की भाषा में कहूँ तो स्त्रियों से सहानुभूतिवश पुरुषों की भाषा में 'हलराया-दुलराया-मलराया' तो खूब गया पर वह यथार्थ का फलसफा न बन सका! बेशक वह अच्छे रहे पर स्त्री के हृदय के समक्ष सच्चे न बन पाए। एक पीड़ित और भोगी दृष्टि से वे स्त्रियाँ द्वारा ही लिखी गईं। यह संभव हो पाया विशेषकर आजादी के बाद। जब स्त्री शिक्षा पूरे जोर से आरंभ हो पाई। हालाँकि की कुछ गिनी-चुनी स्त्रियाँ पहले भी शिक्षित थीं, और राजनीति में सक्रिय भी। पर यह आजादी सवर्णों और उच्चवर्गीय लोगों की अँग्रेजों से थी। सही मायने में ज्यादातर दलितों की स्थिति पहले जैसी ही बनी रही–'गरीबी हटाओ' का नारा हो या 'सर्वशिक्षा अभियान', 'सब पढ़ें सब बढ़ें' जैसे नारे ये पंचवर्षीय योजनाओं का हिस्सा अवश्य बने पर दलितों की हिस्से से इनका पूरी तरह उन्मूलन न सही मायने में तब हुआ था और न अब ही। दलित आज भी अपने ही देश में वंचित, पीड़ित-शोषित और गुलाम अवस्था में ही देखे जा रहे हैं। महिला

सशक्तिकरण के जो दावे मंचों पर गले फाड़ व्यक्त किए जाते हैं किंतु क्या उनसे समस्त स्त्री का सरलीकरण करना लोकतंत्र के साथ न्याय होगा। रजतरानी 'मीनू' का सवाल है–

'सड़क किनारे/ उबड़-खाबड़/ आँगन उनके/ वे उन्हें लीपती हैं/ मिट्टी से,/ लगाती हैं झाड़ू।/ तीन-चार फुट्टा दीवारों को जो देते हैं/ मात्र घर का अहसास।/ वे पोतती हैं उसे/ कभी मिट्टी से...कूड़े-कबाड़ से बनती हैं उनकी झुग्गियों की छतें/ दूर से हो जाते हैं दर्शन/ एक विशाल भारत के।/ जहाँ रहते हैं अभी भी/ जीते-जागते इंसान।/ आधारभूत संसाधनों से एकदम विलग।'[11]

दलित स्त्रियों की स्थिति इस लोकतांत्रिक देश में बद से बदतर है, 'दलित स्त्रियाँ सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक और राजनीतिक क्षेत्रों में बहुत पीछे हैं। साहित्य-कला, संगीत, शिक्षा संस्थानों में दलित स्त्रियों का प्रतिनिधित्व भी नगण्य है। वे सभी क्षेत्रों में दलित पुरुषों से भी पीछे हैं। वे जाति भेद और लिंग भेद दोनों की शिकार हैं।'[12] ज्यादातर दलित स्त्रियाँ आज भी शहरों में सवर्णों की कोठियों में झाड़ू-पोंछा करती, जूठे बर्तन माँजती, बच्चे खिलाती या केयर टेकर की भूमिका में और गाँवों में ठाकुरों-बाभनों के खेतों में कटनी-बंधनी-रोपा-डोपा करने तथा फटकन-झाड़न कर अपना जीवन निर्वाह करने को विवश हैं। उनके लिए रविवार का दिन अवकाश का दिन नहीं, काम में हुई बढ़ोतरी का दिन बनकर आता है। उनके लिए अवकाश कहाँ–'करती रही/ इंतजार अपने लिए/ थोड़ा-सा वक्त/ बचाने का पर/ सिर उठाकर देखा/ तो बीत चुका था दिन!'[13]

'वह कोना कहाँ है?/ कभी मिल सकेगा?'[14]

'कोना?' वर्जिनिया वुल्फ ने स्त्री के निजी कमरे की बात की थी। तसलीमा नसरीन 'देश' की बात करती हैं–'औरत का कोई देश नहीं'। रजतरानी 'मीनू' स्त्री के एक 'कोने' की बात करती हैं। सच है, दलित स्त्री के पास एक कोना भी नहीं जहाँ बैठकर वह अपने निजी अनुभव कागजों पर निर्बाध उकेर सकें–

'मैं कैसे कहूँ, किससे कहूँ/ कौन सुनेगा, मेरी बात/ कौन करेगा, मुझ पर विश्वास?/ गोया अपने ही घर में मैं मोह-ममता की कैद में हूँ।/ अपनों के द्वारा ही/ की जाती है/ मुझ पर निगरानी/ किससे कहूँ/ अपनी हकीकत-भरी, जिंदा कहानी।'[15] जिस वास्वविकता से 'मीनू' ने दलित स्त्रियों की शिनाख्त कराई है उससे कौन इंकार कर सकता है। आज भी करोड़ों स्त्रियों के संघर्ष, यातनाएँ और चुनौतियाँ दलित बस्तियों की अशिक्षा और अंधविश्वास की बलि चढ़ वहीं दफन हो जाती हैं। रोटी-कपड़ा-मकान-बिजली-पानी जैसी बुनियादी चीजों से दूर 'उच्च-शिक्षा' का स्वप्न भी भूले से उनके स्वप्न में नहीं आता। आजादी से पूर्व जो स्थिति दलितों की तब थी वह अब भी बरकरार है।

रजतरानी 'मीनू' के यहाँ स्त्रियों की एक ऐसी ही दुनिया बसती है जो अपने जज्बातों का संज्ञान माँगती हैं, घर-बाहर का अंतर्द्वंद्व झेलती, खटती कभी न छुट्टी पाती स्त्रियाँ या चेतना होते हुए भी बोलने-लिखने से डरती-सहमती स्त्री; इक्कीसवीं सदी में भी महानगर में सड़क किनारे फट्टों से खड़ी दीवारों को लिपती स्त्रियाँ यानी दलितों की एक दुनिया ही यहाँ दिखती है। जैसा कि रजतरानी 'मीनू' की निम्न कविता में व्यक्त हुआ है–'प्रधानमंत्री बदले/ मंत्री बदले, बदली हैं सरकारें/ कुर्सी वही, ऑफिस वही/ काम मेरा वही/ कूड़ा उठाना/ झाड़ू लगाना/ मैला ढोना!'[16]

क्यों आज भी ज्यादातर दलित अपने वंशानुगत कार्य करने या उसी पेशों में जाने को विवश हैं? यह प्रश्न विचारणीय है। 'मीनू' ने अनेक सार्थक प्रश्न न केवल उठाए हैं बल्कि उसके उत्तर भी वे दलित बस्तियों से ढूँढ लाई हैं–'वे नहीं जानतीं/ किसे कहते हैं अधिकार?/ कैसी होती है–नारी मुक्ति?'[17]

दलित स्त्रियों की स्थिति बचपन से ही एक 'कामगर' या 'बालश्रमिक' के रूप में देखी जाती है–माँ पिता के साथ खेतों में सहयोग करते या घरों में घर के काम-काज निपटाते। यथास्थिति तो ये भी देखी गई है कि दलित बच्चे सवर्ण की गुलामी या बेगारी करने को विवश हैं। दलित आत्मकथा–'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में सौराज है जिसके पिता पाँच वर्ष की अवस्था में ही गुजर जाते हैं और सौराज सौतेले पिता का दंश झेलता अंततः निर्वासित हो विस्थापन झेलने को मजबूर होता है। अपनी अस्मिता और अस्तित्व के संघर्ष के लिए सौराज कभी नींबू बेचता है, कभी अंडे तो काभी अखबार। कभी जूते पॉलिश करता है तो कभी खिलौनों और किताबों से खेलने और पढ़ने वाले हाथों को तेजाब कर फैक्ट्रियों में अपने हाथ गलाने को भी विवश होना पड़ता है। प्रेमपाल नामक अपने मास्टर साब की ही नहीं कई यादवों भी दिन-रात बेगारी भी कम नहीं करनी होती। बेगारी करवाने के पीछे चाहे प्रेमचंद की 'सवा सेर गेहूँ' के शोषक विप्र महाराज वाली मानसिकता हो या श्यौराजसिंह 'बेचैन' की ही कहानी 'घूँघट हटा था क्या' के पात्र 'बच्चू' (गुलाम) के पिता जैसों की विवशता उक्त कहानी में छल-बल और कौशल का सहारा ले सवर्ण चौधरी बलाधीन दलित-बच्चा-बच्चू को अपना गुलाम बना लेता है। स्त्रियों के घर को कामकाज में इतना व्यस्त रखा जाता है कि खुद उन्हें अपनी उपेक्षा और हाशियाकृत स्थिति का एहसास नहीं हो पाता। वे तो पिता-पति-पुत्र की सेवा-सत्कार में ही अपनी अस्मिता और अस्तित्व को होम कर देते हैं! दलित स्त्री के साथ यह है कि उसे घर-बाहर दोनों ही जगह शोषित-पीड़ित होना पड़ता है। तमिल कवि सरूपा रानी कहीं लिखती हैं–'घर में पुरुष अहंकार एक गाल पर थप्पड़ मारता है, तो गली में जातीय अहंकार दूसरे गाल पर!

स्त्री को उसके श्रम का उचित मूल्य उसे आज भी नहीं मिल पा रहा है, 'स्त्रियाँ अपने घरों में मुफ्त में सारा काम करती हैं, उनके श्रम का कोई मूल्य नहीं दिया जाता, बल्कि इसे परिवार की सेवा कहा जाता है और इस मुफ्त की सेवा को स्त्री का धर्म बताया जाता है। उसी प्रकार स्त्रियाँ घरों के बाहर भी सेवा करें। सरकार स्त्रियों को किसी काम पर लगाती है, तो उन्हें उसी तरह के काम की वही मजदूरी या तनख्वाह दी जानी चाहिए, जो श्रम के बाजार में पुरुष के श्रम का होता है। लेकिन स्त्रियों के संदर्भ में सरकार श्रम के मूल्य की नहीं, सेवा की बात करती है। श्रम-कानूनों के ढाँचें में नहीं, बल्कि सांस्कृतिक ढाँचे में सोचती है और उसके अनुसार चाहती है कि स्त्रियाँ 'आशा' (एक्रडिटेड सोशल हेल्थ एक्टिविस्ट) के रूप में या आँगनबाड़ी कार्यकर्ता के रूप में वैसे ही काम करें, जैसे वे अपने परिवार की सेवा के लिए करती हैं। इसी मानसिकता का नतीजा है कि आज लाखों स्त्रियाँ 'आशा' की कार्यकर्ता या आँगनवाड़ी की जनसेविका के रूप में बहुत ही नगण्य या न के बराबर मानदेय लेकर काम कर रही हैं।'[18] संग्रह की काव्य-यात्रा के आरंभ में ही 'मीनू' ने अपनी लेखनी के सरोकार स्पष्ट कर दिए हैं, 'मैं अपने देश के उस सामाजिक हिस्से से आती हूँ जिसे सहने को समुद्र भर संताप है और कहने को बूँद भर अवसर नहीं है। स्त्री के हक में आधी में वे कौन हैं जो मेरे जैसियों के हिस्से का बोल जाती हैं। मेरी काया में प्रवेश कर मुझसे बहनापा बनाती हैं? पर क्या वे सुविधाभोगी, मेरी गैरदलित बहनें स्त्री-मुक्ति की उपलब्धियाँ मेरे साथ साझा कर पाती हैं? जाहिर है नहीं।' यह स्पष्ट है कि 'मीनू' को क्यों अपना स्त्रीवाद गैरदलितों-सवर्ण स्त्रियों से अलग अपना स्त्रीवाद परिचालित करना पड़ा। इसकी बानगी निम्न कविता में भी देखी जा सकती है–

हमारे साथ जब होता है बलात्कार/ समूहिक बलात्कार-/ तब क्यों हिलता नहीं पत्ता एक भी?/ और जब तुम्हारे साथ हुआ बलात्कार/ तब क्यों हिल गई संसद भी?/ चीख उठीं महिला सांसद

बलात्कार के खिलाफ/ क्यों उड़ गई 'महिला आयोग' की चैन की नींद/ आज क्यों उठी बलात्कारियों को/ सजा-ए-मौत की माँग?'[19]

दलित स्त्री को क्यों गैरदलित स्त्री की मुक्ति से अलग अख्तियार करनी पड़ी उसी के उत्तर स्वरूप इस कविता को पढ़ा जा सकता है। यह सच है कि दलित की समस्या को रेखांकित करने या उन्हें प्रकाश में आने नहीं दिया जाता। शायद इसीलिए अंबेडकर ने दलितों के लिए अलग से दलित पत्रिकाएँ निकालने पर जोर दिया था।

'मीनू' के यहाँ लैंगिक विभेद के साथ परंपराओं और दकियानूसी रिवाजों का विरोध करती अनके कविताओं को भी रेखांकित किया जा सकता है। परंपरा के नाम पर जिस तरह के लैंगिक विभेद की राजनीति का शिकार स्त्रियाँ सदियों से होती आई हैं 'मीनू' उनकी मुखालफत करती हैं। साथ ही दलित स्त्री के ऐसे मारक प्रश्न खड़े करती हैं मानो एकलव्य के तीर धुनष से छूटे हों–

'क्यों नहीं करते/ पति पत्नी की तरह/ करवाचौथ?/ क्यों नहीं करता/ एक बेटा, माँ की तरह अहोई पूजा?/ क्यों नहीं लगाता/ बहन के भाल पर दूज का टीका?'[21]

रजत की स्त्रीवादी दृष्टि प्रगतिशील है वे पितृसत्ता और वर्चस्ववादी षड्यंत्रों को खूब समझती है। वे एक स्त्री को माँ, पत्नी, बहन, प्रेमिका से पूर्व एक मानवी के तौर पर देखती हैं और हर तरह के मानवाधिकार की आवश्यकता पर बल देती हैं जो स्त्री की मानवीय गरिमा को ठेस नहीं पहुँचाते। अवसर और संसाधन के बराबर बँटवारे पर बल देती है। समता, स्वतंत्रा और धर्मनिरपेक्षता की वकालत करती रजतरानी 'मीनू' की कविताएँ एक ओर सवर्ण स्त्रीवाद की राजनीति के पीछे के षड्यंत्रों को उजागर करती है तो वहीं दूसरी ओर दलित स्त्रीवाद की दशा-दिशा को रेखांकित करती हुई वंचित-शोषित-पीड़ित स्त्रियों को मुक्ति के लिए प्रेरित करती है। मुक्ति-भूख, अपमान से ही नहीं हर प्रकार के भेदभाव की राजनीति से हर तरह के पूर्वाग्रहों से जिसके कारण आज भी दलित स्त्री हाशियाकृत है!

कविता के शिल्प की बात की जाए तो कहना न होगा जिस तरह पहाड़ों, नदियों, और झरनों का कोई शिल्प नहीं होता, पर उनकी उपस्थिति ही जीवन होती है, उनके बिना जीवन संभव नहीं! ठीक 'मीनू' की कविताओं का कोई शिल्प नहीं पर पहाड़ों-सी स्थिरता और गंभीरता दोनों ही यहाँ लक्ष्य किए जा सकते हैं–भूख, गरीबी, अशिक्षा, कुरीतियाँ, असमानता और अंधविश्वाश यहाँ दूर-दूर तक पसरे हुए हैं जो कविता में स्थाई भाव की तरह अंतर्निहित हैं, जिसके प्रति जिरह या कहें जिससे मुक्ति के लिए 'मीनू' कविता का रास्ता अख्तियार करती हुई 'मानव-मुक्ति' के रास्ते तलाशती हैं।

संदर्भ

1. रजतरानी मीनू, पिता भी तो होते हैं माँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2015, पृ॰ 56
2. वही, पृ॰ 131
3. वही, पृ॰ 58
4. अनामिका, साझा चूल्हा, पृ॰ 56
5. रजतरानी मीनू, पिता भी तो होते हैं माँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2015, पृ॰ 94
6. अनामिका, स्त्री विमर्श की उत्तरगाथा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृ॰ 97
7. रजतरानी मीनू, पिता भी तो होते हैं माँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2015, भूमिका से
8. वही, पृ॰ 30
9. अनामिका, कविता में औरत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृ॰ 41

10. रजतरानी मीनू, पिता भी तो होते हैं माँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2015, पृ॰ 69
11. वही, पृ॰ 65
12. जाति, स्त्री और साहित्य, एकेडमिक प्रकशन, दिल्ली, संस्करण 2021
13. रजतरानी मीनू, पिता भी तो होते हैं माँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2015, पृ॰ 64
14. वही, पृ॰ 62
15. वही, पृ॰ 121
16. वही, पृ॰ 127
17. वही, पृ॰ 52
18. स्त्री सशक्तिकरण, संपा. रमेश उपाध्याय/पृ॰ 14
19. रजतरानी मीनू, पिता भी तो होते हैं माँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2015, 39
20. वही, पृ॰ 138
21. वही, पृ॰ 138

C/o Ritik kumar
Mahadevpur, Nawagarhi,
Munger 811211 (Bihar)
Mob. 9958641461, 7781909842
rajakumardu1992@gmail.com

 ISSN 0975-735X

भारतीय चिंतन परंपरा को सुदृढ़ करने वाले निबंधकार कुबेरनाथ राय

ऋषिकेश कुमार
पी॰जी॰डी॰ए॰वी॰ महाविद्यालय (दिल्ली विश्वविद्यालय)
रिंग रोड, नेहरू नगर, लाजपत नगर, नई दिल्ली

हिंदी साहित्य के आधुनिककाल में प्रसिद्ध आर्ष-मनीषा के अन्वीक्षक आख्याता, सारस्वत साधना के साधक, ललित निबंध लेखक, 'देशी' किस्म के ग्रामीण बुद्धिजीवी, चिंतक श्री कुबेरनाथ राय ने हिंदी साहित्य में अपने ढंग से निर्माण करने वाले लेखक हैं, उनके साहित्य में सभी के कल्याण की भावना निहित है। श्रीराय ने बदलते समय और परिवेश को ध्यान में रखते हुए, भारतीय चिंतन परंपरा में जहाँ सुधार की गुंजाइश दिखाई दी वहाँ सुधार हेतु सुझाव दिए और जहाँ व्याख्या की आवश्यकता थी, वहाँ उन्होंने संदर्भ सहित व्याख्या भी की–'नीलकंठ की नगरी वाराणसी और प्राग-भारती का प्रभामय प्रांगण कामरूप दोनों श्री कुबेरनाथ राय के स्वाध्याय और वाङ्मय तपस्या के केंद्र हैं। प्रसन्न पुण्य सलिला भगवती भागीरथी ने कुबेरनाथ को 'रस' प्रदान किया तो असम की आत्मीय ने उनको 'तत्त्वबोध' कराया। दोनों का मंजुल सामंजस्य श्री कुबेरनाथ राय की लेखनी में विद्यमान है।'[1] जिसका आनंद पाठक ले सकते हैं लेकिन हाँ, शर्त यह है कि पाठक को सजग रहना होगा अन्यथा कुछ खास प्राप्त नहीं होने वाला है। जिस लेखक को 'अपनी भाषिक संस्कृति का आदर्श तुलसीदास के 'रामचरितमानस' से मिला है।'[2] जो यह साफ शब्दों में लिखता हो कि 'मेरा उद्देश्य रहा है पाठक के चित्त को परिमार्जित भव्यता देना और साथ ही उसकी चित्त-ऋद्धि का विस्तार करना।'[3] उनके प्रति सतर्क तो रहना ही पड़ेगा अन्यथा कुछ हाथ नहीं आने वाला है, 'परिमार्जित भव्यता, चित्त-ऋद्धि का विस्तार' तो दूर की बात है। कुबेरनाथ राय के निबंधों के मर्मज्ञ और गांधीवादी विचारक डॉ॰ मनोज राय अपने आलेख 'लॉकडाउन में श्री कुबेरनाथ राय को पढ़ते हुए' में लिखते हैं–'श्री कुबेरनाथ का चिंतन इतना बहुआयामी है कि उसे समग्रता में प्रस्तुत करना आसान नहीं है। उनके निबंध पाठक से उसके अध्ययन-चिंतन की माँग करते हैं। कहानी-उपन्यास की तरह सिरहाने रखने से श्री राय पकड़ में नहीं आते हैं। श्री राय ने कला, साहित्य, दर्शन, गणित, भूगोल आदि का तलस्पर्शी अवगाहन किया है। यह लगभग असामान्य घटना है। उनके समकालीनों में शायद ही किसी का बूता हो जिसने इस गहराई से विविध विषयों का अध्ययन किया हो और उसे ललित शैली में प्रस्तुत किया हो।'[4] कुबेरनाथ राय ने विषय के अनुसार, उसकी स्वभाविक अभिव्यक्ति के अनुरूप शैली ग्रहण करते हुए अपने चिंतन प्रस्तुत किए। उन्होंने पाश्चात्य विद्वानों पर ललित निबंध लिखा आत्मकथात्मक शैली में, गांधीजी के विचारों को केंद्र में रखकर निबंध लिखा प्रत्रात्मक शैली में, असम के प्रकृति को केंद्र में रखकर निबंध लिखा संस्मरणात्मक शैली में। कुबेरनाथ राय का उद्देश्य साफ था, सोचने-समझने वाला पाठक तैयार करना है न कि 'आधुनिक चारण' करने वाले पाठक। अपने निबंध-संग्रह 'किरात नदी में चंद्र मधु'

में रायजी लिखते हैं कि 'पुस्तक का प्रथम उद्देश्य है–भारतीय संस्कृति के अंदर आर्येतर तत्त्वों की महिमा का उद्घाटन। द्वितीय उद्देश्य है किरात तन्मात्राओं (रूप-रस-गंध-स्पर्श-शब्द) का स्वाद हिंदी पाठक के लिए सुलभ करना।'[5] ताकि वह उन महानुभावों के सामने सीना तानकर खड़े होकर उन्हें बता सके, जब वे कहते हों कि भारत को 'भारत' हमने बनाया है। जब तक समाज के लोगों को पता नहीं होगा कि भारत जिसमें हम रहते हैं, इसमें मेरा क्या है? मेरे पूर्वजों का क्या योगदान है? जब तक वह जान नहीं लेगा तब तक वह बस, रेल आदि को जलाता ही रहने वाला है। क्योंकि उसे पता ही नहीं है कि जिसे वह जला रहा है वह तो उसकी अपनी, अपने पूर्वजों की धरोहर है। उसे तो यह बताया गया है कि तुम अल्पसंख्यक हो, तुम शोषित हो, तुम्हें सुविधाओं से जान-बूझकर वंचित रखा गया है। किंतु कुबेरनाथ अपने चिंतन मनन के बाद उन्हें बताते हैं कि 'मैं सत्ताईस-अट्ठाईस वर्ष हिंदी क्षेत्रों से बाहर रहा और मैंने पग-पग पर अनुभव किया कि भारतवर्ष को 'भारतवर्ष' बनाने की प्रक्रिया में पिछड़े से पिछड़े वर्ग का भी सामाजिक, सांस्कृतिक और भाषिक योगदान रहा है। सबने मिल-जुलकर इसके इतिहास, इसकी भाषा और इसकी संस्कृति की रचना की है और सहस्राब्दियों से इसका लोक-जीवन दर्शन और रस-बोध की दृष्टि से सबने मिल-जुलकर हमारी एक अलग 'पहचान' बनाई है।'[6] पर आज की विडंबना यह है कि इस 'पहचान' को पहचानने वाले कम हैं और जो उनको भारत की पहचान कराने की क्षमता रखते भी हैं, उन पर आरोप लगाया जाता है कि उनके निबंध के विषय और उसमें उपयोग किए गए शब्दों के कारण पाठक को पढ़ने समझने में कष्ट होता है! यह बात किसी और लेखक के बारे में नहीं कुबेरनाथ राय के बारे में वे लोग कहते हैं जो न तो कुबेरनाथ राय को पढ़ते हैं न उन पर कार्य करने वाले लोगों को। भारत को भारत बनाने में किसका महत्त्वपूर्ण योगदान है इसको लेकर अक्सर वाद विवाद होता रहता है। इसके लिए हमें यह जानना जरूरी है कि भारत को भारत बनाने में एक जमात या वर्ग का योगदान नहीं है। श्रीराय के शब्दों में, 'भारतीयता एक संयुक्त उत्तराधिकार है और इस उत्तराधिकार के रचयिता सिर्फ आर्य ही नहीं रहे हैं, वस्तुतः आर्यों के नेतृत्व में इस संयुक्त उत्तराधिकार की रचना द्रविड़ निषाद किरात ने की है। ग्राम संस्कृति और कृषि सभ्यता का बीजारोपण और विकास निषाद द्वारा हुआ है। नगर सभ्यता कला शिल्प, ध्यान धारणा, भक्ति योग के पीछे द्रविड़ मन है। आरण्यक शिल्प और कला संस्कारों में किरातों का योगदान है। सबूत है नृतत्वशास्त्र भाषा विज्ञान तथा प्रागैइतिहास (प्री हिस्ट्री) के अवशेष। भारतीय 'ब्रह्मा' चतुरानन है जिसके चार मुख हैं–आर्य, द्रविड़, किरात, निषाद।'[7] भारतीय विचार में प्रत्येक व्यक्ति के कुछ-न-कुछ दायित्व हैं। वह चाहे कहानीकार हो, उपन्यासकार या निबंधकार हर नागरिक के अपने दायित्व हैं। निबंधकार के भी कुछ अपने महत्त्वपूर्ण दायित्व हैं कुबेरनाथ राय के शब्दों में, 'निबंधकार का एक मुख्य कर्त्तव्य होता है पाठक की मानसिक ऋद्धि और बौद्धिक क्षितिज का विस्तार करना। यदि वह पाठक के बौद्धिक स्तर को ही लक्ष्मण रेखा मानकर चलेगा तो यह संभव नहीं है।'[8] श्रीराय स्वयं अपने दायित्वों के संबंध में लिखते हैं कि 'मैं शुद्धतः ललित निबंधकार हूँ और लालित्य के साथ बैद्धिक रस का संप्रेषण एवं इसके द्वारा पाठक के मानसिक क्षितिज का विस्तार, यही मेरा उद्देश्य रहा है।'[9] कोई लाग-लपेट नहीं, साफ शब्दों में बता देते हैं कि मेरा उद्देश्य क्या है। असल में कुबेरनाथ राय के लेखन आरंभ ही चुनौती से होता है, स्वयं उन्हीं के शब्दों में, 'बचपन में कभी लिखता था, 'माधुरी', 'विशाल भारत' आदि अच्छे पत्रों में। बीच में मौन रहा। सन् 1962 में प्रोफेसर हिमायूँ कबीर की इतिहास-संबंधी ऊल-जलूल मान्यताओं पर मेरे एक तर्कपूर्ण और क्रोधपूर्ण निबंध को पढ़कर पं॰ श्रीनारायण चतुर्वेदी ने मुझे

घसीटकर मैदान में खड़ा कर दिया और हाथ में धनुष बाण पकड़ा दिया। अब मैं अपने राष्ट्रीय और साहित्यिक-उत्तरदायित्व के प्रति सजग था। मैं सरस्वती में लगातार लिखने लगा।'[10] 'बीच में मौन' अकारण नहीं था, सकारण मौन था। जब चीजें अपने वश में नहीं रहतीं, तब हमें अपनी जीवनचर्या पर फिर से रुककर विचार करना चाहिए। कुछ समय के लिए रुकना भी पड़े तो रुक जाना चाहिए। रुकना भी एक तरह का बदलाव है। हम रुकते हैं, चिंतन-मनन करने के लिए, नई योजना बनाने के लिए बदलते समय और समाज में अपने को कायम रखने के लिए, परिवर्तित काल में अपने को लगातार परिष्कृत और परिमार्जित करने के लिए। हमें अपने को समय के साथ बदलना बहुत जरूरी है। सकारात्मक मौन परिष्कृत और परिमार्जित रूप में 'प्रिया नीलकंठी, रस आखेटक, गंधमादन, निषाद बाँसुरी, विषाद योग, पर्णमुकुट, महाकवि की तर्जनी, पत्र मणिपुतुल के नाम, मन पवन की नौका, किरात नदी में चंद्रमधु, दृष्टि अभिसार, त्रेता का वृहत्साम, कामधेनु, मारल, उत्तरकुरु, चिन्मय भारत, वाणी का क्षीरसागर, कथामणि, अंधकार में अग्निशिखा, रामायण महातीर्थम् और आगम की नाव' लेकर उपस्थित होते हैं। जिसमें 'भारतीयता का प्रत्यभिज्ञान, अर्थात् भारत की सही 'आइडेंटिटी' का पुनराविष्कार, जिससे वे जो कई हजार वर्षों से आत्महीनता की तमसा में आबद्ध रहे हैं, इस बात को जानें कि यह भारत और भारतीयता का उत्तराधिकार उनके ही 'महिदास' जैसे पूर्वजों की रचना है और इस तथ्य को जानकर वे अपने खोए आत्मविश्वास को प्राप्त करें, उनका सुप्त आत्मबल पुनः जागे।'[11] कुबेरनाथ राय ने रामायण और राम को केंद्र में रखकर जितने भी निबंध लिखे उन सबके उद्देश्य उनके समाने साफ थे, उन्होंने अपने 'त्रेता का बृहत्साम' निबंध संग्रह में लिखा कि 'पुस्तक का उद्देश्य रामभक्ति का प्रचार नहीं है, बल्कि 'रामत्व' की कुछ विशिष्टताओं का उद्घाटन है। ...रामत्व के उस सौंदर्य का उद्घाटन जो तप, संकल्प पुरुषार्थ, त्याग, ज्ञान और तेज से जुड़ा है।'[12] 'तप, संकल्प, पुरुषार्थ, त्याग, ज्ञान और तेज कुबेरनाथ राय का व्यक्तित्व है जिसे राम के समान ही तिरस्कृत किया गया है। उस समय के प्रसिद्ध आलोचक साहित्यकार कुछ को छोड़कर सबने श्रीराय के साथ, राम और भारतीय जनता के साथ अन्याय किया, पाप कर्म किया। पर कौन चिंतन करता है इस ओर? आज भी उनका ही बोलबाला है जिन्होंने देह का साहित्य में सबसे ज्यादा दुरुपयोग किया। जब तक, वे थे देह का आनंद लेते रहे! अब जो तब उनके सहयोगी थे देह विमर्श पर चर्चा करते नहीं थकते! इस ओर, इस चिंतन की ओर कितनों ने ध्यान दिया जो आत्मा को उन्नयन की ओर ले जाए, जिससे हमें यह ज्ञान प्राप्त होता है कि 'हमें सदैव यह मानकर चलना है कि मनुष्य की सार्थकता उसकी 'देह' में नहीं, उसके 'चित्त' में है। उसके चित्त-गुण को, उसकी सोचने-समझने और अनुभव करने की क्षमता को विस्तीर्ण करते चलना ही 'मानविकी' के शास्त्रों का विशेषतः साहित्य का मूलधर्म है।'[13] किंतु उपभोक्तावादी दृष्टिकोण वाले लोगों को देह से फुर्सत ही कहाँ है जो 'चित्त' की ओर दृष्टि डाले!! टॉलस्टॉय ने लिखा, 'कला का लक्ष्य है नैतिक परिपूर्णता।'[14] कुबेरनाथ राय भी लिखते हैं, 'साहित्य की नींव है 'शील', इसके गर्भगृह की प्रतिमा है 'रस' पर, शिखर कलश है एक 'आत्मिक निरुजता और मुक्ति' जिसे पुरानी भाषा में कहा गया है। सौंदर्यबोध मध्य की कड़ी 'हीर' या हृदय होते हुए भी आदि और अंत के संकेतों से रिक्त होने पर त्याज्य है।'[15] किंतु तथाकथित लोगों ने कुबेरनाथ के लेखन को ही त्याज्य दिया! क्योंकि कुबेरनाथ राय ने जितना लिखा, जहाँ बोले, जिस किसी को भी जबाब दिया दो टूक जबाब दिया। मिसाल के तौर पर उनके निबंध 'मराल' की भूमिका प्रस्तुत है, कुबेरनाथ राय लिखते हैं कि 'निबंधकार फिल्म-निर्माता नहीं है। उसका कर्त्तव्य है कि वह फिल्म-निर्माता से भिन्न

होकर सोचे। वह तो अंतिम विश्लेषण में अध्यापक है। उसका काम है मन बुद्धि के आयामों को विस्तार देना, शब्दों और संदर्भों के माध्यम से।...मैंने अपनी क्षुद्र सामर्थ्य में जो कुछ किया है वह पाठक के भाषिक क्षमता को समृद्ध करने और उसे अपनी देशी भाषिक संस्कृति से मूल-संलग्न करने की दृष्टि से किया है।'[16] बदलते समय और परिवेश के साथ गौरवशाली चिंतन परंपरा को आगे बढ़ाना एक चुनौती भरा कार्य रहा है। इस मंगल चिंतन परंपरा को आगे बढ़ाने का कार्य इस देश के चिंतक, समाज-सुधारक, साहित्यकार आरंभकाल से करते चले आ रहे हैं। इस चिंतन परंपरा में कुबेरनाथ राय का योगदान भी स्तुत्य है। श्रीराय ने अपने ललित निबंधों में पुरातन और नवीनतम के समन्वय के साथ युगबोध के चिंतन, संस्कृति की परिवर्तनशीलता, लोकसंस्कृति की झाँकी, मानव मूल्यों के बनते-बिगड़ते संबंधों और तिथि-पर्वों को अपने निबंधों में स्थान देकर भारतीय चिंतन परंपरा को सुदृढ़ किया है। कुबेरनाथ राय के निबंधों को पढ़ने के बाद जो ज्ञान प्राप्त होता है वह यह कि 'भद्र मनुष्य अपने मांगलिक कोष से मंगलमय वस्तुओं को प्रस्तुत करता है।

संदर्भ

1. कुबेरनाथ राय, मराल, पृ॰ 4
2. वही, पृ॰ 8
3. वही, पृ॰ 8
4. लॉकडाउन में श्री कुबेरनाथ राय को पढ़ते हुए, 'मेरा गाँव मेरा देशा सांस्कृतिक पाठ का गवाक्ष' से- डॉ॰ मनोज राय
5. कुबेरनाथ राय, किरात नदी में चंद्रमधु, पृ॰ 155
6. कुबेरनाथ राय, उत्तरकुरु, पृ॰ 9
7. कुबेरनाथ राय, निषाद बाँसुरी, पृ॰ 233
8. कुबेरनाथ राय, रामायण महातीर्थम्, पृ॰ 348,49
9. वही, पृ॰ 338
10. कुबेरनाथ राय, प्रिया नीलकंठी, पृ॰ 126
11. कुबेरनाथ राय, निषाद बाँसुरी, पृ॰ 262
12. कुबेरनाथ राय, त्रेता का बृहत्साम, पृ॰ 7
13. कुबेरनाथ राय, कामधेनु, पृ॰ 8
14. टॉलस्टॉय, कला क्या है, पृ॰ 55
15. कुबेरनाथ राय, पर्ण-मुकुट, पृ॰ 216
16. कुबेरनाथ राय, मराल, पृ॰ 8

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के हिंदी उपन्यासों में स्त्री-पुरुष संबंधों की चेतना

डॉ॰ रुपिन्द्र शर्मा, असि॰ प्रोफेसर, हिंदी विभाग
मुल्तानीमल मोदी कॉलेज, पटियाला

भारतीय समाज के निर्माण में आदर्शवादी सोच ने अहम भूमिका का निर्वाह किया है। इस आदर्श समाज के निर्माण के लिए भारतवर्ष में स्त्री-पुरुष संबंधों को भी आदर्शवाद की कसौटी पर कसा गया। इसीलिए हमारे यहाँ एक पतिव्रता स्त्री और एक पत्नीव्रता पुरुष की इतनी ज्यादा महिमा की गई है। लेकिन आधुनिक युग की जटिलता और वैज्ञानिक क्रांति ने भारतीय समाज की आदर्शवादी सोच में अनेकानेक संक्रमण उत्पन्न किए हैं, जिससे लोगों की स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर परंपरागत मान्यताएँ काफी व्यावहारिक होती चली जा रही है। यही वजह है कि आज विवाह जैसी संस्था भी प्रश्नों के घेरे में है। समकालीन सामाजिक स्थितियों में विवाह को युग-युग का बंधन न मानकर महज एक सामाजिक समझौता माना जाने लगा है। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के उपन्यासकार इस विघटन को निकटता से देखते हैं और उनकी सोच उन्हें ठीक या गलत का फैसला करने के लिए विवश भी करती है। लेकिन यह बात तय है कि इस संदर्भ में उनकी मूल्य-चेतना जड़वादी न होकर व्यावहारिक है।

विष्णु प्रभाकर की जीवन-दृष्टि पर गांधीवाद का प्रभाव होने के कारण 'अर्द्धनारीश्वर' में उनका नजरिया काफी आदर्शवादी रहा है। वे स्त्री-पुरुष संबंधों में स्वच्छंदता के पक्ष में नहीं हैं और न ही विवाह संस्था को अर्थहीन मानते हैं। अपने एक साक्षात्कार में वे इस बात को स्पष्टत: कहते हैं कि 'पर मेरा मानना है कि विवाह संस्था नष्ट नहीं होगी। यही समाज में फैलती अराजकता पर प्रभावी अंकुश है।'[1] 'अर्द्धनारीश्वर' की विभा जब विवाह संस्था को अर्थहीन मानती है तो उसके पिता महेंद्र उसे समझाते हुए कहते हैं, 'विवाह संस्था को मिटाना समाज को मिटाकर गुफा युग में ले जाना होगा। मूल शब्द है समाज, भीड़ उसका विलोम है।'[2] लेकिन इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि उपन्यासकार जड़ रिश्तों को ढोने का उपदेश देता है। जब विभा को पता चलता है कि उसके पति अनित्य के उसकी अपनी ही भाभी अपर्णा के साथ न केवल शारीरिक संबंध हैं, बल्कि वह अनित्य की संतान की माँ है तो वह अनित्य को मुक्त करने के संबंध में सोचने लगती है। जब अनित्य के बड़े भाई की आकस्मिक मृत्यु हो जाती है तो विभा उसे अपने से मुक्त कर देती है। यद्यपि यहाँ प्रभाकर स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर काफी व्यावहारिक नजर आते हैं तथापि उनका संदेश आदर्शवादी है। वे चाहते हैं कि स्त्री-पुरुष परस्पर सह-अस्तित्व को स्वीकार करें और इसके लिए जरूरी है, 'इच्छाओं से मुक्ति नहीं, इच्छाओं की दासता से मुक्ति, निर्भरता से नहीं निर्भरता की अनिवार्यता से मुक्ति।'[3] अत: उपन्यासकार की मान्यतानुसार नर-नारी संबंधों में जटिलता का सबसे बड़ा कारण अतिरिक्त मोह ही है। इस अतिरक्त मोह के कारण स्त्री और पुरुष एक-दूसरे के दास बने हुए हैं। इस संदर्भ में लेखक कहता है कि 'स्त्री पुरुष की दासी इसलिए है कि वह पुरुष और

उसके बल के प्रति आकर्षण अनुभव करती है, उसके अंदर घर बसाने की इच्छा होती है, वह घर से प्राप्त होने वाली सुरक्षा को चाहती है और अंत में उसके अंदर मातृत्व के प्रति मोह होता है। इधर पुरुष स्त्री का दास है, अधिकार की भावना के कारण, कामवासना की तृप्ति की इच्छा तथा विवाहित जीवन की छोटी-मोटी सुख-सुविधाओं के प्रति आसक्ति के कारण।'[4] विष्णु जी इस बात को प्रखरता से महसूस करते हैं कि वर्तमान समय में स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के विकास में सहायक न होकर एक-दूसरे की गुलामी का कारण बन रहे हैं क्योंकि, 'समाज में प्रचलित विवाह अभी देह-स्तर से अधिक बँधा है। ...यौन संपर्क की शर्त जब विवाह से हट जाएगी तब विवाह के साथ जुड़ी कुंठा, अपराध और हीनता की भावना भी उससे निकल जाएगी और विवाह समाज में अधिक सार्थक, सुलभ और समादृत हो जाएगा।'[5] यही वजह है कि लेखक चाहता है कि नर-नारी को अद्वैत नहीं होना बल्कि भगवान शिव के 'अर्द्धनारीश्वर' के स्वरूप की भाँति अपना अलग-अलग एवं स्वतंत्र अस्तित्व भी रखना है। अपनी इस मान्यता को विभा के शब्दों में प्रकट करते हुए लेखक कहता है, 'अर्द्धनारीश्वर का प्रतीक इस कल्पना का साकार रूप है, एक-दूसरे से विसर्जित नहीं, एक-दूसरे से स्वतंत्र फिर भी जुड़े हुए। नारी को बस नारी बनना है, सुंदरी और कामिनी नहीं।'[6]

भगवान सिंह ने अपने उपन्यास 'अपने अपने राम' की कथा में आमूल-चूल परिवर्तन किया है, परंतु राम और सीता के संबंधों को आदर्श मानते हुए उनके संबंध में अपनी उद्‌भावनाओं को आधुनिक परिवेश की आवश्यकताओं के अनुरूप ही अभिव्यक्त किया है। राम और सीता का पति-पत्नी संबंध आदर्शात्मक है क्योंकि 'राम के लिए सीता के रूप का नहीं पत्नीत्व का महत्त्व है। सीता के लिए राम जितने आदरणीय हैं, राम के लिए सीता भी उतनी ही आदरणीय हैं।'[7] लेखक की मान्यता है कि प्राचीन राजतंत्र में जहाँ अन्य राजाओं द्वारा नारी को मात्र भोग की वस्तु माना जाता था, वहाँ राम ने समस्त सामंतवादी मान्यताओं को ठुकराते हुए सीता को न केवल सच्चे अर्थों में अपनी अर्द्धांगिनी माना बल्कि एक पत्नी व्रत का भी निष्ठापूर्वक पालन किया। राम ने इस आदर्श रूप पर टिप्पणी करते हुए भगवान सिंह का उपन्यासकार लिखता है, 'युगों बाद जब लोग पत्नी के लिए अर्द्धांगिनी शब्द का प्रयोग करेंगे तो शायद ही सोच पाएँ कि पहली बार इसका प्रयोग सीता के लिए राम ने किया था और किया भी था उस व्यवस्था को चुनौती देते हुए जिसमें स्त्री को एक वस्तु समझा जाता था। संग्रहणीय वस्तु, रत्न, स्त्रीरत्न।'[8] अतः लेखक की मान्यता है कि जहाँ पति-पत्नी का स्वतंत्र अस्तित्व हो वहीं संबंधों में सहजता आती है। स्त्री-पुरुष संबंधों में असहजता का मूल कारण ही पुरुष की सामंती सोच है, जिसके तहत पुरुष द्वारा स्त्री को मात्र भोग की वस्तु माना जाता है। दशरथ और कैकेयी के पति-पत्नी संबंधों की जटिलता का कारण भी यही है। इस संदर्भ में लेखकीय टिप्पणी अवलोकनीय है, 'महाराज ने कामशास्त्र भी अधूरा ही पढ़ा था। वह यह मानने के लिए तैयार ही नहीं थे कि कोई युवती अपने पिता की उम्र के पुरुष से प्रसन्न रहने का प्रयत्न तो कर सकती है, परंतु उससे प्यार नहीं कर सकती।'[9] अतः यह जरूरी है कि पुरुष अपनी भोगवादी, सामंतवादी मान्यताओं को छोड़कर नारी के मानवीय अस्तित्व को स्वीकार करे।

लेकिन व्यावहारिक जीवन में 'छिन्नमस्ता' उपन्यास की प्रिया और नरेंद्र के संबंध परंपरागत सामंती मूल्यों द्वारा ही संचालित हैं। नरेंद्र प्रिया को मात्र देह मानता है, जोकि उसके आत्मिक और भावनात्मक जीवन की अवहेलना है। प्रभा खेतान नरेंद्र की इस सामंती सोच को उसके ही शब्दों में इस प्रकार अभिव्यक्त करती हैं, 'दरअसल तुमको इतनी खुली छूट देने की गलती मेरी ही थी। मुझे पहले ही चिड़िया के पंख काट देने चाहिए थे। पर मैं तुम्हारी बातों में आ गया। तुम्हारे इस भोले

चेहरे के पीछे एक मक्कार औरत का चेहरा है।'[10] प्रिया यह मानती है कि वह जो व्यवसाय करती है वह केवल पैसा कमाने के लिए नहीं बल्कि उसका व्यवसाय आज उसकी आइडेंटिटी भी बन चुका है।[11] इसके विपरीत नरेंद्र प्रिया के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं कर सकता और उसे अपने ऊपर निर्भर बनाए रखना चाहता है। नरेंद्र की भाँति 'आवां' उपन्यास की गौतमी ने भी अपने पति को अपना दास बनाकर रखा हुआ है। उसके अनुसार 'माँ के अलावा मेरा एक अदद पति है, नाम है अशोक। ठीक उसी तरह जिस तरह घर में अलमारी है, फ्रिज है, वाशिंग मशीन है, डिशवाशर है। जितना वो मेरे लिए काम आती हैं, बदले में मैं उनकी देखभाल करती हूँ, अशोक के साथ भी मेरा यही रिश्ता है।'[12] इस प्रकार स्त्री भी समर्थ होने पर पुरुष की ही भाँति व्यवहार करने लगती है। लेकिन चित्रा का नजरिया इस प्रकार के संबंधों को स्वस्थ नहीं स्वीकार करता, क्योंकि उनकी मान्यतानुसार इस प्रकार की सोच भोग को प्रश्रय तो दे सकती है, लेकिन मानव के सहज विकास में योगदान नहीं दे सकती। अपने इसी आशय को स्पष्ट करने के लिए लेखिका पवार के मुख से कहलवाती है, 'स्त्री-पुरुष संबंधों में प्रतिहिंसा परस्पर इस सीमा तक खिंच गई है कि स्त्रियों ने एकजुट हो स्त्रियों के संग रहने की ठान ली। मर्द-औरत के बीच कोई सामंजस्य स्थापित हो सकेगा इन बेहूदा हरकतों से? बन पाएगी परस्पर स्वस्थ स्थिति!'[13] यही वजह है कि विवेच्य उपन्यास में चित्रा की प्रतिनिधि पात्र नमिता को जब इस बात का बोध होता है कि संजय का प्यार, प्यार न होकर केवल उसका स्वार्थ है क्योंकि संजय उसकी कोख का प्रयोग केवल संतान उत्पन्न करने के लिए करना चाहता था तो वह संजय को छोड़ने का फैसला करती है। इस बोध के बाद उसे केवल उस पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष करने का मार्ग ही दिखाई देता है जिसमें स्त्री या पुरुष को केवल भोग्य वस्तु बनाकर छोड़ दिया जाता है।

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'चाक' में विवाहेतर संबंधों का समर्थन किया गया है। अपने एक निबंध 'औरत नाटक न करे तो क्या करे!' में वह इस बात को स्पष्टत: स्वीकार भी करती है कि 'स्त्री-पुरुष के बीच एक नैसर्गिक लगाव तो होता ही है और मैं इसमें किसी सीमा को नहीं मानती। अगर किसी से प्रेम हुआ तो वह किसी भी हद तक जा सकता है। समाज की नजर में भले ही वह अनैतिक हो मेरी नजर में नैतिक है।'[14] अत: मैत्रेयी के लिए स्त्री-पुरुष संबंध परस्पर जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति का ही पर्याय है। उपन्यास की रेशम अपने पति की मृत्यु के बाद जब गर्भवती हो जाती है, तब उसकी सास द्वारा उसकी लानत-मलामत करने पर वह उसे दो टूक शब्दों में कहती है, 'अम्मा तुम तो बिरथा ही दाँत किटकिटा रही हो। तुम्हारे पूत की चिता ठंडी हो जाने से क्या मेरी देह की आग बुझ जाती? जीतों-मरतों का भेद भी भूल गई तुम? बेटा के संग मैं भी मरी मान ली!'[15] मैत्रेयी की स्त्रियाँ नारी के परिवर्तित हो रहे भाव-बोध को प्रकट करती हैं। उसकी रेशम यही नहीं रुकती बल्कि वह स्त्री-पुरुष संबंधों में पुरुष के वर्चस्व को चुनौती देते हुए इस व्यवस्था के दंभ और दोहरे चेहरे को भी उजागर करने के लिए अपनी सास से कहती है, 'आज तुम्हारा बेटा मेरी जगह होता तो पूछती कि तू किसके संग सोया था? अब उसकी बाँह गह ले। मेरे मरे पीछे तेरहीं तक सबर न करता और ले आता दूसरी। तुम खुश हो रही होती कि पूत की उजड़ी जिंदगी बस गई। पर मेरा फजीता करने पर तुली हो।'[16] यहाँ ध्यातव्य है कि जब मैत्रेयी विधवा रेशम की पक्षधरता लेती है तो पाठक की सहानुभूति उसके साथ होती है। लेकिन जब वह स्त्री-पुरुष संबंधों को उग्र स्त्रीवाद की कसौटी पर परखना चाहती हुई गुरुकुल की नाबालिग लड़कियों के यौन-स्वेच्छाचार का भी समर्थन करती है, कलावती चाची द्वारा सभी रिश्तों-नातों को ताक पर

रखकर उसे कलेसी सिंह के साथ संसर्ग करते दिखाती है और सारंग के अपने ही बेटे के शिक्षक श्रीधर के साथ शारीरिक संबंधों को मान्यता देती है तो लेखिका का उक्त नजरिया उसका स्त्रीवाद कम और घोर व्यक्तिवाद ज्यादा प्रतीत होने लगता है। हाँ, मैत्रेयी की यह मान्यता बिल्कुल ठीक है कि अगर स्त्री और पुरुष एक-दूसरे को चाहते हैं तो उन्हें विवाह करवाने का पूरा हक है। गुलकंदी जब बिसुनदेवा से अपनी मर्जी से शादी कर लेती है, तो मास्टर श्रीधर उसकी माँ को समझाते हुए कहता है, '...जिसके पीछे सालों से भाग रही हो और वह देख तक नहीं रहा। क्या हासिल होगा उससे तुम्हें? बिसुनदेवा और गुलकंदी एक-दूसरे को चाहते हैं।'[17] यही वजह है कि मैत्रेयी 'संबंध' और 'प्रेम' को अलग-अलग भाव मानती हैं, वे श्रीधर के शब्दों में कहती हैं, 'यह बात समझती हो न कि प्रेम और संबंध दो अलग चीजें हैं। तुम्हारा संबंध रंजीत से है। अपने भाई-भाभी, माता-पिता से है। अगर इन सबसे तुम्हारा संबंध न होता तो प्रेम भी न होता। पर मुझसे तुम्हारा प्रेम है केवल प्रेम।'[18] ठीक श्रीधर की भाँति सारंग भी उससे शारीरिक संबंध स्थापित करने पर कहीं भी पाप-बोध की शिकार नहीं होती, 'मुझे तो पाप नहीं लगा अपना किया। कतई नहीं हुआ पाप-बोध। जो किया, सोच-समझकर किया। मैं अबोध थी, न विधवा राँड और न कुँआरी अल्हड़ जवानी की मारी।'[19] इस प्रकार स्पष्ट है कि स्त्री-पुरुष संबंध विषयक मैत्रेयी पुष्पा की दृष्टि न केवल व्यावहारिक है बल्कि स्त्री में उपजते स्वातंत्र्य के अधुनातन भाव-बोध से अवगत करवाने में भी सक्षम है। 'कितने पाकिस्तान' का उपन्यासकार कमलेश्वर भी उन सभी मजहबी मान्यताओं को अस्वीकार करता है जिनके अनुसार एक मजहब का व्यक्ति दूसरे मजहब की स्त्री या पुरुष से प्रेम नहीं कर सकता। जब नईम सलमा से यह कहता है कि हिंदू मर्द के साथ वह जो रास्ता तलाश रही है, वह उसके मजहब के अनुसार कुफ्र है तो सलमा नईम के इस मजहबी आग्रह को ठुकराते हुए कहती है, 'तो आप यहाँ भी वही घटिया बात ले आए! क्या दिली रिश्ता कायम करने से पहले कभी किसी ने पूछा है कि तुम्हारा मजहब क्या है? क्या आप कुदरती मोहब्बत और मजहबी मोहब्बत में फर्क नहीं कर सकते नईम साहब? किसी भी मजहब से पहले कुदरत है!'[20] अत: संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कमलेश्वर इस बात को तरजीह नहीं देते कि स्त्री-पुरुष के कुदरती संबंधों में बाह्य संस्कारों का कोई योगदान होता है।

'मुझे चाँद चाहिए' उपन्यास में सुरेंद्र वर्मा ने आधुनिक परिवेशजन्य दबावों के फलस्वरूप स्त्री-पुरुष संबंधों में उत्पन्न होने वाले विघटन को उजागर किया है। लेखक की मान्यता है कि विवाह के लिए स्त्री-पुरुष में प्रेम के आधार का होना बहुत जरूरी है। अपनी इस सोच को लेखक दिव्या कत्याल और प्रशांत के प्रेम संदर्भ द्वारा स्पष्ट भी करता है। प्रशांत की जाति दिव्या से अलग होने के कारण दिव्या का प्रशांत से प्रेम विवाह नहीं हो पाता। दिव्या अपनी माँ की खुशी के लिए रोहन से शादी का समझौता तो कर लेती है, लेकिन इससे उनके परस्पर संबंधों में जटिलता आती है। अपनी इस असहजता के बारे में वह वर्षा को लिखे पत्र में उसे बताती है कि 'अंतरंग क्षणों में रोहन के शरीर के साथ किसी और का चेहरा मेरी आँखों में उभरने लगता है। वर्तमान के ठोस शिकंजे के भीतर अतीत की तरंगे मुझे बार-बार थरथराये जाती हैं।'[21] लेकिन अगर हम वर्मा के केंद्रीय पात्र वर्षा वशिष्ठ की ओर ध्यान दें तो हमें उनके नजरिए का एक और पक्ष दिखाई देता है जोकि नितांत व्यावहारिक है। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक की दृष्टि में काम-तृप्ति, प्रेम का ही पर्याय है। वर्षा के दिल्ली में हर्ष के साथ प्रेम संबंध हैं। मुंबई पहुँचकर वह सिद्धार्थ से भी शारीरिक संबंध स्थापित कर लेती है और मन-ही-मन सोचती है, 'मेरे मन ने जो चाहा मैंने कर

लिया। मेरे ऊपर किसी का एकाधिकार नहीं।'[22] पर जब हर्ष मुंबई आता है तो वह पुनः हर्ष की होकर रह जाती है। इसका कुछ कारण हर्ष की असफलता से उत्पन्न सहानुभूति है तो कुछ दिव्या द्वारा उसे दी गई समझ भी है कि एक शहर में दो प्रेमियों का होना कोई आदर्श स्थिति नहीं।[23] हर्ष की आत्महत्या के बाद जब सिद्धार्थ एक बार फिर उसके समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखता है तो वह अपने व्यावहारिक नजरिए के अनुरूप प्रेम को परिभाषित करती है, 'किसी को प्रेम करने का अभिप्राय यह है कि उस व्यक्ति की बगल में तुम वृद्ध होने के लिए तैयार हो।'[24] इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वर्मा के पास प्रेम और विवाह संबंधों में जटिलता और उसके कारणों को तलाशने की गहरी समझ है। वर्मा स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर मैत्रेयी पुष्पा के साथ साम्यता रखते हैं। यही वजह है कि वर्षा और सारंग का नजरिया भी काफी साम्यता लिए हुए है जो दोनों उपन्यासों में स्त्री-पुरुष संबंधों में बदलते भाव-बोध का प्रतीक बनकर उभरा है।

आधुनिक परिवेश में आर्थिक साधनों पर पुरुष का वर्चस्व होने के कारण स्त्री-पुरुष संबंध अर्थाश्रित होते जा रहे हैं। इन संबंधों की स्थिति बिल्कुल शोषक और शोषित के रिश्ते सी है। इस प्रश्न को 'कठगुलाब' की लेखिका मृदुला गर्ग असीमा के माध्यम से उठाती है कि 'अगर मर्द और औरत के बीच का रिश्ता शोषक-शोषित का रिश्ता है, तो क्या उसका विकल्प लैज्बियनिज्म है?'[25] लेकिन लेखिका इस प्रश्न का उत्तर स्वयं ही देती हुई मानती है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति समाज के लिए उपयोगी नहीं, क्योंकि यह मानव की सहज वृत्ति न होकर एक विकृति है। इससे स्त्री के माँ बनने की सहज इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती और न ही पुरुष का सहज आकर्षण ही समाप्त हो सकता है। लेकिन पूरे उपन्यास में मृदुला का उपन्यासकार उन तथ्यों की खोज में तल्लीन दिखाई देता है जो पुरुष के स्त्री पर और स्त्री के पुरुष पर निर्भर रहने का कारण बनते हैं। विपिन विवाह संस्था को इसलिए नकारता है क्योंकि उसकी माँ उसके पिता पर इस कदर आश्रित थी कि उसके पिता की मृत्यु के बाद उसने अपनी तमाम उम्र रोते हुए दुःखों में काट दी। इसी तरह नीरजा के लिए विवाह का अर्थ युद्धस्थल है। विपिन की मानसिकता को उजागर करती हुई मृदुला बताती है, 'विपिन को शादी के नाम से चिढ़ हो गई। कहता है, वह ऐसी व्यवस्था है, जो एक इंसान को दूसरे पर इस कदर निर्भर बना देती है कि खुद अपनी जिंदगी पर उसका कोई अख्तियार नहीं रहता। उसके नाम से ही उसके बदन में चींटियाँ काटने लगती हैं।'[26]

विवाह-संबंधी इस प्रकार की दृष्टि के बावजूद भी विपिन में पिता बनने की इच्छा बरकरार है। यही वह बिंदु है जिस पर मृदुला विवाह को एक सामाजिक आवश्यकता और स्त्री पुरुष-संबंधों की कसौटी मानती हैं। इस संदर्भ में स्मिता विपिन से कहती है, 'पर मैं समझती हूँ कि विवाह एक कसौटी जरूर है। इस बात की कि आप जिससे स्नेह करते हैं, उसकी जिम्मेवारी उठाने को तैयार हैं।'[27] मृदुला अपने एक निबंध 'बदलाव की बयार बह रही है' में स्पष्टतः लिखती हैं, 'विवाहेतर संबंध चाहे स्त्री के हो या पुरुष के, उसे बर्दाश्त भले कोई कर ले, नैतिक मूल्य के तौर पर स्थापित नहीं करता। स्त्री हो या पुरुष-आक्षेप दोनों पर लगते हैं। स्त्री पर बंधन कुछ ज्यादा इसलिए हैं कि उसके बगैर काम नहीं चल सकता। पुरुष की अनुपस्थिति में स्त्री घर चला लेती है, मगर स्त्री नहीं होती तो घर-परिवार टूट जाता है।'[28] उपन्यास का विपिन सिर्फ बच्चा प्राप्त करने के लिए नीरजा से प्रेम करता है और नीरजा केवल अपनी काम-तृप्ति के लिए। यहाँ जिम्मेदारी और एक-दूसरे को समझने का प्रयास नहीं बल्कि यह संबंध केवल एक यंत्र की भाँति है। रिश्ते की यांत्रिकता का संताप दोनों को भोगना पड़ता है। विपिन अपनी संवेदनशीलता से इस बात को समझता है कि

'असल असुंदर, अपावन और क्रूर तो मशीनी वृत्ति है जो उसी मानवीय तर्कबुद्धि का सर्वोत्तम परिष्कृत स्वरूप है। किसी जीवंत और विज्ञ स्त्री के व्यक्तित्व का इससे बड़ा विघटन और क्या होगा कि वह एक मशीन में परिणत हो जाए, जिसकी हर हरकत, पूरी तरह तार्किक होने के कारण, यांत्रिक और पुनरावृत्तिपूर्ण हो।'[29] अत: विपिन चाहता है कि उनके रिश्ते की यांत्रिकता समाप्त हो जिसके लिए उसे एक ही मार्ग दिखाई देता है और वह है विवाह। पर नीरजा उससे विवाह करने के लिए तैयार नहीं होती। दरअसल, मृदुला हमारा ध्यान इस ओर ले जाना चाहती है कि अगर स्त्री-पुरुष संबंध प्रेमाश्रित न होकर यंत्र की भाँति तैयार होंगे तो उनकी समाप्ति भी यंत्र की तरह ही होगी। अत: मृदुला का स्त्री-पुरुष संबंध विषयक चिंतन काफी प्रौढ़ता और सार्थकता लिए हुए है।

उपर्युक्त चर्चा को समेटते हुए कहा जा सकता है कि अंतिम दशक के उपन्यासकारों के स्त्री-पुरुष संबंध विषयक नजरिए में जहाँ एक ओर व्यावहारिकता नजर आती है, वहीं दूसरी ओर नवीन परिस्थितियों के अनुरूप इन संबंधों की स्वस्थता के लिए उपन्यासकार कुछ आदर्शों की बात भी करते हैं। यही वजह है कि हमारे दशक के प्रसिद्ध उपन्यास लेखक विष्णु प्रभाकर स्त्री-पुरुष संबंधों की सहजता के लिए उनकी परस्पर अतिरिक्त आसक्ति के त्याग को जरूरी मानते हैं और चाहते हैं कि स्त्री-पुरुष अपने-अपने अस्तित्व को कायम रखते हुए भगवान के अर्द्धनारीश्वर रूप की तरह आपस में जुड़ें। भगवान सिंह 'अपने अपने राम' में सीता और राम के संबंधों को बिल्कुल इसी तरह का बताते हुए उन्हें आज के मनुष्य के लिए भी अनुकरणीय मानते हैं, जबकि दशरथ और कैकेयी के संबंधों की असहजता का कारण दशरथ की सामंती सोच को मानते हैं। प्रभा खेतान के 'छिन्नमस्ता' उपन्यास का पात्र नरेंद्र भी प्रिया को अपनी संपत्ति समझता है। इसलिए प्रभा मानती हैं कि इस तरह कि वृत्ति जहाँ नारी की अलग स्वतंत्र छवि नहीं बनने देती वहीं उसके सहज विकास में बाधा भी उत्पन्न कर देती है। 'आवां' की रचयिता चित्रा मुद्गल उस पूँजीवादी मनोवृत्ति के खिलाफ है जिसके तहत संजय कनोई जैसे लोग नमिता जैसी लड़कियों का प्रयोग सिर्फ एक 'स्वच्छ कोख' के रूप में करना चाहते हैं। मैत्रेयी पुष्पा का स्त्री-पुरुष संबंध विषयक नजरिया आधुनिक भाव-बोध की स्वच्छंदतावादी मनोवृत्ति का परिचायक है जिसे व्यापक सामाजिक संदर्भों में सार्थक नहीं माना जा सकता। सुरेंद्र वर्मा कृत 'मुझे चाँद चाहिए' की नायिका वर्षा वशिष्ठ भी आधुनिक मान्यताओं से प्रभावित होने के कारण हर्ष और सिद्धार्थ दोनों को ही अपने प्रेम के पात्र समझती है। लेकिन मृदुला गर्ग इस आधुनिक मनोवृत्ति के कारण 'कठगुलाब' की नीरजा और विपिन के संबंधों के यांत्रिक रूप धारण करने की त्रासदी को पाठक के सम्मुख उजागर कर विष्णु प्रभाकर की ही भाँति विवाह को स्त्री-पुरुष संबंधों की कसौटी मानती हैं।

संदर्भ

1. विष्णु प्रभाकर, विष्णु प्रभाकर के संपूर्ण साक्षात्कार, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1999, पृ॰ 151
2. विष्णु प्रभाकर, अर्द्धनारीश्वर, शब्दकार, दिल्ली, 2002 (1992), पृ॰ 373
3. वही, पृ॰ 67
4. वही, पृ॰ 30
5. वही, पृ॰ 332
6. वही, पृ॰ 321
7. भगवानसिंह, अपने अपने राम, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998 (1992), पृ॰ 67
8. वही, पृ॰ 167

9. वही, पृ॰ 32
10. प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004 (1993), पृ॰ 11
11. वही, पृ॰ 10
12. चित्रा मुद्गल, आवां, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001 (1999), पृ॰ 361
13. वही, पृ॰ 261
14. गीताश्री (संपा॰), नागपाश में स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ॰ 72
15. मैत्रेयी पुष्पा, चाक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009 (1997), पृ॰ 19
16. वही, पृ॰ 19
17. वही, पृ॰ 256
18. वही, पृ॰ 263
19. वही, पृ॰ 328
20. कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, 2008 (2000), पृ॰ 121
21. सुरेंद्र वर्मा, मुझे चाँद चाहिए, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007 (1993), पृ॰ 139
22. वही, पृ॰ 302
23. वही, पृ॰ 317
24. वही, पृ॰ 567
25. मृदुला गर्ग, कठगुलाब, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996, पृ॰ 179
26. वही, पृ॰ 182
27. वही, पृ॰ 218
28. गीताश्री (संपा॰), नागपाश में स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ॰ 78
29. मृदुला गर्ग, कठगुलाब, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996, पृ॰ 228

डॉ॰ रुपिन्द्र शर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
मुल्तानी मल्ल मोदी कॉलेज, पटियाला 147001
मो॰ 9872694866
rupindersharma09@gmail.com

अनामिका की कविता में अभिव्यक्त स्त्री-प्रश्न

डॉ॰ शिव कुमार मंडल, एसो॰ प्रोफेसर, हिंदी विभाग
जे॰आर॰एस॰ कॉलेज, जमालपुर
अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, मुंगेर विश्वविद्यालय मुंगेर, बिहार

हिंदी कविता में अपनी चिरोपस्थिति बनाने वाली अनामिका हिंदी की पहली साहित्य अकादमी प्राप्त महिला कवि हैं। इनकी कविताओं में विषयों की विविधता और अंतर्वस्तु की विशिष्टता के साथ-साथ शिल्पगत विलक्षण प्रयोग भी देखने को मिलते हैं। प्रियदर्शन अनामिका की विलक्षणता के संबंध में लिखते हैं, 'अनामिका हिंदी की ऐसी विरल कवयित्री हैं जिनका परंपरा-बोध जितना तीक्ष्ण है आधुनिकताबोध भी उतना ही प्रखर। उनकी पूरी भाषिक चेतना जैसे स्मृति के रसायन से घुलकर बनती है और पीढ़ियों से नहीं सदियों से चली आ रही परंपरा का वहन करती है। उनकी पूरी कहन में यह वहन इतना सहज संभाव्य है कि उसे अलग से पकड़ने-पहचानने की जरूरत नहीं पड़ती, वह उनकी निर्मिति में नाभिनालबद्ध दिखाई पड़ता है। कहने की जरूरत नहीं है कि स्त्रीत्व सहज ढंग से इस परंपरा की पुनर्व्याख्या और पुनर्रचना भी करता... है- उनके जो बिंब कविता में हमें बहुत अछूते और नए लगते हैं जीवन की एक धड़कती हुई विरासत का हिस्सा हैं, उसी में रचे-बसे, उसी से निकले हैं और अनामिका को एक विलक्षण कवयित्री में बदलते हैं।'[1] हिंदी कविता में 'स्त्री' आरंभ से ही प्रतिबिंबित होती रही है, कभी पिकबैनी-मृगनैनी के रूप में तो कभी समाज सेविका के रूप में। कभी हृदय में पंप भरती प्रेरणा के रूप में तो कभी माँ, बहन, बेटी, पत्नी और प्रेमिका के रूप में। किंतु सही मायने में यह स्त्रियों का वास्तविक यथार्थ नहीं, क्योंकि इसके रचयिता स्त्री नहीं पुरुष थे। शिक्षा जैसी मूलभूत आवश्यकता से दलित ही नहीं स्त्री भी सदियों वंचित रही। किंतु शिक्षा के सरलीकरण ने दलितों और स्त्रियों की यथास्थिति में बदलाव लाया, फलतः स्त्रियाँ समाज में अलग-अलग रूपों में देखी गईं–शिक्षिका, समाज-सेविका, वकील, चिकित्सक, रचनाकार वगैरह-वगैरह। आज स्त्री पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चल रही है। परिवार हो या दुनिया स्त्री की स्थिति में सकारात्मक बदलाव के बिना यह ठीक से नहीं चल सकते। अंबेडकर मानते थे कि किसी भी समाज की प्रगति उस समाज की स्त्रियों की स्थिति पर दृष्टिपात किया जाना चाहिए।

स्त्री ने जब स्वयं कलम उठाई तो न केवल वास्तविक यथार्थ निकलकर सामने आया बल्कि वर्चस्ववादी व्यवस्था के षड्यंत्र भी स्पष्ट उजागर हुए। कह सकते हैं कि स्त्री रचनाकारों ने अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाते हुए–'तोड़ने ही होंगे गढ़ और मठ सारे' की एक साथ हुंकार भरी! लेकिन उनका लेखन सविनय अवज्ञा इस मायने में था कि उन्होंने बिना रक्त बहाए समाज में सकारात्मक बदलाव घटित कर दिखाया। इसी का परिणाम है कि आज स्त्री हर क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य करते हुए अपनी भागीदारी दे रही हैं–घर से संसद तक!

अनामिका पिछले चार दशकों से साहित्य-साधना में रत हैं। वे एक कवि, उपन्यासकार-निबंधकार

 ISSN 0975-735X

होने के साथ-साथ उच्चकोटि की अनुवादक भी हैं। उनकी कविताओं में स्त्रियाँ बड़ी तादाद में देखने को मिलती हैं—हर वर्ग, हर धर्म-संप्रदाय की स्त्रियाँ हैं जो अपना दुख-सुख, हँसती-बतियाती हुई एक ऐसे समाज की संकल्पना करती दिखती हैं—जहाँ किसी प्रकार का भेदभाव न हो। सबके दरवाजे-खिड़कियाँ एक-दूसरे के घरों के आँगन में खुलते हों। सहकारिता और विश्व-बंधुत्व इनकी कविताओं का मूल दर्शन है! अनामिका की स्त्री दृष्टि अन्याय का प्रतिकार अन्याय नहीं मानती। वे मानकर चलती हैं कि

हर चोट अपने प्रत्युत्तर में चोटों की चतुरंगिणी सेना साजे तो
थम पाएँगे क्या कभी कुटिल युद्ध के सिलसिले?

कस्बे-गाँव-शहर और महानगर की स्त्रियाँ अनामिका की कविताओं में चित्रित हुई हैं—खेतों में खटती स्त्रियाँ, पतियों से मार खाती स्त्रियाँ, आँगनबाड़ी में काम करती स्त्रियाँ, नून-तेल-लकड़ी के त्रिजाल में फँसी स्त्रियाँ, पकौड़ियाँ तलती स्त्रियाँ, सेक्स वर्कर्स, विस्थापित और परित्यक्त स्त्रियाँ 'दुखों की अलग-अलग प्रजातियाँ' झेलती स्त्रियाँ, वैसी स्त्रियाँ भी जिनकी खुद की जचगी नहीं हुई पर वे कर रही हैं, दूसरी स्त्रियों की जचगी खासे मनोयोग से। पटरी से उतरी वैसी स्त्रियों की भी एक कोटि दिखती है इनकी कविताओं में जो दलितों में भी दलित हैं, अर्थात् वेश्या हैं। दुख की इंतेहा पर हँस देनेवाली वैसी स्त्रियाँ भी हैं यहाँ जिनका चेहरा तेजाब से जला दिया गया है। गली-मुहल्ले की चटक-रंगदार-मुहावरेदार भाषा बोलती 'सुजाता' और 'चंपा' थेरी भी हैं जो आततायी पतियों की बात-बात पर मार सहती हैं। ऐसी स्त्रियाँ हैं भी जिन्होंने आजादी और स्वतंत्रता का मजा चख लिया है—वे अपना निर्णय भी सुनाने से नहीं चूकतीं—

तुम अपने कर्मों के चारवाहे/ लो, आज से मैंने तुमको
अपने सब कर्मों के साथ/ अकेला छोड़ा![3]

विवाह जब पारस्परिक प्रेम न रहकर एकतरफा स्वार्थ से वशीभूत हो जाए और अपना ही उद्देश्य अथवा प्रयोजन बाधित होने लगे तो इस स्थिति में अनामिका की स्त्रियाँ समझौता नहीं करतीं बल्कि उस चुनौती से लड़ती हुई अपना मूल प्रयोजन सिद्ध करती हैं। युवा कवि ऋत्विक भारतीय अनामिका की स्त्रियों के संबंध में लिखते हैं, 'अनामिका की स्त्रियाँ न तो बुद्धकालीन स्त्रियों की भाँति 'घरे-बाहरे' के अंतर्द्वंद्व से विरक्त आध्यात्मिक स्त्रियाँ हैं, न ही मीराबाई की तरह 'पग घुँघरू बाँध' दुनिया-जहाँ की सारी बंदिशें लाँघती-फलाँघती स्त्रियाँ, न डंके की चोट पर पूरी बेफिक्री से कहने वाली—'जो पहिरावे सो ही पहिनू' न ही महादेवी की 'तुमको पीड़ा में ढूँढा/ तुममें ढूँढूँगी पीड़ा' वाली करुणा को ही आवास मान लेने वाली सहानुभूति से आसक्त स्त्रियाँ। अनामिका की स्त्रियाँ... अपनी वरमाला अपनी ही चोटी में गूँथती हुई खुद से कहती हैं—'एकोडहम् बहुस्याम', नफासत से अपने ही वजूद को सानती-गूँथती हुई अपना घर तलाशती, सपने देखती, 'यक्ष-प्रश्न करती स्त्रियाँ हैं।'[4] ये प्रश्न महज प्रश्न नहीं, एक मशाल की भाँति हर तरह के घने अंधकार को चीरते हुए रास्ता दिखाते हैं। ये ऐसे प्रश्न हैं जो सीधे हृदय पर प्रहार करते हैं—आततायी के साथ आततायी होने की सीख नहीं देते, बल्कि आततायी को हृदय-परिवर्तन का अवसर देते हैं। मार-काट नहीं मचाते। इसी मायने में अनामिका की कविता एक तरह की सविनय अवज्ञा है। कुछ स्त्री-प्रश्न कविता में देखें जाएँ। हम जिस लोकतात्रिक देश में रह रहे हैं उसकी सबसे बड़ी विडंबना यह है कि यहाँ जिस भास्वरता के साथ स्त्री सशक्तिकरण की हुंकार बड़े-बड़े मंचों, टी॰वी॰, अखबारों और पत्र-पत्रिकाओं में देखने को मिलती है वास्तविकता उससे कोसों दूर है। यथास्थिति तो यह है

कि प्रगतिशीलता का मुखौटा ओढ़े बुद्धिजीवियों की संख्या भी बहुतायत होती है। ऐसे में लैंगिक विभेद को दर्शाती अनामिका की निम्न पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं–

राम, पाठशाला जा!/ राधा, खाना पका!
राम, आ बताशा खा!/ राधा, झाड़ू लगा!
भैया अब सोएगा,/ जाकर बिस्तर बिछा!
अहा, नया घर है/ राम, देख, यह तेरा कमरा है!
और मेरा? ओ पगली!
लड़कियाँ हवा, धूप मिट्टी होती हैं
उनका कोई घर नहीं होता![5]

लैंगिक विभेद के संबंध में मल्लिका सेनगुप्त मानते हैं कि पितृसत्तात्मक समाज ने जितना स्त्रियों की जिंदगी को तबाह किया है उसकी संख्या आणविक युद्ध में मरने वाले लोगों से भी अधिक है। इसका कारण यह है कि स्त्रियों की संख्या इस देश की कुल आबादी का आधा है। उक्त कविता की विशेषता यह है कि इस कविता में जिस आरंभिक पाठ से अनामिका ने अवगत कराया है उसे हर कोई बचपन से ही पढ़ते आता है किंतु उस वक्त केवल एक रौ में हम पढ़ लेते हैं। तटस्थ होकर उस पर नहीं सोचते। अनामिका की यह पंक्तियाँ तटस्थ भाव से सरल शब्दों में घरेलू बिंबों के माध्यम से मस्तिष्क को चोटिल किए बगैर अपना प्रभाव जमाती हैं और लैंगिक विभेद में जाने-अनजाने ही शामिल नवयुवकों को स्त्रीवाद के पाठ से अवगत कराती हैं।

वर्जिनियाँ वुल्फ ने 'अ रूम ऑफ वन्स ओन' में स्त्री के निजी कमरे की बात की थी। तसलीमा नसरीन ने 'औरत का कोई देश नहीं' की बात की है, रजतरानी मीनू 'कोने' की बात करती हैं। अनामिका उपर्युक्त कविता- 'बेजगह' की अंतिम पंक्तियों में स्त्री की 'जगह' की बात करते हुए लिखती हैं–

लड़कियाँ हवा, धूप, मिट्टी होती हैं/ उनका कोई घर नहीं होता
जिनका कोई घर नहीं होता/ उनकी होती है भला कौन सी जगह?
कौनसी जगह होती है ऐसी/ जो छूट जाने पर/ औरत हो जाती है
कटे हुए नाखूनों, कंघी में फँसकर बाहर आए केशों-सी
एकदम-सी बुहार दी जानेवाली?[6]

धर्म हो या शास्त्रीय-विधान स्त्रियों के प्रति हमेशा से उपेक्षित दृष्टि देखने को मिलती है। बौद्ध धर्म से पूर्व किसी धर्म ने स्त्रियों को मोक्ष-प्राप्ति के योग्य नहीं माना। जैन धर्म ने तो यहाँ तक कह दिया कि स्त्रियों को मोक्ष-प्राप्ति के लिए इस जन्म में अच्छे कार्य कर अगले जन्म में पुरुष योनि में जन्म लेना पड़ेगा। खैर स्त्री-विषयक आरंभिक अवधारणाओं को तोड़ने में बौद्धधर्म ने सर्वप्रथम अपना योगदान दिया और यह सिद्ध किया कि स्त्रियाँ भी मोक्ष यानी मुक्ति प्राप्त कर सकती हैं किंतु वह आध्यात्मिक मुक्ति थी आज की स्त्री मुक्ति चाहती है हर प्रकार के भेदभाव से। हर प्रकार के पूर्वाग्रह से जो स्त्री को दोयम दर्जे की बनाते हैं।

अनामिका धर्म से भी स्त्री-प्रश्न ढूँढ लाती हैं और एकलव्य के तीर की भाँति वह प्रश्न समाज के सामने रखती हैं–

ईसा मसीह/ औरत नहीं थे
वरना मासिक धर्म/ ग्यारह बरस की उमर से

उनको ठिठकाए ही रहता/ देवालय के बाहर![7]

सती-प्रथा, देवदासी प्रथा जैसी अनेक कुप्रथाएँ समाज में स्त्रियों को उनके अधिकार और सम्मान से वंचित करने में अपनी भूमिका निभाते रहे हैं। लंबे संघर्ष के बाद बेशक ये प्रथाएँ खत्म हो गई हों, किंतु स्त्रियों की स्थिति दुनिया में आज भी 'अन्या से अनन्या' वाली ही बनी हुई है– बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, मार-पीट, गाली-गलौज, बलात्कार, यांत्रिक संभोग, साफ-सुथरे प्रसव का अभाव जैसी अनेक समस्याएँ क्या खत्म हो गई हैं। आँकड़े बताते हैं, 'इसी भारत में ही हर 26 मिनट में एक लड़की को यौन-जबर्दस्ती का शिकार होना पड़ता है। हर 34 मिनट में एक औरत का बलात्कार होता है, हर 42 मिनट में एक औरत लांछन सहती है। हर 43 मिनट में एक औरत का अपहरण होता है। प्रति 93 मिनट में एक औरत कत्ल कर दी जाती है। यह सरकारी हिसाब है। गैर-सरकारी हिसाब में यह संख्या निश्चित रूप से तिगुनी होगी।'[8]

घर-गृहस्थी-बच्चे के त्रिजाल में फँसी स्त्रियाँ चाहे वह गँवई हों या शहरी, खेतों में काम करती हों या प्राइवेट अथवा सरकारी सेक्टरों में मन से शरीर से अक्सर प्रताड़ित होती हैं–घर में पति से और बाहर बॉस से। निम्न कविता में इसकी व्यंजना को समझा जा सकता है–

रोज निकाला जाता है मुझको/ रोज केंचुए की तरह
गुड़ी-मुड़ी हो/ फैली जाती हूँ फिर से
वे कहते हैं और कहते हैं ठीक-ठीक अपनी औकात जाननी चाहिए,
पैर उतने पसारिए/ जितनी लंबी सौर![9]

'गेट आउट' और 'शटअप' ऐसे जुमले बन चुके हैं जो प्रायः हर स्त्री को सुनने पड़ते हैं। शायद ही कोई स्त्री होगी जिस पर इन शब्दों से कुठाराघात नहीं किया जाता। स्त्रियों के मान-अपमान से किसी को कोई लेना देना नहीं रहता। पितृसत्ता की सबसे बड़ी कुरीति यही रही कि वह स्त्री को हमेशा से अपने से दोयम दर्जे का मानता रहा। स्त्रियों को पुरुषों की अनुगामिनी, परावलंबी और अर्धांगिनी मानता रहा है। अनामिका स्त्री प्रताड़ना के जिस बिंब से हमारा साक्षात्कार करवाती हैं, वह कहीं दूर की नहीं हमारे घर-परिवार और समाज में कहीं भी दिख जाएगी। कविता की बानगी देखी जाए–

वैसे तो रहती हैं शाश्वत डायटिंग पर स्त्रियाँ,
पर गालियाँ खाने में उनका नहीं है जवाब!
गोलगप्पों की तरह गपागप/ गाल फुलाकर, सिर झुकाकर,
घोंटती हुई थूक,/ नाक-आँख से पानी
इमली का छलकाती/ खाए ही जाती हैं
शाम से सुबह तक/ खूब मिर्चीदार गालियाँ–
ऊपर से थप्पड़, घूँसे, डाँट, ताने-बोनस में
बाई वन गेट वन फ्री![10]

एक ऐसी ही कविता है जो मध्यमवर्गी स्त्रियों के वास्तविक सच्चाई से रू-ब-रू करवाती है। पंक्तियाँ देखें–

हाँ, हम हमेशा खुश रहती है!
हँसती हुई दीखती हैं हम हर ओर
टीवी में, सारे मुखपृष्ठों,

चौराहों पर!/ पिटकर या खटकर या छँटकर भी
निकली हों कहीं किसी घर से तो
जाहिर नहीं होने देतीं!
हँसी है नए दौर का घूँघट![11]

स्त्रियों की एक आबादी का सपना रहता है टी॰वी॰ या पर्दे पर आना। यह कविता मेकअप और सितारों और लाइटों की चकाचौंध में छिपे क्रूर सच से शिनाख्त करवाती है जो अपने आपमें मारक है। 'मी टू' जैसी विश्वस्तर पर घटी घटनाओं ने भी इस सच को पूरी गहराई और भास्वरता से उजागर किया।

ऐसी ही एक कविता 'तुलसी का झोला' है जिसमें अनामिका ने रत्नावाली के बहाने आज की स्त्री की व्यथा-कथा को रखते हुए उसके बदलते हुए पक्षों को रेखांकित किया है–

नैहर बस घर ही नहीं होता!
होता है नैहर अगरधत्त अँगड़ाई,
एक निश्चित उबासी, एक नन्हीं-सी फुर्सत!
तुमने उस इत्ती-सी फुर्सत पर
बोल दिया धावा
तो मेरे हे रामबोला, बमभोला–
मैंने तुम्हें डाँटा!
डाँटा तो सुन लेते
जैसे सुना करती थी मैं तुम्हारी...![12]

पति-पत्नी का संबंध पारस्परिक होता है किंतु जब उसमें स्वार्थ अपने पैर जमा लेता है तो वह पारस्परिक नहीं रह जाता। वह संबंध स्वामी और दास का हो जाता है। अभिभावक और अभिभूत का रहा जाता है। ऐसे में एक पक्ष हमेशा दूसरे को अपने से छोटा या हीनतर मानता है। पति का अर्थ भी होता है–स्वामी। किंतु कोई स्वामी क्यों अपने अधीनस्थ की डाँट सुनने लगे। असल में स्त्रियों को पति नहीं, मित्र या सखा चाहिए। जिससे वे अपना मन खोलकर कह सकें–'आओ न, जरा हाथ बँटा दो!'

अनामिका की 'भामती की बेटियाँ' कविता में स्त्री-चेतना की अभिव्यक्ति मिलती है। जिसकी कहानी यह है कि वृद्ध वाचस्पति अपनी पत्नी भामती को जब ब्याह लाए थे तब वह बहुत छोटी थीं। वाचस्पति ग्रंथ रचने बैठे तो ऐसे तल्लीन हुए कि रोज मेज पर दीया-बाती, भोजन-पानी रखती अपनी 'भार्या' को भी नहीं देख पाते। ऐसे में जब ग्रंथ पूरा हुआ और नजरें 'भामती' पर जा पड़ीं तो उन्होंने पूछा, 'तुम कौन?' भामती ने उत्तर दिया, 'मैं आपकी भार्या!' ऐसे में वे लज्जित हो, अपनी पांडुलिपि ही बहा आए पानी में। किंतु भामती बांच आई और पानी से पांडुलिपि के गड़मड़ हुए अक्षरों को अपने काजल और सिंदूर से पुनः उकेर दिए। भामती का प्रेम और परमार्थ देख वाचस्पति को कहना पड़ा कि अब यह ग्रंथ तुम्हारे नाम से कहलाएगा–'भामती टीका।' किंतु भामती को ये मंजूर नहीं–

प्रेम का प्रसाद भी नहीं लेंगी,/ भामती की बेटियाँ
ग्रंथ अपने स्वयं ही रचेंगी/ लगातार/इसी तरह
हर युग में!'[13]

अनामिका की एक कविता है 'अनब्याही औरतें' जिसमें वे स्त्रियों के 'मनचीते' पुरुषों की कल्पना करते हुए ज्यादातर पुरुषों का सरलीकरण करते हुए स्पष्ट करती हैं कि आज भी ऐसे पुरुषों की कमी है जिनके सामने स्त्री अपना दुखता हुआ घाव दिखा सके। स्त्रियों को मानवी समझे ऐसे पुरुष जल्दी नहीं दिखते। चारों ओर गाली बकते, ओछी बातें करते, अवसर ढूँढते 'रामगुप्तों' का ही साम्राज्य पसरा हुआ 'चंद्रगुप्त' कहीं नहीं दिखता। पर ऐसी विकट स्थिति में भी अनामिका की स्त्रियाँ अपना विवेक नहीं खोतीं। और 'अप्प दीपो भव:' का रास्ता अपनाती हैं किंतु प्रेम, करुणा और सहकारिता में अपना विश्वास नहीं खोतीं–'रह जाएगी करुणा/ रह जाएगी मैत्री/ बाकी सब ढह जाएगा!'[14]

निष्कर्षत: कहना न होगा अनामिका की स्त्रीवादी दृष्टि अन्याय का प्रतिकार अन्याय न मानती हुई हृदय परिवर्तन करने में विश्वास करती है। कविता में शब्द कई स्रोतों से आते हैं और बिना किसी पदानुक्रम के सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक विडंबनाओं को एक कौंध में उजागर करते हैं।

संदर्भ

1. ऋत्विक भारतीय (अतिथि संपा॰), संवेद, फरवरी 2022, पृ॰ 50
2. अनामिका, पानी को सब याद था, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2018, पृ॰ 89
3. अनामिका, टोकरी में दिगंत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम पेपरबैक संस्करण 2021, पृ॰ 61
4. ऋत्विक भारतीय (संपा॰), जन्म ले रहा है एक नया पुरुष, प्रलेख प्रकाशन, मुंबई, प्रथम संस्करण 2023, पृ॰ 32
5. अनामिका, खुरदरी हथेलियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा॰लि॰, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण 2019, पृ॰ 15-16
6. वही, पृ॰ 15-16
7. अनामिका, दूब-धान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2019, पृ॰ 30
8. तसलीमा नसरीन, औरत का कोई देश नहीं, वाणी प्रकशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009, पृ॰ 127
9. अनामिका, खुरदरी हथेलियाँ, पृ॰ 19
10. अनामिका, दूब-धान, पृ॰ 78
11. वही, पृ॰ 57
12. वही, पृ॰ 20
13. वही, पृ॰ 26
14. अनामिका, टोकरी में दिगंत, पृ॰ 21

C/o Mr. Ritik kumar
Mahadevpur, Nawagarhi, Munger 811211
Mob. 7781909842/9958641461
dr.shivkumarmandal@gmail.com

हिंदी और मलयालम के सार्वनामिक संबोधन शब्द : एक समाज भाषा वैज्ञानिक अध्ययन

डॉ॰ सिंधु एस॰एल॰, अध्यक्षा, हिंदी विभाग
सरकारी विक्टोरिया कॉलेज, पालक्काड (केरल)

वक्ता और श्रोता की विभिन्न भूमिकाएँ संप्रेषण कार्य में सशक्त रूप में भाग लेती हैं। संबोधन के लिए प्रयुक्त सर्वनामों से यह समझ सकते हैं कि वक्ता और श्रोता के बीच का संबंध कैसा है और उनके विभिन्न आयाम क्या-क्या हैं। भाषा के संप्रेषणपरक पक्ष में संबोधन शब्दों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। सामाजिक संरचना और परिवेश में भाषा का यह रूप निखरता है। भाषा और समाज का आपसी संबंध समाज भाषाविज्ञान के अध्ययन का विषय है। समाज भाषाविज्ञान एक ऐसा विषय है जिसके अंतर्गत सामाजिक बोलियाँ, भाषाई व्यवहार, शैलीगत प्रभेद, वक्ता-श्रोता के संबंध, बहुभाषिकता, भाषाई परिवर्तन आदि का अध्ययन होता है। विभिन्न सामाजिक संदर्भों में प्रयुक्त होनेवाले भाषा के विशिष्ट स्वरूप, भाषा के प्रयोग में आनेवाले भेद, इसकी भूमिकाएँ, बहुभाषिकता, धार्मिक बोली, संबोधन शब्द, परामर्श शब्द आदी भी समाज भाषाविज्ञान के अध्ययन क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। अपने संदर्भ और परिस्थितियों के अनुसार भाषा व्यवहार एवं प्रयोग में होनेवाले विकल्प संबोधन शब्दों के प्रयोग में प्रकट हैं। संबोधन शब्द, समाज के कई आयामों से जुड़े हुए हैं। हर एक समाज की संस्कृति इसका निर्धारक तत्त्व है। सामाजिक स्थिति, स्तर और संबंध के अनुसार औपचारिक और अनौपचारिक संदर्भों में संबोधन के वैविध्यपूर्ण प्रयोग होते हैं। संज्ञा संबोधन, सार्वनामिक संबोधन, रिश्ते सूचक संबोधन, सामाजिक संबोधन आदि कई प्रकार के संबोधन होते हैं। हर एक भाषा की सामाजिक भूमिकाएँ उस भाषा के प्रयोग के निर्धारक इकाइयाँ हैं। हिंदी और मलयालम की सामाजिक भूमिकाएँ अलग-अलग हैं। इसलिए भाषा व्यवहार में भिन्नताएँ हैं। संबोधन शब्द हर एक भाषिक समाज की विभिन्न भूमिकाओं से जुड़े हुए हैं। पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्थाएँ और उनमें आनेवाले परिवर्तन संबोधन शब्दों के परिवर्तन के कारण हैं। सामाजिक उच्च-नीच भाव, वर्ग, लिंग, शिक्षा, आर्थिक स्थिति आदि संबोधन शब्दों के प्रयोग में प्रकट होते हैं। समाजभाषाविज्ञान में भाषाध्ययन विभिन्न भूमिकाओं पर आधारित है। इनमें पारिवारिक, सांस्कृतिक, जातीय, भौगोलिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षिक, वर्गगत, पेशेपरक, उम्रपरक और लिंगपरक भूमिकाएँ मुख्य हैं। रिश्तेसूचक संबोधन शब्दों के चयन में पारिवारिक भूमिका का हाथ है। विभिन्न पारिवारिक व्यवस्थाएँ जैसे कि परिवार, संयुक्त परिवार, पितृसत्तात्मक परिवार, मातृसत्तात्मक परिवार आदि संबोधन शब्दों के निर्धारक तत्त्व हैं। एक समाज के स्तरीकरण में जातिव्यवस्था की मुख्य भूमिका है। इसके अनुसार संबोधन शब्दों में अंतर होते हैं। लिंग, सत्ता, शिक्षा आदि के अनुसार संबोधन में भिन्नताएँ होती हैं।

हिंदी के संबोधन सर्वनाम–हिंदी के संबोधन सर्वनामों को सामाजिक संदर्भ की दृष्टि से अध्ययन करने पर पता चलता है कि स्तरीकृत समाज में आपसी संबंध समान या असमान होता है।

समसंबंधी सूचक सर्वनाम घनिष्ठतावाची और असमतासूचक सर्वनाम प्रभुतावाची कहा जाता है। संबोधन शब्द एक ओर वक्ता की मानसिकता, सोच तथा सामाजिकता को अभिव्यंजित करता है तो दूसरी ओर संबोधित की योग्यता, शिक्षा, ज्ञान, मर्यादा, कार्यशैली तथा जीवन पद्धति को स्पष्ट करता है। संस्कृति, राजनीति, इतिहास, क्षेत्रीयता आदि का प्रभाव समाज पर होता है और सहज ही भाषा इनकी वाहिनी है। भाषा और समाज के संबंधों का और एक नया क्षेत्र संबोधन शब्दों के अध्ययन से खुलता है। भाषा, मानव मन की आंतरिक और बाह्य प्रकृति की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया की उपज होने के कारण संबोधन शब्द मानव के आंतरिक भाव और परिस्थतियों का फल है। सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक, क्षेत्रीय, औपचारिक, अनौपचारिक संदर्भों के अनुसार संबोधन शब्द बदलते हैं। रिश्तेसूचक संबोधन, सार्वनामिक संबोधन, आदरसूचक संबोधन, धार्मिक संबोधन, राजनीतिक संबोधन आदि के अलग-अलग प्रयोग एक समाज की शक्ति, घनिष्ठता, रिश्तों की दृढ़ता, सांस्कृतिक विशेषताएँ आदि व्यक्त करते हैं।

हिंदी के तू, तुम, आप और मलयालम के नी, निङल और तांकल सार्वनामिक संबोधन हैं। हिंदी और मलयालम दोनों भाषाओं के सर्वनामों में घनिष्ठता, मित्रता, प्रभुता आदि व्यक्त करने योग्य सार्वनामिक संबोधन हैं। सार्वनामिक संबोधन के निर्धारण में संस्कृति का मुख्य हाथ है। भारतीय संस्कृति में शिष्टाचार की मुख्य भूमिका है। हिंदी और मलयालम भाषिक समाज की व्यवस्थाओं में कई समानताएँ हैं और असमानताएँ हैं। सामाजिक परिवर्तनों में सबसे प्रमुख भूमिका निभानेवाला कार्य राजनीति का है। नवोत्थान नेताओं के परिश्रम और विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रचार से केरल में सामाजिक परिवर्तन आए। इसके फलस्वरूप प्रभुतासूचक सार्वनामिक संबोधन शब्दों के प्रयोग में लोप आए। सार्वनामिक संबोधन के निर्धारक तत्त्वों में समाज के विभिन्न वर्गीकरण की मुख्य भूमिका थे। जाति, लिंग, पेशा आदि इसके मुख्य आधार थे। वर्णव्यवस्था के समय उच्च-निम्न सूचक सार्वनामिक शब्दों का प्रयोग हुआ था।

एक संकेत मध्यम पुरुष सर्वनाम 'तू', एक संकेतक और बहुसंकेतक मध्यम पुरुष सर्वनाम 'तुम' और 'आप' का प्रयोग हिंदी में संबोधन सर्वनामों के रूप में होता है। औपचारिक और अनौपचारिक माहौल पर घनिष्ठता, प्रभुता, विनम्रता आदि द्योतित करने के लिए सार्वनामिक संबोधन शब्दों का प्रयोग होता है। समान सार्वनामिक संबोधन बातचीत में वक्ता और श्रोता दोनों आपस में प्रयुक्त करने का प्रसंग है तो वहाँ पारस्परिकता अधिक होगी। वक्ता और श्रोता दोनों में एक प्रभुतापूर्ण संबोधन का पात्र और दूसरा ऐसा नहीं है तो अपारस्परिक संबंध वहाँ होता है। इस संदर्भ में औपचारिकता होती है। समाज की विभिन्न व्यवस्थाओं की धुरी में मानव जीवन का चालन होने के कारण जातिव्यवस्था, जमींदारी प्रथा, सामंतवाद, भूमंडलीकरण, बाजारवाद आदि आयामों से उसको जाना पड़ता है और बातचीत के संदर्भ के अनुसार सार्वनामिक संबोधन चुनकर पेश करने में वह सक्षम निकलता है। 'भाषण के प्रकरण-संदर्भ का स्वभाव आमतौर पर औपचारिक अथवा अनौपचारिक तथा नम्रतान्वित अथवा अनम्रतान्वित होता है। किसी खास प्रसंग में संबोधक इन सभी पहलुओं पर दृष्टि रखकर अपनी विवक्षा के अनुरूप समुचित सर्वनाम का चयन करता है।'[1] समउम्रवाले आपस में 'तू' का प्रयोग अनौपचारिक संदर्भों में करते हैं। संबोधक का पद सामाजिक स्तर में संबोधित से उच्च है तो 'तू' का प्रयोग किया जाता है। यहाँ 'तू' का प्रयोग अपारस्परिक है। घनिष्ठता के अतिरिक्त क्रोध, घृणा आदि प्रकट करने के लिए भी 'तू' का प्रयोग किया जाता है।

'तुम' का प्रयोग करने वाले वक्ता और श्रोता में बराबर का संबंध है। लेकिन 'तुम' में निहित

आदरभाव के कारण इसका प्रयोग प्रतिष्ठा ज्ञापन के लिए भी होता है। 'तुम' का प्रयोग अवर और आत्मीय व्यक्ति के लिए भी प्रयुक्त किया जाता है। प्रवर एवं आत्मीय व्यक्ति को संबोधित करने के लिए भी 'तुम' का प्रयोग होता है। 'तू' का प्रयोग घनिष्ठता और प्रभुता दोनों संदर्भों में होता है। पद में उच्च व्यक्ति अपने से अवर को संबोधित करने के लिए इसका प्रयोग प्रभुतावाची रूप में होता है। पद की स्थिति आयु, अधिकार, शिक्षा, संपत्ति, पारिवारिक रिश्ते, पेशा आदि के आधार पर होता है। लेकिन पद में संबोधक और संबोधित समान रूप से 'तू' का प्रयोग करने पर यह घनिष्ठतावाची बन जाता है। प्यार, क्रोध, घृणा आदि को प्रकट करने के लिए इसका उपयोग होता है। क्रोध से कोई अवर संबोधक प्रवर संबोधक से 'तू कौन है' पूछने पर संबोधित की प्रवरता पर अपमान लगता है। 'मुन्ना, तू पास आओ' कहने पर संबोधक के मन में प्यार है। 'हे भगवान तू मेरी रक्षा कीजिए' कहने पर घनिष्ठता का भाव है। पारिवारिक परिवेश में 'तू' सामान्य रूप में प्रयुक्त सर्वनाम है। परिवार के बड़े लोग छोटों को संबोधित करने के लिए 'तू' का प्रयोग करते हैं–'तू कब आ रहा है छोटू?'

'तू' के प्रयोग के संबंध में अशोक कालरा का मत है–'तू' का प्रयोग घनिष्ठता, सौहार्द, मैत्री या आत्मीयता के लिए होता है, किंतु विशेष परिस्थितियों में यह धृष्टता का प्रतीक बन जाता है। अन्य स्थितियों में यह स्पष्ट करता है कि 'तू' का प्रयोग करने वाला वक्ता, श्रोता से बड़ा है, आयु में, बल में, पद या स्थान में। किंतु विशेष परिस्थितियों में 'तू' का प्रयोग द्वारा श्रोता का अपमान या तिरस्कार भी किया जा सकता है।[2]

मध्यम पुरुष सर्वनामों में 'तुम' का प्रयोग मित्रता, पारिवारिक संबंध आदि के आधार पर समान स्तर के लोगों के लिए किया जाता है। 'तुम' के प्रयोग के संबंध में यह मत ध्यातव्य है–

'हिंदी व्याकरण नियम के अनुसार परस्पर 'तुम' का प्रयोग करनेवाले वक्ता और श्रोता में बराबर का संबंध है। भाषा की व्यवस्था का एकांगी अध्ययन शायद इस बात की पुष्टि कर दे, किंतु सर्वांगीण अध्ययन करने पर निष्कर्ष कुछ और ही निकलते हैं। उक्त स्थितियों से 'तुम' का संबोधन सीधे वार्तालाप में होगा, किंतु परोक्ष में पत्नी, पति का उल्लेख करते समय वह/यह का प्रयोग नहीं करेगी और न ही पुत्र/पुत्री अपनी माता के लिए वह/यह का प्रयोग करेंगे। इन स्थितियों में यह स्पष्ट हो जाता है कि 'तुम' का प्रयोग केवल बराबर वालों के लिए नहीं अपितु कुछ प्रतिष्ठा ज्ञापन के लिए भी होता है।'[3] माँ से बातचीत करते समय माँ को संबोधित करने के लिए और बेटा कुछ बड़े होने के कारण उनको संबोधित करने के लिए भी तुम का प्रयोग होता है।

'माँ, तुम क्या सोच रही हो?'

'बेटा, तुम्हारी शादी के बारे में।'[4]

प्रतिष्ठा सूचक रूप में भी तुम का प्रयोग होता है।

'बड़ी अम्मा, जब तक तुम कुछ नहीं कहोगी तब तक कोई बोलेगा नहीं। तुम 'हाँ' कह दो तो सब ठीक हो जाएगा।'[5]

'आप' का प्रयोग सम्मान, शिष्टाचार, औपचारिकता की दृष्टि से अधिक होता है। प्रवर या वरिष्ठ व्यक्ति को 'आप' शब्द से संबोधित किया जाता है। 'प्रतिष्ठा का ज्ञापन सामाजिक आवश्यकता के लिए ही होता है। व्यक्ति विशेष के गुणों की अपेक्षा उस की प्रतिष्ठा का बोध कराने के लिए प्रत्यक्ष में आदरसूचक सर्वनाम रूप का प्रयोग होता है। अत: केवल 'आप' संबोधन से यह स्पष्ट नहीं होता कि संबोधित व्यक्ति आदर योग्य है, केवल विशेष परिस्थिति में वक्ता विशेष रूप से निहित स्वार्थ अथवा सामाजिक परंपरा से विवश होकर 'आप' का प्रयोग करता है जिससे श्रोता इस

सर्वनाम रूप में निहित समाज स्वीकृत आदर भाव से प्रभावित हो सके।'[6]

मलयालम के संबोधन सर्वनाम–केरल की सामाजिक संरचना में जाति, जमींदारी प्रथा, राजनीति, विभिन्न आंदोलन, शिक्षा आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संबोधन शब्दों के निर्धारक तत्त्वों के रूप में जातिव्यवस्था, पारिवारिक व्यवस्था आदि की भूमिका है। मलयालम में 'नी' सर्वनाम, प्रभुता और घनिष्ठता का सूचक है। यह एकवचन में प्रयुक्त है। निङल समता का सूचक है, एकवचन और बहुवचन में प्रयुक्त है। तांकल आदरसूचक है। पारिवारिक संदर्भों में 'नी' घनिष्ठता के रूप में अधिक प्रयुक्त है। उम्र में बड़े लोग अपने से छोटों को संबोधित करने के लिए 'नी' का प्रयोग करते हैं।

'नीय् कुलिक्कान पोरणो, मुताती अन्वेषिच्चु।'[7] (क्या तू नहाने आता है, नानी ने पूछा।)

मित्र लोग आपस में संबोधित करने के लिए 'नी' का प्रयोग करते हैं। यहाँ 'नी' घनिष्ठता का सूचक है।

सामाजिक स्तर पर अपने से निम्न माननेवाले लोगों को संबोधित करने के लिए 'नी' का प्रयोग करते हैं। यह निम्नता कई कारणों से होते हैं जैसे कि जाति, पेशा, आर्थिक स्तर आदि।

'पद्मनाभ पिल्ला चोदिच्चु, नीयिप्पोल तय्यलक्कटा तुरक्कारिल्ले (पद्मनाभ पिल्ला ने पूछा–तू अब दर्जी की दूकान खुलता नहीं)

'तान-तानारा-एन्ने नीयेन्नु विलिक्कान तू-तू कौन है–मुझे तू बुलाने के लिए)'[8]

'निङल' का प्रयोग समस्तर वाले लोगों के लिए अधिक प्रयुक्त है। एकवचन और बहुवचन के रूप में इसका प्रयोग होता है। तांकल का प्रयोग आदरसूचक है।

'मध्यम पुरुष सर्वनामों की विशेषता है, यह संबोधित का निर्देश करने के अलावा (क) संबोधित की संख्या (ख) संबोधक–संबोधित के भाषण युग्म के अंतर्संबंध के और (ग) भाषण के प्रकरण–संदर्भ का स्वभाव व्यक्त करते हैं। संबोधित की संख्या सूचित करने के प्रकार्य का संबंध व्याकरणिक वचन से है। मध्यम पुरुष एकवचन सर्वनाम एक संकेतक होता है। मगर मध्यम पुरुष बहुवचन अनिवार्य तथा बहुसंकेतक नहीं होता। वह कभी एक संबोधित का और कभी एक से अधिक का संकेतक हो सकता है।'[9]

'नी' से एक का संकेत मिलता है। परंतु बातचीत के कई संदर्भों में इस का प्रयोग विविध लक्ष्यप्राप्तियों के लिए किया जाता है। प्रभुता, घनिष्ठता, घृणा, क्रोध आदि विभिन्न भावों के प्रयोग, संबोधक-संबोधित के बीच संपन्न होते हैं।

मित्रता का एक प्रसंग–

'नी एविटे पोकुन्नु?' (तू कहाँ जाता है?)

'एटा निन्ने कण्टिट्टू एत्र दिवसमायेटा चङाती?' (अरे दोस्त, तुझे मिले कितने दिन हुए रे?)

क्रोध के संदर्भ में–

'नी इरंङीप्पोडा इविटुन्न' (निकल जा तू यहाँ से)

'निङल' का प्रयोग एकवचन और बहुवचन दोनों में होता है।

'निङल आराण?' (तुम कौन हो) यहाँ एकवचन में निङल का प्रयोग हुआ है।

'निङलेल्लावरुम कूटी एविटे पोयी?' (तुम सब लोग मिलकर कहाँ गए?) यहाँ बहुवचन में निङल का प्रयोग हुआ है।

तांकल का प्रयोग आदरसूचक एकवचन में होने का संदर्भ–

'तांकलुटे महनीय सान्निध्यत्ताल ई सभा घन्यमायी।' (आपकी महनीय उपस्थिति से यह

बैठक धन्य हो गई।)

केरल के उत्तर भागों में 'नी ' के क्षेत्रीय भेद निऱ, इऱ, इञ्ज, इञ्ञ् आदि शब्दों का प्रयोग होता है। 'उम्माच्चो, ञ्ज करया?' (उम्माच्चो, तू रोती है?)[10]

मलयालम में तान् का प्रयोग मध्यम पुरुष सर्वनाम के रूप में करता है। 'तान् एविटेक्का?' (तू कहाँ जाता है?) यह स्ववाची सर्वनाम भी है।

'तान् तान् चेयुम करमङ्ल फलम् तान् तान् निरंतरम् अनुभविक्कुम्–'यहाँ तान् स्ववाची है। (अपने द्वारा किए गए कर्मों के फल खुद भोगेंगे।)

'मध्यम पुरुष एकवचन और अन्यपुरुष एकवचन की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी भाषा समाज में आदर सूचक बहुवचन रूप का एकवचन में प्रयोग संबोधित व्यक्ति में निहित प्रतिष्ठा के ज्ञापन के लिए अवश्य होता है किंतु यदि प्रतिष्ठा स्वाभाविक एवं सर्वमान्य होगी तो मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष के सार्वनामिक रूपों में समानता रहती है, अन्यथा मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष में अंतर हो जाता है।'[11]

हिंदी में तू एकवचन के रूप में और तुम एवं आप बहुवचन के रूप में हैं, लेकिन तुम और आप एकवचन के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है जो आदरसूचक हैं। मलयालम के 'नी' एकवचन में प्रयुक्त किया जाता है। 'निङ्ल' एकवचन और बहुवचन में प्रयुक्त किया जाता है। तांकल एकवचन में आदरसूचक है। उदाहरण–

(हिंदी)–तू कहाँ जाता है?

(मलयालम)–नी एविटे पोकुन्नु?

(हिंदी)–तुम कहाँ जाते हो?

(मलयालम)–निङ्ल एविटे पोकुन्नु?

(हिंदी)–आप कहाँ जाते हैं?

(मलयालम)–तांकल एविटे पोकुन्नु?

मलयालम में अत्यादर को सूचित करने के लिए अङ्, अविटुन्न् आदि का प्रयोग किया जाता है। हिंदी में आप ही प्रतिष्ठासूचक सार्वनामिक शब्द है। लेकिन हुजूर, सरकार आदि शब्दों का प्रयोग होता है। हिंदी का 'आप' वैकल्पिक रूप से औपचारिक या अनौपचारिक हो सकता है जबकि मलयालम का तांकल औपचारिक ही होता है।

(हिंदी)–आप का नाम क्या है?

(मलयालम)–तांकलुटे पेरेन्ताणु?

(हिंदी)–माँ जी, आप आइए।

(मलयालम)–अम्मे, वरू।

प्रथम वाक्य में 'आप' और 'तांकल' दोनों औपचारिक हैं लेकिन दूसरे वाक्य का 'आप' अनौपचारिक है। मलयालम के वाक्य में तांकल का प्रयोग नहीं हुआ है क्योंकि औपचारिक रूप में इसका प्रयोग नहीं किया जाता है। मलयालम में रिश्तेसूचक संबोधनों के साथ तांकल सार्वनामिक संबोधन जोड़ना विरले ही होता है।

मलयालम में तान्, इय्याल, इर्डे, इविटुन्नु आदि शब्दों का प्रयोग होता है।

(मलयालम)–तान् आराण?

(हिंदी)–तू कौन है?/ तुम कौन हो?

(मलयालम)–इय्याल आराण?

(हिंदी)–तू कौन है?/ तुम कौन हो?

मलयालम के तान् और इय्याल् के समान शब्द हिंदी में नहीं है। इसलिए 'तू' या तुम का प्रयोग होता है।

(मलयालम)–अङ् आराण?

(हिंदी)–आप कौन हैं?

(मलयालम)–अविटुन्न एविटेक्काण?

(हिंदी)–आप कहाँ जाते हैं?

अङ्, अविटुन्न् आदि के लिए हिंदी में आप ही प्रयुक्त है।

मलयालम के निङल के लिए हिंदी में तुम प्रयुक्त है लेकिन उत्तर केरल में निङल आदर सूचक है। इसलिए आपका उपयोग करना पड़ता है।

निष्कर्ष–हिंदी और मलयालम के सार्वनामिक संबोधन विभिन्न सामजिक संदर्भों के अनुसार प्रयुक्त होते हैं। उम्र और लिंग के अनुसार उचित सार्वनामिक संबोधन शब्दों का प्रयोग दोनों भाषाओं में है। सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन आने के कारण निम्नता सूचक कई संबोधन सर्वनाम आज प्रचार में नहीं हैं। वक्ता और श्रोता आपस में प्रयुक्त सार्वनामिक संबोधन अपने-अपने परिवारिक और सामाजिक भूमिकाओं के अनुसार होते हैं। प्रभुता, घनिष्ठता, मित्रता आदि सार्वनामिक संबोधन के निर्धारक तत्त्व हैं। भाषा के संप्रेषणपरक पक्ष को महत्त्वपूर्ण बनाने के लिए संबोधन शब्दों का उल्लेखनीय योगदान है। समाजभाषाविज्ञान की दृष्टि से सार्वनामिक संबोधन शब्द समाज के स्तरीकरण के विभिन्न पक्षों को उजागर करने में सहायक हैं। वक्ता और श्रोता के आपसी संबंध, विभिन्न सामाजिक संदर्भों में प्रयुक्त सार्वनामिक संबोधन शब्दों के भेद आदि इस अध्ययन से समझ सकते हैं।

संदर्भ

1. वी॰के॰ हरिहरन उण्णित्तान, हिंदी और मलयालम के मध्यम पुरुष सर्वनाम, भाषा, पृ॰ 83
2. रवींद्ननाथ श्रीवास्तव, रमानाथ सहाय (सं॰), हिंदी का सामाजिक संदर्भ, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, 1990, पृ॰ 159
3. वही, पृ॰ 159
4. ममता कालिया, दौड़, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ॰ 84
5. कमलेश्वर, सुबह दुपहर शाम, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1985, पृ॰ 43
6. रवीन्द्ननाथ श्रीवास्तव, रमानाथ सहाय, हिंदी का सामाजिक संदर्भ, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, 1990, पृ॰ 159
7. सी॰ राधाकृष्णन, पुष मुतल पुष वरे, हाईटेक पब्लिकेशन्स, पृ॰ 2
8. अयल्कार, पी॰ केशवदेव, एस॰पी॰एस॰, कोट्टयम, 1973, पृ॰ 179
9. उम्माच्चु, उरूब, डी॰सी॰ बुक्स, कोट्टयम, 2011
10. हिंदी और मलयालम के मध्यम पुरुष सर्वनाम, वी॰के॰ हरिहरन उण्णित्तान, भाषा, पृ॰ 84
11. हिंदी का सामाजिक संदर्भ, रवीन्द्ननाथ श्रीवास्तव, रमानाथ सहाय (सं॰), केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, 1990, पृ॰ 160

Mob. 99954 79519
sindhubhairavisankaramangalam@gmail.com

जन जागरण के अग्रदूत संत तुकाराम

डॉ॰ प्रेम कुमार, अध्यक्ष, हिंदी विभाग
निर्वाण विश्वविद्यालय, जयपुर

महाराष्ट्र के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास में संत तुकाराम का अपूर्व योगदान है। सामाजिक सुधार के लिए उन्होंने अपना समग्र जीवन मानवतावादी मूल्यों के प्रसार में न्यौछावर कर दिया। तुकाराम का जन्म महाराष्ट्र के पूना जिले के अंतर्गत देहु नामक गाँव में सन 1608 ई॰ में हुआ। उनके जन्मस्थान के विषय में यह अभंग प्रसिद्ध है–

धन्य देहु गाव पुण्यभूमि ठाव। तेथे नांदे देव पांडुरंग।
तेथे दास तुका करितो कीर्तन। हदयी चरण विठोबाचे।[1]

अर्थात् धन्य है वह देहु गाँव जहाँ पांडुरंग रहते हैं और वे लोग भी धन्य हैं जो इस गाँव में रहते हैं। वहीं पर संत तुकाराम ईश्वर के दास के रूप में कीर्तन करते हैं।

भारत के मध्यकालीन संतों में संत तुकाराम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका साहित्य मानव कल्याण एवं विश्वबंधुत्व की भावना से ओत-प्रोत है। वे महाराष्ट्र के 'वारकरी संप्रदाय' के संत थे उनका संपूर्ण काव्य अभंगों में अभिव्यक्त हुआ है। इस संप्रदाय के संतों के वे छंद जो उन्होंने सामाजिक जागरण की भावना से क्षेत्रीय भाषाओं में गाये थे उन्हें अभंग कहा जाता है। संत तुकाराम ने अपने अभंगों के माध्यम से समाज में प्रचलित जातिगत भेदभाव, धार्मिक कट्टरता, सामाजिक रूढ़ि, दकियानूसी परंपरा और स्त्री-पुरुष असमानताओं पर प्रहार किया है। संत तुकाराम के समय में केवल सवर्णों को ही शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था और संत तुकाराम शूद्र वर्ण में जन्मे थे। इस संदर्भ में स्वयं उनका अभंग ही प्रमाण है–

शूद्र वंशी जन्मलो। म्हणोनी दंभे मोकलिलो।
घोकाया अक्षर। मजनाही अधिकार।
सर्वभावें दिन। तुका म्हणे याति-हीन।[2]

फलस्वरूप तुकाराम शिक्षा ग्रहण नहीं कर सके और कबीर की भाँति निरक्षर रह गए, लेकिन उन्होंने संत नामदेव के सभी अभंगों को याद कर रखा था। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि संत तुकाराम ने नामदेव के अभंग, एकादशी व्रत, गीता का अध्ययन करके ज्ञानार्जन किया था।

संत तुकाराम के अभंग कभी न भंग होने वाले अमृत कुंभ हैं। संत तुकाराम द्वारा रचित 'तुकारामाची गाथा' का उनके काव्य और अभंगों का विभाजन निम्न रूप से किया जाता है–1. आत्मचरितात्मक एवं आत्मपरीक्षणात्मक, 2. आत्मानुभव निवेदनात्मक, 3. उपदेशात्मक जिसमें गृहस्थ के आदेश, प्रपंचकों को उपदेश, बाह्यवेशधारियों को उपदेश, दुर्जनों को उपदेश, 4. संत महिमा-संत चरित्र वर्णनात्मक, 5. पौराणिक कथात्मक जिसमें श्रीकृष्ण की बालक्रीड़ा, कृष्ण लीलाएँ, कालियामर्दन, अग्निभंजन, रामचरित्र, हनुमान-स्तुति, गणिका-उद्धार, गजेंद्रमोक्ष, एकादशी महात्म्य, हरिहर ऐक्य, 6. पांडुरंग स्तुतिपरक और पंढरपुर महिमा वर्णनात्मक, 7. नाम संकीर्तन

 ISSN 0975-735X

वर्णनात्मक, 8. प्रासंगिक सदगुरुकृपा, काव्यस्तुति, शिवाजी भेंट, शिवाजी द्वारा भेजी गई भेंट, तुकाराम के पत्नी के कटु उद्धार, पांडुलिपियों, रामेश्वर भट्ट द्वारा इंद्रायनी में डुबोना, तरना, पत्नी को उपदेश, यात्रा के प्रस्थान पर संदेश।

तत्कालीन समाज में धर्म के नाम पर होने वाले अन्याय, शोषण, अनैतिकता आदि को तुकाराम अपनी आँखों से देख और परख रहे थे इसीलिए उन्होंने समाज के ठेकेदारों का दुष्ट व्यवहार, गरीब जनता की दुर्दशा, धार्मिक बाह्याडंबर आदि के विरुद्ध अपने काव्य के माध्यम से आघात किया। साधारण जनता ठगी जा रही थी ऐसे समय में उनके चिंतन और मनन का एक ही उद्देश्य था समाज में व्याप्त बाह्याडंबर को नष्ट करना। संत तुकाराम हिंदूधर्म के तत्कालीन बाह्याडंबरों की आलोचना करते हैं। मन के कलुषित लोग गंगा स्नान के लिए जाते हैं, वहाँ केवल ऊपर से शरीर धोते हैं किंतु वासना, काम, क्रोध आदि भावों को अंतर्मन में कलुषित ही रखते हैं। समाज में जो ढोंगी और पाखंडी साधु थे वे ईश्वर के नाम गरीब जनता को लूट रहे थे। तुकाराम कहते हैं–

ऐसे कैसे झाले भौंदु। कर्म करोनी म्हणती साधु।
अंगा लावूनिया राख। डोळे झाळुनी करिती पाप।
दावुनी वैराग्याची कळा। भोगी विषयाचा सोहळा।
तुका म्हणे सांगो किती। जळो तयाची संगती।[3]

संत तुकाराम इस अभंग में कहते हैं कि समाज में ऐसे बहुत साधु मिलेंगे जो अपने आपको अच्छा समझते हैं लेकिन वे मन से काले रहते हैं। अपने शरीर को साधु का दिखावा करने के लिए भस्म लगाते हैं और बुरे काम करते हैं। अपनी झूठी वाणी से गरीब जनता को फँसाते हैं। संतों का मुख्य धर्म मानवता की स्थापना करना होता है जबकि तुकाराम के समय में ऐसे संतों की कमी नहीं थी जो निठल्ले और कामचोर थे वे अपने भरण पोषण हेतु घर-घर जाते थे। आज तुकाराम का काव्य मनुष्य को ऐसे ढोंगी साधुओं से बचने की सीख दिलाता है–

टिळा टोपी उंच दावी। जगी मी एक गोसावी।
तुका म्हणे अवघे सोंग। तेथे केचा पांडुरंग।[4]

तुकाराम कहते हैं कि गले में माला पहनना ढोंग है, जिसमें दया, क्षमा, शांति नहीं वह साधु नहीं हो सकता। अपने सर पर टोपी, जटा, दाढ़ी, कानों में तुलसीपत्र पहनकर साधु बनने का प्रयास करने वाले ढोंगी कभी सच्चे साधु नहीं बन सकते। वे कहते हैं जिसने अपना मन काबू में नहीं रखा वह समाज को कैसे सुधारेगा? जब तक हम मन की इच्छा को त्याग नहीं सकते तब तक हम अपने आप में सुधार नहीं कर सकते।

संत तुकाराम समाज में व्याप्त धार्मिक अंधविश्वास पर अपनी दृष्टि डालते हैं। तुकाराम ने अपने समय का सच अभंगों में स्पष्ट किया है। तत्कालीन युग में एकाध व्यक्ति की मृत्यु होने के पश्चात उसका पुत्र स्वादिष्ट भोजन बनाकर समाज को खिलाता था और ब्राह्मण के हाथ से नदी के किनारे जाकर पिंडदान करवाता है। यह एक धार्मिक अंधविश्वास ही है। इस संदर्भ में तुकाराम कहते हैं कि जब उसके पिता जीवित रहते हैं तब उसे भूखा मरने देते हैं और मरने के बाद स्वादिष्ट भोजन बनाकर खुद ही खा लेते हैं। यह एक ईश्वर के नाम पर अंधविश्वास है। तुकाराम कहते हैं कि जब अपने माँ-बाप जिंदा रहते हैं उसी समय उनको भोजन देना चाहिए, उनकी सेवा करनी चाहिए यही सब करने में ही हमारी भलाई है। जैसे–

भूके नहीं अन्न। मेल्यावरी पिंडदान।

हे तो चाळवा चाळवी। केले आपणीच जेवी
तुका म्हणे जड़। मज न राखावे दगड़।[5]

संत तुकाराम के काव्य को किसी भी विशेष संप्रदाय या वाद विशेष के दायरे में बाँधना तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि उनकी गाथा का मूलभाव मानवता का भाव लिए हुए हैं। उन्होंने किसी नए सत्य या नए जीवनदर्शन की स्थापना नहीं कि अपितु प्रचलित भारतीय धर्मसाधना एवं संस्कृति के शाश्वत सत्य जो कि मानवतावादी सत्य के धर्म हो सकते हैं उन्हें स्पष्ट किया है। मानवतावादी विचारों को लेकर चलने वाले तुकाराम के जीवन का मूल संदेश समतावादी था। वे मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा में आने वाले बाधक पाखंड, बाह्याडंबर का विरोध करते हैं–'शुद्धा-शुद्ध निवड़े कैसे, चर्म मास भिन्न नाही।'[6]

इस अभंग के माध्यम से तुकाराम कहते हैं कि सबके शरीर हाड़-मांस से एक जैसे ही हैं, तो तुम अपने आपको ऊँच और नीच क्यों कहते हो। सभी व्यक्तियों की देहयष्टी एक जैसी है। सबके शरीर में लाल रंग का खून दौड़ता है फिर यह भेद किस लिए?

संत तुकाराम पतिव्रता नारी की सराहना करते हैं और वेश्या नारी की निंदा करते हैं। वे कहते हैं कि पतिव्रता नारी सिर्फ अपने पति की सेवा करती है, वह अपने पति की ही प्रशंसा करती है। वह एकाग्रता के साथ अपने पति का साथ देती है। उसके अंत:करण में सिर्फ उसका पति ही निहित होता है–'पतिव्रता नेने आणिकांची स्तुती। सर्व भावे पति ध्ध्यानी मनी।'[7]

तुकाराम का कहना था कि मन में चांडालों का स्पर्श हो जाने से धर्म भ्रष्ट नहीं होता परंतु मन में भेदभाव रखने से धर्म नष्ट हो जाता है। तुकाराम कहते हैं कि मंदिर या मस्जिद में जाकर ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती। रोजा, व्रत, नमाज करने से कुछ भी हासिल नहीं होता, ईश्वर का निवास तो व्यक्ति के मन में होता है। वे कहते हैं कि दोनों धर्मों के लोगों को हृदय में सत्य की खोज करनी चाहिए। तभी हिंदू-मुस्लिम आदि के भेद मिट जाएँगे। तुकाराम हिंदू-मुस्लिम भेद मान्य नहीं करते, वे सभी जाति धर्म के लोगों को समान मानते हैं। इसलिए आज भी हमें हिंदू और मुस्लिम में भाई चारा लाना है तो संत तुकाराम को याद करना आवश्यक है।

संत तुकाराम ने अपने मानववादी विचारों के प्रसार के लिए सप्त महाव्रतों का उपदेश दिया है। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय। इन पर उन्होंने अपने अभंगों के माध्यम से प्रकाश डाला है। अपने एक अभंग में वे सत्य की महिमा का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं सत्य के पेट-पीठ, ऊँच-नीच ऐसे अनुभाग नहीं होते। सत्य हमेशा परिपूर्ण और एक जैसा होता है।

तुका म्हणे सत्या नाही पाठी-पोट।
आहे ते निधोट एक जाति।[8]

वे कहते हैं कि मनुष्य ने सत्य आचरण करना चाहिए। सत्य के आचरण से हमें दुर्गति का सामना नहीं करना पड़ता। किसी भी काम में सत्य हो तो वह कार्य अच्छा होता है। सत्य बोलने से ईश्वर भी प्रसन्न रहते हैं। सत्य की तरह तुकाराम अहिंसा को महत्त्व देते हैं। किसी भी प्रकार की हिंसा का तुकाराम विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि किसी भी प्राणी को पीड़ित नहीं करना चाहिए।

वर्तमान समय में सबसे बड़ी समस्या हिंदू और मुस्लिम विवाद हैं। आज दोनों धर्मों के लोग सांप्रदायिक दंगे कर रहे हैं। हिंदू-मुस्लिम भाई-भाई होते हुए भी एक-दूसरे से दूर होते जा रहे हैं। वास्तविकता देखें तो इन दोनों का खून लाल है। दोनों का जन्म भी एक स्थान से होता है। परंतु आज हिंदू और मुस्लिम इन दोनों में आपसी मतभेद क्यों? यही आज की समस्या है जो संत तुकाराम के

समय में भी थी।

तुकाराम के समय राजनीति में अस्थिरता और अव्यवस्था थी। राजाओं में परस्पर एक-दूसरे पर अधिकार जमाने के लिए होड़-सी मची थी। अपने स्वार्थ के लिए राजा एक-दूसरे का साथ देते थे और राज्य पर अपना हक जमाना चाहते थे। आपसी वैमनस्य के कारण राज्य कमजोर हो रहे थे। राजा-राजाओं में राज्य स्थापित करने के लिए संघर्ष होता था। तुकाराम यह सब देखकर परेशान हो गए थे। उनका मानना था कि राजा ऐसा होना चाहिए जो प्रजा को सुख दे सके–

जया शिरीं कारभार। बुद्धी सार तयाची।
वतै तैसे वतै जन। बहुतां गुण एकाचा।
आपणीया पाक करी। तो इतरीं सेविजे।
तुका म्हणे शुर राखे। गांडया वाखे सांगाते।[9]

इस अभंग में तुकाराम कहते हैं कि राजा ऐसा होना चाहिए कि वह उसके जनता को अपना लगे। राजा की बुद्धि, नीति संपन्न होनी चाहिए। जिस प्रकार से राजा व्यवहार करता है वैसी जनता भी व्यवहार करने लगती है। उसके गुणों का ही लोग अनुकरण करने लगते हैं। वे कहते हैं कि हम अच्छे मनुष्य के साथ रहेंगे तो हमारा अच्छा ही होगा। शूर व्यक्ति के साथ रहेंगे तो रक्षण होगा और दुर्बल व्यक्ति के साथ रहेंगे तो अपना अकल्याण होगा। वे जनता की पीड़ा देख रहे थे। इसलिए वे कहते हैं कि राजा आदर्श होना चाहिए, मनुष्य को एक-दूसरे की सेवा करनी चाहिए जैसे राजा ने प्रजा की सेवा करनी चाहिए और प्रजा ने अपने राज्य की सेवा करनी चाहिए।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि संत तुकाराम ने विधर्मी शासकों के होते हुए भी समाज में उच्च आदर्श निर्माण करने का प्रयास किया है। तुकाराम को राजसत्ता में कोई रुचि नहीं थी, परंतु उन्होंने समाज को आदर्श शिक्षा देकर समाज के मार्गदर्शक बने। आज की राजनीतिक समस्याओं को भी दूर करने का सामर्थ्य उनके काव्य में दिखाई देता है। संत तुकाराम के विचार हाथों में हाथ डाले अनुशमन करने वाले है। तुकाराम के काव्य में चेतावनी का कठोर स्वर दिखाई देता है। उनके काव्य में समाज को ही नहीं राष्ट्रनेताओं को भी उपयुक्त मार्गदर्शन मिलता है। आज के संदर्भ में विचार करें तो आज के राजनेता बोलते कुछ और करते कुछ और, इससे राष्ट्र का निर्माण नहीं होगा। आज हमें एक अच्छे राष्ट्र का निर्माण करना है तो संत तुकाराम के काव्य का स्मरण करना आवश्यक है क्योंकि उनका काव्य समाज के प्रायः सभी वर्गों के मनुष्यों का पथ प्रदर्शन करता है।

संदर्भ

1. डॉ॰ सदानंद मोरे, तुकाराम दर्शन, पृ॰ 96
2. भालचंद्र नेमाड़े, तुकाराम, पृ॰ 79
3. शरयु तायवाड़े, युग प्रर्वतक संत तुकाराम, पृ॰ 87
4. डॉ॰ गोपालराव बेनारे, सार्थ श्री तुकारामची गाथा, पृ॰ 345
5. डॉ॰ ज्ञानेश्वर तांदळे, श्री संत तुकाराम महाराजची सार्थ अभंग गाथा, पृ॰ 387
6. वही, पृ॰ 670
7. वही, पृ॰ 422
8. शंकर महाराज खंदारकर, श्री तुकाराम महाराज गाथा, पृ॰ 400
9. डॉ॰ ज्ञानेश्वर तांदळे, श्री संत तुकाराम महाराजची सार्थ अभंग गाथा, पृ॰ 390

Mob. 9990418965, 7038096327
premkumar.sahitya@gmail.com

अलका सरावगी के उपन्यास में विभाजन की त्रासदी

डॉ॰ रामरती, प्रोफेसर, हिंदी विभाग
बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, अस्थल बोहर, रोहतक
ममता, शोधार्थी, हिंदी विभाग
बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, अस्थल बोहर, रोहतक

भारत-पाकिस्तान के विभाजन का जिक्र होते ही हमारे मस्तिष्क में कश्मीर तथा पंजाब का नाम उभरता है क्योंकि हिंदी साहित्यकारों ने पंजाब और कश्मीर के विभाजन और विस्थापन के दर्द पर विपुल साहित्य रचा है। इस शृंखला में बंगाल के विभाजन की कड़ी कहीं पीछे छूट जाती है। इस कड़ी को सुव्यवस्थित रुप से जोड़ने का प्रयास अलका सरावगी ने अपने नवीनतम उपन्यास 'कुलभूषण का नाम दर्ज कीजिए' में किया है। पूर्वी पाकिस्तान के मिलिट्री शासन और उसकी आजादी व बांग्लादेश के निर्माण पर कम लिखा गया। यही इस उपन्यास की कथा भूमि है। विभाजन कभी अकेले नहीं आता, विस्थापन भी लाता है। बांग्लादेश के कुष्टिया शहर से निकले लोग अपना घर-संसार, व्यापार छोड़कर कैसे बॉर्डर पार करते हैं, राह में मारे जाते हैं, या पैदल चलते चलते दम तोड़ देते हैं।

अलका सरावगी के इस उपन्यास में साधारण पात्रों के जरिए असाधारण कथा की रचना हुई है। इस उपन्यास में विस्थापन का दर्द जितना निजी है उतना ही सामूहिक भी है। विभाजन की त्रासदी व्यष्टि और समष्टि स्तर पर समानांतर चलती है। हमारे देश का हर कोना विभाजन और विस्थापन के रक्तरंजित इतिहास से पुता हुआ है। अलका सरावगी का यह चर्चित उपन्यास 'कुलभूषण का नाम दर्ज कीजिए' इसी रक्तरंजित इतिहास का एक अंश है जिसमें मनुष्यता की गहन पीड़ा को बड़ी सहज किस्सागोई से उकेरा गया है। यह बांग्लादेश विभाजन की त्रासदी पर लिखा हुआ एक दुखांत आख्यान है। इसमें लेखिका एक सहज प्रवाह से विस्थापन की पीड़ा से हमें अवगत करवाती हैं। मूल से कटकर वृक्ष सूख जाते हैं। जन्मभूमि से कटना मनुष्य के लिए भी मृत्यु से अधिक कष्टप्रद होता है। वह तन मन से सूख जाता है।

'उन लोगों ने देखा कि एक बड़ी जगह में बड़ी-बड़ी मशीनों से साल, महुआ, आम और चंपा के बड़े-बड़े पेड़ धक्का मारकर गिराए जा रहे हैं। जिन पक्षियों के बसेरे टूट रहे थे वह चीखते चिल्लाते इधर-उधर उड़ रहे थे। मशीनों से पेड़ों के टुकड़े किए जा रहे थे। बुलडोजर एक तरफ से मिट्टी के पहाड़ खींचते ला रहे थे।'[1]

उठापटक के ऐसे माहौल में एक शरणार्थी अपने असली नाम को दर्ज करवाने के लिए बेचैन है। बांग्लादेश में कुष्टिया नाम के एक छोटे से शहर का एक लड़का कुलभूषण जैन विशुद्ध मारवाड़ी परिवार से है। कुलभूषण यानी कि कुल का भूषण जो कि उस कुल का होते हुए भी उस कुल का नहीं था। कुलभूषण का जीवन एक मजाक बनकर रह गया था। उसे अपना नाम बदलकर गोपालचंद्र दास रखना पड़ा। मारवाड़ी परिवार में पैदा होने से लेकर बांग्लादेशी शरणार्थी बनने तक

 ISSN 0975-735X

का यह सफर अत्यंत कष्टप्रद था। वह बार-बार प्रयास करता है कि कोई उसकी पहचान के बारे में इतिहास में लिखे या वह स्वयं ही अपनी आत्मकथा लिखे।

'पर आत्मकथा की शुरुआत कहाँ से करनी होगी? अपने बेघर होने की कथा से या बिना देश का होने की कथा से? आज के बांग्लादेश या उन दिनों के ईस्ट पाकिस्तान के कुष्टिया शहर के छूटने की कथा से? या और पीछे जाकर राजस्थान के बिसाऊ नाम के गाँव से कुलभूषण के दादा भजनलाल के पूर्वी बंगाल में कुष्टिया में आ बसने से?'[2]

जन्म का अभागे, भाइयों के रहम पर पले और हर दुनियावी मोर्चे पर विफल कुलभूषण ने जब-जब अपनी तरह से जीना चाहा, हालात ने खींचकर उसे कहीं और खड़ा कर दिया। उसे एक बार नहीं कई बार विभाजन और विस्थापन का दर्द सहना पड़ता है। लेखिका बताती है, 'पहली बार उस घर को छोड़ने की याद उसे नहीं है वह 7 साल का होगा होगी भी तो दूसरी या तीसरी बार घर छोड़ने की याद में मिल गई होगी जीवन वहीं छोड़ आया था वह। बाकी लोग तो कैसे-न-कैसे फिर जम गए थे बस वही एक नौकरी से दूसरी नौकरी एक घर से दूसरे घर तक धक्के खाता रह गया था।'[3]

कुलभूषण के जीवन में अंतहीन कष्ट अनवरत आते रहे परंतु उसके अभिन्न मित्र श्यामा धोबी का दिया हुआ भूलने का बटन वह अक्सर दबा देता और दुनियादारी से बेखबर हो जाता।

'उसका हाथ भूलने के बटन की तरफ बढ़ गया। उसने फिल्मों के अंत में आने वाले अक्षरों को हवा में लिखा और अपनी करतूत पर मुस्कुराता हुआ सियालदह स्टेशन की ओर बढ़ गया।'[4]

अलका सरावगी का यह उपन्यास कुलभूषण के माध्यम से कही गई बंगाल के विभाजन व विस्थापन की ऐसी कहानी है जो अत्यंत जटिल और मार्मिक है। यह उपन्यास अनेक अंधेरों-उजालों से गुजरता हुआ सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व पारिवारिक ताने-बाने पर बुने गए विभाजन में विस्थापन की गहन पड़ताल करता है एवं अनेक प्रश्न हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। यह एक शोध परक उपन्यास है, जिसका कथा संसार अत्यंत विस्तृत है, जिसमें वर्णित जन्मभूमि से विस्थापित शरणार्थियों का दारुण आत्म संघर्ष एवं निरंतर तिरस्कारों के उपरांत भी शेष रहने वाली जिजीविषा पाठक के अंतर्मन को मथ डालते हैं।

इस कथा में जो विभाजन की त्रासदी है वह केवल राष्ट्रीय स्तर पर घटित नहीं होती है अपितु अंतरराष्ट्रीय स्तर से आरंभ होकर राष्ट्रीय सीमाओं को लाँघते हुए राज्य स्तर पर मर्माहत करती हुई सामाजिक परिवेश से परिवार में प्रवेश करती है और आत्मा को भेद जाती है। मनुष्य के लिए पृथ्वी पर सबसे अधिक सुरक्षित समझी जाने वाली पारंपरिक संबंधों की दुनिया ही उसे तोड़ती है।

'आपसे सच कहता हूँ अनिल बाबू मैं भी सर्वहारा ही हूँ। जो दिखता हूँ, वह नहीं हूँ। यह तो सिर्फ नाटक में मिली हुई भूमिका है। जब भी अपने भाइयों के पास कोलकाता जाता हूँ तो अपनी असलियत का पता चल जाता है। अपने माँ-बाप की बातें छिपकर सुनता हूँ तब सोचने लगता हूँ कि मैं जैसा हूँ वैसा क्यों हूँ। जिसके लिए अपने परिवार में भी जगह नहीं होती, उससे ज्यादा सर्वहारा कोई नहीं होता।'[5]

यह उपन्यास केवल विभाजन से उत्पन्न होने वाले विस्थापन को ही नहीं अपितु उसके माध्यम से मनुष्य की स्वाधीनता के प्रश्न को सर्वोपरि रखता है। अलका सरावगी का यह उपन्यास पैनी इतिहास दृष्टि और अद्‌भुत कल्पनाशीलता के सम्मिश्रण से लिखा गया पहले पूर्वी पाकिस्तान

बाद में बांग्लादेश बनने और फिर वहाँ से विस्थापित हुए आधे-अधूरे छूट गए लोगों के जीवन का ऐसा दस्तावेज है जिसकी शादी बहुत गहरे तक अपना रंग छोड़ती है। विभाजन के दौरान सांप्रदायिक दंगों की भयावहता, दारुण शरणार्थी जीवन, सर्वथा विपरीत परिस्थितियों में विस्थापन, आर्थिक रूप से पूर्णतया नष्ट होने के बाद शून्य से आरंभ करने की त्रासदी और अपने चिर-परिचित परिवेश से अचानक सदा के लिए दूर होने की व्यथा, यही विभीषिका की चरम सीमा है।

'गंगा किनारे का हमारा कुष्टिया का घर अभी भी सपने में आता है। घर तो वहीं खड़ा होगा। जाने कौन मुसलमान रहता होगा उसमें? कैसे हम लोग रातों-रात सब कुछ छोड़कर चले आए थे? पहली बार नोआखली में हिंदुओं को मारने की खबर आई। तब पिताजी और छोटे बाबू ने अपनी लाइसेंस वाली बंदूकें निकालकर साफ कर ली थीं। हमने छत पर पिसा हुआ काँच, ईंटें और लाल मिर्च का चूर्ण तैयार कर रखा था।'[6]

इसमें केवल कुलभूषण का नाम दर्ज करवाने का संघर्ष नहीं है अपितु यह सूक्ष्म रूप में हमारे सामाजिक और पारिवारिक ढाँचे के पतन की ओर भी संकेत करता है। यह उपन्यास पारिवारिक संबंधों के बनावटी एवं दोहरे स्वरूप को भी रेखांकित करता है। मानवमूल्यों की मूल्यहीनता को दर्शाकर यह उपन्यास असल मानवमूल्यों को पुनर्स्थापित करने के लिए प्रयासरत प्रतीत होता है।

संदर्भ

1. अलका सरावगी, कुलभूषण का नाम दर्ज कीजिए, 2020, वाणी प्रकाशन, पृ॰ 63
2. वही, पृ॰ 107
3. वही, पृ॰ 94,
4. वही, पृ॰ 10
5. वही, पृ॰ 16
6. वही, पृ॰ 15

ममता द्वारा सुमन राठी
मकान नं॰ 85/9 **विशाल नगर**
रोहतक (हरियाणा) 124001
मो॰ 8708554119, 9896101034
sumanrathi19980@gmail.com

ISSN 0975-735X

'कंकाल' का सामाजिक यथार्थ

डॉ॰ अर्जुन सिंह, सहा॰ आचार्य, हिंदी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)

जयशंकर प्रसाद का 'कंकाल' उपन्यास वेदना से प्रेरित होकर जनसाधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का यथार्थवादी अंकन करता है। 'कंकाल' की चेतना व्यापक है। यह केवल उपन्यास मात्र नहीं है, बल्कि प्रसाद द्वारा झेले गए संकट का सीमांत भी है। आज इक्कीसवीं सदी का भारत भी धार्मिक आडंबरों से मुक्त नहीं है; बल्कि धर्माचार-पापाचार बढ़ते ही जा रहे हैं। ऐसे समय में 'कंकाल' अपनी प्रासंगिकता को और भी तीव्रगामी बनाता है। काशी जैसे धर्म केंद्र में रहते हुए बींसवीं सदी के तीसरे दशक में जयशंकर प्रसाद ने अपने चारों ओर फैले धार्मिक पाखंडों, धर्म के ठेकेदारों अर्थात् मठाधीशों, पूँजीपतियों आदि के दुराचरण का 'कंकाल' में जिस निर्ममता से पर्दाफाश किया है उसका वर्तमान संदर्भ में विशेष महत्त्व है।

जयशंकर प्रसाद इस तथ्य को भली-भाँति समझ रहे थे कि देश को गुलामी से मुक्त कराने के लिए यह अपरिहार्य है कि पहले समाज अपनी कुरीतियों, कुसंस्कारों, पाखंडों से उबर जाए। हिंदू समाज अपनी रूढ़ियों, पाखंडों-आडंबरों जाति-पाति, वर्ग-वर्ण भेद की जड़ताओं में बँधकर अपनी मांस-मज्जा सब गँवा बैठा है, बच गया है तो सिर्फ उसका–कंकाल। गोस्वामी कृष्णशरण औपनिवेशिक भारत में जनता की दीन-हीन दशा का चित्रण करता हुआ देशवासियों को ललकारता है–'तुम अबलाओं की सेवा में लगो। भगवान की भूमि भारत में स्त्रियों पर तथा मनुष्यों को पतित बनाकर बड़ा अन्याय हो रहा है। करोड़ों मनुष्य जंगलों में अभी पशु जीवन बिता रहे हैं। स्त्रियाँ विपथ पर जाने के लिए बाध्य की जाती हैं। तुमको उनका पक्ष लेना पड़ेगा। उठो!'[1]

धर्म की सड़ांध, कुंठित और विकृत समाज देश को पराधीनता के गर्त में धकेल देता है। जयशंकर प्रसाद व्यापक मुक्त चेतना के साहित्यकार हैं। प्रसाद औपनिवेशक भारत में राजनीतिक दासता से तो मुक्ति चाहते ही थे; साथ में वे सामाजिक जुए से भी समाज को मुक्त करना चाहते थे। 'कंकाल' उपन्यास में लेखक ने काशी, प्रयाग, हरिद्वार, मथुरा, वृंदावन जैसे पवित्र धार्मिक तीर्थस्थलों को अपनी कथा का केंद्र बनाकर, यहाँ के मठों, तीर्थों, मंदिरों, मेलों-ठेलों में होने वाले धार्मिक अत्याचारों में लिप्त बाबा लोगों को न केवल नंगा किया है; बल्कि इन धार्मिक संस्थाओं पर भी गहरा प्रहार किया है। सारा अधर्म इन तीर्थों में ही होता है। इसकी शिकार मुख्यत: स्त्रियाँ होती हैं। प्रसाद ने दिखलाया है कि इन धार्मिक अनाचारों में केवल हिंदू धर्म के ठेकेदार ही संलग्न नहीं है, वरन् इस्लाम और ईसाईधर्म के मुल्ला और पादरी भी संलिप्त हैं। ये संस्थाएँ मानवीय भेदभाव और अत्याचार के गढ़ हैं। प्रसाद ऐसे धर्म संघ की स्थापना को ढोंग बतलाते हैं। इसी धर्म संघ की छत्रछाया में धर्म की ध्वजा उठाए पापी महात्मा बन बैठे हैं और इसके नीचे समाज का कंकाल पड़ा हुआ है। गोस्वामी कृष्णशरण के माध्यम से लेखक की आत्मा चीख उठती है–'पुरुषोत्तम का संदेश था–आत्मा की स्वतंत्रता का, साम्य का, कर्मयोग का, बुद्धिवाद का। आज हम

धर्म के जिस ढाँचे को, शव को घेरकर रो रहे हैं, वह उनका धर्म नहीं था। धर्म को वे बड़ी दूर की पवित्र या डरने की वस्तु नहीं बतलाते थे।'[2]

कंकाल उपन्यास में जयशंकर प्रसाद ने प्रखर व्यंग्य चेतना के द्वारा पाखंडरत समाज की रूढ़ नैतिकता की परत-दर-परत उधेड़कर रख दी है–'रामा विधवा युवती है, फिर हरिद्वार जैसे धार्मिक स्थल पर क्या उसके आश्रयदाताओं की कमी होगी।'[3] प्रसाद जी का यह कटाक्ष अत्यंत हृदयद्रावक बन गया है। 'कंकाल' उपन्यास की मालकिन किशोरी भंडारे के पुण्य-उत्सव को देख रही थी और देख रही थी कि उच्छिष्ट की लूट मचाने वाले पुश्त-दर-पुश्त के भूखों को। वह सोचती है–'भीतर जो पुण्य के नाम पर, धर्म के नाम पर गुलछर्रे उड़ रहे हैं, उसमें वास्तविक भूखों का कितना भाग है, यह पत्तलों के लूटने का दृश्य बतला रहा है। भगवान तुम अंतर्यामी हो।'[4] 'कंकाल' उपन्यास का विद्रोही पात्र विजय, मंगल से सवाल पूछता है–'जिन्हें आवश्यकता नहीं, उनको बिठाकर आदर से भोजन कराया जाए, केवल इस आशा से कि परलोक में वे पुण्य-संचय का प्रमाण पत्र देंगे, साक्षी देंगे और इन्हें, जिन्हें पेट ने सता रखा है, जिनको भूख ने अधमरा बना दिया है, जिनकी आवश्यकता नंगी होकर बीभत्स नृत्य कर रही है–वे मनुष्य कुत्तों के साथ जूठी पत्तलों के लिए लड़ें–यही तो तुम्हारे धर्म का उदाहरण है।'[5] वास्तव में प्रसाद का हृदय यहाँ हाहाकार कर रो रहा है। जिस हृदय में आर्य संस्कृति की महानता 'जगे हम और लगे जगाने विश्व' का गौरव भाव भरा हुआ है; वह प्रसाद-हृदय हिंदूधर्म व समाज की इस विकृति पर खून के आँसू बहा रहा है।

'कंकाल' का प्रकाशन वर्ष 1929 ई॰ है। यह वह दौर था जब राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन अपनी तीव्रता को प्राप्त कर रहा था। ऐसे समय में भारतीय समाज अपनी ही रूढ़ियों में फंसा पाखंडों में लिप्त हो- यह प्रसाद को मयस्सर नहीं। विजय के माध्यम से लेखक इन ढोंगी पाखंडी धार्मिक नेताओं से तर्क कर रहे हैं–'क्यों, क्या हिंदू होना परम सौभाग्य की बात है? जब उस समाज का अधिकांश पददलित और दुर्दशाग्रस्त है, जब उसके अभिमान और गौरव की वस्तु धरापृष्ठ पर नहीं बची–उसकी संस्कृति विडंबना, उसकी संस्था सारहीन और राष्ट्र बौद्धों के शून्य सदृश्य बन गया है। जब संसार की अन्य जातियाँ सार्वजनिक भातृभाव और साम्यवाद को लेकर खड़ी हैं, तब आपके इन खिलौनों से भला उनकी संतुष्टि होगी?'[5]

जयशंकर प्रसाद की मूल समस्या यहाँ राष्ट्रीय-सांस्कृतिक नवजागरण से जुड़ी हुई है। 'कंकाल' अपने समाज का बहुआयामी यथार्थ प्रस्तुत करता है। गोस्वामी कृष्णशरण जर्जर व संकीर्ण मानसिकता के बंधनों में ग्रस्त भारतीय समाज तथा अकर्मण्यता के प्रचारकों का विरोध करते हुए कहता है–'हम लोगों को जीवन के नवीन अध्याय के लिए प्रस्तुत होना चाहिए। लतिका! 'सदैव प्रस्तुत रहो' का महामंत्र मेरे जीवन का रहस्य है–दुख के लिए, सुख के लिए, जीवन के लिए और मरण के लिए! उसमें शिथिलता न आनी चाहिए! विपत्तियाँ वायु की तरह निकल जाती हैं; सुख के दिन प्रकाश के सदृश्य पश्चिमी समुद्र में भागते रहते हैं। समय करना होगा, बिताना होगा और यह ध्रुव सत्य है कि दोनों का अंत है।'[6] मनुष्य अपनी संकीर्णताओं व क्षुद्रताओं को सत्य समझकर मानवता से कितना विमुख हो सकता है–'कंकाल' इसका प्रमाण है। गोस्वामी कृष्णशरण के माध्यम से प्रसाद विचार करते हैं–'मनुष्य भूलें करता है, इसका रहस्य है मनुष्य का परिमित ज्ञानाभास। सत्य इतना विराट है कि हम क्षुद्र जीव व्यावहारिक रूप में उसे संपूर्ण ग्रहण करने में प्राय: असमर्थ प्रामाणित होते हैं, जिन्हें हम परंपरागत संस्कारों के प्रकाश में कलंकमय देखते हैं, वे

 ISSN 0975-735X

ही शुद्ध ज्ञान में यदि सत्य ठहरे तो मुझे आश्चर्य न होगा।'[7]

वास्तव में, 'कंकाल' का लेखक सभी प्राणियों से निर्वेर-युक्त शांतिपूर्ण, शक्ति-संबलित-मानवता के ऋजु-पथ की तलाश करता है। संसार से विच्छिन्न कर देने वाला विराग-दर्शन लेखक को मयस्सर नहीं है। संवेदना के धरातल पर कंकाल तक और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है, जब लेखक पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति की आलोचना में प्रवृत्त होता है। 'कंकाल' के जॉन पादरी और बाथम पादरी का चरित्र पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति की क्रूर वास्तविकता को उजागर कर देता है। औपनिवेशिक भारत में ब्रिटिश मनोवृत्ति छल व बल का सहारा लेकर धर्मपरिवर्तन का प्रचार कर रही थी। जॉन पादरी सरला को ईसाई बनाने की चाल चलता है। लेखक ने यहाँ षड्यंत्रकारी भ्रष्ट औपनिवेशिक मानसिकता की पोल खोलकर रख दी है। कंकाल की कथा अपनी संरचना और संवेदना से जिस ट्रेजेडी का निर्माण करती है; उसमें ब्रिटिश मनोवृत्ति की भयानक राक्षसी-तस्वीर उभरकर सामने आई है। प्रेमचंद के कर्मभूमि उपन्यास का 'मुन्नी बलात्कार प्रसंग' और प्रसाद के कंकाल में 'बाल-विधवा घंटी के अपहरण का प्रसंग' स्थिति की विद्रूपताओं को परत-दर-परत खोलता चलता है। 'कंकाल' का बाथम पादरी जो ईसाई जगत का सभ्य व प्रतिष्ठित व्यक्ति है, अपनी काम-वासना में इतना अंधा हो गया है कि वह न केवल लतिका को भ्रष्ट करता है; साथ ही घंटी की दयनीय अवस्था से भी लाभ उठाना चाहता है। नीचता की तमाम सीमाएँ पार करता हुआ बाथम पादरी घंटी के अपहरण का षड्यंत्र रचता है। घटना का यह गौण प्रसंग ही सही, लेकिन अपनी संवेदना में वृहत्तर आयाम प्रस्तुत करता है।

'कंकाल' का सामाजिक यथार्थ पुरुषप्रधान वर्चस्ववादी सामंती समाज में छटपटाती नारी की दयनीय मूर्ति को साकार करता है। स्त्रियों की दशा को सुधारने वाली 'भारत संघ' संस्था भी एक ढोंग है। विडंबना तो यह है कि स्वयं संघ के ठेकेदार नारी-शोषण से मुक्त नहीं हैं। एक सती-साध्वी नारी यमुना का जीवन बरबाद करके गाला से विवाह करने वाला मंगल इस संघ का नेता है। कंकाल की पात्र बाल-विधवा घंटी हिंदू समाज की विडंबना पर विचार करती है—'हिंदू स्त्रियों का समाज ही कैसा है, उसमें कुछ अधिकार हो तब तो उसके लिए कुछ सोचना विचारना चाहिए।'[8] स्त्रियों के शोषण में समाज के रूढ़ संस्कारों का सबसे अधिक हाथ है। तारा का अपहरण करके उसे 'गुलेनार' बनाकर कोठे पर बिठा दिया जाता है और उसका उद्धारक मंगल लोकोपवाद के भय से उसको छोड़कर भाग जाता है। इसकी परिणति तारा का यमुना दासी में बदलकर यंत्रणाएँ पाने में होती है। प्रसाद ने दिखलाया है कि यदि परिस्थितिवश कोई नारी एक बार वेश्या बन गई तो इस समाज में उसके लिए कोई स्थान नहीं है। उसे उसके अपने सगे संबंधी भी त्याग देते हैं। घंटी बाल-विधवा है, इसलिए वह पुनर्विवाह नहीं कर सकती। किशोरी स्वयं पर-पुरुष से पाखंडाचार में लिप्त है, लेकिन अपने पुत्र विजय का विवाह घंटी से नहीं करना चाहती। जयशंकर प्रसाद ने कंकाल उपन्यास में दर्शाया है कि समाज जिस विवाह-संबंध की पवित्रता का बखान करते नहीं अघाता, उसकी पवित्रता व्यक्ति-सापेक्ष है; नहीं तो विवाह की आड़ में जारज संतानों का जमघट भी लग सकता है—कंकाल इसका प्रमाण है। इससे बड़ा सामाजिक व्यंग्य और क्या हो सकता है कि पुत्र के शव-संस्कार के लिए पिता (श्रीचंद्र) से पैसा माँगा जाए और पुत्रशोक का दुख किसी अन्य को हुआ हो।

कंकाल उपन्यास में जयशंकर प्रसाद ने औपनिवेशिक भारत की भ्रष्ट न्याय-व्यवस्था पर भी करारा व्यंग्य किया है। यमुना के जेल प्रसंग में लेखक लिखते हैं—'यद्यपि उसने स्पष्ट स्वीकार

नहीं किया, परंतु शासन को तो एक हत्या के बदले दूसरी हत्या करनी ही है। न्याय को वही समीप मिली, उसी पर अभियोग चल रहा है।'[9] जाहिर है कंकाल अपने औपन्यासिक स्वरूप में ढीला-ढीला एवं घटना बहुल होने पर भी अपनी संवेदना में उत्कृष्ट है। प्रसाद ने व्यंग्य और अतिरंजना के सहारे समाज में उपस्थित कुप्रवृत्तियों के उन्मूलन की माँग की है।

निस्संदेह कंकाल हिंदी का पहला आलोचनात्मक यथार्थवादी उपन्यास है। लेखक की यथार्थवादी चेतना ने यह देख लिया है कि समाज के कुसंस्कारों से टक्कर लेने की शक्ति भी अंततः शिकस्त हो जाती है। उपन्यास के अंत में, समाज के रूढ़-संस्कारों, धर्माडंबरों का आजीवन विरोध करने वाला विद्रोही पात्र विजय का 'कंकाल' असहाय अवस्था में पड़ा है। वास्तव में, जयशंकर प्रसाद धर्म के संदर्भ में भारतीय सामाजिक जीवन का एक संपूर्ण चित्र उरेहना चाहते थे और अंततः उसे प्रगतिशील जीवन-दृष्टि की ओर उन्मुख करना चाहते थे। यही कारण है कि कंकाल उपन्यास में अपढ़-अशिक्षित, क्रूरकर्मा दस्यु से लेकर आत्मत्यागी कर्मठ चिंतक तक की समस्त मानव-श्रेणियाँ समाविष्ट की गई हैं। प्रसाद के लिए यहाँ औपन्यासिक कला गौण है, विचार प्रधान है।

कंकाल उपन्यास में अभिव्यक्त लेखक की सामाजिक यथार्थ चेतना आज इक्कीसवीं सदी के भारतीय समाज, धर्माचरण से भी सीधे-सीधे टकराती है। उनकी यथार्थ चेतना निरंतर रूढ़ियों पर आक्रमण करती रही है। कंकाल उपन्यास अपनी संवेदना में भली-भाँति स्पष्ट कर देता है कि जयशंकर प्रसाद का साहित्य इतिहास के गढ़े मुर्दे नहीं उखाड़ता; बल्कि इसी समाज के उखड़े मुर्दों, कंकालों को साहित्य में गाढ़ने का कार्य करता है।

संदर्भ

1. सत्यप्रकाश मिश्र (संपादक) प्रसाद के संपूर्ण उपन्यास, कंकाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2001, पृ॰ 111
2. वही, पृ॰ 114
3. जयशंकर प्रसाद, 'कंकाल', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 1985 ई॰, पृ॰ 48
4. वही, पृ॰ 48
5. वही, पृ॰ 53
6. सत्यप्रकाश मिश्र (संपादक) प्रसाद के संपूर्ण उपन्यास, कंकाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2001, पृ॰ 134
7. वही, पृ॰ 210
8. वही, जयशंकर प्रसाद, कंकाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 1985, पृ॰ 53
9. वही, पृ॰ 155

TR-& 09, Campus Rajasthan University,
JLN Marg, Jaipur 302001
Mob. 7976562637
Singharjun15616@gmail.com

गोविंद वल्लभ पंत के उपन्यासों में चित्रित समाज

मोनी, शोधार्थी, हिंदी-विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

गोविंद वल्लभ पंत जी बहुमुखी प्रतिभा संपन्न साहित्यकार हैं। इन्होंने साहित्य की लगभग सभी विधाओं में अपनी लेखनी चलाई है। एक उपन्यासकार के रूप में भी इनको बहुत ख्याति प्राप्त हुई है। गोविंद वल्लभ पंत जी ने सामाजिक उपन्यास, आंचलिक उपन्यास, कल्पना-प्रधान उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास, प्रतीकात्मक उपन्यास लिखे हैं। इन्होंने अपने उपन्यासों की सामग्री समाज के विभिन्न क्षेत्रों से ग्रहण की है।

मनुष्य के निर्माण में समाज तथा संस्कृति का महत्त्वपूर्ण योगदान है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के कारण अपना सम्पूर्ण जीवन समाज में ही जीता है। समाज ही वह रंगमंच है जिस पर व्यक्ति का विकास होता है। गोविंद वल्लभ पंत के अनुसार, 'मनुष्य समाज का एक अंग है और समाज विश्व का एक टुकड़ा। तुम अपने से उससे उच्छिन्न नहीं कर सकते। यदि कर लोगे, तो क्या मस्तिष्क की विकृति के एक उदाहरण न समझे जाओगे।'[1] गोविंद वल्लभ पंत के इस दृष्टिकोण के अनुरूप ही उनके उपन्यासों में व्यक्ति अपने वातावरण से पृथक व स्वतंत्र नहीं है। गोविंद वल्लभ पंत के उपन्यासों में एकल परिवार व्यवस्था को ही पाते हैं। 'छह छायावादी' उपन्यास के पात्र मधुकर शर्मा के बड़े परिवार में छह संतानें हैं। परंतु उनका दृष्टिकोण भी अब छोटे परिवार का है। वह कहते हैं–'अगर हम अपने-अपने घरों को सम्हाल लें, तो देश अपने आप ठीक हो जाएगा, तुम्हारे लिए अगर जूते ही लाने पड़े इस महँगाई में तो पूरे तीन सौ रुपए का टोटल बैठ जाएगा।'[2] गोविंद वल्लभ पंत स्वयं छोटे परिवार को महत्त्व देते हैं।

नारी का मातृत्वपूर्ण हृदय धरती से भी अधिक सहनशील व आकाश से अधिक विशाल होता है। गोविंद वल्लभ पंत के उपन्यासों में माता के रूप में नारी का अत्यन्त उज्ज्वल, ममत्वपूर्ण एवं त्यागमय चित्र अंकित हुआ है। मातृ-हृदय की पीड़ा पुत्र-वियोग से कहीं उसे विक्षिप्त रूप में प्रकट करती प्रतीत होती है। अपने एक उपन्यास 'मधुरा' में गोविंद वल्लभ पंत ने उपन्यास की नायिका मधुरा के अतृप्त मातृत्व की करुणा को प्रकट किया है। वर्षों से बिछुड़ा पुत्र जब लौटकर आता है, तब मधुरा के मातृरूप का चित्रण देखने को मिलता है। 'अरे तेरी माँ, दुनिया की नजर और आवाज से कटकर पत्थर की अहिल्या हो गई। तुम्हारे बिछोह में उसके सुनने बोलने की ताकत चली गई।'[3] गोविंद वल्ल्भ पंत ने एक अन्य पात्र वृद्धा हमीदा के माध्यम से भी पुत्र वियोग के रूप को प्रकट किया है। 'काला बंजारा' उपन्यास में हमीदा का पुत्र अल्लादिया उसे छोड़कर पाकिस्तान भाग जाता है। 'दिन-रात रोती अम्मा हमीदा उसकी प्रतिक्षा में अंत में उदास होकर एक दीवार पर बैठ गई। नजर उसकी उसी रास्ते पर थी, जहाँ वह अपने बेटे को लौटता हुआ देखती है। हल्द्वानी या नैनीताल से, और टीले पर बैठकर और भी ऊपर तक उस रास्ते पर एकटक देखने लगी।'[4] और रोते-रोते पुत्र की प्रतीक्षा में वह अंधी हो जाती है।

नारी को समाज में सदा पुरुष पर आश्रित माना गया है। गोविंद वल्लभ पंत ने इसे अपने उपन्यासों में अंकित किया है, पुरुष-प्रधान समाज में नारी का अस्तित्व पुरुष का प्रश्रय पाकर खिल उठता है और उसको प्रत्येक कार्य में पिता पुत्र और पति की सम्मति लेना आवश्यक होता है। व्यक्ति रूप में नारी के स्वतंत्र अस्तित्व को मान्यता नहीं दी जाती। 'तारिका' उपन्यास की नायिका डोरा एक शिक्षित योग्य लड़की होने के साथ ही स्वतंत्र व्यक्तित्व रखने की इच्छुक है। परंतु उसे तारिका बनने की सम्मति देते देख राबिन का मेज के नीचे से पैर द्वारा उसे संकेत करना व यह कहना इसको स्पष्ट रूप से चित्रित करता है–'लेकिन इनकी पढ़ाई-लिखाई का क्या होगा? यह स्वतंत्र थोड़े ही है। इसके पिताजी की सम्मति लेनी पड़ेगी न?'[5] और डोरा अपने मंगेतर राबिन के संकेत मात्र पर अपनी इच्छा का गला घोंट देती है। यहाँ नारी का शोषण प्रदर्शित हुआ है।

मजदूर वर्ग की अवस्था दिन-प्रतिदिन खराब होती जा रही है। वर्ग-चेतना को अनुभव करके भी वह पूँजीवाद के आर्थिक विकास में सहयोग देने को बाध्य है। बेकारी के भय ने मजदूर वर्ग को बहुत दुर्बल बना दिया है। वह राजनीतिक संघर्ष से बचने का प्रयत्न कर अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए पूँजीपतियों की दया पर पूर्णत: निर्भर है। गोविंद वल्लभ पंत के उपन्यास 'तारों के सपने' का मील-मजदूर प्रेम ज्वर से पीड़ित होने पर भी इलाज के लिए समय नहीं निकाल पाता। भन्नन जी द्वारा इलाज के लिए दो घंटे के अवकाश के सुझाव पर प्रेम स्पष्टवादिता से कहता है–'नहीं पंडित जी, दो घंटे का पैसा कट जाएगा। वे ओवर टाइम का पैसा देते हैं घड़ी देखकर इसी से गैरहाजिरी के मिनटों का भी लेखा रख लेते हैं।'[6]

आधुनिक भारत की ज्वलंत समस्या व युवा-पीढ़ी की कुंठाओं व संघर्ष के मूल प्रश्न बेकारी ने भी गोविंद वल्लभ पंत के उपन्यासों में स्थान पाया है। गोविंद वल्लभ पंत देशकाल व वातावरण के प्रति सजग साहित्यकार हैं। गोविंद वल्लभ पंत का उपन्यास 'मदारी' एक ग्रामीण युवक नवाब के द्वारा शहर जाकर नौकरी ढूँढने के संघर्षों की कथा है। शहरों में नौकरी के क्षेत्र में विभिन्न वर्ग के लोगों का एकाधिकार व भ्रष्टाचार चित्रित किया गया है। 'नवाब नगर में आया, वह एक कप्तान साहब के यहाँ नौकरी सूँघते हुए गया। वहाँ एक खिदमतगार की जगह जरूर खाली थी पर नौकर-चाकर अपने ही मेल का आदमी रखना चाहते थे। खानसामा अपने भाई को उस जगह खोंस देने की कोशिश कर रहा था।'[7] वह नवाब को वहाँ खड़ा भी नहीं होने देता।

गोविंद वल्लभ पंत के उपन्यास 'छह छायावादी' में मधुकर शर्मा एक मध्यमवर्ग के व्यक्ति हैं। वह सरकारी नौकरी से किसी भूल के कारण रिटायर कर दिए गए हैं। बड़ा परिवार, एक विकराल समस्या है उनके समक्ष। परिवार कल्याण विभाग में वे पोस्टर डिजाइनर के पद के लिए इंटरव्यू के लिए जाते हैं। 'उनको चाहिए रोटी, ठोस रोटी-वही सचमुच की रोटी यथार्थवाद, जिसका सपना महात्मा जी ने देखा था।'[8] गोविंद वल्लभ पंत के उपन्यासों में बेकारी की समस्या व उससे उत्पन्न विकृतियों को व्यक्ति के चरित्र में दर्शाकर इस समस्या की जटिलता को अभिव्यक्त किया है, जो समस्त राष्ट्र को क्षयकारी रोग की भाँति लगी हुई है। इसका निदान एक राष्ट्र के निर्माण के लिए अति आवश्यक है। युवा-पीढ़ी भी इसी समस्या के कारण पथभ्रष्ट व हतप्रभ हो रही है।

गोविंद वल्लभ पंत ने सांप्रदायिकता की पीड़ा को भी अपने उपन्यासों के माध्यम से व्यक्त किया है। वे जातिभेद को केवल कट्टरता व पाखंड मानते हैं। उनके 'कोहनूर का हरण' उपन्यास में हिंदू मनजीत द्वारा मुसलमान रफीउद्दीन की सुराही से पानी पी लेने के कारण उसका भाई गोपीनाथ उसे धर्म भ्रष्ट कहकर ताड़ना देता है। तब मनजीत कहता है, 'मुसलमान की दवा खाकर

प्राण बचाने में धर्म नहीं गया, पानी पी लेने पर चला गया। धर्म इतना कच्चा धागा है क्या?'[9] गोविंद वल्लभ पंत का युग भारत के स्वतंत्रता आंदोलन से आरंभ होता है। जब केवल भारतीयता ही धर्म थी। इनके उपन्यासों में युग-चेतना मुखर हुई है। धार्मिक कट्टरता व अंधविश्वास के युग से निकलकर, नवीन अरुणोदय की कल्पना लेकर इन्होंने 'बाला बंजारा' नामक उपन्यास में बाला नामक पात्र की कल्पना की है। अंधी वृद्धा हमीदा पुत्र-वियोग से संतप्त हृदय को सांत्वना देने के लिए बाला धर्म के बंधन को भी काट फेंकता है–'हमारे ये बाहरी खोल अलग-अलग हैं, हमने ही अलग-अलग लेबल लगाकर तरह-तरह के नामों से पुकारा है। हिंदुओं में बामन, बनिया, ठाकुर, हरिजन, आर्य समाजी, सनातनी और मुसलमानों में शिया, सुन्नी-लेकिन जो वह अन्दर बोल रहा है क्या वह सबके भीतर एक ही नहीं है, मैं इस बाहरी लेबल को उतारकर यानी इस बाला के नाम के ऊपर अल्लादिया का नाम लिख देता हूँ।'[10] कहकर बाला सभी धर्मों की कट्टरता का खंडन करके मानव धर्म का मंडन करता है।

गोविंद वल्लभ पंत ने अपने उपन्यासों में अंधविश्वास की समस्या पर भी प्रकाश डाला है। उनके 'रजिया' उपन्यास में तंत्र-मंत्र का प्रभाव रजिया की सौतेली माता शाहतुर्कान पर भी होता है। उसका बेटा रुक्नुद्दीन रजिया की कैद में है और रोगी है। सकीना, उसकी प्रेयसी होने के कारण राजकुमार ने अपनी अँगूठी उसको विवाह के नाम पर भेंट कर दी। सलीमन दासी यह बात सकीना से कहकर उसे अँगूठी लौटाने को कहती है। शाहतुर्कान कहती है–'यह जो हीरे की अँगूठी है, इसमें किसी फकीर की ही दुआ है। इसी के खो जाने से उनका बेटा बीमार हुआ है। अगर यह फिर उनकी उँगली में पहुँच जाए, तो वह भले-चंगे हो जाएँगे।'[11]

राजनीतिक क्षेत्र में भाई-भतीजावाद सदैव से रहा है। यह तत्त्व राजनीति में भ्रष्टाचार का मूल बन रहा है। गोविंद वल्लभ पंत की दृष्टि इस ओर विशेष रूप से गई है। 'मोटर रोड' उपन्यास के माध्यम से इन्होंने आधुनिक राजनीति पर व्यंग्य किए हैं। सत्याग्रह जो कभी इस राष्ट्र की नीति की शक्ति थी, आज मात्र एक खिलौना बनकर रह गई है। मोटर रोड के गाँव में आने के विरोध में रामकिशन नामक व्यक्ति भूख-हड़ताल पर बैठ जाता है क्योंकि उसकी दुकान उस मार्ग से हटाई जा रही है। 'मैं सत्याग्रह करूँगा, क्योंकि कमजोर के पास उससे ताकतवर दूसरा बिना लायसैंस का हथियार कोई है ही नहीं। इससे बढ़िया आसान लड़ाई लड़ने का कोई दूसरा रास्ता है ही नहीं।'[12] आधुनिक राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार को अनावृत करते हुए 'परिचारिका' उपन्यास में 'भ्रष्टाचार भंजक कमेटी' का सदस्य त्रिलोचन भी इसी भाव को अभिव्यक्ति देता है–'अस्पताल में रोगी की बीमारी के बदले उसकी हैसियत देखी जाती है। बढ़िया दवाइयाँ अमीरों की, अधिकारियों की, बड़ी कुर्सियों की शक्ति बढ़ाती है और गरीबों की बीमारियाँ रंगीन पानी से दूर की जाती हैं।'[13]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि गोविंद वल्लभ पंत ने अपने उपन्यासों में समाज की लगभग सभी समस्याओं को उठाया है। वे अपने उपन्यासों में समाज का चित्रण करते हुए व्यक्ति के जीवन की प्रत्येक ज्ञात-अज्ञात तक पहुँचने का प्रयास करते हैं।

संदर्भ

1. गोविंद वल्लभ पंत, प्रगति के परिरूप, पृ॰ 91
2. गोविंद वल्लभ पंत, छह छायावादी, पृ॰ 10-11
3. गोविंद वल्लभ पंत, मधुरा, पृ॰ 221
4. गोविंद वल्लभ पंत, काला बंजारा, पृ॰ 112

5. गोविंद वल्लभ पंत, तारिका, पृ॰ 35
6. गोविंद वल्लभ पंत, तारों के सपने, पृ॰ 189
7. गोविंद वल्लभ पंत, मदारी, पृ॰ 127
8. गोविंद वल्लभ पंत, छह छायावादी, पृ॰ 8
9. गोविंद वल्लभ पंत, कोहनूर का हरण, पृ॰ 100
10. गोविंद वल्लभ पंत, बाला बंजारा, पृ॰ 131
11. गोविंद वल्लभ पंत, रजिया, पृ॰ 132
12. गोविंद वल्लभ पंत, मोटर रोड, पृ॰ 137
13. गोविंद वल्लभ पंत, परिचारिका, पृ॰ 43

मोनी सुपुत्री श्री धर्मपाल
गाँव व डाकघर काकडोद (उदापति)
तहसील उचाना, जिला, जीन्द 126115 **(हरियाणा)**
मो॰ 9991414965

गिरमिटिया मजदूरों की संघर्ष गाथा : लाल पसीना

दीक्षा गुप्ता, शोधार्थी, हिंदी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय

मॉरीशस के हिंदी कथासाहित्य के सम्राट अभिमन्यु अनंत एक नाम नहीं बल्कि एक युग है जिन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से भारतीयों के पराए देश में जबरन ले जाने, पाशविक जीवन जीने और अपने खून-पसीने से पराए देश को समतल भूमि में परिवर्तित करने के संघर्ष की जीवन गाथा प्रस्तुत की है।

अनंत जी का जीवन बहुत ही संघर्षपूर्ण था। वे एक गरीब परिवार में जन्मे थे, ऐसे में उन्हें बहुत आर्थिक परेशानियों का सामना करना पड़ा था। इसी वजह से वे औपचारिक शिक्षा ग्रहण नहीं कर पाए परंतु अपने अथक परिश्रम से प्रसिद्ध लेखकों में जगह बनाई। अनंत जी ने हिंदी शिक्षण, रंगमंच और हिंदी प्रकाशन से संबंधित अनेक कार्य किए। वे अपनी कहानियों, कविताओं, उपन्यासों और आलेखों के माध्यम से हिंदी को वैश्विक पहचान देने के लिए प्रयासरत रहे। इन्होंने 'वसंत' और 'रिमझिम' पत्रिका का संपादन किया। वे दो वर्षों तक महात्मा गांधी संस्थान में हिंदी अध्यक्ष रहे। उन्होंने सर्वाधिक साहित्य उपन्यास विधा में ही लिखा है। उनके द्वारा रचित उपन्यास के मूल स्वर हैं–मॉरीशस के प्रवासी भारतीयों के जीवन का संघर्ष। उनकी रचनाएँ हैं–कविता-संग्रह–कैक्टस के दाँत, नागफनी में उलझी साँसें, एक डायरी बयान, गुलमोहर खौल उठा, मॉरीशस की हिंदी कविता, मॉरीशस के नौ हिंदीकवि। नाटक–विरोध, तीन दृश्य, गूँगा इतिहास, रोक दो कान्हा व देख कबीरा हांसी। कहानी-संग्रह–एक थाली समंदर, खामोशी के चीत्कार, इंसान और मशीन, वह बीच का आदमी, जब कल आएगा यमराज। उपन्यास–लहरों की बेटी, मार्क ट्वेन का स्वर्ग, फैसला आपका, मुड़िया पहाड़ बोल उठा, और नदी बहती रही, आंदोलन, एक बीघा प्यार, जम गया सूरज, तीसरे किनारे पर, चौथा प्राणी, लाल पसीना, तपती दोपहरी, कुहासे का दायरा, शेफाली, हड़ताल कब होगी, चुन-चुन चुनाव, अपनी ही तलाश, पर पगडंडी मरती रही, अपनी-अपनी सीमा, गांधी जी बोले थे, शब्द भंग, पसीना बहता, आसमान अपना आँगन, अस्ति-अस्तु, हम प्रवासी। अभिमन्यु अनंत को उनके लेखन के लिए अनेक सामानों से सम्मानित किया गया है–सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार, मैथिलीशरण गुप्त सम्मान, यशपाल पुरस्कार, जनसंस्कृति सम्मान, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान पुरस्कार। इसके अलावा भारत की साहित्य अकादमी द्वारा इन्हें मानद महत्तर सदस्यता (ऑनरेरी फैलोशिप) का सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया जा चुका है।

1834 ई॰ से 1920 ई॰ तक मॉरीशस में भारतीय गिरमिटिया मजदूर के रूप में आते रहे। इन्हीं गिरमिटिया मजदूरों के साथ मॉरीशस में 'हिंदी' और 'भोजपुरी' का भी प्रवेश हुआ। गिरमिटिया मजदूर के रूप में मॉरीशस तथा विश्व के अन्य प्रांतों में गए भारतीय कई वर्षों तक शोषण, अत्याचार, भुखमरी, अपमान आदि सहते रहे। लगभग 1950 ई॰ के बाद प्रवासी साहित्य का आरंभ होता है। विश्व के अलग-अलग देशों में प्रवासी हिंदी साहित्य के उदय का समय अलग-अलग ही है। मॉरीशस की

बात करें तो वहाँ 1960 में 'पहला कदम' नामक पहला उपन्यास हिंदी में प्रकाशित हुआ। उसी के 10 वर्ष बाद अभिमन्यु अनंत का उपन्यास 'और नदी बहती रही' प्रकाशित हुई। तब से वे निरंतर लेखन कार्य से जुड़े रहे। उनका 'लाल पसीना' उपन्यास एक कालजयी महाकाव्यात्मक उपन्यास के रूप में जाना जाता है। इस उपन्यास में लेखक ने प्रवासी भारतीय मजदूरों की दशा-दुर्दशा का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। प्रवासी मजदूरों के संघर्षशील जीवन के इतिहास को अभिमन्यु अनंत के माध्यम से पढ़ते हुए निराला की यह पंक्ति अनायास ही स्मरण हो आती है–'दुख ही जीवन की कथा रही, क्या कहूँ आज, जो नहीं कहीं।' (सरोज-स्मृति कविता से)

'लाल पसीना' उपन्यास मॉरीशस की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित उन भारतीय मजदूरों की संघर्ष गाथा है, जिन्हें ब्रिटिश उपनिवेशवादी झूठे सपने दिखाकर शर्तबंदी के तहत विदेश लेकर गए। उन निरीह और भोले-भाले भारतीयों ने पराई धरती के चट्टानों को काटकर समतल बनाया और अपना खून-पसीना बहाकर बंजर भूमि को उपजाऊ बनाया। गिरमिटिया मजदूरों ने कितनी मेहनत के साथ पराई धरती को स्वर्ग बनाया, वहाँ से उन्हें शोषण, अत्याचार, अपमान, पराएपन के सिवाय कुछ नहीं मिला। यह उपन्यास इन्हीं सवालों को बार-बार उठाता है। अनंत जी ने अपनी पुरानी पीढ़ियों के संघर्ष को देखा था, सुना था यही कारण है कि उनके उपन्यास में गिरमिटिया मजदूरों की समस्या और कष्ट बड़ी सजीवता से उभरकर आते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो 'लाल पसीना' उपन्यास मानव अधिकारों, जीवन जीने के अधिकार, अभिव्यक्ति के अधिकार, मेहनत के फलस्वरूप आय की प्राप्ति के अधिकार, न्याय के अधिकार आदि की माँग करती है। आज मॉरीशस विश्व के प्रगतिशील देशों में से एक है परंतु उसके इस विकास का श्रेय गिरमिटिया मजदूरों को जाता है। इन गिरमिटिया मजदूरों को बहुत ही अमानवीय और कष्टकारक जीवन जीना पड़ा। इनके साथ जानवरों से भी बुरा व्यवहार किया गया। इनकी स्थिति गोरे मालिकों के पालतू जानवरों से भी बदतर थी। वहाँ पर मजदूरों की भाषा-बोली और संस्कृति का मजाक उड़ाया जाता था। 'लाल पसीना' इन्हीं बंधुआ मजदूरों के शरीर से गिरे कतरा-कतरा खून की मार्मिक अभिव्यक्ति है।

यह उपन्यास दो खंडों में विभक्त है। इसमें सन् 1850 से 1900 तक की घटनाओं को प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास के प्रथम भाग का नायक किसनसिंह है, जो मजदूर होने के साथ-साथ कवि भी है। किसनसिंह एक ऐसे वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है जो अँग्रेजों के शोषण और अत्याचार के खिलाफ अपनी आवाज उठाता है। किसनसिंह विद्रोही प्रवृत्ति का युवक है। वह अँग्रेजों द्वारा बस्ती के मजदूरों पर ढहाए जाने वाले जुल्मों के प्रति सरदारों से सवाल करने की भी हिम्मत रखता है। साथ ही वह गोरे शासकों के आदेश का उल्लंघन करने का भी साहस रखता है। उपन्यास के दूसरे खंड का नायक मदनसिंह है, जो किसनसिंह का पुत्र है। वह किसनसिंह द्वारा चलाए गए आंदोलन को आगे जारी रखता है। मदन भी विद्रोही किस्म का युवक है। अँग्रेजों के प्रति विद्रोह प्रकट करने के कारण उसे भी अन्य मजदूरों की तरह जघन्य यातनाओं का सामना करना पड़ता है। उपन्यास में कुछ ऐसे पात्र भी हैं जो अपनी दीन-हीन दशा को स्वीकार कर चुके हैं तथा उसी स्थिति को ही अपनी जिंदगी मान चुके हैं। रघुसिंह ऐसे ही वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है। हरखू सरदार, रामजी सरदार, जीतुआ सरदार व विनय सरदार आदि ऐसे वर्ग के प्रतिनिधि हैं जो गिरमिटिया मजदूर होकर भी चंद सुविधाओं और लालच में आकार अँग्रेज शासकों के हिमायती और चाटुकार बन जाते हैं। ये चाटुकार अँग्रेजों से अधिक खतरनाक होते हैं। यह अँग्रेजों के हिमायती अपने लोगों को अधिक कष्ट पहुँचाने के लिए तत्पर रहते हैं। यह लोग अपने ही भाई-बंधु पर कोड़ों की बौछार

करने से पीछे नहीं हटते हैं। उपन्यास में रेमो साहब, मोरेल साहब, रोलां व फिलिप सरदार क्रूर अँग्रेज शासकों के ही प्रतिनिधित्व पात्र हैं। इन अँग्रेज मालिकों ने विविध तरह से भारतीयों को सताया है। उपन्यास में लेखक ने एक ओर बर्बर अँग्रेज शासकों के अत्याचार का पर्दाफाश किया है तो दूसरी ओर भारतीय प्रवासी मजदूरों की दयनीय दशा का वर्णन किया है।

अभिमन्यु अनंत का नाम उन प्रवासी साहित्यकारों में शुमार है जिन्होंने 'शर्तबंदी प्रथा' के तहत भारत से गिरमिटिया मजदूर के रूप में जीवन यापन की तलाश में विभिन्न देशों मॉरीशस, फीजी, गयाना, सूरीनाम, युगांडा आदि देशों की ओर प्रस्थान करने वाले भारतीय मजदूरों के जीवन संघर्ष को केंद्र में रखकर साहित्य सृजन किया। अनंतजी महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के आमंत्रण पर ऐतिहासिक प्रथम दीक्षांत समारोह में बतौर मुख्य अतिथि के रूप में शिरकत करने वर्धा गए थे। उस अवसर पर अमितकुमार विश्वास से अनंत जी ने विभिन्न मुद्दों पर बात करते हुए अपने लेखन यात्रा के संबंध में कहते हैं–'मेरी लेखन यात्रा उस समय शुरू हुई जब मैं निर्धनता के कारण प्राथमिक शिक्षा के बाद माध्यमिक शिक्षा को बरकरार नहीं रख सका। किशोरावस्था में ही माँ के साथ मुझे भी गन्ने के खेतों में मजदूरी करनी पड़ती थी। उन दिनों मेरे हमउम्र बच्चे भी उस 'शक्कर कोठी' में काम करते थे, जहाँ मैं काम करता था। उन लोगों के दर्द को अपने दर्द के साथ आत्मसात करते हुए मुझे एहसास हुआ कि हमारे पूर्वजों के साथ दो गोरे लोग अमानवीय ढंग से पेश आते थे पर यह तो अपने ही लोग 'सरदार' हैं, जो हमारे साथ अमानवीय व्यवहार करते हैं। मैंने सोचा कि शोषण व अन्याय के विरोध का स्वर हमारी लेखनी बने। घर में पढ़ाई का माहौल था, घर में पुस्तकें थीं। उन पुस्तकों को पढ़ता, सोचता–काश! मैं भी लिख सकता। इस प्रक्रिया में मैंने लेखनी चलाई, छोटी-मोटी रचनाएँ कीं। यहीं से मेरी लेखन-यात्रा की शुरुआत हुई।'[1]

अनंत जी की लेखनी में सदैव आमजन की भावनाएँ मुखरित होती हैं। गिरमिटिया कहे जाने वाले भारतीय मजदूरों के अथक परिश्रम, आस्था और निष्ठा का ही फल है मॉरीशस की मिट्टी। मॉरीशस में गए गिरमिटिया मजदूर विदेशी मालिकों द्वारा दिए जा रहे यातनाओं को चुपचाप सहते थे। उन्हें अपनी मौलिक जरूरतों के लिए भी संघर्ष करना पड़ता था। इन्हीं बंधुआ मजदूरों में जिन्होंने अपने शोषण का विरोध किया और आवाज उठाई उसे मालिकों ने कैदी बना लिया। कैदी बनकर उन्हें भीषण नरक यातना भोगनी पड़ती थी। यहाँ तक कि उन्हें शौचालय तक जाने की आजादी नहीं थी। लेखक के शब्दों में–'टट्टी जाने तक की आजादी उन्हें नहीं थी टट्टी के लिए जाते वक्त भी एक सिपाही साथ हो जाता था।'[2] इस उक्ति से यह तो स्पष्ट है कि उनकी यातना और अत्याचार की कल्पना भी कोई नहीं कर सकता है। इतना ही नहीं, यदि कोई कैदी बीमार हो जाता तो उसका उपयुक्त इलाज भी नहीं होता था। कई बार तो बीमारी की हालत में ही उन्हें मजदूरी में लगा दिया जाता था। इसकी वजह से कई कैदी वक्त के पूर्व ही यातनापूर्ण जीवन झेलते हुए मृत्यु को प्राप्त हो जाते थे। कुंदन की स्थिति का वर्णन करते हुए लेखक प्रवासी जीवन के दर्द और अत्याचार को इस तरह अभिव्यक्त करता है–'उसके पैर का घाव अभी भी दूसरे दिन जैसा था। अस्पताल में दाखिल होने पर दो दिन तक मुँह में पहुँचाने के लिए कुंदन को एक दाना तक नहीं मिला। दवाई के नाम पर इधर दो दिन से कोई काले रंग की कोई चीज उसके घाव में लगाई जा रही थी, जिसका कोई खास असर भी नहीं था।[3] कैदियों के मरने या जीने से बंधुआ मालिकों को कोई फरक नहीं पड़ता था क्योंकि वे तो भारत से जरूरत पड़ने पर मजदूर मँगवा लेते थे। वे भारतीय गिरमिटिया मजदूरों को इंसान समझते ही नहीं थे। बल्कि ये बंधुआ मजदूर ही जीवन से अधिक मृत्यु

की आकांक्षा करते थे, जब तक जिएँगे नारकीय जीवन ही जीना होगा इससे तो अच्छा है कि वे मृत्यु के पश्चात यातना भरे जीवन से मुक्त तो हो ही जाएँगे।

उपन्यास अँग्रेजों द्वारा किए जा रहे अत्याचार और अनाचार से परेशान कुंदन नामक पात्र के जेल से भागने से शुरू होती है। उसे जेल में झूठे केस में सजा दी गई है। कुंदन गिरते-पड़ते रात के अँधेरे में नदी के पार चला जाता है अर्थात् वह सिपाहियों के गिरफ्त से कोसों दूर हो जाता है। इतना दौड़ने-भागने के कारण वह बहुत थक जाता है। थकने के बाद वह अतीत की यादों में चला जाता है इसी के साथ उपन्यास की कथा फ्लैशबैक में चली जाती है। वह जेल में हुए अत्याचार और जुल्म को सहने से लेकर भागने की युक्ति को स्मरण करने लगता है। वहाँ भारतीयों का जीवन बहुत ही कष्टकारक था। कैदी आपस में भोजपुरी में ही बात करते थे परंतु उन्हें तो आपस में बात करने की भी इजाजत नहीं थी। इसलिए वे आपस में तभी बात करते जब अस्पताल में उनके आस-पास का सिपाही भोजपुरी नहीं जानता था। तब वे आपस में अपना दुख-सुख बाँट लेते थे। उन्हें अभिव्यक्ति का भी अधिकार नहीं था। एक तो वे अपने स्वदेश से दूर पराई भूमि में थे, वैसे में उन्हें अपने देश की बहुत याद आती थी, वे अपने गाँव, समाज को याद करते थे। साथ ही वे यह भी जानते थे कि वे शायद कभी भी अपनी मिट्टी में वापस नहीं जा पाएँगे। एक व्यक्ति चाहे पूरी जिंदगी कहीं भी हो लेकिन वह अपने जीवन की अंतिम घड़ी अपने देश की मिट्टी में ही बिताना चाहता है परंतु प्रवासी मजदूर इतने विवश थे कि वे चाहकर भी अपने देश नहीं लौट सकते थे। उन्हें तो अँग्रेजों ने पराए देश में गुलाम बनाकर रखा था। इतना ही नहीं, भारतीय मजदूर अपनी स्त्रियों की इज्जत भी बचा पाने में नाकाम होते थे। अँग्रेज और लंगड़वा जैसे ठेकेदार जिस्म की भूख मिटाने के लिए भारतीय मजदूर की स्त्रियों को अपना ग्रास बनाते थे। उपन्यास में इस वीभत्स शोषण का वर्णन लेखक ने बड़े ही मार्मिक ढंग से किया है।

अँग्रेज ठेकेदार प्रवासी भारतीयों को बिना किसी जुर्म के भी कैद कर लेते हैं। उपन्यास का नायक कुंदन एक ऐसा ही सिपाही था जिसे झूठे इल्जाम में फँसा कर कैद कर लिया गया था। उस पर एक गोरी औरत को निर्वस्त्र होकर स्नान करते हुए देखने और उसके पति की मृत्यु के झूठे इल्जाम में उम्र कैद की सजा दी गई थी। इसी तरह वहाँ चार-पाँच और ऐसे कैदी थे, जो अँग्रेजों द्वारा मॉरीशस जीते जाने के कई वर्ष पहले वहाँ पहुँचे थे। एक व्यापार करने आया था तो एक इंजीनियर था; दोनों पर एक ही आरोप लगे थे कि दोनों ने मजदूरों को जमींदारों के खिलाफ भड़काया है। प्रवासी मजदूरों के हाथ और पैरों में जंजीर डाली होती थी। भारत से भारतीयों को बहला-फुसलाकर दूसरे देशों में ले जाकर यह अँग्रेज उनके साथ अमानवीय व्यवहार करते थे और अपने खिलाफ विरोध का एक भी स्वर सुनते ही उसे कुचल देते थे। वहाँ पर हर छोटी-छोटी चीजों पर लोगों को कैदी बना लिया जाता था जैसे कोई तीन दिन तक नौकरी पर नहीं गया, किसी ने न्याय की माँग की, कोई बैल की तरह काम करने से मना करने के कारण, कोई भारत जाने की माँग के कारण, किसी ने मालिक से जवाब-तलब करने की हिम्मत के कारण, कोई अपनी पत्नी को मालिकों को सौंपने से इंकार करने के कारण तो कोई न्याय की माँग करने के कारण सजा भुगत रहा है। इस तरह वहाँ व्यक्ति को घोर नारकीय जीवन बिताने के लिए मजबूर किया जाता था। उन्हें जीविकोपार्जन के अधिकार, न्याय, स्वाभिमान, अभिव्यक्ति आदि के अधिकारों से वंचित किया गया।

'हिंद महासागर का मोती' व ' इंद्रधनुष की काँपती प्रत्यंचा' के नाम से प्रसिद्ध मॉरीशस की धरती पर गए भारतीय मजदूरों को असभ्य, जंगली, गँवार, जाहिल आदि से संबोधित किया जाता

था। उन्हें न तो पूजा-पाठ करने की छूट थी और न ही धार्मिक ग्रंथों को गुनगुनाने की। अँग्रेजों ने उन्हें पूरी तरह से गुलामी के बंधन में बाँध लिया था। उनके जीवन में आस्था के स्रोत ईश्वर की वंदना करने की भी मनाही थी। यदि किसी भारतीय को रामायण की चौपाई गुनगुनाते हुए कोई सुन लेता था तो उस पर कोड़ों की बौछार होती थी। उनका जीवन शोषकों के निगरानी में दिन-प्रतिदिन बदतर कट रही थी। उनके साथ पशुवत व्यवहार किया जाता था। कड़ी-से-कड़ी मेहनत करने के बावजूद उन्हें भरपेट भोजन नहीं मिलता था। उन्हीं प्रवासी भारतीयों के बीच किसनसिंह और मदनसिंह जैसे लोग भी क्रांति की मशाल लेकर खड़े होते हैं। लेखक ने पहली प्रवासी भारतीयों की पीढ़ी के दर्दनाक जीवन को बड़े ही मार्मिकता से प्रस्तुत किया है।

प्रवासी भारतीयों की पहली पीढ़ी ने जो कष्ट सहा है उसका अंदाजा लगाना भी मुश्किल है। यदि कभी वे कोठी के सरदारों व दलालों से अपने साथ होनेवाले अन्याय, अत्याचार, भेदभावपरक व्यवहार के बारे में कहते तो, इसके बदले में उन पर गालियों की बौछार होती थी तथा उन पर मालिकों के पालतू कुत्ते दौड़ा दिए जाते थे ताकि वह मजदूरों की बोटी-बोटी कर सकें। विद्रोही तेवर के मजदूरों को रास्ते से हटाने के लिए कभी उनको कैद में डाल दिया जाता था तो कभी फाँसी के फंदे पर लटका दिया जाता था। उपन्यास में किशनसिंह भी एक क्रांतिकारी ही है जो गोरे मालिकों के अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाता है और उसे कैद में डाल दिया जाता है। अनंत जी ने अपने साहित्य विशेषकर उपन्यासों के माध्यम से मॉरीशस में शर्तबंद प्रथा के तहत लाए गए गिरमिटिया मजदूरों की त्रासदपूर्ण गाथा का यथार्थपरक चित्रण किया है।

अनंत जी गोरों के अमानवीय अत्याचार और प्रवासी भारतीय मजदूरों के साहस, संघर्ष, त्याग, बलिदान आदि से प्रभावित होकर ही साहित्य सृजन की ओर उन्मुख हुए। उन्होंने अपनी सशक्त लेखनी, संवेदनशील हृदय व प्रखर आलोचकीय दृष्टि से मॉरिशसीय समाज की जीवंत तस्वीर खींच दी। लेखक के शब्दों में–'लाल पसीना उस इतिहास का दावा नहीं करता। यह इसलिए भी इतिहास नहीं क्योंकि शासक, राजनेता, राज्यपाल और इस तरह की अन्य हस्तियाँ इसमें पात्र नहीं हैं.. इसके पात्र हुए हैं जो इतिहास की चक्की में पिसकर रह जाते हैं; पर उनका अपना इतिहास रहा है, यह इस उपन्यास का दावा है।'[4]

उपन्यास में स्वामी जी जैसे पात्र अँग्रेजों के खिलाफ आवाज उठाते हैं परंतु अँग्रेजों द्वारा स्वामी जी की हत्या करवा दी जाती है। शोषक वर्ग अपने खिलाफ उठते एक भी स्वर को बर्दाश्त नहीं कर सकता है। वह उसे मौका पाते ही कुचल देता है। स्वामीजी की हत्या के बाद गाँव वालों में क्रांति की ज्वाला जाग्रत हो जाती है। इसके बाद गाँव वाले एकता के साथ स्वयं पर होनेवाले शोषण के खिलाफ आवाज उठाने का निश्चय करते हैं। सिपाही गाँव वालों पर बहुत अत्याचार करते हैं तथा गौतम की आँखें फोड़ देते हैं। अगली सुबह गाँव वाले सिपाहियों और जमींदारों की ओर बढ़ते हैं। यह एक तरह से भारतीयों के हृदय में फूटती क्रांति की ज्वाला के आगाज को दर्शाती है। उपन्यास के अंत में मीरा और अन्य औरतें गाँव वालों का इंतजार करती रहती हैं। इसी के साथ लेखक ने उपन्यास का समापन पाठकों पर छोड़ दिया। उपन्यास का अंत उम्मीद की किरण के साथ होता है।

'लाल पसीना' उपन्यास कोई इतिहास न होकर भी प्रवासी भारतीयों पर हुए अत्याचार और अन्याय का जीता-जागता प्रमाण है। इस उपन्यास में लेखक ने प्रवासी भारतीयों की पीड़ा को विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। हम सभी भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और आंदोलन के विषय में पढ़ते हैं परंतु भारत के ही वासी अपने देश से दूर विदेशों में भी गुलामी, शोषण, अन्याय, अत्याचार और कुत्सित

जीवन जीने के लिए मजबूर थे; यह हमें किसी इतिहास में नहीं पढ़ाया जाता है। अभिमन्यु अनंत जी इतिहास के छूट गए हिस्से को अपने उपन्यास लाल पसीना के माध्यम से रखते हैं। यह उपन्यास दर्द का दास्तान है, जिसे पढ़ते हुए किसी भी व्यक्ति के आँखों में अश्रु की धारा प्रवाहित हो जाती है। इस उपन्यास के विषय में लेखक एक साक्षात्कार में स्वयं कहते हैं–'भारतीय मजदूरों के शोषण, दमन और अत्याचार के खिलाफ आवाज बुलंद करने के लिए 'लाल पसीना' लिखा। बचपन में दरअसल हम अपने माता-पिता से दंतकथाएँ नहीं, अपितु अँग्रेजों द्वारा हमारी पीढ़ियों के ऊपर किए गए दमन की यथार्थपरक संघर्ष कथाएँ सुनते थे। यह कथाएँ मुझे परियों की कथाओं से भी अधिक प्रभावित करती थीं। जब खेतों में पत्थरों की मेड़ों को देखता तो जमीन से निकला एक-एक पत्थर मुझे सौ साल पहले की कहानी सुनाने लगता। चारों ओर खेतों की हरियाली मुझे बरसात के पानी की सिंचाई का फल न लगकर गन्नों की जड़ों में प्रवाहित हो रहा पुरखों का खून-पसीना लगता। आर्थिक तंगहाली की वजह से जब मैं खेतों में काम करने से जुड़ा तो वहाँ के मजदूरों की स्थितियों से रू-ब-रू होते हुए मेरे भीतर 'लाल पसीना' लिखने की छटपटाहट शुरू हुई। मुझे लगा कि आज समाज में शोषक नहीं बदले हैं बल्कि उनके रूप बदल गए हैं। वर्तमान व्यवस्था में जिस प्रकार से साजिशन मानसिक गुलामी की प्रवृतियाँ काम कर रही हैं और हम मौन हैं। यही सोचकर मैं 'लाल पसीना' लिखने बैठ गया।'[5]

संदर्भ

1. https://www.hindisamay.com/content/5650/1
2. अनंत अभिमन्यु, लाल पसीना, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2010, पृ॰ 10,19
3. वही, पृ॰ 10,19
4. वही, पृ॰ 08
5. https://www.hindisamay.com/content/5650/ 1

47, Christopher Road,
Kolkata 700046
guptadiksha08@gmail.com
Mob. 8013064075

साझा भारतीय संस्कृति और राही मासूम रजा के उपन्यास

डॉ॰ राजेश कुमार, असि॰ प्रोफेसर (हिंदी)
राजकीय महाविद्यालय, बी॰बी॰ नगर, बुलंदशहर (उ॰प्र॰)

आम कहावत है कि एकता में बल होता है और इसके अनेक उदाहरण भी हमारे समक्ष हैं जैसे बँधी हुई लकड़ियों में जितनी ताकत है उतनी अकेली लकड़ी में नहीं। इसी प्रकार बँधी झाड़ू जो काम करती है उसको खोलने के बाद वह काम की नहीं रहती। यही स्थिति परिवार और समाज की भी है। जब तक परिवार, समाज या देश में साझापन रहता है तभी तक वह बाहरी असामाजिक तत्त्वों से बचा रहता है, अन्यथा इन्हें टूटने में देर नहीं लगती। साझापन भारतीय संस्कृति की पहचान है। इसी साझापन के कारण हमारी संस्कृति अपनी प्राचीनता की रक्षा किए हुए है।

स्वतंत्रता के बाद भारत और पाकिस्तान के विभाजन के बाद देश के सामने सबसे बड़ी समस्या हिंदू और मुस्लिमों के बीच आपसी मतभेद एवं विरोध की थी। इससे दोनों धर्म के बीच अंतराल आ गया था। प्राय: लोगों का मानना था कि पाकिस्तान का निर्माण मुसलमानों के लिए किया गया था अत: पाकिस्तान में हिंदुओं को और भारत में मुसलमानों को परेशानी का सामना करना पड़ा।

राही हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रबल पैरोकार हैं, वे हजारों वर्षों की साझी सभ्यता एवं साझी संस्कृति में सामंजस्य एवं सौहार्द्र के बीज रोपना चाहते थे। उनके 'आधा गाँव', 'टोपी शुक्ला', 'सीन : 75', 'ओस की बूँद', 'नीम का पेड़', 'कटरा बी आरजू' और 'असंतोष के दिन' आदि उपन्यासों में भारतीय साझा संस्कृति का बखूबी चित्रण हुआ है। राही जी के उपन्यासों में हिंदू और मुसलमानों में जहाँ एक ओर अलगाव देखा जा सकता है वहीं दूसरी ओर कई परिवारों के आपस में मीठे संबंध भी देखे जाते हैं। 'आधा गाँव' उपन्यास के गंगोली में कई हिंदू और मुसलमानों के परिवार ऐसे हैं जो आपस में किसी भी प्रकार का भेद-भाव न मानकर प्रेम और सहानुभूति के साथ एक-दूसरे के सुख एवं त्योहारों में शरीक होते हैं और हिंदू-मुस्लिम साझा संस्कृति की मिशाल पेश करते हैं। इन परिवारों में सांप्रदायिक संघर्ष की अपेक्षा सौहार्द्र की भावना अधिक है।

अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'आधा गाँव' में साझा संस्कृति की ताकत का वर्णन करते हुए उन्होंने बताया है कि जब उत्तर पट्टी वालों के बीच बल्ली साई के दरवाजे पर झगड़ा हो जाता है तो पुलिस को खबर कर दी जाती है लेकिन गाँव वालों ने सोचा कि यह उनका आपसी मामला है इसमें पुलिस की दखलंदाजी ठीक नहीं। इसलिए उन्होंने पुलिस से बचने के सारे इंतजाम कर लिए–'जख्मी फौरन हटा दिए गए। पुलिस आई तो जुलूस बल्ली साई के दरवाजे से बढ़कर मस्जिद से आगे निकल चुका था। जमीन पर खून के धब्बे थे तो मगर उससे क्या फर्क पड़ता है। गाँव उत्तर और दक्खिन-पट्टी में तकसीम हो चुका था। खून सबका खोल रहा था लेकिन इस मजहबी और घरेलू मामले में कोई पुलिस को डालना नहीं चाहता था।'[1] इससे स्पष्ट है कि गाँव वाले अपनी एकता को पुलिस के हाथों तुड़वाना नहीं चाहते थे। ऐसी ही एक और घटना है जिसमें हमें साझापन का स्वर नजर आता है। गुलाम हुसैन की बेटी की शादी के दौरान यह पता चलता है कि दूल्हे की एक टाँग नकली है तो सारी गंगौली एक होकर इस विवाह का बहिष्कार करती है–'गाँव के लोग भी

पट्टीदारी और जात-बिरादरी को भूलकर लड़ने-मरने पर आमादा हो गए। अरे निकाल दामाद के तई ससुरन के गया अहीर ने कहा। 'आप अलग हटे खाँ-साहब।' ई गाँवभर की मरजाद का सवाल बाय सुखरमवा चमार ने कहा। 'ई साले का समझकर बारात ली आए हैं।' फुन्नन मियाँ ने कुलसुम से कहा। आपसे हमें इसकी उम्मीद न थी। हकीम साहब ने ठाकुर हरनारायन प्रसाद से कहा।'[2] इसमें 'राही' ने दिखाया है कि अन्याय के खिलाफ सभी अपनी जात-पात, धर्म भूलकर एक हो गए।

एक अन्य उपन्यास 'सीन-75' में भी साझा संस्कृति को दिखाया गया है। जब भारत-पाक विभाजन हुआ तो अनेक दंगे-फसाद हुए। हिंदू-मुसलमानों ने एक-दूसरे का कत्लेआम किया। औरतों पर अत्याचार किए गए। हिंदुओं का मानना था कि 'इज्जत सिर्फ हिंदू औरतों की होती है और मुसलमान औरतों के पास केवल बदन होता है।'[3] लेकिन 'राही' ने ऐसे हालात के बीच भी कुछ ऐसे लोगों का वर्णन किया है जिनका मानना था कि 'लाशों और खंजरों का कोई धर्म नहीं होता और इज्जत की कोई जात नहीं होती।'[4] अर्थात् सबकी इज्जत एक समान होती है चाहे वह किसी जाति से संबंध रखती हो। 'राही' ने अनेकता के बीच भी एकता को ढूँढने का प्रयास किया।

उनके उपन्यास 'नीम का पेड़' में भी यही साझा संस्कृति बखूबी चित्रित हुई है। सामिन मियाँ जो जमींदार जामिन मियाँ के बेटे थे, उन्होंने सामाजिक एकता का उदाहरण प्रस्तुत किया। हुआ यूँ कि गाँव में एक स्कूल था। जिसका नाम 'अमर शहीद रामबहादुर यादव मैमोरियल विद्यालय' था। अब रामबहादुर का बेटा रामखिलावन एम०पी० का पद पर चुनाव लड़ रहा था, इसलिए वह मुसलमानों की वोट पाने के लिए उस स्कूल का नाम बदलकर मुस्लिम नाम रखना चाहता था। जामिन मियाँ के बेटे सामिन भी उसी चुनाव में एम०पी० पद पर थे इसलिए उन्होंने 'रामखिलवान' के जवाब में कहा कि 'यहाँ पर हमसे छोटे या हमसे बड़े जो भी मौजूद है, मैं उन सबका ताबेदार हूँ, सेवक हूँ, गुलाम हूँ और गुलाम की यह हिम्मत नहीं कि अपने मालिक का हुक्म न माने, लेकिन मैं आपका बस यही हुक्म नहीं मानूँगा। हमारे स्कूल का नाम नहीं बदला जाएगा जब तक मैं जिंदा हूँ कोई भी इस स्कूल का नाम अब नहीं बदल सकता। हमारे तो दोनों बुजुर्ग हैं चाहे अलि मोहसिन मरहूम हों या शहीद रामबहादुर यादव। इस स्कूल का नाम शहीद रामबहादुर मेमोरियल स्कूल है और हमेशा रहेगा।'[5] इस प्रकार सामिन ने समता का परिचय दिया। वह खुद मुसलमान था लेकिन वह रामबहादुर की भी उतनी ही इज्जत करता था जितनी अपने बुजुर्गों की। इसी प्रकार उनके एक अन्य उपन्यास 'टोपी शुक्ला' के टोपी और हामिद रिजवी की बात भी समता के स्वर को उजागर करती है। 'टोपी' हामिद रिजवी को अपना दोस्त मानता था। वह उसे छोड़ना नहीं चाहता था। मुन्नीबाई के समझाने पर भी टोपी ने हामिद की दोस्ती को नहीं नकारा। टोपी का मानना था कि 'वह उस हामिद रिजवी को अपने पास से कैसे हटा देता जिसे कुछ मुसलमान लड़कों ने इसलिए पीटा था कि वह यह माँग कर रहा था कि मुशायरे के साथ कवि-सम्मेलन भी होना चाहिए और यूनियन की तरफ से केवल लेक्चर्ज ऑन इस्लाम की जगह तमाम धर्मों पर लेक्चर कराना चाहिए। मीलाद-ए-नवी के साथ-साथ जन्माष्टमी भी मनानी चाहिए।'[6] यहाँ पर सर्वधर्म समानता को दर्शाया गया है। उस समय शैक्षणिक संस्थाओं में भी धर्मवाद था। ऐसे विद्यार्थियों के साथ मारपीट की घटनाएँ भी होती थीं जो समानता की बात करते थे। टोपी शुक्ला की इफ्फन के साथ दोस्ती भी सामाजिक समता का प्रतीक है। 'टोपी' हिंदू है इफ्फन मुसलमान है। दोनों बचपन से ही साथ रहते आए हैं। इफ्फन की पत्नी भी टोपी को भाई मानती है।

उनके एक अन्य उपन्यास 'ओस की बूँद' में भी सामासिकता को दर्शाया है। उदयभान सिंह

और जयपाल दो भाई हैं। उनमें से उदयभान मुसलमान बन जाता है और उसके हिस्से में एक हवेली आती है जिसमें मंदिर भी बना हुआ था। अब जयपाल कहता है कि उदयभान लेकिन उदयभान तो मुसलमान बन गया है अत: मंदिर वाली हवेली उसकी होनी चाहिए। लेकिन उदयभान सिंह कहता है कि 'मुसलमान हो जाने से क्या होता है। राजपूत हूँ। कौल देता हूँ कि मेरी आल-औलाद इस मंदिर की देखभाल करेगी।'[7] आगे चलकर उदयभान के वंशज 'वजीर हसन' के सामने भी यही परेशानियाँ आईं उसने भी मंदिर को छोड़ने से इंकार कर दिया। इसी बात को लेकर वजीर मौलाना साहब से कहते हैं कि 'अरे जब ई मंदिर के वास्ते अल्लाह मियाँ से ना डराने तो दीनदयाल या आपकी क्या हैसियत है। ऊ मंदिर हमरे घर में और हम कह रहें कि पूजा होगी।'[8]

इस प्रकार 'राही' ने अपने उपन्यासों में साझा संस्कृति को उजागर किया है। हालाँकि उनके सभी उपन्यासों में जातिवाद सांप्रदायिकता मुख्य विषय रहा है लेकिन इन सबके बीच भी उन्होंने एकता एवं समता के स्वर को उठाया है। उनके उपन्यासों में अनेक ऐसे पात्र देखे जा सकते हैं जो सामाजिक एकता में विश्वास रखते हैं। 'राही' ने अपने उपन्यासों के माध्यम से समाज को जोड़ने का प्रयास किया है। 'नीम का पेड़' का 'सामिन', 'टोपी शुक्ला' का 'टोपी' और इफ्फन, 'हमीद रिजवी', 'सीन-75' का 'अली अमजद' या 'ओस की बूँद' का 'वजीर हसन' सभी ने समाज में एकता और समता की भावना को जाग्रत किया है। डॉ॰ कुँवरपाल सिंह जी 'राही' के बारे में लिखते हैं कि 'उनका पूरा लेखन हिंदुस्तानी सभ्यता-संस्कृति और उसकी साझी विरासत का प्रबल पक्षधर है। राही हमेशा उन शक्तियों और प्रवृत्तियों का विरोध करते रहे हैं जो भारतीय जनता की एकता को धर्म, संप्रदाय, क्षेत्रीयता, जातिवाद और भाषा के आधार पर अपने राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थों के लिए बाँट रहे हैं।'[9]

निष्कर्ष : साहित्य जगत में हिंदू-मुस्लिम समाज को लेकर अनेक हिंदू साहित्यकारों ने अपनी लेखनी चलाई लेकिन हिंदू-मुस्लिम समाज के जीवन को लेकर जो गहराई और व्यापकता 'राही' के उपन्यासों में देखी जा सकती है अन्यत्र कहीं नहीं। समाज संस्कृति का अभिन्न अंग है। राही ने अपने लगभग सभी उपन्यासों में हिंदू-मुस्लिम साझा संस्कृति को सूक्ष्मता एवं गहनता से विश्लेषित किया है।

संदर्भ

1. डॉ॰ राही मासूम रजा, आधा गाँव, पृ॰ 77
2. वही, पृ॰ 162
3. डॉ॰ राही मासूम रजा, सीन-75, पृ॰ 81
4. वही, पृ॰ 81
5. डॉ॰ राही मासूम रजा, नीम का पेड़, पृ॰ 57
6. डॉ॰ राही मासूम रजा, टोपी शुक्ला, पृ॰ 45
7. डॉ॰ राही मासूम रजा, ओस की बूँद, पृ॰ 47
8. वही, पृ॰ 48
9. डॉ॰ जिलेदार सिंह, डॉ॰ राही मासूम रजा : एक अध्ययन, पृ॰ 7

73- Honey Golf Greens
Near Moti Prayag
Garh Road, MEERUT 250004 (U.P.)
Mob. 9411893661
dr.rajesh.thakur05@gmail.com

आधुनिक हिंदीकाव्य में राष्ट्रीय चेतना

नीतू यादव, (जे॰आर॰एफ॰), शोधार्थी, हिंदी विभाग
हे॰न॰ब॰ गढ़वाल (केंद्रीय) विश्वविद्यालय, श्रीनगर (गढ़वाल)

सर्वविदित है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह समूह में रहता है। कालांतर में यह समूह भावना ही राष्ट्र के रूप में स्थापित हुई। भारतीय साहित्य में राष्ट्र शब्द का प्रयोग वैदिककाल से हो रहा है, जो हमारी संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है। चेतना से व्यक्ति अपने काम के प्रति क्रियाशील रहता है। राष्ट्र और चेतना दोनों अलग-अलग शब्द हैं। राष्ट्र का तात्पर्य जहाँ सांस्कृतिक एकता रखने वाले संप्रभुत्व राज्य से है, वहीं चेतना का अर्थ भावना की जागृति से है। इन दोनों के मेल से राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप अस्तित्व में आया है। कुछ समय पश्चात यही भावना समाज और राजनीति के विस्तृत फलक को आच्छादित करते हुए साहित्य में समाहित हुई। आधुनिक हिंदी काव्य में विशेष रूप से राष्ट्रीय भावना कवियों की कविताओं में विद्यमान है।

वस्तुत: हिंदीकाव्य में राष्ट्रीयता की भावना आदिकाल में भी दृष्टिगोचर होती है किंतु आधुनिककाल की परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि यह अपने चरम रूप में स्थापित हो गई। चूँकि साहित्य समाज का दर्पण होता है और साहित्यकार समाज की आँख। अत: गांधीजी के सत्याग्रह, असहयोग, सविनय के साथ बोस का दिल्ली चलो, तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूँगा, नेहरू द्वारा पूर्ण स्वराज की माँग आदि मिशनों का आधुनिक साहित्य पर व्यापक प्रभाव रहा। लेखक कवि भी मतवाले देशभक्तों की कतार से अलग नहीं रहे। यहाँ तक कि आजादी मिलने के बाद स्वराज की कल्पना पर जब आघात पहुँचा तो उसके दंश को भी वे उजागर करने से नहीं चूके।

साहित्य के इतिहास के पन्ने पलटें तो निश्चित रूप से यह ज्ञात होता है कि हिंदी साहित्य विशेष रूप से आधुनिक हिंदी काव्य राष्ट्रीय चेतना की भावना से पूर्णत: ओत-प्रोत है। भारतेंदुयुग में भारतेंदु हरिश्चंद्र राष्ट्रीय चेतना के प्रबल उन्नायकों में से एक हैं, उनके समय में स्वाधीनता आंदोलन आगे की ओर बढ़ रहा था। उन्होंने राष्ट्रीय गीत लिखे जिनके माध्यम से जनता तक आवाज पहुँचे और जनता इस आंदोलन की ओर उन्मुख होकर सक्रिय रहे। भारतेंदु का काल राजनीतिक दृष्टि से नवजागरण का काल कहा जाता है क्योंकि इस काल में राजनीतिक भावना का उद्‌भव हुआ, जो भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। इस युग में अनेक कवि हुए, जैसे प्रेमघन, अंबिकादत्त व्यास, बालमुकुंद गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र आदि जिनके काल में राष्ट्रप्रेम की कविताएँ रची गई हैं। इस काल में समाज में अनेक विसंगतियाँ थीं। एक तरफ तो अँग्रेज अपनी धूर्तचाल आदि नीतियाँ अपना रहे थे, दूसरी तरफ महामारी, निर्धनता, भुखमरी आदि का रूप विकसित हो रहा था, जिससे देश में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो रही थीं। ऐसे में राष्ट्रहित हेतु एक संगठन की आवश्यकता हुई। उस संगठन को ऐसी भाषा की आवश्यकता थी जो अपने राष्ट्र का प्रतिनिधित्व कर सके। चूँकि संस्कृति को बचाने और सँवारने का सर्वाधिक सार्थक जरिया भाषा है, इसलिए भारतेंदु सरीखे कवियों ने अपनी भाषा के संरक्षण हेतु लिखा है–

 ISSN 0975-735X

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा-ज्ञान के मिटत न हिय को सूल।[1]

अँग्रेजी शासन में चारों तरफ अँग्रेजी का बोलबाला था। बेचारी अशिक्षित भारतीय जनता इसे समझ भी नहीं सकती थी। ऐसे में आंदोलन के लिए हिंदी को अपनाया गया जो भारतीयों की मूल भाषा थी और इस आंदोलन में जनता ने बढ़-चढ़कर भाग भी लिया।

इसी तरह भारत की दिन-प्रतिदिन स्थिति खराब होने से भारतीयों की दशा अत्यंत दीन-हीन हो रही थी। यहाँ का धन विदेश जा रहा था जिसे भारतेंदुजी 'भारत-दुर्दशा' में व्यक्त करते हुए लिखते हैं–

अँग्रेज राज सुख-साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी।[2]

द्विवेदीयुग में आते-आते अँग्रेजी शासन का विरोध अत्यंत प्रचंड हुआ। राष्ट्रीय भावना मंच की चेतना बन गई। इसी समय काँग्रेस में बँटवारा हुआ और बंगाल का विभाजन भी हुआ, जिससे लोगों में और चेतना जाग्रत हुई। ऐसे समय में मैथिलीशरण गुप्त जैसे राष्ट्रवादी कवि उभरकर सामने आए, जिन्होंने राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन में अपना योग दिया। उनके काव्य में राष्ट्रीयता और राष्ट्रपिता गांधीजी की विचारधारा की प्रधानता थी। गुप्त जी अपने देश के अतीत-गौरव की ओर देखते हैं। वे भारत-भारती के माध्यम से अपने पूर्वजों की दिव्य झाँकी प्रस्तुत करते हैं ताकि तत्कालीन पीढ़ी की हीनता दूर हो और अपने गौरवशाली अतीत को दोहराने का आत्मविश्वास जाग्रत हो–

भू-लोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य, लीलास्थल कहाँ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ।
संपूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है?
उसकी कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन? भारतवर्ष है।[3]

वहीं एक अन्य स्थान पर भारत की वर्तमान दुर्दशा देखकर क्षोभ प्रकट करते हैं और अपने आज के प्रति सचेत करते हुए उत्थान की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देते हैं–

हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।[4]

अँग्रेजी शासनकाल में करुणामयी नारी की दशा अत्यंत सोचनीय थी, जिसे देखकर किसी भी कवि का हृदय पिघल सकता है। उस समय की सबसे ज्यादा प्रसिद्ध पंक्ति नारी के लिए गुप्त जी की इस प्रकार है–

अबला जीवन! हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।[5]

इसी तरह स्वाधीनता आंदोलन के अग्रणी कवि सोहनलाल द्विवेदी नवयवुकों में देश-प्रेम की भावना भरने एवं बलिदान के रूप में सशक्त होकर उभरे। वे गांधी दर्शन से प्रभावित थे। उनकी रचनाएँ राष्ट्रीय चेतना में अग्रणी थीं। राष्ट्रधर्म को बढ़ावा देना ही उनका कर्त्तव्य था। आगे चलकर विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए उनकी रचनाएँ अत्यंत प्रभावी हुईं, जिससे अपने देश हित के लिए छात्रों में आक्रोश की प्रबल भावना जाग्रत हुई। जब जनता देश हित में आंदोलन का सहयोग कर रही थी, तभी अँग्रेजी शासकों ने उन्हें अनेक प्रकार की यातनाएँ देनी शुरू कर दीं। राष्ट्रवादी कवियों ने उन यातनाओं से लड़ने का हौसला बढ़ाया कि नवयवुक उनसे डरकर भागे नहीं बल्कि उसका

मुकाबला करते हुए आगे बढ़े। जिसे द्विवेदी जी ने 'हथकड़ियाँ' नामक कविता में इस प्रकार चित्रित किया है–

कर में बाँधो विजय-कंकण-सी उसमें आत्मशक्ति लाओ
जन्मभूमि के लिए शलभ-सा मर जाना, हाँ सिखलाओ,
स्वतंत्रता की फुलझड़ियाँ आओ, आओ हथकड़ियाँ।[6]

ऐसे ही वीररस के पुरोहित श्यामनारायण पांडेय जी हैं, जिन्होंने अनेक रचनाएँ लिखीं, जैसे–हल्दीघाटी, जौहर, तुमुल, रूपांतर, जय हनुमान आदि। स्वाधीनता संग्राम के समय सबसे ज्यादा प्रभावित होने वाली रचना हल्दीघाटी है। जो राजस्थान की ऐतिहासिक वीर-भूमि के नाम पर लिखी गई। वे वीरों को उत्साहित करते हुए कहते हैं–

भाला-बरछी-तलवार लिए आए सरदार खटार लिए।
धीरे-धीरे झुक-झुक बैठे सरदार सभी हथियार लिए।।
तरकस के कस-कर तीर भरे कंधों पर कठिन कमान लिए।
सरदार भील भी देह गए, झुक-झुक रस के अरमान लिए।[7]

इसी तरह छायावादी युग में जयशंकर प्रसाद ने भी राष्ट्रीय चेतना जागृति में अहम भूमिका निभाई। हालाँकि उनकी राष्ट्रीय भावना नाटकों से उभरकर आई किंतु उनका काव्य भी किसी मायने में कमतर नहीं आँका जा सकता है। उनकी देश के प्रति आत्मीयता 'अरुण यह मधुमय देश हमारा, जागो जीवन के प्रभात, बीती विभावरी जाग री' आदि पंक्तियों में द्रष्टव्य होती है। वे जनता को जागृति का संदेश देते हुए कहते हैं–

जिये तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारत वर्ष।[8]

जयशंकर प्रसाद की तरह ही सुविख्यात कवि माखनलाल चतुर्वेदी जी ने राष्ट्रीय कार्यकर्ता के रूप में एक सक्रिय भूमिका निभाई। उन्होंने प्रभा, प्रताप तथा कर्मवीर जैसी पत्र-पत्रिकाओं का संपादन भी किया। कर्मवीर पत्रिका राष्ट्रीय जनजागरण का अग्रदूत बनकर उभरी, जिसके माध्यम से समाज में जनजागृति आई। अपनी सुप्रसिद्ध कविता 'पुष्प की अभिलाषा' द्वारा एक पुष्प के माध्यम से वे देशप्रेम व राष्ट्रभक्ति का प्रबल संदेश भी देते हैं–

मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक।[9]

उनकी कविता में बलिदान एवं त्याग की भावना बेजोड़ है। वे युवकों को अपने देश की रक्षा करने के लिए यही संदेश देते हैं कि तुम अपनी मातृभूमि को सर्वोपरि समझो। इसके लिए अपना जीवन देश हित में न्यौछावर कर दो। इसलिए नवयुवकों को उत्तेजित करते हुए कहते हैं–

रक्त है या है नसों में क्षुद्र पानी।
जाँच कर, तू सीस दे-देकर जवानी।[10]

अत: माखनलाल चतुर्वेदी जी की राष्ट्रीय चेतना आगे और गर्मजोशी लिए है, जो क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए अनेक स्थानों पर कुर्बानियों की बात करती है। इसी प्रकार बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी राष्ट्रीय आंदोलन के समय में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध काव्य रचते हैं–

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए
एक हिलोर इधर से आए, एक हिलोर उधर से आए

प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि-त्राहि स्वर नभ में छाए
बरसे आग, जलद फल जाए, भस्ममात भू-धर हो जाए।[11]

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला विद्रोह एवं क्रांति के कवि के रूप में उभरे। उनके अंदर विद्रोह की एक ज्वलंत भावना देखी जा सकती है जिससे वे अन्याय के प्रति हमेशा आवाज उठाते रहे। यही विद्रोह भावना बाद में राष्ट्रीय भावना बनकर उभरी जिसने एक क्रांतिकारी रूप धारण किया। उन्होंने अनेक काव्य-संग्रह लिखे जिनमें परिमल, जूही की कली आदि प्रमुख हैं जिनके माध्यम से युवाओं में संघर्ष करने का अदम्य साहस जाग्रत हुआ। इसी तरह वे अपनी कविता 'जागो फिर एक बार' के माध्यम से नवयुवकों को जागृति का संदेश देते हुए कहते हैं–

जागो फिर एक बार
प्यार जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें
अरुण-पंख तरुण-किरण
खड़ी खोलती है द्वार, जागो फिर एक बार।[12]

इसी तरह उन्होंने पूँजीपतियों के द्वारा किए जाने वाले शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई। वे हमेशा किसान और सर्वहारा वर्ग के पक्षधर रहे। उनकी कविता 'कुकुरमुत्ता' पूँजीपतियों के विरुद्ध है। इसी तरह 'बादल राग' कविता में किसानों की दुर्दशा का चित्रण करते हुए कहते हैं–

जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर!
चूस लिया है उसका सार, हाड़मात्र ही है आधार,
ऐ जीवन के पारावार।[13]

समकालीन कवियों की भाँति कवयित्री सुभद्राकुमारी चौहान भी राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय रहीं। इस स्वाधीनता संग्राम में उन्हें कई बार जेल भी जाना पड़ा, जहाँ उन्हें अनेक यातनाएँ सहनी पड़ीं। उन्होंने अपनी रचनाओं में इस पीड़ा का वर्णन भी किया है। उनके दो महत्त्वपूर्ण कविता-संग्रह हैं–'त्रिधारा' और 'मुकुल'। इनमें स्वाधीनता संग्राम के समय जन-जागरण को प्रेरित करने वाली कविताएँ हैं। बलिदान और युद्ध का आह्वान उनकी कविताओं की प्रमुख विशेषताएँ हैं। बुंदेलखंडी लोकशैली में लिखी राष्ट्रीय धारा की कविता 'झाँसी की रानी' स्वाधीनता संग्राम के समय बहुत प्रसिद्ध हुई, जो लोगों के लिए कंठहार बन गई–

चमक उठी सन् सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।[14]

सुभद्राकुमारी चौहान की कविताओं का प्रमुख उद्देश्य स्वदेश प्रेम तथा राष्ट्रीयता की भावना लोगों के हृदय में उत्तेजित करना था। उनकी कविता 'वीरों का कैसा हो बसंत' हर युग के नवयुवकों में वीरता एवं जोश जगाने वाली है–

भूषण अथवा कवि चंद नहीं, बिजली भर दे वह छंद नहीं
है कलम बँधी स्वच्छंद नहीं, फिर हमें बतावें कौन? हंत!
वीरों का कैसा हो बसंत?[15]

राष्ट्रवादी कवि रामधारीसिंह दिनकर ओज, उत्साह एवं पौरुष के कवि हैं। उनका काव्य राष्ट्रीय जागरण एवं संघर्ष से ओत-प्रोत है। अपनी रचनाओं–हुंकार, रेणुका, इतिहास के आँसू आदि

के माध्यम से उन्होंने राष्ट्रीयता का विप्लव किया है। दिनकर जी गांधीजी के विचारों से सहमत थे लेकिन उनकी जो अहिंसा की नीति थी उसका वे विरोध करते थे, जिसका उल्लेख उनकी रचनाओं में मिलता है। वे तात्कालिक परिस्थितियों से बचकर भागे नहीं बल्कि उसे भी हँसकर स्वीकार किया और इसी का शंखनाद नवयवुकों में फूँका जो उनकी कविताओं में द्रष्टव्य होता है–

रे! रोक युधिष्ठिर को न यहाँ, जाने दे उनको स्वर्ग वीर
पर फिरा हमें गांडीव, गदा, लौटा दे अर्जुन, भीम वीर।[16]

वे केवल स्वाधीनता संग्राम तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि पीड़ित दलित जनता के प्रति हमेशा आवाज उठाते रहे। स्वाधीनता संग्राम के समय जो गरीब–भूखे, असहाय बच्चे, तड़प–तड़पकर मर रहे थे, उनका बड़ा मार्मिक वर्णन करते हुए कहते हैं–

श्वानों को मिलता दूध–वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़ों की रात बिताते हैं।[17]

इसी तरह लगभग आधुनिककाल के सभी कवियों ने राष्ट्रीय चेतना की अलख जनता में जगाई, जिससे जनता उत्तेजित हुई और देश को गुलामी की जंजीरों से मुक्ति मिली।

अत: सार रूप में भी कहा जा सकता है कि आधुनिक हिंदी काव्य में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करते हुए राष्ट्रवादी कवियों ने जहाँ एक ओर पराधीनता के प्रति क्षोभ का भाव व्यक्त किया है, वहीं दूसरी ओर देश के गौरवपूर्ण अतीत का गुणगान करते हुए देशप्रेम का भाव भी प्रकट किया है। जनता में व्याप्त शोषण–अन्याय, पूँजीवादी और अँग्रेजी शासन के प्रति विद्रोह की भावना एवं क्रांतिकारी स्वरों को प्रस्फुटित करते हुए देश की तत्कालीन समस्याओं को सुधारने का काम किया एवं जनता को उसके प्रति प्रेरणा देने का प्रयास किया है।

संदर्भ

1. डॉ॰ शशि तिवारी, राष्ट्रीयता एवं भारतीय साहित्य, पृ॰ 147
2. वही, पृ॰ 151
3. वही, पृ॰ 160
4. वही, पृ॰ 160
5. www.kavitakosh.org, नारी/दीप्ति गुप्ता
6. डॉ॰ विद्या शर्मा, राष्ट्रीय कविता में अहिंसा, पृ॰ 203
7. www.kavitakosh.org, हल्दीघाटी/श्याम नारायण
8. डॉ॰ शशि तिवारी, राष्ट्रीयता एवं भारतीय साहित्य, पृ॰ 168
9. वही, पृ॰ 173
10. www.kavitakosh.org, जवानी/माखनलाल चतुर्वेदी
11. www.hindi.org, विप्लव गान/कविता
12. डॉ॰ शशि तिवारी, राष्ट्रीयता एवं भारतीय साहित्य, पृ॰ 183
13. डॉ॰ देवराज पथिक, नई कविता में राष्ट्रीय चेतना, पृ॰ 79
14. डॉ॰ शशि तिवारी, राष्ट्रीयता एवं भारतीय साहित्य, पृ॰ 200
15. वही, पृ॰ 200
16. वही, पृ॰ 216
17. www.hindi.kavita.com, हुंकार, रामधारीसिंह दिनकर

Mob. 6396735289
neetuyadavpbt@gmail.com

भक्ति-आंदोलन : उद्‌भव व विकास

काजल

हिंदी साहित्य में भक्तिकाल की सीमा संवत् 1375 से संवत् 1700 तक मानी गई है। वैसे आचार्य शुक्ल जी ने इसे 'पूर्व-मध्यकाल' भी कहा है। भक्ति आंदोलन के इस काल को 'स्वर्णयुग' भी कहा जाता है। इसके पीछे कुछ पर्याप्त कारण हुए होंगे, जिससे इस युग को 'स्वर्णयुग' कहा जाने लगा। अत: यह कहना बड़े गर्व की बात है कि हमारे भारतीय समाज में भक्ति की जड़ें बहुत गहरी हैं। वेदों से ही भक्ति का मूल उद्‌गम दिखाई देता है। वेदों में ऋषि-मुनियों ने प्रारंभ में सूर्य, चंद्रमा, वर्ष, पेड़-पौधों से संबधित भक्ति भावना प्रकट करके अपनी रचनाओं का विषय बनाया। इसके पश्चात उपनिषद् साहित्य का उद्‌गम होता है। तत्पश्चात लोगों में 'भक्ति' के विषय में जानने की इच्छा जाग्रत हुई। उनकी जिज्ञासा के फलस्वरूप 'भक्ति' में एक आंदोलन-सा शुरू हो गया। भारतीय सहित्य में सर्वाधिक रचनाएँ भक्तिकाल में हुईं। भक्तिकाल में मानो एक आंदोलन-सा ही प्रारंभ हो गया था। भक्ति आंदोलन में अनेक धर्मों ने भक्ति आंदोलन में हिस्सा लिया।

भक्ति आंदोलन : रामकाव्य परंपरा व विविध संप्रदाय–भक्ति शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद में मिलता है। वैसे तो भक्ति को अनेक अर्थों के माध्यम से समझा जा सकता है। यथा–सेवा, आराधना, अनुराग, पूजा, श्रद्धा आदि।

मेनियार विलियम्स के अनुसार–'भक्ति' शब्द की उत्पत्ति भज् धातु से हुई। जिससे भज् का अर्थ है–शरण में जाना अथवा स्वयं को समर्पित करना। वास्तव में ईश्वर के चरणों में पूर्ण रूप में तन व मन को समर्पित करना अर्थात् पूर्ण रूप में आत्मा-समर्पण करना भक्ति कहलाता है। वेदों में स्पष्ट लिखा है–

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।।[1]

वर्तमान में भक्ति तथा उपासना दोनों को एक ही अर्थ के रूप में प्रकट किया जाता है। उपासना का अर्थ जहाँ समीप बैठना समझा जाता है। वहीं भक्ति का अर्थ भी देवता के निकट बैठना अर्थात् देवता के निकट जाने के रास्ते के रूप में समझा जाता है।

श्रीमद्‌भागवत् में भक्ति की व्याख्या–'उस वृत्ति को भक्ति कहते हैं जिनसे सांसारिक विषयों का ज्ञान प्रदान करके वाली इंद्रियों की स्वाभाविक वृत्ति निष्काम भाव से भगवान में लग जाए।'[2]

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरघोक्षसे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति।[3]

अर्थात् भगवान में हेतुरहित निष्काम एकनिष्ठा अनवरत प्रेम का नाम ही भक्ति है। यही पुरुषों का परम धर्म है। इसी से आत्मा प्रसन्न होती है। मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है जिससे भगवान श्रीहरि में भक्ति हो। भक्ति भी इस प्रकार की होनी चाहिए जिसमें किसी प्रकार की कोई कामना न हो और जो नित्य निरंतर बनी रहे। ऐसी भक्ति से हृदय परमात्मा की उपलब्धि पर कृतकृत्य हो जाता है।

'शांडिल्य सूत्र' में भक्ति का लक्षण इस प्रकार बताया गया है–'सा परानुरक्तिरीश्वेर'[4]

अर्थात् ईश्वर के प्रति निरतिशय प्रेम को ही 'भक्ति' कहते हैं।

भक्ति का सामान्य परिचय–भक्ति के प्राय: दो रूप देखे जाते हैं–सगुण और निर्गुण। इन दोनों धाराओं की दो-दो उपधाराएँ हैं। निर्गुण काव्य की इन उपधाराओं को ज्ञानाश्रायी शाखा और प्रेमाश्रयी शाखा कहा जाता है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दोनों का मुख्य लक्षण भगवद्-विषयक रति एवं अनन्यता माना।

प्रेमाश्रयी शाखा ही हिंदी की सूफी काव्य परंपरा के नाम से जानी जाती है। सगुण काव्य को भी दो उपधाराओं में बाँटा जाता है–रामभक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखा।

जिस प्रकार कबीर आदि निर्गुण संतों के साहित्य को ज्ञानाश्रयी शाखा कहने का कारण प्रतीत होता है। उसी प्रकार जायसी आदि सूफी कवियों के कारण प्रेमाश्रयी शाखा कहने का कारण भी प्रतीत होता है। सगुण भक्तों के भगवान गुणसहित होते हैं। निर्गुण भक्तों के भगवान उनके हृदयों में निवास करते हैं। सगुण भक्त अपने प्रभु की साक्षात रूप में पूजा करते हैं, और अपने आराध्य के गुणों की प्रेमपूर्वक वंदना करते हैं। वे अष्टयाम वंदना करके अपने-आपको निष्काम भाव से प्रभु के चरणों में समर्पित करते हैं। निर्गुण भक्त भी अनन्य प्रेम के साथ निरंतर ध्यान और सेवा करते हैं।

स्वामी विवेकानंद ने कहा है–सच्चे भक्त को निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म का भेद दृष्टिगत नहीं होता, भक्त पंच इंद्रियों के द्वारा जब निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करने का प्रत्यन करता है। तब वह उन्हें सगुण ब्रह्म के रूप में ही दर्शन देता है।

भक्ति का उद्‌गम–भारत में प्राचीनकाल से ही भक्ति भाव पर बल दिया गया है। गीता में भक्ति एवं कर्म का सुंदर समन्वय देखने को मिलता है। उपनिषदों में कर्मकांडों व यात्री का विरोध किया गया है तथा तत्त्व-चिंतन एवं ज्ञान पर बल दिया गया है। शंकराचार्य ने भी ज्ञान को मोक्ष का मूल आधार बताया, किंतु जनसाधारण इसका अनुगामी नहीं बन सका। जनसाधारण ने भक्तिमार्ग को सर्वश्रेष्ठ समझा। इस प्रकार भारत में भक्ति परंपरा का अस्तित्व हमें प्राचीनकाल से ही दृष्टिगोचर होता है। भक्ति को ईश्वर की प्राप्ति का सबसे सुगम साधन माना जाता है। भागवत पुराण में भक्ति के नौ साधनों की ओर संकेत किया गया है। भागवत में ईश्वर-प्राप्ति में सहायक इन नौ साधनों को सर्वश्रेष्ठ साधन बताकर इनका प्रेमपूर्वक पालन करना बताया गया है। भागवत में वर्णित नौ साधन इस प्रकार हैं–

1. श्रवण – ईश्वर के गुणों, लीला को सुनना।
2. कीर्तन – ईश्वर के नाम-रूप-गुणों की चर्चा करना।
3. स्मरण – ईश्वर के नाम-रूप को याद करना।
4. पादसेवन – ईश्वर के चरणों की सेवा करना।
5. अर्चना – प्रभु की पूजा करना।
6. वंदना – अपने ईश्वर (ईष्ट) की वंदना करना, प्रार्थना करना।
7. दास्य – ईश्वर को स्वामी मानकर स्वयं को प्रभु चरणों में समर्पित करना।
8. सख्य – प्रभु को अपना मित्र, सखा और बंधु बनाकर उनका ध्यान करना।
9. आत्मनिवेदन – ईश्वर के चरणों में सर्वस्व समर्पित करना।

भक्ति काव्य की विशेषताएँ–हिंदी साहित्य में भक्तिकाल की समय सीमा संवत् 1375-1700 तक मानी जाती है वैसे तो भक्ति का अस्तित्व भारत में अति प्राचीनकाल से ही है, भक्ति परंपरा में मूर्ति पूजा का प्रचलन अधिक होने के कारण भक्ति में अनेक धर्माचार फैलने लगे। जिस प्रकार हर क्षेत्र के गुण एवं कुछ अवगुण होते हैं, ठीक उसी प्रकार प्रभु की भक्ति को भी कुछ

ठेकेदारों ने भ्रष्ट कर दिया। वे स्वयं को ईश्वर का ठेकेदार सिद्ध करने के आशय से भक्ति को अशुद्ध करते जा रहे थे, भ्रष्ट आचरण का प्रचार कर रहे थे, इन सभी आचरणों को देखकर कबीर जैसे संत कवियों ने निर्गुण ब्रह्म का एक नया मार्ग सुझाया। जहाँ कबीर ने भक्ति का निर्गुण मार्ग दिखाया। वहीं दूसरी तरफ तुलसी आदि भक्तकवियों ने ईश्वर की सगुण भक्ति का मार्ग दिखलाया।

भक्ति काव्य में निर्गुण संप्रदाय की विशेषताएँ

(1) अद्वैतावाद
(2) नाथ पंथ का आगमन प्रभावमय शून्यवाद
(3) नाम-स्मरण
(4) निर्गुण-निराकार ब्रह्म
(5) सहज साधना पर बल
(6) माया का विरोध
(7) जीव व जगत का मिध्या रूप
(8) गुरु का महत्त्व
(9) समाज सुधार की भावना की प्रधानता
(10) रहस्यात्मकता व उल्टबासियों का प्रयोग
(11) कर्मकांडों का खंडन
(12) सरल सहज भाषा व प्रयोग
13) प्रेमाख्यान काव्यों का प्रयोग
(14) भारतीय संस्कृति का महत्त्व
(15) नारी चित्रण

अद्वैतवाद–संत काव्य में सर्वप्रथम अद्वैतवाद का परिचय देने वाले शंकराचार्य जी हुए। शंकराचार्य को प्रचधन्न बौद्ध भी कहा जाता है। शंकराचार्य जी ने अद्वैतवाद को स्पष्ट करते हुए समझाया कि वास्तविक स्तर पर सिर्फ एक ही सत्ता अर्थात् एक ही ब्रह्म को स्वीकार किया। इन्होंने जगत को मिथ्या बताते हुए जीव के हृदय में ही परमात्मा को स्वीकार किया है। मनुष्य, जीव व जगत के अंतर को स्वीकार नहीं किया। जीव में ही अर्थात् में मनुष्य परमात्मा को स्वीकार किया। वे सभी धर्मों संप्रदायों के लिए एक ही ईश्वर को सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। अद्वैतवाद के अर्थ को कबीरदास जी ने इस प्रकार समझाया है–

जल में कुंभ कुंभ में जल है, भीतर बाहर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तथ कह्यौ गयानी।

नाथ पंथ का प्रभावमय शून्यवाद–नाथ पंथियों के शून्यवाद का प्रतिपादन भारत में बहुत पहले हो चुका था। संत कवियों में नाथों व सिद्धों के साधना के अनुरूप कुछ स्वयं की साधना पद्धति (अजपा-जय, सुरति, सहाने निरंजन जप, कुंडलनी चक्र, योग साधना) को अपनाया था।

नाम-समरण–भक्ति के जिन नौ साधनों का ऊपर वर्णन किया गया है, उसमें वर्णित श्रवण, नाम स्मरण, अर्थात् नाम महिमा, कीर्तन का संबंध ईश्वर के नाम स्मरण से ही है।

निर्गुण-निराकार ब्रह्म–भक्तिकाल में अनेक ऐसे संत हुए जिन्होंने केवल निर्गुण-निराकार स्वीकार किया है। वेदों में भी निर्गुण ब्रह्म की उपासना के सूत्र मिलते हैं। नाथपंथियों ने भी निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर ही बल दिया है। निराकार का अर्थ यहाँ यह स्वीकार किया जाता है कि उनके

ब्रह्म का कोई विशेष आकार न होकर प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में समान रूप से विद्यमान है।

सहज-साधना पर बल–भक्तिकाल के निर्गुण कवियों ने नाथपंथियों से प्रभावित होकर सहज-साधना पर बल दिया। वे सगुण भक्तों की भाँति बाह्य आडंबरों का निषेध करके निर्मल मन से सहज साधना पर बल देते हैं। कबीरदास जी ने अनेक स्थानों पर यह स्पष्ट करने का भी प्रयास किया है कि ईश्वर की प्राप्ति के लिए हमें किसी भी कठोर साधना या किसी भी विशेष रीति की आवश्यकता नहीं है, प्रभु को सहज रूप से भी प्राप्त किया जा सकता है।

माया का विरोध–निर्गुण मार्ग के पथ-प्रदर्शक कबीर दास जी ने ईश्वर के मार्ग में आने वाले बाह्य आडंबरों को अनेक नामों से पुकारा है, जैसे–माया, महामाया, डाकनी आदि। निर्गुण कवियों ने माया से बचने का आदेश दिया है। भारत के अनेक संतों ने भी माया का विरोध भी किया है। ऋगवेद में रूप बदलने की क्रिया को 'माया', 'डाकिनी' 'लगनी' के रूप में स्वीकार किया है।

जीव व जगत का संबंध–भारतीय चतन धारा के अनुसार जीव को इस संसार में शुद्ध व निर्मल बताया गया है। परंतु कभी-कभी मनुष्य अर्थात् जीव माया के जंजाल में वशीभूत होकर अनेक मनोविकारों में जकड़ जाता है जिसके कारण जीव अपने बह्म, अपने ईष्ट को भूल जाता है। निर्गुणवादियों ने जीव को सत्य व जगत को मिथ्या स्वीकार किया है।

गुरु का महत्त्व–गुरु का महत्त्व भक्तिकाल में भी स्वीकार किया गया है और वर्तमान में भी गुरुओं को अत्यंत महत्त्व दिया जाता है। कबीरदास जी गुरु के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहा है–

सतगुरु की महिमा अनँत, अनँत कियो उपकार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावण हार।।

अर्थात् सतगुरु की महिमा से ही इस संसार में उद्धार संभव है। उन्होंने ही हमारी आँखों से आडंबरों का पर्दा हटाकर ईष्ट के दर्शन कराए हैं।

समाज सुधार की भावना की प्रधानता–निर्गुण संत व सूफी कवियों ने उपासना के साथ-साथ समाज सुधार की भावना पर भी बल दिया है। उन्होंने सामाजिक कुरीतियों का खंडन किया। निर्गुण कवियों के प्रमुख संतकवि कबीरदास ने समाज को माया से बचने का आग्रह किया। कबीरदास जी कहते हैं–

एक बूँद, एकै मल-मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक जोति तै सब उतपना, कौन बाह्मन कौ सूदा।।

रहस्यात्मकता व उलटबांसियों का प्रयोग–निर्गुणवादी सरल जीवन को महत्त्व देते हैं। निर्गुणवादियों ने रहस्यमयी संसार के दरों को खोलने का प्रयास किया है। वे स्वच्छ व स्वस्थ समाज की परिकल्पना करते हैं। उन्होंने हिंदु व मुस्लिम दोनों धर्मों की रहस्यमयी भावना को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। प्राचीन समय में जगत को रहस्यमयी बताया जाता था। किंतु कबीरदास जैसे संत कवियों तथा सूफी कवि जायसी ने रहस्य के इस अंधकार को मिटाना चाहा है। कबीर कहते हैं–

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।

हमारे संतों का सबसे बड़ा प्रदेय यह रहा है कि धर्म और रूढ़ि के नाम पर जो भ्रम व वहम या गलत फहमियाँ फैली हुई थीं, उनको दूर किया। संत कवियों ने अनेक स्थलों पर विभिन्न प्रकार की उलटबासियों का प्रयोग किया है। उलटबासियों का अर्थ है–अटपटे अर्थ का प्रयोग करना। इसमें कवि आध्यात्मिक भावों को विस्मय रूप में प्रदर्शित करता है। अधिकतर उलटबासियों का प्रयोग

 ISSN 0975-735X

संत कवि रहस्यमयी भावना के लिए करते हैं। वे उलटबासियों के माध्यम से विभिन्न प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। जैसे–मछली, पेड़, शेर, बकरी, बटेर, बाज आदि। सुंदरदास संत ने भी उलटबासियों का प्रयोग किया। उन्होंने 'सुंदर विलास' शीर्षक ग्रंथ में उलटबासियों का प्रयोग इस प्रकार किया है–

कुंजर कूँ कीरी गिल बैठी, सिंघहि बाय अधानों स्थाल।
मछारी अग्नि माहिं सुख पायो, जल में बहुत हुती बेहाल।

अर्थात् चीटी (जीवात्मा) ने हाथी (माया) को निगल लिया तथा सिंह (मन) को सियार (सुरत) मारकर खा गया।

कर्मकांडों का खंडन–कर्मकांडों के प्रति कबीरदास जी ने डटकर विरोध किया। उन्होंने हिंदुओं की मूर्ति पूजा, उपवास, तीर्थयात्रा, छापा तिलक, अन्नप्रासन, मौन व्रत आदि पर गहरी चोट की। साथ ही मुस्लिम समाज में फैले दुराचारों के प्रति गहनतम बुराई का परिचय कराया। उन्होंने अपनी वाणियों से न केवल जनसाधारण को सचेत करने का प्रयास किया बल्कि समाज को उनसे बचने का एकमात्र सहारा परमात्मा की निर्गुण स्वरूप की भक्ति को ही बताया है। साथ ही उन्होंने गुरु के महत्त्व पर भी बल दिया है। एक ओर कबीरदास जी कहते हैं–

पाहन पूजै हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहार।
ताते तो चाकी भली, पीस खाए संसार।।

दूसरी ओर मुस्लिम संस्कृति पर भी प्रहार करते हुए नजर आते हैं–

कांकर पाथर जोरि के मस्जिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे क्या बहरा हुआ खुदाय।।

कबीर ने अपनी साखियों के माध्यम से समाज को यह उपदेश दिया है कि न तो पत्थर पूजने से हरि मिलते हैं और न ही जोर-जोर से बुलाने से अल्ला मिलते हैं। अर्थात् परमात्मा हमारे हृदय में ही रहते हैं, हमें बाह्य आडंबरों का त्याग करके निर्मल मन के द्वारा ध्यान मग्न होकर अपने ही अंदर परम पिता परमात्मा को ढूँढना चाहिए।

सरल-सहज भाषा का प्रयोग–संत काव्य की यह एक अन्य प्रमुख प्रवृत्ति है कि इन कवियों ने प्राय: जनभाषा में प्रचलित भाषा का ही प्रयोग किया है। उन्होंने समाज को सुधारने तथा अपने उपदेशों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए सरल-सहज भाषा का प्रयोग किया है। इस संबंध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीरदास की भाषा पर टिप्पणी करते हुए उनके द्वारा प्रयुक्त उलटबासियों के संबंध में कहा है–भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलावा दिया है। बन गया तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर।

प्रेमाख्यान काव्यों की प्रधानता–निर्गुण काव्य परंपरा को मूलत: दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। जैसा कि ऊपर हम वर्णन कर चुके हैं। निर्गुण की दो उपराधाराएँ हैं–ज्ञानाश्रायी शाखा और प्रेमाख्यान शाखा। प्रेमाख्यान शाखा को प्राय: सूफी काव्य परंपरा के नाम से भी अभिहीत किया जाता है। सूफी काव्य मूलत: प्रेमाख्यान काव्य है। इसलिए इसमें प्रेम की प्रधानता रहती है। सूफी परंपरा के पहले कवि मुल्ला दाउद हैं जिनकी प्रसिद्ध रचना चंदायन (1379)है। सूफी कवियों ने प्रेमाख्यान काव्य में प्राय: हिंदुओं के घर में प्रचलित लोककथाओं को ही आधार बनाया है। सभी सूफी कवियों ने नायक-नायिकाओं का मिलन या तो स्वप्न-कथा के माध्यम से दिखाया है या किसी पशु-पक्षी के माध्यम से। इन्होंने नायक व नायिकाओं का प्रेम मिलन तथा उनमें आने वाली

बाधाओं के वर्णन को ही प्रायः अपने काव्य का आधार बनाया है।

भारतीय संस्कृति का महत्त्व–सूफी कवियों के अनेक कवियों ने भी भारतीय लोक संस्कृति का व्यापक चित्रण किया है। इन रचनाओं में हिंदु परिवारों को आधार बनाकर यहाँ के समाज, संस्कृति, रीति-रिवाजों , त्यौहारों आदि का वर्णन किया है। सभी नयिकाएँ रूपवती होने के साथ-साथ पतिव्रता भी बनी रहती हैं। इनमें हिंदु धर्म के देवी-देवताओं की पूजा, योगी का जीवन, विवाह-भोज आदि का व्यापक वर्णन किया है। भक्तिकाल में हिंदू समाज अनेक विकृतियों से घिर चुका था। जैसे कि जायसी कृत पदमावत में वर्णित कथा में अलाउदीन पद्मावती पर बुरी नजर रखता है और उसका अपहरण करना चाहता था। लेकिन कवि ने यहाँ नागमती व पद्मावती का सती रूप दिखाकर एक ओर जहाँ भारतीय संस्कृति को जीवित रखने का प्रयास किया है। वहीं दूसरी ओर उनके पतिव्रता रूप को भी सुरक्षित किया है।

नारी चित्रण–सभी निर्गुणवादी कवियों ने नारी को भिन्न-भिन्न प्रकार से चित्रित किया है। विशेष रूप में उन्होंने नारी के रूप वर्णन में उपमाओं और प्रतीकों की झड़ी-सी लगा दी है। परंतु उन्होंने मुख्यतः नारी के केवल तीन रूपों का ही खुलकर वर्णन किया है। आदर्श प्रेमिका, पतिव्रता नारी व बह्म के रूप में चित्रित किया है। सूफी कवि ब्रह्म को नायिका की रूप में चित्रित करते हुए नजर आते हैं। भक्ति आंदोलन के क्षेत्र में नारियों ने भी विशेष भूमिका अदा की है। कहा जा सकता एक मुख्य क्षेत्र भक्तिकाल में नरियों से ही घिरा हुआ नजर आता है। धर्म तथा समाज सुधार के क्षेत्रों में उनका योगदान सदैव सराहनीय रहा है। कश्मीर की लल्ला पीपा की रानी, सीता महाराष्ट्र की जनबाई तथा राजस्थान की महारानी मीराबाई ने भक्ति आंदोलन के विकास में प्रशंसनीय कार्य किया। शैवयोगिनी तथा लल्ला अथवा लालदेव संयासी वस्त्र धारण करके नृत्य तथा भजन करती थीं। उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हिंदू मुस्लिम समन्वय है।

अतः कहा जा सकता है कि भक्ति का उद्‌गम दक्षिण में हुआ लेकिन पूर्ण उत्कर्ष उत्तर में हुआ। भक्ति आंदोलन अखिल रूप ले चुका था। लोकसाहित्य पर भी इसका प्रभाव कम नहीं था। उसने भारत की संस्कृति को बनाए रखने की अगाह चेष्टा की। इसके कारण पूरे भारत में एक प्रकार की लहर दौड़ उठी थी। हिंदी सहित्य में भक्तिकाल दीर्घव्यापी था। वह लगभग तीन शताब्दियों तक ज्यों-का-त्यों रहा। भक्तिकाल की विशेषताएँ भक्ति आंदोलन को समझने में एक विशेष भूमिका अदा करती हैं। भक्ति आंदोलन में विशेष भूमिका रामानुजाचार्य और रामांनद जी की रही है। भक्ति आंदोलन में भारतीय संस्कृति का उत्कर्ष तो हुआ साथ ही भारतीय साहित्य को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ है।

संदर्भ

1. ऋग्वेद संग्रह, पृ॰ 40-3/59
2. श्रीमदभागवत, 3-25/ 35-33
3. श्रीमद भागवत, 1-2-6
4. नारद देवर्षि, भक्ति सूत्र-82
5. स्वामी विवेकानंद, भक्ति रहस्य, पृ॰ 24
6. डॉ॰ रश्मि जोशी, भक्ति आंदोलन व कृष्णकाव्य, पृ॰ 2
7. वही, पृ॰ 29
8. रशीद, ए सोसाइटी एंड कल्चर इन मेडिकल इंडिया, कलकत्ता, पृ॰ 256

Village Dulhera, dist. Jhajjar (Haryana)
Mob. 9999412022
kajaltharan9780@gmail.com

ISSN 0975-735X

मणिपुर में क्षेत्रीय संस्कृति एवं समाज के विकास में हिंदी के महत्त्व का विश्लेषण

डॉ॰ शिवम चतुर्वेदी, शोध निदेशक, प्रोफेसर एवं हिंदी विभागाध्यक्ष
अरुणाचल यूनिवर्सिटी ऑफ स्टडीज, नामसाइ, अरुणाचल प्रदेश
किस्मतुन बेगम, शोधार्थिनी, हिंदी विभाग
अरुणाचल यूनिवर्सिटी ऑफ स्टडीज, नामसाइ, अरुणाचल प्रदेश

प्रस्तावना : भौगोलिक दृष्टि से मणिपुर प्रदेश दो भागों में विभाजित है। पर्वतीय भू-भाग जिसमें लगभग 20 जनजातियाँ निवास करती हैं, उस क्षेत्र को 'चिड्लैबाक' नाम से जाना जाता है। मणिपुर के पहाडी अंचल में रहने वाली जनजातियाँ 'चिड्म' या 'हाओ' कहलाती हैं। इन दिनों पहाडी जातियों को नागा नाम से संबोधित किया जाता है। मणिपुर का मैदानी क्षेत्र नौ पर्वत शखलाओं से घिरा हुआ है। उसे प्राचीन काल में 'मैत्राबाक' तथा 'कड्लैपाक' नाम से जाना जाता था। मणिपुर के मैदानी अंचल में मैतै (मणिपुर) तथा मैतै पाड्ल (मणिपुर मुस्लिम) समाज के लोग मुख्य रूप से निवास करते हैं। गत कुछ दशकों से पहाडी जनजातियाँ भी मैदानी क्षेत्र में बस चुकी हैं और उनकी संफ भाषा मणिपुरी तथा हिंदी हो गई है। इंफाल और उसके चारों ओर नेपाली तथा हिंदी भाषी समाज भी निवास करता है।

मणिपुर प्रदेश पूर्वोत्तर भारत का सीमांत राज्य है जो अपने नैसर्गिक प्राकृतिक सौंदर्य के लिए जाना जाता है। इसके मनोरम दृश्य के कारण इसे भारत की 'मणि' कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। प्राचीन मणिपुरी पुराण गंथों में मणिपुर को पृथ्वी का कमल भी कहा गया है। मणिपुर प्रदेश की महान भूमि ने स्वतंत्रता संग्राम की पूर्वोत्तर भारत की महान नायिका रानी गाइदिन्ल्यू और उनके गुरु जादोनांड् को जन्म दिया है। इन पूर्वोत्तर भारत के गौरवशाली लोगों में मणिपुर की पवित्र वीर भूमि के युवराज वीर टीकेंद्रजीत सिंह, पाओना ब्रजवासी, थांगाल जनरल तथा जननेता हिजम इराबोत का नाम हमारे मन में राष्ट्रपेम के भाव को नई स्फूर्ति से भर देता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रयासों में मणिपुर का अप्रतिम योगदान रहा है। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के महानायक नेताजी सुभाषचंद्र बोस ने भी आजाद हिंद फौज का मुख्यालय मणिपुर के 'मोइराड्' में स्थापित किया था। मोइराड् निवासी हेमाम नीलमणि सिंह नेताजी के एक प्रमुख सहयोगी थे, जिन्हें स्वयं नेताजी ने हिंदी सिखाई थी। मणिपुर की साहित्यिक चेतना पर नेताजी सुभाषचंद्र बोस और राष्ट्रभक्तों की राष्ट्रप्रेम की भावना की झलक भी तत्कालीन लोककाव्य और सृजनात्मक रचनाओं में मिलती है। यही मातृभूमि और देशप्रेम की भावधारा मणिपुर के हिंदी साहित्य में अंतर्निहित है। मणिपुर की राजधानी इंफाल और इसके चारों ओर निवास करने वाला मणिपुरी समाज तथा जनजातीय समुदायों के हिंदी अनुरागी लोग हिंदीभाषा और साहित्य के माध्यम से राष्ट्रीय भावधारा से जुडने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। वीरभूमि मणिपुर की लोककाव्य शैली में वर्णित मातृभूमि वंदना, देशपेम की भावना का चित्रण रोमांचित करने वाले हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के

बाद रचित मणिपुर की हिंदी कविता और हिंदी रचनाओं में राष्ट्रीय तत्त्व भारतीयता की आभा से प्रभावित होकर व्यापक फलक पर दिखलाई पड़ता है। समकालीन मणिपुर के हिंदी के सृजनात्मक साहित्य में राष्ट्रीयता और भारतीयता की अवधारणा का स्वरूप व्यापक रूप में व्यक्त हो रहा है।

मणिपुर के हिंदी साहित्य की संवेदना और मणिपुर प्रदेश की भाषाओं के साहित्य की संवेदना एक सांस्कृतिक सेतु निर्मित करने में सक्षम है। राष्ट्रीयता की भावना सुदृढ़ और व्यापक बने, इसके लिए भाषा साहित्य और संस्कृति संगम का मार्ग ही एक मात्र निदान है। साहित्य नष्ट होती मानवता को बचाने में सक्षम है। संकुचित वैचारिक सोच को भाषा और साहित्य ही रोक पाने में सक्षम है। पूर्वोत्तर भारत के राज्यों में मणिपुर ऐसा राज्य है, जिसने हिंदी भाषा और उसके साहित्य का स्वागत राष्ट्रीय अस्मिता और राष्ट्रीय आवश्यकता के संदर्भ में किया है। हिंदी एक भाषा ही नहीं है बल्कि वह भावात्मक एकता को प्रवाहित करने वाली धारा है। इसी भावना के फलस्वरूप मणिपुर में आज ऐसे सैंकड़ों छोटे-बड़े हिंदी लेखक-लेखिकाएँ हैं जो पूरे अधिकार के साथ हिंदी भाषा में मातृभाषा की तरह साहित्य रचना करते हैं। मणिपुरी भाषी हिंदी लेखक अपने सृजनात्मक साहित्य द्वारा हिंदी साहित्य की परंपरा के अंतर्गत एक महत्त्वपूर्ण स्थान बनाते जा रहे हैं। वहाँ पर हिंदी में मौलिक सृजन भी हो रहा है तथा अनुवाद कार्य भी चल रहा है। साथ ही हिंदी की कई पत्रिकाएँ जैसे महीप, कुंदोपरेड्, युमशकेश, लटचम आदि प्रकाशित हो रही हैं।

मणिपुर पिछले आठ सौ वर्षों से भारतीय सांस्कृतिक-परंपरा से जुड़ा रहा है और 12-13वीं शताब्दी से हिंदू सांस्कृतिक परंपरा ने भी यहाँ के निवासियों को संस्कृत और हिंदीभाषा से जोड़ा। ब्रज क्षेत्र की संस्कृति का संस्कारित रूप यहाँ के सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन पर सर्वाधिक पड़ा है। मणिपुर की साहित्यिक परंपरा ढाई हजार वर्ष से भी अधिक पुरानी है और ललित कलाओं के क्षेत्र में मणिपुर आज भी अग्रणी प्रदेश है।

मणिपुर में हिंदी में लेखन का कार्य हिंदीभाषा के प्रचार-प्रसार से जुड़ा हुआ है। दूसरे विश्वयुद्ध के पूर्व यहाँ हिंदी के प्रचार-प्रसार का कार्य आरंभ हो गया था और इस महायुद्ध के पश्चात हिंदी के प्रचार में तेजी या गतिशीलता आती गई। उस समय पठन-पाठन से संबंधित सामग्री मणिपुर के बाहर कार्यरत हिंदी प्रचार-प्रसार से संबंधित संस्थाओं की ओर से आती थी। कालांतर में हिंदी प्रचारकों को यह महसूस हुआ कि सुचारू रूप से हिंदी भाषा का प्रचार-प्रसार करने के लिए यहाँ की स्थानीय भाषा मणिपुरी और इसकी संस्कृति से संबंधित हिंदी पुस्तकों की आवश्यकता है। इसी सोच के आधार पर मणिपुरी भाषी हिंदी प्रचारकों ने समय की माँग और पठन-पाठन संबंधी अभाव को दूर करने के उद्देश्य से शब्दानुवाद, वाक्यानुवाद और हिंदी सीखने के लिए सरल हिंदी व्याकरण की छोटी-छोटी पुस्तकों की रचना प्रारंभ की। धीरे-धीरे पाठ्यपुस्तकों और शब्द कोशों के निर्माण की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा।

यहाँ हिंदी भाषा में भी पत्रकारिता का कार्य प्रारंभ हुआ। मणिपुर के हिंदी प्रेमी धीरे-धीरे मौलिक रचनात्मक लेखन की ओर भी रुचि प्रकट करने लगे तथा सृजनात्मक हिंदी रचनाओं का सृजन करने लगे। कुछ मणिपुरी भाषी लेखकों ने हिंदी में मौलिक लेखन और कुछ लेखकों ने हिंदी भाषा में पाठ्य-पुस्तक निर्माण, मौलिक रचनात्मक लेखन, अनुवाद का कार्य शुरू किया है। कुछ मणिपुरी लेखकों ने मणिपुर के वाचिक साहित्य को भाषांतरित कर हिंदी में प्रस्तुत किया।

अब तक उपलब्ध मणिपुरी भाषी हिंदी लेखकों द्वारा रचित और तैयार की गयी हिंदी भाषा में रचित लेखन सामग्री को निमानुसार छह वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

1. पठन-पाठन से संबंधित हिंदी रचनाएँ
2. सृजनात्मक हिंदी साहित्य
3. अनुसंधान परक व्यतिरेकी तुलनात्मक और समीक्षात्मक साहित्य
4. पत्रकारिता-विषयक साहित्य
5. संपादित, संग्रहीत अनुवादित साहित्य
6. लोकसाहित्य, वाचिक-साहित्य तथा कोश-साहित्य

जनसांख्यिकी–सन् 2011 की जनगणना के अनुसार, मणिपुर की कुल आबादी 25,70,390 है। ग्रामीण जनसंख्या 1,736,236 और शहरी आबादी 8,34,154 है। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या घनत्व 122 है जो कि सन् 2011 के आँकड़े के मुकाबले 19 पाइंट ज्यादा है। जनसंख्या घनत्व के मामले में इंफाल वेस्ट रिकॉर्ड सबसे ज्यादा है क्योंकि उसका घनत्व 856 प्रति वर्ग किमी है। आबादी के घनत्व के मामले में थोबल का स्थान 708 वर्ग किमी के आँकड़े के साथ दूसरा है। तामेंगलांग में सबसे कम आबादी है और सन् 2011 में इसकी आबादी 25 प्रति एकल वर्ग किमी से 32 प्रति एकल वर्ग किमी थी। मणिपुर में रहने वालों को तीन प्रमुख जनजातियों में बाँटा जा सकता है जो कि मेइती, घाटी में रहने वाले और पहाड़ों में रहने वाले प्रमुख आदिवासी हैं। पहाड़ों में रहने वाली जनजातियों को दो और उपजनजातियों में बाँटा जा सकता है जो कि कुकी-चिन और नागा हैं।

शिक्षा–आज के दौर में मणिपुर में काफी सुधार देखा गया है। पिछले कुछ सालों तक शिक्षा सिर्फ मणिपुर के ऊँचे तबके तक ही सीमित थी। पिछले कुछ दशकों में मणिपुर की शिक्षा प्रणाली के पिछड़ने के कुछ कारणों में सांप्रदायिक संघर्ष, आर्थिक ब्लॉकेड और लगातार जारी हिंसा रहे। मणिपुर में शिक्षा के परिदृश्य में एक बड़ा बदलाव तब आया जब नई शिक्षा प्रणाली को अपनाया गया। पहले डिवीजन से पास होने वालों की संख्या में जबरदस्त बढ़ोतरी देखी गई है। इस बढ़ोतरी और ऊँचे कट ऑफ के पीछे शिक्षण संस्थाओं की सकारात्मक भूमिका को नहीं नकारा जा सकता।

अर्थव्यवस्था और बुनियादी ढाँचा–मणिपुर की अर्थव्यवस्था में लगातार सुधार हो रहा है। सरकार के सकारात्मक रवैये के चलते ही इस प्रांत की अर्थव्यवस्था को फलने-फूलने में मदद मिली है। मणिपुर में लगभग 7,700 लघु उद्योग हैं। जिन लघु उद्योगों ने राज्य की अर्थव्यवस्था को बढ़ाने में मदद की है उनमें हथकरघा, ग्रामोद्योग, कुटीर उद्योग और हस्तशिल्प शामिल हैं।

मणिपुर की सरकार राज्य की अर्थव्यवस्था के हर पहलू को मजबूत बनाने के लिए हर संभव प्रयास कर रही है और राज्य को एक मजबूत आधार दे रही है। यहाँ कई ऐसी छोटी कंपनियाँ हैं जो विभिन्न वस्तुओं का निर्माण कर रही हैं जैसे प्लास्टिक, इलेक्ट्रानिक गुड्स और स्टील। इससे राज्य की अर्थव्यवस्था पर समग्र रूप से अच्छा असर पड़ता है।

मणिपुर में कुछ सीमेंट उद्योगों की स्थापना का भी राज्य की अर्थव्यवस्था में विशेष योगदान है। राज्य की अर्थव्यवस्था के स्तर को और बढ़ाने के लिए मणिपुर की सरकार ने कई प्रशिक्षण संस्थान खोलने का निर्णय लिया है, जिससे लोगों को नई से नई तकनीक सीखने का मौका मिले और सभी उद्योगों को फायदा हो।

निष्कर्ष–मणिपुर में मणिपुरी हिंदी सेवियों और प्रचारकों की संख्या ठीक है किंतु आधुनिक मणिपुरी भाषी हिंदी लेखकों में से निमांकित लेखकों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है–डॉ॰

सुबदनी देवी, प्रोफेसर दीनमणि सिंह, प्रोफेसर अरिबम कुमार शर्मा, प्रोफेसर सापम तोंबा सिंह, प्रोफेसर इबोहल सिंह काडजम, डॉ॰ अरिबम कृष्णमोहन शर्मा, डॉ॰ लनचेनबा मैतै, डॉ॰ ब्रजेश्वर शर्मा आदि लेखकों ने मणिपुर के हिंदी वाङ्मय में श्रीवृद्धि की है। वह दिन दूर नहीं है, जब मणिपुरी भाषी हिंदी लेखक अपनी राष्ट्रीय पहचान बना सकेंगे और हिंदी की साहित्यिक धारा में अपना प्रमुख स्थान निश्चित करेंगे।

संदर्भ

1. काङजम सिंह अनु॰ इबोहल, फागुन की धूल (विभिन्न कवि), सं॰ देवराज, काङजम इंटरप्राइजेज नाउरेमथोङ, लौक्राकपम लैकाइ इंफाल मणिपुर, 1990
2. भारतीय शिखर कथाकोश, मणिपुरी कहानियाँ, एकाधिक अनु॰ सं॰ कमलेश्वर, पुस्तकायन प्रकाशन नई दिल्ली, 1997
3. चाओबा कवि, जीवन और साहित्य, सं॰ देवराज, साहित्य विभाग, मणिपुर हिंदी परिषद इम्फाल, विधानसभा मार्ग, इम्फाल मणिपुर, 1997
4. सिंह लमाबम कमल, कविश्रीमाला, अनु॰ अरिबम छत्रध्वज शर्मा, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा महाराष्ट्र, 1962
5. देवी सुशीला, आंद्रो की आग, (मेमचओबी) अनु॰ सोरोखाइबम, मणिपुरी हिंदी परिषद, विधान सभा मार्ग, इम्फाल मणिपुर, 2000
6. काङजम सिंह अनु॰ इबोहल, आधुनिक मणिपुरी कविताएँ (विभिन्न कवि) सं॰ देवराज, वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली, 1990
7. जित देखूँ, (लनचेनबा मीतै), अनु॰ सिद्धनाथप्रसाद, सं॰ देवराज, मणिपुर हिंदी परिषद विधान सभा मार्ग, इंफाल मणिपुर
7. काङजम सिंह अनु॰ इबोहल, तीर्थयात्रा, (एलाङबम नीलकांत सिंह), हिंदी बुक सेंटर, आसफ अली रोड, नई दिल्ली, 2002
8. प्रसाद सिद्धनाथ, तुझे नहीं खेया नाव, (लनचेनबा मीतै) सं॰ देवराज, विधानसभा मार्ग, इम्फाल मणिपुर, 2000
9. काङजम सिंह अनु॰ इबोहल, (2002) प्रतिनिधि मणिपुरी कहानियाँ (विभिन्न कहानीकार), सं॰ देवराज, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994
10. कुछ कहूँ पतंग और कथा एक गाँव की, (लाइश्रम समरेंद्र) अनु॰ हैराङखोङ्जम मेघचंद्र, मणिपुर राइटर्स क्लब, नम्बोल, मणिपुर, 2003
11. धरती (विभिन्न कहानीकार) अनु॰ ई॰ विजयलक्ष्मी, परिलेख प्रकाशन, नजीबाबाद (उ॰प्र॰), 2008
12. नवजागरणकालीन मणिपुरी कविताएँ, (विभिन्न कवि), अनु॰ सिद्धनाथ प्रसाद, सं॰ देवराज, सुजाता प्रकाशन मेरठ, 1995
13. पर्वत के पार (जामिनीदेवी), अनु॰ ई॰ विजयलक्ष्मी, रायप्रवीणा ब्रदर्स तेरा बाजार इंफाल, 2005
14. पुष्पमाला (डॉ॰ लमाबम कमल सिंह) अनु॰ हजारीमयुम सुबदनी देवी, हजारीमयुम विनोदकुमार शर्मा थाङपात मपाल, इंफाल, 1993